



आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ६७

ब्रह्मामृतवर्षिणीशंकरानन्दछतदीपिकाभ्यां समेतानि

ब्रह्मसूत्राणि ।

एतत्सुस्तकम्

आनन्दाश्रमस्थपण्डितैः संशोधितम् ।

तच्च

हरि नारायण आपटे

इत्येतैः

पुण्याख्यपत्तने

आनन्दाश्रममुद्रणालये

जायसाक्षरिर्मुद्रयित्वा

प्रकाशितम् ।

प्रकाशनसंकांक्षाः १८३३

संकांक्षाः १९११

प्रकाशकः श्रीमान् श्रीमान् श्रीमान्

THALI JIDYAMTH  
Library  
52927  
↓

## आदर्शपुस्तकोल्लेखपत्रिका ।



अस्या ब्रह्मासूतवर्षिण्याः शंकरानन्दकृतवीपिकायाश्च पुस्तकानि वैः  
परहितैकपरतया संशोधनार्थं दत्तानि तेषां नामादीनि संज्ञाश्च कृतज्ञ-  
तया प्रकाश्यन्ते

( क. ) इति संक्षिप्तम्—आनन्दब्रह्मसूत्रम् ।

( ख. ) इति संक्षिप्तम्—इन्दूरपुरनिवासिनां रा० रा० विवेकाहोत्र इत्येते-  
षाम् ।

( ग. ) इति संक्षिप्तम्—वे० शा० रा० रा० ब्राह्मदेवशास्त्री अभ्यंकर इत्ये-  
तेषाम् ।

( क. ) इति संक्षिप्तम्—इन्दूरपुरनिवासिनां रा० रा० विवेकाहोत्र इत्येते-  
षाम् ।

( ख. ) इति संक्षिप्तम्—मुद्रितम् । वे० शा० सं० रा० ब्राह्मदेवशास्त्री अभ्यं-  
कर इत्येतेषाम् ।

समाप्तेयमादर्शपुस्तकोल्लेखपत्रिका ।



अथ ब्रह्मसूत्रीयपादगतविषयानुक्रमणी ।

| प्रतिपाद्यविषयः ।                                                                                                             | अध्यायः । | पादः । | श्लोकः । |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------|--------|----------|
| सुस्पष्टब्रह्मबोधकश्रुतिवाक्यानां समन्वयः ...                                                                                 | १         | १      | १        |
| उपास्यब्रह्मवाचकास्पष्टश्रुतिवाक्यानां समन्वयः                                                                                | १         | २      | ४८       |
| श्लेषब्रह्मप्रतिपादकास्पष्टश्रुतिवाक्यानां समन्वयः                                                                            | १         | ३      | ७५       |
| अव्यक्तादिसंदिग्धपदमात्राणामेव समन्वयः ....                                                                                   | १         | ४      | ११७      |
| सांख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः सांख्यादिप्रयुक्त-<br>तर्कैश्च वेदान्तसमन्वयस्य विरोधपरिहारः ...                                   | २         | १      | १४५      |
| सांख्यादिमतानां दृष्टत्वप्रदर्शनम् ... ..                                                                                     | २         | २      | १६९      |
| पूर्वभागेण पञ्चमहाभूतश्रुतीनामुत्तरभागेण च<br>जीवश्रुतीनां परस्परविरोधपरिहारः, ...                                            | २         | ३      | १९५      |
| लिङ्गक्षरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः, ....                                                                                       | २         | ४      | २२६      |
| जीवस्य परलोकगमनागमनविचारपूर्वकवैराग्य-<br>निरूपणम्, ... ..                                                                    | ३         | १      | २४४      |
| पूर्वभागेण स्वंपदार्थस्योत्तरभागेण च तत्पदार्थ-<br>स्य च शोधनम्, ....                                                         | ३         | २      | २६२      |
| सगुणविद्यासु गुणोपसंहारस्य, निर्गुणे ब्रह्मण्य-<br>धुनरुक्तपदोपसंहारस्य च निरूपणम्, ...                                       | ३         | ३      | २८६      |
| निर्गुणज्ञानस्य बहिरगङ्गसाधनभूतानामाश्रमय-<br>ज्ञादीनामन्तरङ्गसाधनभूतानां च शमदमश्च-<br>णमननादीनां निरूपणम् ....              | ३         | ४      | ३४३      |
| श्रवणाद्यावृत्त्या निर्गुणमुपासनया सगुणं वा<br>ब्रह्म साक्षात्कृतवतो जीवतः पुण्यपापलेप-<br>विनाशलक्षणाया मुक्तेरभिधानम्, .... | ४         | १      | ३७५      |
| त्रियमाणस्योत्क्रान्तिप्रकारदर्शनम्, ... ..                                                                                   | ४         | २      | ३८७      |
| सगुणब्रह्मविदो मृतस्योत्तरमार्गाभिगमनम्, ...                                                                                  | ४         | ३      | ४०१      |
| पूर्वभागेण निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यप्राप्तेः,<br>उत्तरभागेण च सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोक-<br>स्थितिनिरूपणम्, ... ..        | ४         | ४      | ४१०      |

समाप्तेयं ब्रह्मसूत्रीयपादगतविषयानुक्रमणी ।

अथ व्यासाधिकरणगतविषयानुक्रमणी ।

समन्वयपाठप्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे—

प्रतिषेधविषयाः ।

सूक्तशुः । अथि० । दृष्टशुः ।

|                                                |     |            |     |     |       |    |    |
|------------------------------------------------|-----|------------|-----|-----|-------|----|----|
| ब्रह्मणो विचारत्वम्                            | ... | ...        | ... | ... | १     | १  | १  |
| ब्रह्मणो लक्ष्यत्वम्                           | ... | ...        | ... | ... | २     | २  | ५  |
| ब्रह्मणो वेद्यकतृत्वं                          | }   | १ वर्णकम्, | ... | ... | ३     | ३  | ६  |
| ब्रह्मणो वेदेकमयता                             |     |            | ... | ... |       |    |    |
| वेदान्तानां ब्रह्मबोधकत्वं                     | }   | १ वर्णकम्, | ... | ... | ४     | ४  | ८  |
| वेदान्तानां ब्रह्मण्यवसितत्वम्                 |     |            | ... | ... |       |    |    |
| प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वाभावकथनम्                | ... | ...        | ... | ... | ५-११  | ५  | १६ |
| आनन्दमयकोशस्य परमात्मत्वं                      | }   | १ वर्णकम्, | ... | ... | १२-१९ | ६  | २४ |
| ब्रह्मण आनन्दमयजीवाधारत्वम्                    |     |            | ... | ... |       |    |    |
| आदित्यान्तर्गतहिरण्यपुरुषस्याक्षयन्तर्गतपुरुष- |     |            |     |     |       |    |    |
| स्य श्वेश्वरत्वम्                              | ... | ...        | ... | ... | २०-२१ | ७  | ३० |
| परब्रह्मण आकाशशब्दवाच्यत्वम्                   | ... | ...        | ... | ... | २२    | ८  | ३२ |
| ब्रह्मण आकाशशब्दव्यत्प्राणशब्दवाच्यत्वम्       | ... | ...        | ... | ... | २३    | ९  | ३४ |
| परब्रह्मणो ज्योतिःशब्दवाच्यत्वम्               | ... | ...        | ... | ... | २४-२७ | १० | ३५ |
| ब्रह्मणः प्राणशब्दप्रतिपाद्यत्वम्              | ... | ...        | ... | ... | २८-३१ | ११ | ४० |

उक्ताध्यायस्य द्वितीयपादे—

मनोमयः प्राणशरीर इत्यादिच्छान्दोग्यवाक्येन

|                                                      |     |     |     |     |       |   |    |
|------------------------------------------------------|-----|-----|-----|-----|-------|---|----|
| ब्रह्मण उपास्यत्वविचारः                              | ... | ... | ... | ... | १-८   | १ | ४८ |
| ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वम्                              | ... | ... | ... | ... | ९-१०  | २ | ५३ |
| चेतनबोधविश्वरयोर्द्वैतहागतत्वम्                      | ... | ... | ... | ... | ११-१२ | ३ | ५४ |
| छायाजीवान्यवेवान्हित्वा परब्रह्मण एवोपास्यत्वम्      | ... | ... | ... | ... | १३-१७ | ४ | ५६ |
| प्रधानजीवितरस्येश्वरस्यैवान्तर्धामिश्रशब्दवाच्यत्वम् | ... | ... | ... | ... | १८-२० | ५ | ६१ |
| प्रधानजीवो निराकृत्येश्वरस्य भूतपोनित्वम्            | ... | ... | ... | ... | २१-२३ | ६ | ६३ |
| ब्रह्मणो वैश्वानरशब्दवाच्यत्वम्                      | ... | ... | ... | ... | २४-३२ | ७ | ६७ |

उक्ताध्यायस्य तृतीयपादे—

|                                                           |     |     |     |     |     |   |    |
|-----------------------------------------------------------|-----|-----|-----|-----|-----|---|----|
| सुत्रात्माहिरण्यगर्भप्रधानमोक्षजीवेश्वराणां मध्ये         |     |     |     |     |     |   |    |
| केवलमीश्वरस्यैव सर्वाधिष्ठानभूतत्वम्                      | ... | ... | ... | ... | १-७ | १ | ७५ |
| प्राणेश्वरेशपोर्मध्ये परेशस्यैव सत्त्वशब्देन श्रेष्ठत्वम् | ... | ... | ... | ... | ८-९ | २ | ७७ |

|                                                                |       |        |
|----------------------------------------------------------------|-------|--------|
| ब्रह्मचर्यब्रह्मणोर्मध्ये ब्रह्मण एवाक्षरशब्दवाच्यत्वम्, १०-१२ | ३     | ८१     |
| अपरपरब्रह्मणोर्मध्ये परब्रह्मण एव शिमाश्रेण                    |       |        |
| ब्रह्मवेन ध्येयत्वम् ... ..                                    | १३    | ४ ८३   |
| दृष्टकाशत्वेन प्रतिपमानानां विपत्तीवब्रह्मणां                  |       |        |
| मध्ये ब्रह्मण एव तदाकाश[शब्द]वाच्यत्वम् १४-१८                  | ५     | ८४     |
| अक्षिपुरुषत्वेनाऽऽपाततः प्रतिपमानचोर्जीवपरे-                   |       |        |
| शयोः परेशस्यैव तत्पदवाच्यत्वम् ... ..                          | १९-२१ | ६ ८८   |
| जगत्प्रकाशकत्वेनोपलब्धयोः सूर्यादितेजःपदार्थ-                  |       |        |
| धैतन्त्रयोर्धैतन्त्रस्यैव तत्प्रकाशकत्वम् ... ..               | २२-२३ | ७ ९२   |
| जीवात्मपरमात्मनोर्मध्ये परमात्मन एवाङ्गुष्ठमात्र-              |       |        |
| पुरुषशब्देन प्रतिपादनम् ... ..                                 | २४-२५ | ८ ९४   |
| देवानां निर्गुणविद्यायामधिकारनिरूपणम् ... ..                   | २६-३३ | ९ ९६   |
| शूद्राणां वेदानधिकारकथनपूर्वकः शोकाकुलत्वे-                    |       |        |
| न शूद्रनाममात्रधारिणो जानश्रुतेर्भेदविद्याधि-                  |       |        |
| यमः ... ..                                                     | ३४-३८ | १० १०५ |
| शाणत्वेनाऽऽज्ञातानां ब्रह्मवायुपरेज्ञानां मध्ये परे-           |       |        |
| शस्यैव तादृशप्राणशब्दवाच्यत्वम् ... ..                         | ३९    | ११ ११० |
| ब्रह्मणः परत्वउपोतिष्ठे ... ..                                 | ४०    | १२ ११२ |
| ब्रह्मण आकाशशब्दवाच्यत्वम् ... ..                              | ४१    | १३ ११३ |
| ब्रह्मणो विज्ञानमयशब्दवाच्यत्वम् ... ..                        | ४२-४३ | १४ ११४ |
| उक्ताध्यायस्य चतुर्थपादे—                                      |       |        |
| कारणावस्थापन्नस्य स्थूलशरीरस्यैवाव्यक्तशब्द-                   |       |        |
| वाच्यत्वम् ... ..                                              | १     | १ ११७  |
| श्रुतिप्रमितप्रकृतिस्मृतिसंमतप्रधानयोर्मध्ये तादृ-             |       |        |
| शप्रकृतेरेवाशब्दवाच्यत्वम् ... ..                              | ८१०   | २ १२४  |
| पाणचक्षुःश्रोत्रमनोज्ञानां पञ्चपञ्चजनशब्दवा-                   |       |        |
| च्यत्वम् ... ..                                                | ११-१३ | ३ १२७  |
| ब्रह्मप्रतिपादकवेदान्तवाक्यसमन्वयानां युक्तिपु-                |       |        |
| क्तत्वम् ... ..                                                | १४-१५ | ४ १३१  |
| प्राणजीवपरात्मनां मध्ये परात्मन एव कृत्स्नजग-                  |       |        |
| त्कर्तृत्वेन बालाकिना ब्रह्मत्वेनोक्तानां षोड-                 |       |        |



|                                                                                                         |       |   |     |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------|---|-----|
| शंभुरुपाणां कर्तृत्वनिराकरणम् ... ..                                                                    | १६-१८ | ५ | १३४ |
| संज्ञापितजीवपरमात्मनोर्मध्ये परमात्मन एव भव-<br>णमननादिविषयत्वम् ... ..                                 | १९-२२ | ६ | १३७ |
| ब्रह्मणो निमित्तोपादानोभयकारणत्वम्, ... ..                                                              | २३-२७ | ७ | १४० |
| परमाणुशून्यादीनां श्रुत्युक्तानामपि जगत्कारण-<br>त्वमपहाय ब्रह्मण एव प्रतिनिपतजगत्कारण-<br>त्वम् ... .. | २८    | ८ | १४३ |

इति प्रथमाध्यायस्य विषयानुक्रमणी ।

अधिरोधारणद्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे—

|                                                                                                     |       |    |     |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------|-------|----|-----|
| सांख्यस्मृत्या वेदसंकोचस्यायुक्तत्वम् ... ..                                                        | १-२   | १  | १४५ |
| योगस्मृत्याऽपि वेदसंकोचस्यायुक्तत्वम्... ..                                                         | ३     | २  | १४७ |
| वैलक्षण्यारूपपुक्तिद्वाराऽपि वेदान्तवाक्यानाम-<br>बाध्यत्वम् ... ..                                 | ४-११  | ३  | १४८ |
| काणाद्बौद्धादीनां स्मृतिपुक्तिभ्यामपि वेदवा-<br>क्यानामबाध्यत्वम् ... ..                            | १२    | ४  | १५३ |
| भोक्तृभोग्यभेदवतोऽपि परब्रह्मणोऽद्वैतत्वस्वावा-<br>ध्यत्वम् ... ..                                  | १३    | ५  | १५४ |
| ब्रह्मणि भेदाभेदयोर्वावहारिकत्वमद्वितीयत्वस्य<br>च तात्त्विकत्वम् ... ..                            | १४-२० | ६  | १५५ |
| सर्वज्ञत्वेन जीवसंसारमिथ्यात्वं स्वनिर्लेपत्वं च<br>पश्यतः परमेश्वरस्य हिताहितभाक्त्वदोषाभावः २१-२३ | ७     | ७  | १५८ |
| अद्वितीयस्यापि ब्रह्मणः क्रमेण नानाकार्याणां<br>सृष्टिसंभाषना ... ..                                | २४-२५ | ८  | १६० |
| ईश्वरस्योपादानरूपपरिणामिकारणत्वव्यवस्थाप-<br>नम् ... ..                                             | २६-२९ | ९  | १६२ |
| ईश्वरस्याशरीरित्वेऽपि मायावित्त्वम् ... ..                                                          | ३०-३१ | १० | १६४ |
| नित्यतृप्तस्येश्वरस्यापि प्रयोजनं विनाऽशेषजगदु-<br>त्पादकत्वम् ... ..                               | ३२-३३ | ११ | १६५ |
| कर्मनियन्त्रितानां जीवानां सुखदुःखनिमित्तमा-<br>त्रस्य जगत्संहरतश्चेश्वरस्य नैर्घृण्यदोषाभावः ३४-३६ | १२    | १२ | १६५ |

|                                                                                                                                  |    |     |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----|-----|
| निर्गुणस्यापि ब्रह्मणो विवर्तकत्वेन प्रकृतित्व-<br>सिद्धिः, ... .. ३७                                                            | १३ | १६७ |
| <b>उक्ताध्यायस्य द्वितीयपादे—</b>                                                                                                |    |     |
| संस्वानुमतप्रधानस्य जगद्धेतुत्वस्रण्डनम् ... १-१०                                                                                | १  | १६९ |
| असद्वशोद्भवे काणाददृष्टान्तस्यास्तित्वम् ... ११                                                                                  | २  | १७४ |
| परमाणूनां संयोगेन जगदुत्पत्तेयुक्तिविरुद्धत्वम् १२-१७                                                                            | ३  | १७५ |
| ईश्वरादिज्ञानां बाह्यत्वस्तित्ववादिबौद्धविशे-<br>षसंमतानां परमाणूनां शब्दस्पर्शादीनां च<br>जगदुत्पादकत्वमतस्रण्डनम् ... .. १८-२७ | ४  | १७९ |
| विज्ञानवादिबौद्धसंमतविज्ञानस्य जगत्कर्तृत्वादि-<br>स्रण्डनम् ... .. २८-३२                                                        | ५  | १८४ |
| जीवाविसतपदार्थवादिनां बौद्धान्तराणां मतस्र-<br>ण्डनम् ... .. ३३-३६                                                               | ६  | १८७ |
| तटस्थेश्वरवाद्युक्तत्वम् ... .. ३७-४१                                                                                            | ७  | १९१ |
| जीवोत्पत्त्यादेर्युक्तत्वम् ... .. ४२-४५                                                                                         | ८  | १९३ |
| <b>अविरोधास्यद्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे ।</b>                                                                                    |    |     |
| वेदान्तवादिमत आकाशस्यानित्यत्वकथनम्, ... १-७                                                                                     | १  | १९५ |
| स्वरूपवतो ब्रह्मणो वायोरुत्पत्तिकथनम्, ... ८                                                                                     | २  | १९९ |
| सद्रूपस्य ब्रह्मणोऽजन्मत्वं जगज्जनकत्वं च, ... ९                                                                                 | ३  | १९९ |
| कार्यकारणयोरभेदेन वायुभूतस्य ब्रह्मणस्तेजः-<br>सृष्टिः, ... .. १०                                                                | ४  | २०० |
| वेदोक्ततैजोरूपब्रह्मणो जलोत्पत्तिसिद्धिः, ... ११                                                                                 | ५  | २०१ |
| छान्दोग्योपनिषदुक्तजलोत्पन्नान्नाशब्दस्य पृथि-<br>व्यर्थकत्वम् ... .. १२                                                         | ६  | २०१ |
| पूर्वपूर्वकार्योपाधिकाद्ब्रह्मण उत्तरोत्तरकार्योत्पत्ति-<br>सिद्धिः, ... .. १३                                                   | ७  | २०२ |
| प्रलयकाले पृथिव्यादीनां विपरीतक्रमकल्पनम् १४                                                                                     | ८  | २०३ |
| प्राणादीनां भूतेष्वन्तर्भावान्न तेषां सृष्टिक्रममङ्गः, १५                                                                        | ९  | २०४ |
| वयुषो जन्ममरणयोर्मुख्यत्वेन जीवस्यैतयोर्भा-<br>वकत्वम्, ... .. १६                                                                | १० | २०५ |

|                                                            |       |    |     |
|------------------------------------------------------------|-------|----|-----|
| जीवजन्मन औपाधिकत्वेन तस्य यस्तुतो नित्य-                   |       |    |     |
| त्वम् ... ..                                               | १७    | ११ | २०६ |
| जीवस्याचिद्रूपत्वस्रण्डनपूर्विका तच्चिद्रूपत्व-            |       |    |     |
| सिद्धिः, ... ..                                            | १८    | १२ | २०७ |
| जीवस्याणुत्वस्रण्डनपूर्वकं तत्सर्वगतत्वप्रतिपाद-           |       |    |     |
| नम् ... ..                                                 | १९-३२ | १३ | २०८ |
| जीवस्याकर्तृत्वानिरसनपूर्वकं तत्कर्तृत्वप्रतिपादनम्, ३३-३९ | १४    | १५ | २१५ |
| जीवकर्तृत्वस्याध्यस्तत्वेनावस्तविकत्वम् ...                | ४०    | १५ | २१८ |
| जीवस्थेश्वरप्रवृत्तत्वेन न रागप्रवृत्तत्वम् ...            | ४१-४२ | १६ | २१९ |
| औपाधिककल्पनेर्जीविशयोर्जीवानां च परस्परं                   |       |    |     |
| व्यवहारव्यवस्था ... ..                                     | ४३-५३ | १७ | २२१ |
| उक्ताध्यायस्य चतुर्थपादे ।                                 |       |    |     |
| इन्द्रियाणामनादित्वनिराकरणपूर्वकं तेषामात्म-               |       |    |     |
| समुत्पन्नत्वम् ... ..                                      | १-४   | १  | २२६ |
| इन्द्रियाणामेकादशसंख्याकत्वस्य वेदान्तसंमत-                |       |    |     |
| त्वम् ... ..                                               | ५-६   | २  | २२८ |
| सांख्यसंमतेन्द्रियसर्वगत्वनिराकरणपूर्वकं तेषां             |       |    |     |
| परिच्छिन्नत्वकथनम् ... ..                                  | ७     | ३  | २३१ |
| प्राणस्वानादित्वस्रण्डनपूर्वकं तदुत्पत्तिसमाधानम्          | ८     | ४  | २३१ |
| प्राणवायोः स्वतन्त्रताकथनम्, ... ..                        | ९-१२  | ५  | २३२ |
| प्राणस्य समष्टिरूपेणाऽऽधिदैविकी विमुक्ताऽऽध्या-            |       |    |     |
| त्मिकी तु तस्याल्पताऽऽहस्यता चेन्द्रियवदिति                | १३    | ६  | २३५ |
| इन्द्रियगणस्य देवताविशेषाधीनत्वकथनम् ...                   | १४-१६ | ७  | २३५ |
| विलक्षणत्वेन प्राणादिन्द्रियाणां वृथक्त्वम् ...            | १७-१९ | ८  | २३८ |
| सर्वजगत्सर्जने जीवस्याशक्तत्वाद्दिशस्यैव सर्वशक्ति-        |       |    |     |
| मत्वात्तस्यैव तन्निर्मातृत्वम्, ... ..                     | २०-२२ | ९  | २४१ |
| इति द्वितीयोऽध्यायः ॥                                      |       |    |     |

साधनारूपतृतीयाध्यायस्य प्रथमपादे ।

|                                            |    |   |     |
|--------------------------------------------|----|---|-----|
| जीवस्य भाविशरीरजीवरूपसूक्ष्मभूतवेदितस्यैव- |    |   |     |
| तो गमनम् ... ..                            | १० | ७ | १   |
|                                            |    |   | २४४ |

|                                                               |       |   |     |
|---------------------------------------------------------------|-------|---|-----|
| कर्मान्तरैः सानुज्ञयस्य जीवस्य लोकांतरारो-                    |       |   |     |
| हणम्, ... ..                                                  | ८-११  | २ | २४९ |
| पापिनां याम्यलोकगमनम्, ... ..                                 | १२-२१ | ३ | २५२ |
| अबरोहिणो जीवस्य विषदादिसमानत्वम्, ....                        | २२    | ४ | २५७ |
| स्वर्गाद्वतरणकाले स्वर्ग-वृष्टि-पृथिवी-पुरुष-यो-              |       |   |     |
| पित्तु क्रमशो जनिष्यतो जीवस्य स्वर्गे वृष्टौ                  |       |   |     |
| च जन्मनि त्वरा, तदितरेषु च जन्मनि वि-                         |       |   |     |
| लम्ब इति, .... ..                                             | २३    | ५ | २५९ |
| सस्यादी जीवस्य न मुष्यजन्म किंतु संश्लेषमा-                   |       |   |     |
| त्रमिति, ... ..                                               | २४-२७ | ६ | २५९ |
| उक्ताध्यापस्य द्वितीयापादे ।                                  |       |   |     |
| स्वप्नदृष्टौर्मिथ्यात्वकथनम्, ... ..                          | १-६   | १ | २६२ |
| सुषुप्तिस्थानरूपस्य हृत्स्थब्रह्मण एकत्वस्थापनम्,             | ७-८   | २ | २६६ |
| स्वप्नावस्थितस्यैव जीवस्य तस्मात्समुद्बोधो नाप-               |       |   |     |
| रस्येति, ... ..                                               | ९     | ३ | २६७ |
| मूर्च्छाया जाग्रदाद्यवस्थान्तरमिन्नत्वम्, ....                | १०    | ४ | २६९ |
| ब्रह्मणो नीरूपभावस्य वेदान्तसंमतत्वम्, ... ११-२१              |       | ५ | २६९ |
| ब्रह्मणो निषेधातीतत्वेन सत्यत्वस्थापनम्, ... २२-३०            |       | ६ | २७५ |
| ब्रह्मणोऽन्यस्यावस्तुत्वव्यवस्थापनम्, ... ३१-३७               |       | ७ | २८० |
| कर्मफलोत्पत्तिं प्रतीश्वरस्यैव कर्तृत्वं नापूर्वस्येति, ३८-४१ |       | ८ | २८४ |
| उक्ताध्यापस्य तृतीयापादे ।                                    |       |   |     |
| छान्दोग्यवृहदारण्यकश्रुत्युक्तयोः पञ्चाशिविद्यो-              |       |   |     |
| पासनयोर्विध्यनुष्ठानफलसाम्येनैकत्वम् ... १-४                  |       | १ | २८६ |
| गुणोपसंहारस्य कर्तव्यत्वम्, ... ..                            | ५     | २ | २८९ |
| छान्दोग्यकाण्वशास्त्रयोरेकद्विधत्रिध्याभेदकथनम्,              | ६-८   | ३ | २९० |
| ब्रह्मदृष्टैर्हेतुत्वेनाक्षरोद्गीथयोरेकत्वसंपादनम् ... ९      |       | ४ | २९३ |
| वसिष्ठत्वादिगुणानामुपसंहर्तव्यत्वम् ... ..                    | १०    | ५ | २९४ |
| आनन्दसत्यत्वादीनां ब्रह्मगुणानां प्रतिपत्तिफल-                |       |   |     |
| त्वेन सर्वशास्त्राहु समानत्वाद्यवस्थापकविध्य-                 |       |   |     |
| भाषाच्च तेषामुपसंहर्तव्यत्वम्, ... .. ११-१३                   |       | ६ | २९५ |

|                                                       |               |       |     |
|-------------------------------------------------------|---------------|-------|-----|
| पुरुषज्ञानस्य संसारकारणाज्ञाननिवर्तकत्वानुरूप-        |               |       |     |
| धस्यैव वेद्यत्वम्, ... ..                             | १४-१५         | ७     | २९६ |
| ईश्वरस्यैवाऽऽत्माशब्दवाच्यत्वं न विराज इति, ...       | १६-१७         | ८     | २९८ |
| काण्वच्छान्दोग्यपद्योर्ह्ययोर्वस्वेकत्वम्, ...        | १८            | ९     | ३०० |
| प्राणोपासनं प्रति प्राणविद्याप्राप्तयोरनन्यतादु-      |               |       |     |
| द्धपाचमनयोरनन्यतादुद्धेरेव विधेयत्वम्, ...            | १९            | १०    | ३०२ |
| काण्वानामग्निरहस्यब्राह्मणधृष्टदारण्यकयोः पठि-        |               |       |     |
| तायाः शाण्डिल्यविद्याया एकविधात्वम्, ...              | २०-२२         | ११    | ३०३ |
| अहरित्यादित्यगतस्याहमित्यक्षिगतस्य च वेद्य-           |               |       |     |
| पुरुषस्यैकत्वेऽपि स्थानविशेषे तन्नामविशेषस्य          |               |       |     |
| युक्तत्वम्, ... ..                                    | २३            | १२    | ३०४ |
| विद्यैकत्वाभावात्संभृत्वादीनां गुणानां शाण्डि-        |               |       |     |
| ल्यविद्यादिष्वनुपसंहार्यत्वम् ... ..                  | २४            | १३    | ३०५ |
| तैत्तिरीयकताण्डिनोः पुरुषविद्यायाः पृथक्त्वम्         | २५            | १४    | ३०६ |
| वेदमन्त्रप्रवर्गादीनां विद्यानङ्गत्वम्,               |               |       |     |
| अर्थवाद्त्वेन पापपुण्ययोरुपा-                         | } १ वर्णकम् } | २६    | १५  |
| यनस्य हानावुपसंहर्तव्यत्वम्                           |               |       |     |
| पापपुण्यविधूननस्य हानार्थ-                            |               |       |     |
| कत्वमेव न चालनार्थकत्वम्                              | } २ वर्णकम् } |       |     |
| गरणात्प्रागुपास्ये साक्षात्कृते                       | } ... ..      | २७-२८ | १६  |
| सुकृतद्रुकृतक्षयः,                                    |               |       |     |
| उपासकस्यैवाधिंरादिमार्गो न ज्ञानिन इत्यस्य            |               |       |     |
| व्यवस्था, ... ..                                      | २९-३०         | १७    | ३१३ |
| सर्वाभुपासनाभ्युत्तरमार्गविधानम् ... ..               | ३१            | १८    | ३१४ |
| ब्रह्मतत्त्वज्ञानिनां मुक्तिर्निश्चिता न तु पाक्षिकी- |               |       |     |
| त्यस्य प्रतिपादनम्, ... ..                            | ३२            | १९    | ३१५ |
| आत्मस्वरूपलक्षकायां निवेदानां परस्परोपसंह-            |               |       |     |
| र्तव्यत्वम्, ... ..                                   | ३३            | २०    | ३१६ |
| कृतं पिबन्तापिति ह्य भुषण्यपिति च मन्त्रयोर्धै-       |               |       |     |
| द्यैकत्वम्, ... ..                                    | ३४            | २१    | ३१८ |
| एकशास्त्रास्थयोरुपस्तकहोत्रपोर्वाह्यणयोर्विद्यैक्य-   |               |       |     |
| प्रतिपादनम्, ... ..                                   | ३५-३६         | २२    | ३१९ |

|                                                   |               |       |       |
|---------------------------------------------------|---------------|-------|-------|
| उपासनाथं पृथक्त्वेनोपास्यस्य द्वैधज्ञानम्, ....   | ३७            | २३    | ३२१   |
| सत्यविद्याया एकत्वप्रतिपादनम्, ... ..             | ३८            | २४    | ३२२   |
| दहराकाशहार्दाकाशयोरुपसंहर्तव्यत्वम्, ....         | ३९            | २५    | ३२३   |
| उपासकस्य भोजने प्राणाहुतिछोपापात्तिः, ...         | ४०-४१         | २६    | ३२४   |
| उद्गीथकर्माङ्गीभूतदेवतोपासनाया अनियतत्वम्         | ४२            | २७    | ३२५   |
| संबर्गविद्योक्ताधिदैववाच्यध्यात्मप्राणयोरनुचिन्त- |               |       |       |
| नस्य पृथक्त्वम्, ... ..                           | ४३            | २८    | ३२७   |
| मनश्चिदादीनां स्वतन्त्रविद्यात्वस्वीकारः, ...     | ४४-५२         | २९    | ३२८   |
| भौतिकस्याऽऽत्मत्वनिराकरणपूर्वकतदन्यस्याऽऽ-        |               |       |       |
| त्मत्वप्रतिपादनम्, ... ..                         | ५३-५४         | ३०    | ३६५   |
| ऐतरेयगतोक्त्योपासनार्थां पृथिव्यादिदृष्टेः कौपीत- |               |       |       |
| क्यामपि समानत्वम्, ... ..                         | ५५-५६         | ३१    | ३३६   |
| विराहरूपवैश्वानरस्य क्लृप्तस्यैव ध्यातव्यत्वं न   |               |       |       |
| तदंशस्येति ... ..                                 | ५७            | ३२    | ३३७   |
| अनुशातव्यक्षाञ्जित्यदहरादिविद्यानां वेद्यमह-      |               |       |       |
| मिञ्जत्वेन मिञ्जत्वम्, ... ..                     | ५८            | ३३    | ३३८   |
| आत्मनः सगुणोपासनापामेकस्य हृषोर्बहूनां            |               |       |       |
| चोपासनानां वैकल्पिकनियमकथनम्, ...                 | ५९            | ३४    | ३३९   |
| विकल्पेन समुच्चयेन वा प्रतीकोपासनाया ऐच्छि-       |               |       |       |
| कत्वम्, ... ..                                    | ६०            | ३५    | ३४०   |
| विकल्पसमुच्चययोर्वाध्याकाम्यम्, ... ..            | ६१-६६         | ३६    | ३४०   |
| उक्ताध्यापस्य चतुर्थपादे ।                        |               |       |       |
| आत्मज्ञानस्य स्वतन्त्रत्वं न ज्ञातव्यत्वम् ... .. | १-१७          | १     | ३४३   |
| ऊर्ध्वरेत्रोरूपाभमाणामसितत्वव्यव-                 | } १ वर्णकम् } | १०-२० | २ ३५० |
| स्थापनम् ... ..                                   |               |       |       |
| लोककामिनामाभमिणां महानिडा-                        | } २ वर्णकम् } |       |       |
| नर्हत्वम् ... ..                                  |               |       |       |
| उद्गीथावयवस्वीकारस्य ध्येयत्वम् ... ..            | २१-२२         | ३     | ३५२   |
| औपनिषदाख्यानानां विद्यास्तावकत्वम् ...            | २३-२४         | ४     | ३५३   |
| आत्मबोधस्य कर्मानपेक्षत्वम् ... ..                | २५            | ५     | ३५५   |
| विद्यायाः स्वोत्पत्तौ कर्मसापेक्षत्वम्, ... ..    | २६-२७         | ६     | ३५६   |
| आपदि सर्वाङ्गान्यनुज्ञानम् ... ..                 | २८-३१         | ७     | ३५७   |

विद्यार्थानामाश्रमधर्माणां च यज्ञादीनां सकृदनु-

|                                                    |       |    |     |
|----------------------------------------------------|-------|----|-----|
| ज्ञानम् ....                                       | ३२-३५ | ८  | ३५९ |
| अनाश्रमिणो ज्ञानसंभावनम्, ...                      | ३६-३९ | ९  | ३६२ |
| आश्रमिणामश्रोहामावनिरूपणम्, ...                    | ४०    | १० | ३६४ |
| भ्रटोर्ध्वरेतसः प्रायश्चित्तसद्भावाः, ...          | ४१-४२ | ११ | ३६५ |
| भ्रटोर्ध्वरेतसः प्रायश्चित्तस्याऽऽमुष्मिकशुद्धिजन- |       |    |     |
| कत्वं तादृशशुद्धिमतो-व्यवहारानर्हत्वं च, ...       | ४३    | १२ | ३६७ |
| उपासनस्य ऋत्विज्यत्वम्, ...                        | ४४-४६ | १३ | ३६८ |
| मौनस्य विधेयत्वम्, ...                             | ४७-४९ | १४ | ३६९ |
| बाल्यस्य भावशुद्धित्वं न वयःकामचारोमय-             |       |    |     |
| त्वम्, ...                                         | ५०    | १५ | ३७२ |
| इह वा जन्मान्तरे वा ज्ञानोत्पत्तिरिति ज्ञानो-      |       |    |     |
| त्पत्तेः पाक्षिकत्वम्, ...                         | ५१    | १६ | ३७२ |
| सालोक्यादिमुक्तीनां जन्मत्वेन सातिशयत्वं ...       |       |    |     |
| निर्वाणमुक्तेषु निरतिशयत्वम् ...                   | ५२    | १७ | ३७३ |

इति तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ फलरूपचतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे ।

|                                                   |      |    |     |
|---------------------------------------------------|------|----|-----|
| श्रवणादीनामावर्तनीयत्वम्, ...                     | १-२  | १  | ३७५ |
| ज्ञाना जीवने स्वात्मतया ब्रह्मणो ब्राह्मत्वम् ... | ३    | २  | ३७६ |
| प्रतीकेऽहं हृद्यभावः, ...                         | ४    | ३  | ३७७ |
| अब्रह्मणि प्रतीके ब्रह्मधिपः कर्तव्यत्वम्, ...    | ५    | ४  | ३७८ |
| कर्माङ्गेष्वविद्यादिदृष्टीनां कर्तव्यत्वम् ...    | ६    | ५  | ३७८ |
| उपासनायामासनस्य नियतत्वम्, ...                    | ७-१० | ६  | ३७९ |
| ध्यानसाधनस्यैकाग्र्यस्य प्रधानत्वेन दिग्देशका-    |      |    |     |
| लानामनियमः, ...                                   | ११   | ७  | ३८० |
| उपास्तीनामामरणमावृत्तिः, ...                      | १२   | ८  | ३८१ |
| ज्ञानिनः पापलेपामावः, ...                         | १३   | ९  | ३८२ |
| ज्ञानिनः पुण्यलेपामावः, ...                       | १४   | १० | ३८३ |
| संचितपौरुषाऽऽरब्धयोः पुण्यपापयोर्ज्ञानोदयस-       |      |    |     |
| मये विनाशामावः, ...                               | १५   | ११ | ३८३ |

|                                                                            |       |    |     |
|----------------------------------------------------------------------------|-------|----|-----|
| अग्निहोत्रादिनित्यकर्मणो विद्योपयोग्यशस्या-<br>विनाशः ... ..               | १६-७  | १२ | ३८४ |
| सोपासनस्य निरुपासनस्य च नित्यकर्मणस्तार-<br>तम्येन विद्यासाधनत्वम्, ... .. | १८    | १३ | ३८६ |
| अधिकारिणां मुक्तिसङ्गावः, ... ..                                           | १९    | १४ | ३८६ |
| उक्ताध्यायस्य द्वितीयपादे ।                                                |       |    |     |
| वाग्मादीनां मनसि वृत्तिप्रविलयो न स्वरूपेण...                              | १-२   | १  | ३८७ |
| मनसः प्राणे वृत्त्या प्रविलयः ... ..                                       | ३     | २  | ३८९ |
| प्राणस्य जीवे लयानन्तरं पुनर्मूर्तेषु लयः, ... ..                          | ४-६   | ३  | ३९० |
| ज्ञान्यज्ञानिनोरुक्त्वान्तेरपि साम्यम् ... ..                              | ७     | ४  | ३९१ |
| तेजःप्रमृतीनां मूतानां परमात्मनि वृत्त्या लयः, ८-११                        | ५     | ५  | ३९२ |
| देहादेव प्राणोक्त्वान्तोनिषेधः, ... ..                                     | १२-१४ | ६  | ३९४ |
| तत्त्वज्ञानिनो वाग्मादीनां परमात्मनि लयः ..                                | १५    | ७  | ३९६ |
| तत्त्वविद्दे वाग्मादीनां निःशेषेण परमात्मनि लयः                            | १६    | ८  | ३९६ |
| उपासकस्योक्त्वान्तोर्विशेषवस्त्वम्... ..                                   | १७    | ९  | ३९७ |
| निश्चायामपि मूतानां रश्मिशक्तिः, ... ..                                    | १८-१९ | १० | ३९८ |
| दक्षिणाध्यायनमूतस्योपासकस्य ज्ञानफलशक्तिः ...                              | २०-२१ | ११ | ३९९ |
| उक्ताध्यायस्य तृतीयपादे ।                                                  |       |    |     |
| अधिरादिकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्यैकत्वम्, ... ..                               | १     | १  | ४०१ |
| संबत्सरादित्वयोर्मध्ये देवलोकवायुलोकौ संनिवे-<br>शयितव्यौ ... ..           | २     | २  | ४०२ |
| वरुणादीनां संनिवेशादधिरादिभार्गस्य व्यवस्था-<br>पितव्यम्... ..             | ३     | ३  | ४०३ |
| अधिरादीनामातिवाहिकत्वम्, ... ..                                            | ४-६   | ४  | ४०४ |
| उत्तरमार्गेण कार्यब्रह्मगमनम्, ... ..                                      | ७-१४  | ५  | ४०५ |
| प्रतीकोपासकानां ब्रह्मलोकाप्रापणम्, ... ..                                 | १५-१६ | ६  | ४०९ |
| उक्ताध्यायस्य चतुर्थपादे ।                                                 |       |    |     |
| मुक्तिरूपस्य वस्तुनः पुरातनत्वम्, ... ..                                   | १-३   | १  | ४१० |
| मुक्तस्य ब्रह्मणोऽभिन्नत्वम् ... ..                                        | ४     | २  | ४११ |
| मुक्तस्वरूपमूतस्य ब्रह्मणो युगपत्सर्विशेषत्वनि-<br>विशेषत्वे, ... ..       | ५-७   | ३  | ४१२ |



|                                                |              |     |     |
|------------------------------------------------|--------------|-----|-----|
| अर्विरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकस्य |              |     |     |
| भोग्यवस्तूनां सृष्टौ मानससंकरस्यैव हेतुत्वम्   | ८-९          | ४   | ४१३ |
| एकस्यापि पुरुषस्य देहभावाभावयोरैच्छिकत्वम्     | १०-१४        | ५   | ४१४ |
| सर्वेषां देहानां सात्मकत्वम्                   | ... .. १५-१६ | ६   | ४१६ |
| ब्रह्मलोकगतानामुपासकानां जगत्सृष्टौ स्वात-     |              |     |     |
| न्ध्याभावेऽपि भोगभोक्षयोस्तेषां स्वातन्त्र्य-  |              |     |     |
| सिद्धिः .... .. १७-२२                          | ७            | ४१७ |     |

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

समाप्त्यर्थं व्यासाधिकरणगतविषयानुक्रमणी ।

॥ समाप्तमिदं व्यासाधिकरणार्थदर्शननिर्घण्टपत्रकम् ॥

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।  
श्रीरामकिंकरकृतपा  
ब्रह्मासृतवर्षिणी

इत्यभिधया वृष्या श्रीशंकरानन्दमगधद्विरचितया द्वीपिकया च  
समेतानि श्रीमद्वैपायनप्रणीतब्रह्मसूत्राणि ।

श्रीरामचरणहृद्मह्वयानन्दसाधनम् ।  
नमामि षट्त्रयोयोगात्यापाणोऽपि सुखं यतः ॥ १ ॥  
संगतिः संशयः पूर्वपरवक्षी तयोः फलम् ।  
भाण्यस्थाः श्रुतयः सर्वाः सूत्राण्यनवशेषतः ॥ २ ॥  
व्याख्यपायन्ते स्फुटं न्यायैर्मतमेवोऽपि कुत्रचित् ।  
उच्यते सुखत्रयोवार्थं श्रीरामो वीक्षतामिवम् ॥ ३ ॥

इह ऋतु नित्याध्ययनविधिनाऽधीतस्वाध्यायमापातज्ञानयन्तं पुरु-  
षार्थकाममैहिकामुष्मिकफलेषु विरक्तमुपलभमानः परमकारणिको मुनिः  
सूत्रयामास—

( ब्रह्मणो विचार्यत्वम् । अपि०१ )

अथातो ब्रह्मविज्ञासा (१)

अत्राद्यशब्देन साधनचतुष्टयसंप्रत्यानन्तर्यमुच्यते । 'तद्यथेह कर्म-  
चित्तो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचित्तो लोकः क्षीयते' [ छा० ८  
१ । ६ ] इत्यादिना कर्मफलानामनित्यत्वम् । 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचि-  
तान्ब्राह्मणो निर्बिदमापान्नास्वक्लुञ्जते' [ शु० १ । २ । १२ ] इति  
वैराग्यं कर्मफलेषु दर्शितम् । 'शान्तो दान्तः' इत्यादिना ज्ञानत्यादिः ।  
'न च स पुनरावर्तते' [ छा० ८ । १५ । १ ] इत्यादिना मोक्षस्य नित्य-  
त्वेन तथेच्छा । एतदानन्तर्यमेव साधनचतुष्टयसंप्रत्यानन्तर्यम् ।  
अर्थान्मोक्षकामोऽधिकारी सूच्यते । अतःशब्देन साधनचतुष्टयस्य संभा-

ॐ नमस्तुभ्यं महामाये वरदे कामकपिणि ।

विद्यारम्भं करिष्यामि सिद्धिर्मवतु मे सदा ॥ १ ॥

\* अहो योतः ।

\* इदं एवं च. शीतंमुदितमुत्तरात् ॥

यना । ब्रह्मजिज्ञासेत्यनेनाज्ञातत्वेन विषयत्वं ज्ञातत्वेन प्रयोजनत्वं ब्रह्मण उक्तं भवति । एवं च भेदावत्यवृत्तपङ्कतभूताधिकायां दिसमर्पकत्वेन समन्वया-  
 छलितविचारोपौद्घातत्वाद्वाक्यस्य सूत्रस्य संगतिः । श्रवणविधिविषय-  
 वेदान्तवाक्यैः स्वार्थनिर्णयायास्यापेक्षणाच्छ्रुतिसंगतिः । एवं सर्वेषां  
 सूत्राणां श्रुतिसङ्गतिः । विज्ञेयतो ब्रह्मपरवाक्यतात्पर्यनिर्णायकन्या-  
 यसूचकत्वाद्ब्रह्मविचारात्मकशास्त्रसंगतिः । एवमग्रेऽपि शास्त्रसंगति-  
 क्त्या । अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादिभिः सूत्रैः सर्वे वेदान्ता ब्रह्म-  
 परा इति समन्वयप्रतिपादनात्तेषामाध्यायं समन्वयाध्यायसंगतिः ।  
 प्रथमपादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गानां वाक्यानां विचार्यत्वाद्वापादं पादसं-  
 गतिः । प्राथम्यादस्य सूत्रस्याधिकरणसंगतिर्नापेक्षिता । एतदान-  
 न्तर्णं त्वितरेषामपेक्षितं तच्च तत्तदधिकरणप्रस्तावे बक्ष्यामः । तत्र  
 तावत् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' [बृ०  
 २।४।५] इति वाक्यं द्रष्टव्य इत्यात्मसाक्षात्कारफलमनुद्य तत्साध-  
 नत्वेन श्रवणं विदधाति । श्रवणं नाग सर्वेषामुपनिषद्वाक्यानामहि-  
 तीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणानुकूलन्यायविचारस्तादृशविचारा-  
 त्मकं वेदान्तशास्त्रमारम्भणीयं न वेति संवेहः । सर्वत्र पूर्वोत्तरपक्ष-  
 युक्तिद्वयं संशयबीजं द्रष्टव्यम् । तत्र पूर्वपक्षः—शास्त्रं नाऽऽरम्भणीयं  
 विषयप्रयोजनशून्यत्वात् । \*तथाहि संदिग्धं हि विषयः । ब्रह्म तु  
 जीवात्मना ब्रह्मात्मना वा न संदिग्धम् । अहंप्रत्ययेन 'सत्यं ज्ञानम-  
 नन्तं ब्रह्म' [तै० २।१] । इति वाक्येन निश्चितत्वात् । न च  
 तत्त्वमस्यादिवाक्येनैक्यप्रतिभासनावृह्यत्ययेन भेदावभासनात्संशयः ।  
 अवाधिताहंत्वयवचिरोधैक्यभूतेरुपचरितार्थत्वात् । नचाध्वस्तात्म-  
 विषयत्वमहं प्रत्ययस्य । स्वयंप्रकाश आत्मन्यध्यासायोऽगात् । नापि  
 प्रयोजनम् । उक्तरूपब्रह्मज्ञानेऽपि मुक्तेरदर्शनात् । तस्माच्छास्त्रं नाऽऽ-

शंकरस्य नमस्कारं कृत्वा शंकरमाव्यया ।

सूत्रव्याख्या हि तच्छ्रोतुमुखायां क्लिपते मया ॥ २ ॥

\* तदेव विषयप्रयोजनशून्यत्वमेव दर्शयति । + ननु अव्यक्तात्मविषयत्वेन आनोऽहं-  
 प्रत्ययं तस्याशङ्क्य निराकरोति । न चेति । × असौगादिति । तत्र प्रकाशपद्विरुद्धत्वमा-  
 योर्नैक्यमवयोर्देहात्मनोः श्रुतिरन्तवदन्योन्यतादात्म्यात्म्यात्मरयानिरूपणादिति भावः ।

रंभगीयमिति प्राप्ते राद्धान्तः—शास्त्रमारम्भणीयम् । विषयप्रयो-  
जनयोः संभवात् । श्रुत्यहंमत्ययविरोधेन जीवाभिन्नब्रह्मणः संदिग्ध-  
त्वेन विषयत्वात् । न च श्रुतेरुपचरितार्थत्वम् । \*उपक्रमादितावर्षलि-  
ङ्गसहकृतानेकवाक्यानामुपचरितार्थत्वायोगात् । मनुष्योऽहमित्यादौ परै-  
रपि भ्रमत्वेन +स्वीकारात् । × कर्तृत्वाद्यंशेऽपि श्रुतिबलाद्भ्रमत्वमास्वे-  
यमिति नाध्यासानुपपत्तिः । न केवलं संदिग्धत्वेनापि तु विषयस्तत्वे-  
नापि विषयत्वम् । ननु स्वयंप्रकाश आत्मानि कथं संदिहादिरिति चेत् ।  
नानाद्यविद्यावशात्तादृशेऽप्यात्मन्यध्यासस्यानुभवसिद्धतया स्वरूपज्ञा-  
नस्य तद्विरोधित्वाद्भाषि ÷ फलाभावाः । यथावत्स्वरूपसाक्षात्कारस्ये-  
दानीमसंभवेऽप्यसंभाषनादिशङ्काकलङ्कितत्वेन = निवर्तकत्वामावेऽपि  
श्रवणमनननिदिध्यासनैः शङ्कायां निरस्तायां ब्रह्मसाक्षात्कारेणाविद्या-  
निवृत्तौ प्रतिबन्धकाभावात् । तथा च श्रुतिः—‘तरति शोकमात्म-  
बिद्’ [ छा० ७ । १ । ३ ] ‘एतद्यो वेद निहितं गुह्यायां सोऽविद्या-  
ग्रन्थि विकिरतिह सोम्य’ [ मु० २ । १ । १० ] इति । तस्माद्विषय-  
फलसंभवाच्छास्त्रमारम्भणीयम् । अत्र क्लृप्तशास्त्रप्रतिपाद्यं ब्रह्म ।  
अध्यापैस्तु प्रतिपाद्यानि समन्वयाविरोधसाधनफलानि । तदुक्तम्—

शास्त्रं ब्रह्मविचारस्यमध्यायाः स्युश्चतुर्विधाः ।

समन्वयाविरोधी द्वी साधनं च फलं तथा ॥ १ ॥ इति ।

तत्र विवरणमतानुसारिणः सूत्रे कर्तव्येति पदमध्याहर्तव्यमिति  
वदन्ति । तथा हि ॥ इष्टव्य इति परमपुरुषार्थसाधनं ज्ञान-

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिरव्यासितस्येदमादिमं सूत्रम् । अधी-  
तस्वाध्यायेनाकर्तृत्वादिरूपस्थाऽऽत्मनोऽनवधारणात्तद्व्यधारणाद्यावि-  
द्यानिवृत्तेर्गोक्षस्य सिद्धेरित्यात्मनो ब्रह्मणो विचारस्य कर्तव्यतामाह—  
अथेति । अथशब्दः साधनचतुष्टयसंप्रदानन्तर्पेमाह । अतःशब्दो हेत्वर्थः ।  
ज्ञानुमिच्छा जिज्ञासा ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । यस्माद्गमिहो-

\* उपक्रमोपसंहारत्वम्यासोऽपूर्वत्वफलम् । अर्थमादोषन्ती च लिङ्गं तावदर्थविशेषे ।  
+ स्वीकारादिति अहं मनुष्य इत्यादि बुद्धेर्देहतादृशमध्यासात्मैवोपचरति मत्तः । × तेन  
कर्तृत्वादिनाऽपि न जीवस्यासंदिग्धत्वं तस्य अज्ञातव्यत्वार्थः । ÷ फलं प्रयोजनम् । =अवि-  
चेत्यादि । ॥ इष्टव्य इति दर्शनव्युद्दिश्य श्रवणादि विधीयते ।

मनुवाचं कृत्वा तत्र 'द्वा सुपर्णा' [ मु० ३।१।१ ] इत्यादिना  
 'ब्रह्म वेद् ब्रह्मैव भवति' [ मु० ३।२।९ ] इत्यादिना च भिन्ना-  
 भिन्नविचारयोः साधनत्वेन पक्षमासी श्रोतव्य इत्यनेन प्रकृतिलक्षण-  
 याऽभिन्नात्मविचार एव साक्षात्कारसाधनमिति निश्चयते। एवं च 'नावे-  
 द्द्विन्मनुते तं ब्रह्मन्तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' इत्यादिना ब्रह्मणि प्रसा-  
 णान्तराभावात्मनननिविध्यासनसहकृतं विचारितवेदान्तवाक्यमेव हेतु-  
 रिति संपद्यते। तथा च विचारविषयेक्षिताधिकार्यादीनामागमिक-  
 स्वेऽपि न्यायेन निर्णयार्थमिदं सूत्रम्। तस्वानुवादाकृत्य आनर्थक्यं  
 स्वादिति कर्तव्यपदाध्याहारः शास्त्रे पुरुषप्रवृत्तिसिद्धये श्रुतिसाकल्याय  
 वा। एवं सति जिज्ञासेत्यत्र प्रकृत्या+साध्वं ज्ञानमजहल्लक्षणया प्रत्ययेने-  
 च्छासाध्यविचारो जहल्लक्षणया बोध्यत इति नवीनमतम्। विवरण-  
 दिप्यण्यां तु प्रकृतेः \*सिद्धं ज्ञानमात्रवाचकत्वमङ्गीकृत्य साध्यज्ञानेऽपि  
 जहल्लक्षणैवेत्युक्तम्। तथा चायं सूत्रस्य श्रौतोऽर्थः—साधनचतुष्टयसंप-  
 न्नस्य ब्रह्मज्ञानाय विचारः कर्तव्य इति ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वं वेदान्तानां  
 विचारार्थत्वं चार्थल्लभ्यते। तथा चोक्ताधिकारिणो मोक्षसाधनब्रह्मज्ञा-  
 नाय वेदान्तवाक्यविचारः कर्तव्य इत्याधिकार्थ इति। मिश्रमतानुसा-  
 रिणस्तु श्रुतिसूत्रयोरैकरूप्यनियमामाद्यं विषयप्रयोजनज्ञानादेव पुरुष-  
 प्रवृत्तिसिद्धिं श्रवणविध्यसंभवं च मन्वानाः कर्तव्येति पदं नाध्याहर्त-  
 मिति वदन्ति। तेषां मते साधनचतुष्टयसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मज्ञानेच्छा भवति  
 कर्मफलस्यानित्यत्वाद्ब्रह्मज्ञानात्परमपुरुषार्थश्रवणाद्येति श्रौतोऽर्थः।  
 ज्ञानस्य विचारसाध्यत्वाद्ब्रह्मविचारकर्तव्यताऽऽक्षिप्यत इति विचारकर्तव्य-  
 ताऽऽक्षिप्येवेति। अत्र विचारानारम्भवादिन उपायान्तरसाध्या मुक्ति-  
 रिति फलम्। सिद्धान्तिनस्तु विचारसंभवाद्ब्रह्मज्ञानसाध्यैव मुक्ति-  
 रिति फलफलिभावः ॥ १ ॥

त्रादिकैमनित्यफलं ब्रह्मज्ञानं चानन्तफलं तस्माच्छ्रमदमादिसाधनचतु-  
 ष्टयसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मणो वक्ष्यमाणलक्षणस्य जिज्ञासा कर्तव्येति वाक्य-  
 शेषः ॥ १ ॥

\* मानसीत्यर्थः। + साधानुसाध्यमजहल्लक्षणया। तत्रानहल्लक्षणा वाच्यार्थपरित्या-  
 गेनानन्तरे वृत्तिः। यथा शोणितिलच्छी शोणो धावतीति वैशिष्टे क्लृप्ता। साध्यविशिष्टं  
 ज्ञानमजहल्लक्षणया बोध्यते। × निचारेण सिद्धं निष्कलं ज्ञानं न तु निष्कलमानमित्यर्थः।

एवं प्रथमसूत्रे ब्रह्ममीमांसायाः प्रतिपादितत्वात्तस्याश्च लक्षणप्रमाण-  
समन्वयाधिरोचसाधनफलविषयतयाऽनेकविधत्वेऽपि प्रथमं ब्रह्मणः  
प्राधान्यात्तल्लक्षणार्थमिदं सूत्रम्—

( ब्रह्मणो लक्ष्यत्वम्, अधि० २ )

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

अप्य पूर्वाधिकरणेन संदिग्धत्वाद्ब्रह्म विचार्यमित्युक्तम् । जन्मादेरन्य-  
निष्ठत्वेन ब्रह्मणो लक्षणाभावेन स्वरूपस्यैवाभावादित्येवंरूपाक्षेपसंगतिः ।  
एवं पूर्वाधिकरणसिद्धान्तयुक्तिगुत्तराधिकरणपूर्वपक्षयुक्तिं चापेक्ष्य  
पथासंभवाक्षेपसंगतिसत्तत्र तद्योद्धा । हृदान्तप्राप्त्याहारणसंगती च  
सर्वत्र भवतः । प्रकृते तु पथा संदिग्धत्वेन हेतुना ब्रह्म विचार्यम् ।  
एवं जन्मादेरन्यनिष्ठत्वेन हेतुना ब्रह्मणो लक्षणं नास्तीति हृदान्तसंगतिः ।  
पथा विचार्यत्वे हेतुर्न तथा लक्षणसद्भावे हेतुरस्तीति प्राप्त्याहारणसं-  
गतिः । पूर्वसूत्रस्थब्रह्मलक्षणपरिक्षणात्तद्येवात्र फलम् । अत्येवं विषय-  
पक्षयम् । ' यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीयन्ति ।  
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ' [ तै० ३ । १ ] ।  
प्रयन्ति स्त्रियमाणानीत्यर्थः । अत्र भूयमाणं जन्मादिकं ब्रह्मलक्षणं न  
वेति संदेहः । जन्मादेः प्रपञ्चनिष्ठत्वेन ब्रह्मसंबन्धामापात्र तल्लक्षणत्व-  
मिति प्राप्तम् । न च ' सत्यं ज्ञानम् ' [ तै० २ । १ ] इत्यादिवाक्यपक्ष-  
सत्यत्वादिकं लक्षणं भवत्विति चाच्यम् । अप्यसिद्धत्वादिति प्राप्तेऽभि-  
धीयते—अगजजन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो लक्षणं तदर्थं\* सत्यादिकं स्वरूप-  
लक्षणम् । न च लोके सिद्धभिन्नार्थत्वात्सत्यादीनामेकब्रह्मलक्षणत्वं न  
प्रसिद्धमिति वाच्यम् । +सत्यादिपदानाम् स्रष्टा×र्थत्वेनेकब्रह्मपर्ययस्यापि-

पूर्वाधिकरणे ब्रह्म विज्ञास्यमित्युक्तम् । किंलक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मेत्यत  
आह भगवान्सूत्रकारः—जन्मेति । जन्मोत्पत्तिरादिर्यस्य तद्विदुं जन्म-

\* अभावलक्ष्यत्वादि लक्षणं तदस्यम् । यथा शास्त्रं चन्द्रस्य । यावन्नस्यपानि  
लक्षणम् । यथा गोः सास्त्रादिनत्वम् । + सत्यादिपदानामिति । निश्चार्थकानामपि विद्युत्त-  
आनुपायानाश्चादिस्रष्टानामेकदेवदत्तमर्थाधिक्ये ( पर्ययसाधित्वे ) यथा न विरोधतया  
लोकसिद्धनिरूपानां सत्यादिस्रष्टानामस्रष्टव्यपर्ययसाधित्वे स्वरूपलक्षणसिद्धिरिति मतः ।  
× अस्रष्टार्थत्वं नाम स्वयमेवपित्यतदार्थसंसर्गाद्योच्यमानलक्षणम् । यथा प्रकृतप्रवरा-  
श्चन्द्र इत्यादिलक्षणभावानां लोके लक्षणतया चन्द्रादिव्याधिकमात्रहेतुत्वात्सर्वपर्ययलक्षणा  
चाविरुद्धा सर्वैर्यथावदैकतयाः स्रष्टैरेकतयाऽङ्गीकारात्तथा सत्यज्ञानादिवैरुत्वं ब्रह्म  
भातीति च पलासिद्धिः । नापि होवासिद्धिः । उपक्रमादिलिङ्गैर्वेदान्तानामद्वितीयास्रष्टव्यमिति  
तात्पर्यनिश्चयसत्यादिति मतः ।

त्वेन लक्षणत्वसंभवाविति । सूत्रार्थस्तु—जन्माऽऽदिष्येति \* तद्गुणसंवि-  
ज्ञानो ब्रह्मब्रह्मिः । जन्मस्थितिभङ्गं समासाथः । पूर्वतूत्रस्थब्रह्मपदानु-  
षङ्गस्तत्पदाध्याहारस्तेनास्य प्रत्यक्षाद्युपस्थितस्य प्रपञ्चस्य जन्मस्थिति-  
भङ्गं यतो भवति तद्ब्रह्मेत्यर्थः । यद्यप्यव्यभिचाराज्जन्मादिकारणत्वं  
प्रत्येकं लक्षणं संभवति तथाऽप्युत्पादकत्वमात्रं निमित्तेऽपीत्युपादात्तत्व-  
सिद्ध्यर्थं त्रयग्रहणम् । न च ल+प्रग्रहणेनैव तस्मिन्मौ शेषवैषम्यमिति  
वाच्यम् । न ह्युपादानत्वं कुलालधर्मतयोच्यते किंतु प्रकृतिविका—रन्वाये-  
नाद्वितीयब्रह्मसिद्ध्यर्थमेवं च भवतु ब्रह्मोपादानं कुला+लवदधिष्ठाताऽप्य  
एवास्तु । राज्यस्थितौ राजवच्चान्य एव स्थितौ कर्ताऽस्त्वित्पाशाङ्गा मा  
भूविति त्रितयग्रहणं कृतमिति ॥ २ ॥

एवं जगत्कारणत्वेन ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वमर्थावुक्तं तदार्थिकं सर्वज्ञत्वं  
हेत्वन्तरेण समर्थयितुमाह—

( ब्रह्मणो वेदकर्तृत्वम्, अधि० ३ )

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

शास्त्रं वेदस्तद्योनित्वं तत्कर्तृत्वं सर्वज्ञकल्पवेदकर्तृत्वादि ब्रह्म सर्वज्ञ-  
मित्यर्थः । अत्र सर्वज्ञत्वानिर्धारणं पूर्वपक्षफलं तन्निर्धारणं सिद्धान्त-  
स्थितिभङ्गं जन्माद्यस्य प्रत्यक्षाद्युपस्थापितस्य विचित्रस्य जगतो यतो  
यस्मात्सर्वज्ञात्सर्वज्ञकेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः ॥ २ ॥

पूर्वाधिकरणे सत्यज्ञानादिरूपस्य ब्रह्मणो विसहस्रजगज्जन्मादिकार-  
णत्वं तदस्थलक्षणमुक्तम् । अर्थात्सर्वज्ञता च । इदानीं वेदस्याजायमान-  
त्वेन तामाक्षिप्य 'अस्य महतः' इत्यादि वाक्याद्देवगन्मनः प्रमितेरुक्तां

\* विधेयान्यविसृष्टकारणवर्षकत्वं तद्गुणत्वम् । यथा ह्यम्बकर्ममानयेति । विधे-  
यान्त्रयित्पट्टावयववर्षकत्वमतद्गुणत्वम् । यथा चित्रगुः । + ब्रह्मान्ययामित्वाभावा-  
दिति भावः । ×उपादानत्वसिद्धीति । नमस्कारणत्वस्य स्थितिकारणत्वस्य च त्रिभित्तकारण-  
साधारण्यादुपादानत्वप्रत्यायनाय प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि लघो दर्शित इति भावः । + तर्हि  
श्रुतौ जन्मादिकारणकप्रतिशयं व्यर्थं लयमात्रप्रतिपादनादेवेष्टासिद्धेरित्याह नचेति । = यत्प्र-  
कृतिको विकारः स तदभिन्न इत्यर्थः । + कुलालादिवदिति । घटनमनि मृद्वितिरिक्तकुलात्  
इव जगज्जन्मन्वप्युपादानब्रह्मणोऽप्यत्कर्तृरूपनिमित्तं भविष्यतीति तस्यैव ब्रह्म  
भविष्यतीति तस्यैव ब्रह्मणः श्रुतौ नगज्जननकर्तृत्वमुक्तं तथा राज्यस्तेसि पाठनस्ये-  
षालनीयप्रमाद्युपादानातिरिक्तत्वमजगत्तः स्थितौ मगदुपादानब्रह्मणोऽप्यविसृष्टिं भवि-  
ष्यतीति तन्मा भूदिति त्रितयग्रहणमिति भावः ।

३. फलम् । अधवा वेदन्तित्वाद्ब्रह्मणो विश्वयोनिता मेति शङ्कामपाकर्तुं शास्त्रयोनित्वमुच्यते । अस्मिन्मध्ये श्रौतप्रतिज्ञैव संगतिः । पूर्वसूत्रोक्तजगत्कारणत्वस्यैव समर्थनात् । 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेवेतद्यद्देवो यजुर्वेदः सामवेदः' [ वृ० २ । ४ । १० ] इत्यादिवाक्यमस्य सूत्रस्य विषयः । अस्य नित्यासिद्धस्य ब्रह्मणो निःश्वास इवानापासेनैव वेदः सिद्ध इत्यर्थः । अत्र ब्रह्म वेदं करोति न वेति सिद्धे न करोति 'वाचा विरूप नित्यया' इति नित्यत्वव्यवहारात् । अस्मिन्मध्ये विरूपेति देवतां संबोध्य नित्यया वाचा स्तुतिं श्रेयसेति प्राथमेति ।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।

आदौ वेदमपी विख्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

इति स्मृतेः । अतो न वेदकर्तृत्वं ब्रह्मण इति न जगद्योनित्वमिति प्राप्ते ब्रूमः—निःश्वसितन्यायेन वेद्योत्पत्तिव्यवहारात् । 'तस्माद्यज्ञात्सर्व-  
हुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इति सर्वैर्धैर्ह्यमानाद्यज्ञशब्दवाच्याद्ब्रह्मणो जज्ञिरे' इति वेदकर्तृत्वप्रतीतेर्विश्वयोनित्वम् । एतदनुरोधेन वाचेत्यादिभ्रुतिस्मृत्योरर्थवादत्वम्\* । न च वेदस्य सकर्तृकत्वे पीरुपेपरत्वमुपलभ्य विरचितत्वानङ्गीकारादिति । अस्य सूत्रस्य द्वितीयं वर्णकम्—  
पूर्वसूत्रे जन्मादिकारणत्वकथनेनाङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद्चटव-  
दित्यनुमानमपि ब्रह्मणि प्रमाणमित्याजह्ना स्यात् । त(सोमा)न्मा मुद्विती-  
वमुच्यते । ब्रह्म न मानान्तरपेथां कुतः शास्त्रयोनित्वात् । शास्त्रं वेदो  
योनिः प्रमाणं यस्य तस्वादित्यर्थः । 'तं त्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'  
[ वृ० ३ । ९ । २६ ] इत्युपनिषद्देहात्त्वप्रतीतेनविश्विभ्रान्तुते तं बृहन्त-

सर्वज्ञतां समाधत्ते—शास्त्रेति । विचित्रस्य ऋग्येदादेः शास्त्रस्य योनिः  
कारणं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ।

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च पुंसां येनोपदिश्यते ।

तद्ब्रह्माश्वोपदिश्यन्ते शास्त्रं शास्त्रविदो विदुः ॥

\* अर्थशब्दत्वमेति । तथा धानित्यवागिधानं वेदस्य स्तवकारणेति भावः । × उपल-  
भ्येति । परमेधरः स्वहृतपूर्वत्वव्यवहाराद्यमममन्तं वेदं तदधीश्व गान्त्रेण करोति । यत्र  
हि अर्थज्ञानपूर्वकं गानपरचना तत्रैव पीरुपेयता । अत्र यौग्यदाह सा कुर्वेति भावः ।



मिति श्रुत्या स्पष्टं मानान्तरनिषेधाच्च । अनुमानं तु अनुकूलतर्कतयैषोप-  
श्रुत्यते न स्वातन्त्र्येणैवमिप्रायः । मनु ' यतो वाचो निवर्तन्ते ' [ तै०  
२।१।१ ] इति श्रुतेर्वैषेद्यत्वं कथमिति चेन्न । लक्षणावृत्तिदिपप-  
त्वेन ज्ञास्त्रधोनिर्त्वं चैतन्पाविपयत्वेनाप्रमेयत्वमित्पविरोधात् । पूर्वसूत्रे  
द्वितीयवर्णके ब्रह्मणः ज्ञास्त्रप्रमाणकत्वमुक्तं तद्वाक्ष्य्य समाधीयते  
तथा चाऽऽक्षेपसंगतिः । फलं तु पूर्वपक्ष उपनिषत्सु ह्युल्लुपवृत्तवनुप-  
पत्तिः सिद्धान्ते प्रवृत्तिसिद्धिरिति ॥ ३ ॥

वेदान्ताः कर्मशेषभूतकर्मव्यतिपरा उत नित्यशुद्धबुद्धमुक्तब्रह्मपरा  
वेति संशये न ब्रह्मपरा अहेयानुपादेयसिद्धब्रह्मपरत्वे निष्प्रयोजनत्व-  
सापेक्षत्वयोः प्रसङ्गात् । तदुभयनिवारणाय कर्तुं देवताद्विपतिपादनद्वारा  
कर्मपरत्वमिति प्राप्ते राद्धान्तः—

( वेदान्तानां ब्रह्मबोधकत्वम्, अधि० ४ )

तच्च समन्वयात् ॥ ४ ॥

तुदाब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । तद्ब्रह्म वेदान्तेषु तात्पर्येण प्रतिपाद्यते  
कृतः समन्वयात् । सम्यगन्वयः समन्वयस्तस्मात् । अन्वयस्य ×सम्यकत्वं  
तात्पर्यबन्धम् । वेदान्ता न कर्त्राद्विपतिपादका भिन्न=प्रकरणस्थत्वाद् ।  
न च प्रकरणमेवानुपासनाधिपरा इति वाच्यम् । तद्व्यवस्थादीनां  
विधिरहितानां बहुलमुपलब्धेः ⊙ स्वरूपज्ञानादपि नायं सर्प इत्यादिवद्-  
नर्थनिवृत्तेः प्रयोजनस्य सद्भावादपि विधिशेषत्वकल्पनायोगात् । न  
च सापेक्षत्वं रूपाद्विहीनस्य ब्रह्मणः प्रमाणान्तरागम्पत्वेन तत्प्रति-

अथ वा पूर्वाधिकरणे यतो वेत्यादि ज्ञास्त्रं न विचारितं किं तु क्षित्या-  
दिकं सकर्तृकमित्पनुमानमुक्तमिति शङ्कां निवर्तयितुमद्वयाद्यगम्यत्वेन  
ब्रह्मणः ज्ञास्त्रैकप्रमाणात्माह—ज्ञास्त्रेति ॥ ३ ॥

पूर्वाधिकरणे ज्ञास्त्रव्यतिरिक्तप्रमाणागम्यत्वमुक्तम् । साक्षादेव ज्ञास्त्र-

\* तत्र स्वैकवाच्यत्वं कर्तृत्वावकत्वं तत्पर्यायानां देवतासावकत्वं विधिद्विधादि-  
वाक्यानां फलसापेक्षत्वम् । + निष्प्रयोजनेति । लोके सिद्धार्थमितिपादकत्वं घटः  
शुद्धर इत्यादीनां निष्प्रयोजनदर्शनात्मानान्तरत्वेन तज्ज्ञानापेक्षाचेति भावः ।  
× असम्बन्धकत्वम् । = भिन्नेति । कर्मविशेषमनारम्य प्रकरणान्तरादीनां कर्म तच्छेषवर्ष  
मात्रमापादिति भावः । ÷ उपासनेति । मोक्षकामः सद्ब्रह्मास्तीति भावयेदिति विधि-  
परा इत्यर्थः । ⊙ हेयोपादेयसिद्धात्कर्तृव्यतिरिक्तत्वमिति तत्राऽऽह—स्वरूपज्ञानादिति ।  
⊕ सिद्धस्य मानान्तरप्रत्यसादिव्यवस्थावशाच्च निराकरोति— न चेति ।

(५०१०) षादकवेदान्तानां सापेक्षत्वाभावात् । तस्माद्दुपक्रमादिलिङ्गैर्बे-  
दान्तानां ब्रह्मपरत्वमेवेति । उपक्रमादिकं च हृदयते 'सदेव सोऽम्बेदमग्र  
आसीत् ।' [ छा० ६ । २ । १ ] 'एकमेवाद्वितीयम् ।' [ बृ० २ । ५ । १९ ]  
'आत्मा वा इदमग्र आसीत् ।' [ ऐ० २ । ४ । १ ] 'तद्वेद्य तद्ब्रह्मा-  
धूर्तमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः ।' [ वृ० २ । ५ ।  
१९ ] 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ।' [ श्रु० २ । २ । ११ ] इत्यादिश्रु-  
तीनामपमर्थः—सदित्पस्तितामात्रं बोध्यते । एवेत्यवधारणे । किं तदध-  
श्रियते तदाह—इदमिति । यद्विदं व्याकृतं जगत्तद्व्य उत्यचेः प्राक्सदे-  
वाऽऽसीद्व्याकृतं सत्कारणात्मकं सदेवाऽऽसीदित्यर्थः । हे सोम्य मिय-  
दृशंनेति पित्रा पुत्रः संबोध्यते ।

शुद्धिग्राह्यं स्पृष्टं पृथिव्यादि प्रागुत्पत्तेर्मां भूत् । अन्यत्तु महर्षादिसू-  
क्ष्ममासीद्वेवेति नेत्याह—एकमिति । सतोऽन्यत्कार्यं नाऽऽसीद्वेवेत्यर्थः ।  
तथा श्रुवो घटाकारपरिणमयितुकुलालवज्जगत्प्रसिद्धं सतोऽन्यत्वासीदि-  
त्याशास्त्रयाऽऽह—अद्वितीयमिति ।

ततोऽपि चित्तं विना प्रधानवन्न हेतुतेत्याशास्त्रेण श्रुत्यन्तरमुदाहृतम्—  
आत्मा वा इति । आप्रोतीत्यात्मा मूलकारणम् । वैशब्देन प्रागवस्था  
स्मर्यते । अवशिष्टमुक्तार्थम् ।

तस्य निर्विशेषत्वार्थं श्रुत्यन्तरम्—तदेतदिति । तच्छब्देन 'इन्द्रो  
माषामिः' इति प्रकृतात्मोक्तः । विधेयब्रह्मापेक्ष्य नपुंसकमेतच्छब्दोत्पत्त्यर्थः ।  
तत्किलक्षणकं तत्राऽऽह—अपूर्वमिति । पूर्वं कारणं यस्य नास्ति तदपूर्वम-  
कार्यमित्यर्थः । अपरं कार्यं वास्तवं नास्तीत्यनपरमकारणमित्यर्थः ।  
अन्तरं जात्यन्तरमन्तराले नास्तीत्यनन्तरमेकरत्नमित्यर्थः । तथाविधम-  
न्ववपि तदस्थनस्ति किं नेत्याह—अबाह्यमिति । बाह्यमनात्मभूतमे-  
धंविधमस्य नास्तीत्यबाह्यमद्वितीयमित्यर्थः । तस्यापरोक्षतामाह—अप-  
मिति । तत्सर्वसिद्धिर्धर्म चित्स्वरूपत्वमाह—सर्वेति । ब्रह्मात्मना सर्वस-  
नुभवतीति अनुभूः ।

अनुमात्रस्य पृथक्त्वाद्वाद्भेदमित्याशास्त्रेण श्रुत्यन्तरं ब्रह्मेति ।  
यत्पुरस्तात्पूर्वस्यां दिग्ब्रह्मैवाविदुषां भाति तत्सर्वमिदममृतं ब्रह्मैव  
वस्तुत इत्यर्थः । एवं लौकिकवाक्यानां सिद्धेऽर्थेऽप्रामाण्यमभ्युपगमच्छतां  
वेदान्तेषु विधिपरत्वं विनाऽनपेक्षत्वं फलवत्त्वं च न लभ्यत इति वदतां

(९०) कर्तृत्वेन चार्थास्ति-न्नम् । तद्विद्वान्नि-न्नार्थं शास्त्रस्य संगतिग्रहणाद्य-

(अ०५०) वेदान्तेभ्यो ब्रह्मसिद्धिमनङ्गीकुर्यतां मतं ब्रह्मणो मानान्तरागम्य-  
त्वास्ति-सूत्रवस्तुज्ञानात्फललाभाच्च प्रत्युक्तम् । संप्रति सिद्धे व्युत्पत्तिमनि-  
च्छतामुपास्तिविधिद्वारा वेदान्तेभ्यो ब्रह्मसिद्धिमिच्छतां मतनि-  
रासाय वर्णकान्तरमारभ्यते । तत्र वेदान्ता विधेयोपासनाविषयत्वेन  
ब्रह्म समर्पयन्ति उत साक्षादिति सिद्धे व्युत्पत्त्यभावमावाभ्यां संशये  
पूर्वपक्षः । प्रवृत्त्यादिलिङ्गामावाञ्ज सिद्धे व्युत्पत्तिः संभवतीति न  
सिद्धब्रह्मपरा वेदान्ताः । किं च प्रवृत्तिपरस्वैव शास्त्रत्वेन सिद्धब्रह्मप-  
रत्वे शास्त्रत्वं च न संभवति नापि प्रयोजनवस्त्वम् । अष्टं ब्रह्मास्मीति  
ज्ञाने सत्यपि प्रयोजनस्य संभवावशानात् । यद्येवंभूतज्ञानात्प्रयोजनसि-  
द्धिस्तादृि मननाविधानं न स्यात्तस्मात् 'आत्मेत्येवोपासीत' [ वृ०  
१।४।७ ] 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' [ मु० ३।२।९ ] ब्रह्मभवन-  
कामो ब्रह्मवेदानं कुर्यात् । इत्येवमादिविधिषु कोऽसाथात्मेत्याकाङ्क्षायां  
तत्समर्पकत्वेन सर्वे वेदान्ता उपयुज्यन्ते । उपासनासाध्यस्य मोक्ष  
इत्युच्यते । 'तनु समन्वयात्' तद्ब्रह्म साक्षाद्ब्रह्मन्प्रतिपाद्यं कृतः  
समन्वयादित्यर्थः । न हावदुपासनासाध्यो मोक्षः । उपासनायास्तारत-  
म्येन तत्साध्यमोक्षस्यापि तारतम्यमनित्यत्वं च स्याद्विधेयकर्मफलभोग-  
व्यवसायां शरीरस्याऽऽवश्यकत्वेन मोक्षेऽपि शरीरं स्यात् । किं च 'अशरीरं  
वाच्यं सन्तं विषयिणे न स्पृशतः' [ छा० ८।१२।१ ] इति मुक्तस्य  
विषयिण्यस्य संनिषेधो न स्यात् । मोक्षस्य धर्मफलत्वेन तस्यैव प्रियस्य  
विद्यमानत्वात् । भुत्यर्थस्तु—वस्तुतोऽशरीरं तमात्मानं वैषयिकं सुखदुःखे  
नैव स्पृशतः । वायेत्यवधारणादिति । ननु धर्मजन्याशरीरत्वाख्यमोक्षा-  
तिरिक्तसुखादिनिषेधपरमिदं पाङ्गमिति चेन्न । 'अशरीरं शरीरेष्वन-  
वस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभ्रुमात्मानं मत्या धीरो न शोचति' [ काठ-  
२।२२ ] 'अथाणो ह्यमनाः शुभ्रः [ मु० २।१।२ ] असङ्गो ह्यर्थ  
पुरुषः [ वृ० ४।३।१५ ] इत्यादिभ्रुतिभ्योऽशरीरत्वस्य स्वाभाविक-  
त्वावगमात् । भ्रुतीनामयमर्थः—वस्तुतो नास्ति स्थूलं शरीरं [ यस्ये-  
त्यर्थः । ] तत्र हेतुः—शरीरेष्विति । अनवस्थेष्वनस्थेषु अवस्थितं  
नित्यम् । तत्रैव हेत्वन्तरं महान्तमिति । आपेक्षिकमहत्त्वं धारयति—  
विभ्रुमिति । मन्तुमन्तव्यमेहं प्रत्याह—आत्मानमिति । ईदृशमात्मानं  
मत्या धीरो भवति । न हि तन्मतिं विना धीरत्वम् । [ स च धीरः ]

(सं०) भावाज्जैमिनीयवचनविरोधाच्चाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तत्त्विति । तुशब्दः

(म०५०) शोकोपलक्षितं संसारं नानुभवतीत्यर्थः । सूक्ष्मशरीराभावे भुक्तिः—  
अप्राण इति । क्रियाशक्तिमान्प्राणोऽस्य बन्तुतो नास्तीति तन्निषेधा-  
त्तत्प्रधानानि सार्थानि कर्मेन्द्रियाणि निषिद्धानि तदभिप्रायेण हि-  
तृष्यः । ज्ञानशक्तिमन्मनोऽस्य परतुतो नास्तीति तन्निषेधात्तत्प्रधानानि  
ज्ञानेन्द्रियाणि सार्थानि निषिद्धानि । अत एव ब्रुवन्तः ब्रुवन् इत्यर्थः ।  
स पक्षत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वामतस्तेन भवतीति स्वप्रादिकृतकर्मस्व-  
कर्ताऽऽत्मेति उक्तेऽर्थे हेतुवच्यते 'असङ्ग' इति श्रुत्या । यूर्तं मूर्तान्त-  
रेण पुण्यमानं स्पन्दते आत्मा तु पूर्णत्वान्न मूर्तेन स्थूलसूक्ष्मशरीरादिना  
केनचिद्युज्यतेऽतो न कर्तृत्वर्थः । एवं स्वाभाविकाक्षरीरत्वापरपर्यायमो-  
क्षाक्षयवद्गुणि सुखादिसंस्पर्शाभावे भ्रुत्पन्तरमपि—

अन्वत्र धर्माद्व्यघ्राधर्माद्व्यघ्रात्स्मात्कृताकृतात् ।

अन्वत्र भूताश्च मध्याश्च यत्पश्यसि तद्ब्रु [ क०१।२।१४ ]

इति । धर्मात्तत्फलाच्च सुखाद्यधर्मात्तत्फलाच्च दुःखात्कृतात्कार्याद्विकृ-  
तात्कारणाद्भूताद्वर्तीताद्ब्रुध्याद्भ्राविनः । चक्षुष्येन विद्यमानाद्व्यघ्रा-  
न्वदित्यर्थः । एतत्सर्वासंस्पर्शाति यावत् । एवंभूतं पश्यस्यसि तद्ब्रुवेति  
सुस्युं प्रति नचिकेतसो वचनम् । अपि च मोक्षस्य कर्मफलत्वे स्वर्गा-  
दिवन्मुमुक्षुपादैपत्वं न स्यात् । 'ब्रह्म देव ब्रह्मैव भवति' [ मु० ३ ।  
२ । ९ ] 'क्षयिन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्हृष्टे पराचरे' [ मु० २ ।  
२ । ८ ] 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्यान् । न विभेति कुतश्चेति ।' [ ति०  
२ । ९ ] 'अमयं वै जनक प्राप्तोऽसि' [ वृ० ४ । २ । ४ ] 'तदा-  
श्मानमेवायेषहं ब्रह्मास्मीति' [ वृ० १ । ४ । १० ] 'तस्मात्तत्सर्वम-  
भवत् ।' [ वृ० ४ । २ । ४ ] 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुप-  
श्यतः । [ ईशा० ७ ] तद्धेतुत्वश्यञ्चुषिर्धामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरमर्षं  
सुर्थश्च [ वृ० १ । ४ । १० ] इत्येवमादीनां ब्रह्मविद्याकाल एव मोक्षं  
दर्शयन्तीनां वापश्च स्यात् । कर्मफलानां कालान्तरभावित्वनिघमात् ।  
श्रुतीनानर्थस्तु—यो ब्रह्म प्रत्यक्त्वेन वेद् साक्षात्करोति स तदैव वेद्यं  
ब्रह्म भवति । तस्मिन्परमात्मनि परं कारणमवरं कार्यं तद्गुणे तदधिष्ठाने  
प्रत्यक्त्वेन साक्षात्कृते सत्त्वस्य विदुषोऽमुक्तफलानि कर्माणि क्षीणानि  
भवन्ति । ब्रह्मणो रूपमानन्दं विद्वान्मपहरेत्प्रभावाक्षिर्भयो भवति । इति  
शब्दः श्लोकपुरणार्थः । हे जनक त्वममर्षं ब्रह्म प्राप्तोऽसि । तत्त्वसाक्षात्का-

(वी०)पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । तदुक्तं न कुतः । तद्यथोक्तं ब्रह्म वेदान्तशास्त्रादेवा-

(ब०५०) रवस्वाद्यवस्मिन्नेवे जलसूर्यवत्प्रथितं ब्रह्म जीपास्वं तदाचार्येण  
 बोधितमात्मानमेव सर्वकल्पनातीतमबोद्धिदितबकथमहं ब्रह्माद्वितीयम-  
 स्मीति । तस्माज्ज्ञानाद्ज्ञानकृतात्सर्वज्ञत्वादिनिवृत्त्या तद्ब्रह्म पूर्णात्मना  
 स्थितमासीत् । 'वस्मिन्सर्पाणि भूतान्यात्मैशाम्भुविज्ञानतः' [ईशा०७] इति चः  
 सर्वात्मभावो विद्याऋष्यद्वयत्वेनोक्तस्तत्राऽऽमनि तज्ज्ञीकाले  
 तदात्मैक्यमुपदेशेन पश्यतः शोकाद्युपलक्षितः संसारो नास्ति । तत्पदलक्ष्यं  
 ब्रह्मैतदात्मात्वेनावस्थितमहमस्मीति पश्यन्नस्मादेव दर्शनाद्विषामदे-  
 वास्वयः परं ब्रह्माविद्याध्वंसद्वारा प्रतिषेधे प्रतिपन्नवाङ्किलेति ह्यशब्धो  
 व्यवधानेन संबध्यते । स चास्मिन्दर्शने स्थितः सर्वात्मभावप्रकाशकानहं  
 मनुरभवमित्यादीन्सन्धांश्च ददर्श । इतश्च ब्रह्मधीर्न विधेया+ तत्फलं च  
 न वैद्यमिति गम्यते । तथा हि—'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं  
 पारं तारयसि' । [प०६।८] 'श्रुतं ह्येवं मे भगवद्दर्शेभ्यस्तरति शोकमात्म-  
 विदिति । सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाऽशोकस्य पारं तारयतु' ।  
 [छा०७।१।३] तस्मै मुदितकपाथाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कु-  
 मारः' [छा०७।२६।२] इत्याद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्याया अविद्यानिवृत्तिद्वारा  
 मोक्षहेतुत्वं दर्शयन्ति । अविद्यानिवर्तकत्वं च प्रमाणवस्तुपरतन्त्रज्ञानस्यै-  
 वेति न विधेया ब्रह्मविद्या तत्फलं च न विधिसाध्यमिति श्रुतीनामेषोऽर्थः—  
 भरद्वाजाद्वयः पञ्चदशयः परविद्यामहं विष्णुलादास्वं गुहं विद्यानिष्क-  
 यार्थमन्यदननुकूपं पश्यन्तः पादयोः प्रणम्योचिरे । त्वं सत्यस्माकं पिता  
 ब्रह्मदेहस्याजरामरणस्य विद्याया जनयितृत्वात् । पितरौ तु हेयदेहमात्र-  
 मेव जनयतः । जनयितृत्वमपि सिद्धस्यैवाविद्यानिरासादित्याह ।  
 वस्तुमस्मानविद्यामहोदधेः परमपुनराकृतिरूपं पारं तारयसि प्रापयसि  
 विद्यागूचेनेति । श्रुतं हीत्यादितारयत्स्वित्पन्तमुपक्रमस्त्वं शेषमुपसंहारस्थ-  
 मिति भेदः । मे मम भगवद्दर्शेभ्यो भगवत्तुल्येभ्यः श्रुतमेवं यदा-  
 त्माविच्छोकं मनस्तापमकृतार्थकुञ्चि तरतीति । सोऽहमनामविच्छो-  
 चामि अतस्तं मां शोचन्तं शोकसागरस्य पारमन्तं तारयतु प्रापयतु  
 भगवानात्मज्ञानोद्भवेनेति नारदेन शेरितः सनत्कुमारस्तस्मै नारदाय मुदि-

(टी०) वगम्यते । कथम् । समन्वयात् । सम्यगन्वयः शब्दविधतात्पर्यलिङ्गं

\* विद्यागम्यत्वेनोक्तः । + विधेया विधिविषयका विधिप्रतिभाषा वा न भवेदित्यर्थः ।  
 तत्फलं मोक्षार्थं तदपि न वैवं नाम विधिविषयकं विधिविधायं वा न भवेदित्यर्थः ।

(न०९०) तदुपायाय वैराग्यादिना क्षालितरागादिसमस्तदोषाय योग्याय तमसोऽविद्यायाः पारं परमात्मतत्त्वं दृक्षितवानिति । ननु ब्रह्मैव विधेयश्च-  
मस्तु मुक्तः फलस्य सत्त्वात् । न च ब्रह्मणोऽकारकत्वावविधेयता ब्रह्म  
येदेत्यादिना कर्मत्वप्रतीतिरिति चेन्न । फलासंभवस्योक्तत्वाद्ब्रह्मणः कृत्य-  
साधवत्त्वेन विधेयत्वानुपपत्तेश्च । नापि कर्मत्वम् । किं विदिक्रियाकर्म-  
त्वमुतोपासनाकर्मत्वम् । नाऽऽद्यः । 'अन्वयेव तद्विदिताद्यथो अविदिता-  
द्यधि' [ केन० १।३ ] 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' ।  
[ वृ० २।४।१३ ] इत्यादिना विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात् । न  
द्वितीयः । 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं पाद्विद्युपासते' [ केन० १।४ ]  
इत्युपासनाकर्मत्वप्रतिषेधात् । ध्रुत्वर्थस्तु-तद्ब्रह्म विदितात्कार्वादन्य-  
देवाथो अथविदितात्कारणादप्यन्यदेशाच्च्युपरिशाद्यन्यदेवेति । येन  
प्रमात्रेदं सर्वं वस्तु लोको जानाति तं केन करणेन जानीयात्करणस्य  
श्रेयविषयत्वाज्जातार्थप्रवृत्तेस्तस्मान्न ज्ञाता श्रेयः किंनु साक्षीति । 'पद्मा-  
याऽनभ्युदितं येन वामभ्युद्यते' [ केन० १।४ ] इति अविषयत्व-  
मुक्त्वा तदेवेति प्रमात्रादेः कल्पनामपोह्याऽऽत्मभूतं ब्रह्म महत्तममिति  
त्वं विद्धि यदुपाधिविशिष्टं देवतादिकमिदमित्युपासते जना नेदं त्वं ब्रह्म  
विद्धीत्यर्थः । इतश्च ब्रह्मणोऽकर्मत्वं गम्यते-<sup>१</sup>यस्यामतं तस्य मतं मतं  
यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' । [ केन०  
२।३ ] 'न हृद्रेद्गृह्यारं पश्येन विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' [ वृ०  
३।४।२ ] इत्यादिभ्रुतयोऽविषयत्वं बोधयन्ति । यस्य ब्रह्मात्मतम-  
विषय इति निश्चयस्तस्य तन्मतं सम्पग्ज्ञातं यस्य मतं विषयतया ज्ञातुं  
क्षम्यं ब्रह्मेतिधीर्मासी तद्देदं भेदधीमस्त्वात् । एवमेवेति नियमार्थमुक्त्वा-  
मनुष्यदिति-अविज्ञातमिति श्रुतिः । विषयतयाऽज्ञातमेव ब्रह्मं सम्पग्ज्ञातं  
विश्लेषज्ञानयतां ज्ञातमेव विषयतया यथावदजानतामिति । बुद्धिमा-  
न्विषयतया न जानाति मूर्खस्तु विषयतया जानातीति तात्पर्यार्थः ।  
दृष्टेश्चक्षुर्जन्यायाः कर्मभूताया दृष्टारं स्वभावभूतनित्यदृष्ट्या व्याप्तारं  
दृश्ययाऽनया दृष्टया न पश्येर्विज्ञातेर्बुद्धिधर्मस्य निश्चयस्य विज्ञातारं  
साक्षिणं तथैव वेद्यया विज्ञात्या न विजानीया इति भैक्षेधीं प्रति पाज्ञ-  
यत्वयवचनम् । नन्वविषयत्वे कथं शास्त्रप्रमाणकत्वमिति चेन्न । तज्जन्त्या

(दी०) तस्मात् ॥ ४ ॥

(न०६०) विद्याभ्रान्तिध्वंसरूपातिशयवस्त्वेन तद्विषयत्वसंभवादिति । किंच न तावद्विधेयक्रियेत्पाद्यत्वं मोक्षस्य स्वरूपमनादित्वात् । न विकार्यत्वम्—' अविकार्योऽयमुच्यते ' [ म०गी०२।२५ ] इति श्रुतेः । नाप्याप्यत्वं नित्याहत्वात् । नापि संस्कार्यत्वं निर्गुणत्वेन गुणाधानलक्षणसंस्काराभावात् । नापि दोषापनयः संस्कारः संभवति । ब्रह्मणि क्रियाया अभावेन स्वनिष्ठक्रियया दोषापगमायोगात् । अन्यनिष्ठक्रिययाऽन्यत्र संस्कारायोगात् । न च देहनिष्ठक्रिययाऽऽत्मनि संस्कारो ह्येव इति वाच्यम् । देहादिसंहतिनिष्ठक्रियया तस्यैव संस्कार्यत्वं ताफलमोक्षनृत्वं चेत्यवगमात् । तथा च श्रुतिः—' आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ' [ का० १ । ३ । ४ ] इति आत्मीयं शरीरमात्मेत्युच्यते । तथा च शरीरादिसंयुक्तमात्मानं भोक्तेति मनीषिण आहुरित्यर्थः । ब्रह्माऽऽत्मा भोक्तेत्याहुरिति संबन्धः । इन्द्रियेत्यादि क्रियाविशेषणम् । आत्मनि दोषामावाच्च न दोषनिवृत्तिसंस्कारः संभवति । निर्गुणत्वे निर्दोषत्वे श्रुतिरेव मानम् । यथा हि—' एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चैता केवलो निर्गुणश्च ' [ श्वेता० ६ । ११ ] स पर्यगाच्छुक्रमकापमव्रणमद्गाविरं शुद्धमपापविद्धम् ' [ ईशा० ८ ] अनयोर्मन्त्रयोरेवमर्थः—भूतित्रयस्य ब्रह्मब्रह्माद्यात्मना भेदं प्रत्याह—एक इति । जाड्यं प्रत्याह—देव इति । ज्ञानघन इत्यर्थः । आदित्पाद्वैषम्यमाह—सर्वेति । तर्हि किमिति न प्रतीयते तन्नाऽऽह—गूढ इति । अनादिमायया छन्न इत्यर्थः । तत्तद्भूतावच्छिन्नत्वेन परिच्छिन्नत्वं नेत्याह—सर्वव्यापीति । नभोवत्तादस्थं धारयति—सर्वभूतान्तरात्मेति । सर्वेषु भूतेष्वन्तःस्थितस्य तत्क्रियाफलत्वं नास्तीत्याह—कर्माध्यक्ष इति । सर्वकर्मसाक्षीत्यर्थः । सर्वभूतेष्वित्यादिना भूतानां पृथगुक्तेः सद्वितीयत्वमाशङ्क्याऽऽह—सर्वेति । सर्वेषां भूतानामधिवासोऽधिष्ठानम् । न च कल्पितमधिष्ठानादर्थान्तरमित्यर्थः । न केवलं कर्मणामेवाध्यक्षोऽपि तु तत्कर्तृणामपीत्याह—साक्षीति । साक्षित्वे हेतुमाह—चेतेति । चित्त्वभाव इत्यर्थः । केवलो ह्यवविश्रजितः । अद्वितीयः । निर्गुणो ज्ञानादिरहितः । चकारो दोषाभावसमुच्चयार्थः । गुणदोषाभावे मन्त्रान्तरं स पर्यगादिति । सः । यस्तु सर्वाणि भूतानीति प्रकृत आत्मा परितः समन्ताद्गात्सर्वतो गत इत्यर्थः । शुक्रमित्पादिशब्दाः पुंलिङ्गत्वेन नेयाः स इत्युपक्रमात् । शुको धीतिमात् । अकायो लिङ्गशरीररहितः । अवणोऽक्षतः । अन्नाविरोऽ-

(३०००) नाशी । आभ्यां स्मृल्लेदेहाभाव उक्तः । शुद्धो रामादिगुणरहितः । अपापादिद्धो धर्माधर्मविधुरः । तस्मान्न संस्कार्यो मोक्षस्तस्मान्न कर्तव्यविशेषतया ब्रह्मोपदेशसंभवः । यत्तु सिद्धे प्रवृत्त्यादिलिङ्गामावाञ्छ शक्तियह इति तत्र । प्रवृत्तिनिवृत्ती एव लिङ्गमिति न निर्वन्धः । पुत्रस्ते जात इत्यादौ हर्षादिलिङ्गोऽपि शक्तियहसंभवात् । यत्तु प्रवृत्त्यादिपरमे (स्यै)व शास्त्रत्वमिति तदपि न । हितशासनद्वेदान्तानां शास्त्रत्वोपपत्तेः । नापि फलाभावः । ब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्य मोक्षफलकत्वात्तादृशसाक्षात्कारार्थं मननादिसार्थक्यं चेति न कथंचिदपि विधिप्रवेशः । ब्रह्मात्मावगतेः प्रवृत्त्यादिनिरपेक्षाया मोक्षहेतुत्वं श्रुतिरपि दर्शयति—‘आत्मानं वेद्विजानीयाद्व्यमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्’ [ वृ० ४ । ४ । १२ ] इति । अयं परमात्माऽहमस्मीत्यपरोक्षतया पद्वि कश्चित्पुरुषो विजानीयात् । आत्मसाक्षात्कारदौर्लभ्यद्योती चेच्छब्दः । स स्वातिरिक्तनात्मनः किं फलमिच्छन्कस्य वा पुत्रादेः कामाय फलाय तदलाभेन शरीरं तप्यमानमनु तदुपाधिः सन्संज्वरेत्संतपेतेति । मन्वशरीरत्वात्पमोक्षस्य स्वामाधिकत्वं सिद्धयत्कृत्य न धर्मजन्यत्वमित्युक्तं तद्व्युक्तं शरीरदशाचामशरीरत्वस्वामावेन धर्मजन्यत्वसंभवादिति चेन्न । सशरीरत्वस्य मिथ्यात्वेनाशरीरत्वस्य स्वामाधिकत्वात् । तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः—‘तद्यथाऽह्निमित्त्वर्थनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतिवमेवेद्वं शरीरं शंतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव’ [ वृ० ४ । ४ । ७ ] इति । ‘सषक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवाग्निव समना अमना इव सभाषोऽप्राण इव’ इति च । अनया श्रुत्याऽहं ब्रह्मास्मीति ज्ञाने सत्यापि श्रुक्तिर्न दृश्यते किं तु यथापूर्वं संसारित्वमेवेति शक्त्वाऽपि परिभूता भवति । श्रुत्योरर्थस्तु—‘अत्र ब्रह्म समस्तुते’ इति पूर्ववाक्ये जीवन्मुक्तिरुक्ता स जीवन्मुक्तो देहज्ञोऽपि पूर्ववन्न संसरतीत्यत्र हृदान्तमाह—तद्यथेति । तत्तत्र जीवन्मुक्तदेहे । ईहवादेहे हृदान्तो यथेति । यथा लोकेऽह्निमित्त्वर्थनी सर्पविमुक्ता त्वग्बल्मीके प्रत्यस्ता प्रक्षिता मृता

\* कन्या ते वर्षिणीत्वञ्च मुसमास्त्रिन्वं शुभले मात इत्यत्र मुसविक्रमेण सिद्धेऽप्ययं व्युत्पत्तिः संभवति । व्युत्पत्तिर्नाम ।



(अ०१०) पूर्वाभिव सर्पेणाऽऽत्मत्वेनागृहीता वर्तत एषमेवेदं विदुषः शरीरं प्राग्निवाऽऽत्मत्वेनागृहीतं तिष्ठतीत्यर्थः । त्वचा साम्यं शरीरस्थोक्त्यां सर्पसाम्यं विदुषो दर्शयति—अथेति । तथार्थकोऽप्यशब्दः । यथा प्रत्यस्तां त्वचमहिरहमिति नामिमन्यते तथाऽयं जीवन्मुक्तो देवज्ञोऽपि न तत्राहंथियमादृधातीत्यशरीरः । अशरीरत्वादेवामृतो देहामिमानवतो हि मृतिर्निकृपाधिकः सन्प्राणितीति जीवति प्राणः साक्षी स च ब्रह्मैव तच्च तेजो विज्ञानज्योतिः । अनया स्थूलदेहस्य मिथ्यात्वं दर्शयित्वा सचक्षुरचक्षुरिति श्रुत्या लिङ्गशरीरस्य मिथ्यात्वं दर्शयति— वस्तुतोऽचक्षुरपि बाधितचक्षुराद्यनुवृत्त्या सचक्षुरित्येत्यादियोजना । तस्माद्देवान्ताः साक्षाद्येव ब्रह्मणि समन्वयं गता न विधिद्वारेति सिद्धं ब्रह्म स्वतन्त्रमेव शास्त्रप्रमाणकमिति ॥ ४ ॥

एवं चतुर्भिः सूत्रैः सर्वज्ञं सर्वशक्तिजगत्कारणं वेदान्तप्रतिपाद्यं ब्रह्मेत्युक्तं यस्तुतस्तथेतनमचेतनं वेति संशयस्तत्र सांख्याः कूटस्थब्रह्मणो ज्ञानज्ञानभावान्न जगत्कारणं प्रधानस्य तु तत्सत्त्वात्कारणं सत्त्वगुणमादाय ज्ञानशक्तिर्त्वं त्रिगुणात्वात्किंपाशक्तिमत्त्वं च ब्रह्मण एकत्वान्न किंपाशक्तिस्तस्मात्सर्वज्ञं सर्वशक्तिप्रधानमेव तदनुवादाका वेदान्ता इति वदन्ति तन्मतनिरासार्थमिदं सूत्रमारभ्यते—

( प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वाभायकथनम्, अधि० ५ )

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

सांख्यपरिकल्पितं प्रधानं जगत्कारणं न भवति तत्र हेतुरशब्दमिति । हेतुगर्भं विशेषणमेतत् । अज्ञात्त्वाद्देवप्रमाणकत्वादित्यर्थः । वेदाप्रमाणकत्वे हेतुरीक्षतेरिति । धातुवाचकेक्षतिशब्धो लक्षणया धात्वर्थेक्षणपरः । ईक्षितुत्वश्रवणादित्यर्थः । अस्य चाऽऽक्षेपसंगतिः फलं च प्रधानैक्यसंपदुपाप्तिः पूर्वपक्षे सिद्धान्ते तु ब्रह्मैक्यमिति रिति विवेकः । एवं हि श्रूयते—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदिकमेवाहित्तीयम्’ [ छा० ६ । २ । १ ] इत्युपक्रम्य ‘तदैक्षत बह्व् स्वर्गं प्रजायेयेति [ छा० ६ । २ । ३ ]

(श्री०)पूर्वाधिकरणे पुत्रस्ते जात इत्यादौ संगतिग्रहणस्य रज्जुरिषं नायं सर्प इत्यादौ प्रयोजनस्य च दर्शनाज्जैमिन्वादिप्रचनानां कर्माभिप्रायकत्वात्सर्वज्ञे सर्वशक्ती ब्रह्मणि शास्त्रमेवप्रमाणमेव समन्वयादित्युक्तम् । न च ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च । ज्ञानस्वभावत्वाद्वितीपत्त्वाच्च ।

( म० ४० । ) तत्र प्रधानस्यैवोपक्रम ईक्षितृत्वश्रवणं विरुच्येत । ईक्षणस्य चेतनधर्मत्वात् । न च ब्रह्मणो ज्ञानक्रियादास्यभाषः । अविद्यामहिम्ना सर्वस्याप्युपपत्तेः सत्त्वप्रधानपरमाणुधेरक ईश्वरः सद्धितीय ईक्षितेति पात-  
 क्षलादिमतनिराकरणार्थं श्रुतापेक्षपदमुपादानस्य चेतनत्वार्थं तद्वैक्षतेति  
 उपादानत्वार्थं बहु स्यामिति । एवमेतरेवश्रुतिः—आत्मा वा इदमेक  
 एवाग्र आसीत् । नान्यस्किंचन मीपत् । स ईक्षत लोकान् सृजा इति । स  
 इमांल्लोकानमृजत [ ऐत० १ । १ । १ ] इतीक्षणपूर्विकामेव सृष्टिमाचष्टे ।  
 मियच्चत्सस्त्वाक्रान्तमिति यावत् । एवं सर्वत्रेक्षणपूर्वकसृष्टिश्रवणा-  
 द्वैधैव जगत्कारणमिति ॥ ५ ॥

नन्वीक्षणमात्रेण न ब्रह्मजगत्कारणमिति निश्चयः । 'तत्तेज ऐक्षत'  
 [ छा० ६ । २ । ३ ] 'ता आप ऐक्षन्त' [ छा० ६ । २ । ५ ] इत्ये-  
 तन्नयोरेतेजसोरीक्षणश्रवणात्तत्समभिव्याहारात्प्रधानेऽपीक्षतिर्गौण इति  
 प्राप्त उच्यते—

गौणश्वेत्नाऽऽत्मशब्दात् ॥ ६ ॥

अतेजसोरिव प्रधान ईक्षतिर्गौण इति चेन्न । कुतः । आत्मशब्दादा-  
 त्मशब्दश्रवणादित्यर्थः । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ।' [ छा० ६ ।  
 २ । १ ] इत्युपक्रम्य 'तद्वैक्षत' [ छा० ६ । २ । ३ ] 'तत्तेजोऽमृजत'  
 [ छा० ६ । २ । ३ ] इति तेजोवह्नानां सृष्टिसुप्त्या तदेव प्रकृतं सदीक्षितु  
 तानि च तेजोवह्नानि देवताशब्देन परामुस्याऽऽह—'सैष देवतैक्षत हस्ता-  
 हृमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकर-  
 वाधि' [ छा० ६ । ३ । २ ] इति श्रुतिः । तत्र यद्यचेतनं प्रधानमवैक्षितु तदा सैषं  
 वैक्षतेति तस्यैव परामर्शाच्चदात्मत्वेन जीवकीर्तनमनुपपन्नं स्यात् । आत्मा  
 हि स्वरूपं न च चेतनो जीवोऽचेतनस्याऽऽत्मा । ब्रह्मणि तु जीवविषय  
 आत्मशब्द उपपद्यते । 'य एषोऽगिमैतदात्म्यमिदं स' तत्सत्पत् स

( धी० । ) तस्माद्गुणचारात्प्रधानादिकमेव सर्वज्ञं सर्वशक्ति च । अतस्तत्रैव  
 समन्वय इति प्राप्त इदं सूत्रम्—ईक्षतेरिति । न सास्यादिवारिकल्पितं प्रधा-  
 नादिभेदान्तेषु प्रतिपाद्यते । कुतः । अशब्दं हि तत् । कथम् । ईक्षतेः ।  
 चेतनत्वश्रवणादित्यर्थः ॥ ५ ॥

'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' इतिवचद्वैक्षतेत्यत्रापि उपचाराद्वय-  
 मीक्षणशब्दस्तेजआदिवदिति प्राप्त इदं सूत्रम्—गौणश्वेदिति । गौ(गु)-  
 णयोर्गोणशब्दोपचारात्प्रवृत्तो गौणश्वेद्यदि प्रधानादीनामिति सूत्रे तन्न । कुतः ।

( ब० व० । ) आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' [छा० ६।८।७] इति श्वेतकेतोर्जी-  
 वस्याऽऽमतादात्म्योपदेशात् । न हि चेतनस्य चेतनाभेदे भ्रूशङ्का-  
 शुकः । न चातेजसोर्गौणेष्वणभवणोत्पत्त्यापठितत्वेन तद्वैकृत्यादौ  
 गौणेष्वणभवेति वाच्यम् । संज्ञापस्थले एव प्रायपाठस्य निश्चा-  
 यकत्वम् । प्रकृते तु गौणमुख्ययोगौणस्य अद्यन्पत्वेन संज्ञापामावात् ।  
 अत एव भगवाञ्जैमिनिर्विशये प्रायदर्शनात् । [ जै० सू० २। ३।  
 ६ । ] इति संज्ञापस्थले प्रायदर्शनस्य निश्चायकत्वमाह । अतेजसोस्तु  
 नेवं मुख्यत्वे किञ्चित्कारणमस्तीति गौणमीक्षणं कूलं पिपातिपतीतिवत् ।  
 ध्रुवार्थस्तु—आकाशं वायुं च सृष्ट्वा तत्सदेषेत्पुपक्रान्तं सच्छब्दवाच्यं  
 ब्रह्म तेजः सृष्ट्यदिति प्रकृतसदात्मा परामृश्यते सेपमिति संहितेतिवत्-  
 परामर्शो देवतेत्यलौकिकत्वमुक्तम् । ईक्षणमभिनयति—हन्तेति । सृष्टि-  
 वाक्येनोक्तानि तेजोब्रह्मानि परामृशति—इमा इति । सूक्ष्मभूतास्तत्रो  
 देवतश्च मया सृष्टा इत्यर्थः । सूक्ष्मत्वेन परोक्षत्वाद्देवताशब्दप्रयोगः ।  
 तासां व्यवहाराङ्गत्वं कथमित्यत आह—अनेनेति । पूर्वसृष्ट्यनुभूतेन  
 प्रार्थवृत्तिहेतुना जीवेनाऽऽत्मना तद्रूपेष्वोक्तदेवतासर्गानन्तरं नाम रूपं  
 चेति विस्पष्टमा समन्तात्स्वरवाणीति पराधिदेवतेक्षितपतीत्यर्थः । यः  
 सदात्म्यः स एषोऽणिमाऽणुरित्यर्थः । तुर्विज्ञेय इति यावत् । ऐतदात्म्य-  
 मेतदात्मकं भावमावित्रोरभेदात् । परमसूक्ष्मं सर्वात्मकं सदैव सत्यं  
 पारमार्थिकं तत्त्वं स एव सर्वस्याऽऽत्मा + निरुपचरितस्वरूपं हे श्वेत-  
 केतो त्वं च संसारी नासि किंतु तद्वेष ब्रह्मेत्यक्षरयोजना ॥ ६ ॥  
 नन्वात्मशब्दोऽपि प्रधाने गौणोऽस्तु नानार्थकतया मुख्यो वेत्पत  
 आह—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

न प्रधानानात्मशब्दाच्चयम् । तत्सत्त्व\* स आत्मा [ छा० ६।८।७ ]

( दौ० । ) आत्मशब्दात् । आत्मेति शब्द आत्मशब्दस्तस्मात् । तथा हि—  
 'अनेन जीवेनाऽऽत्मना' इति देवताधामात्मशब्द इति ॥ ६ ॥

नन्वात्मशब्दोऽप्यर्थं ममाऽऽत्मा भद्रसेन इतिवैश्वेतमाचेतनवाचो ज्योतिः-

\* अङ्कुर इत्यर्थः । + पारमार्थिकम् ।

१ य. 'पञ्चतेहे' । २ य. 'आवृ' । ३ छ. 'नृतरवापी भूताले स्थितमेति । ४ य. 'पी  
 थ' । इत्यपि च ।

( म०प० । ) इति प्रकृतं सद्दण्डिगानमादाय 'तस्वमसि श्वेतकेतो' [ छा०  
 ६ । ८ । ७ ] इति चेतनस्य श्वेतकेतो \* मौक्षयितव्यस्य तस्मिन्नाद्युप-  
 दिश्य 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न  
 विमोक्षयेऽथ संपत्स्ये' इति मोक्षोपदेशात् । यदि ह्यचेतनं प्रधानं  
 सच्छब्दवाच्यं मुमुक्षुं श्वेतकेतुं तस्वमसीति शास्त्रं ग्राहयेद्भेदं श्वेतकेतो  
 चेतनाचेतनोऽसीति तदा शास्त्रप्रामाण्योपदेशोऽस्मीति ध्यायमानो  
 मोक्षाद्याहन्चेतानर्थं चेयात्तथा च शास्त्रमुन्मत्तशलापो भवेत्तच्चानिर्दं  
 तस्मादात्मशब्दश्चेतनपर इति । ऐक्यापरोक्षप्रतिबन्धकनिवृत्तिमाह ध्रुतिः  
 'आचार्यवान्पुरुषः' इति + उक्तप्रसित्या सत्यबन्धनिवृत्त्या देहादिह-  
 त्तिरि निवृत्तिं प्राप्ता । प्रारब्धकर्मणा तद्दृष्ट्यनुभूतिमाह—तस्येति ।  
 कथं तर्हि प्रारब्धकर्मनिवृत्तिरित्याशङ्क्य भोगादित्याह—यावदिति ।  
 प्रारब्धभ्रष्टतायपि कथं देहादिभ्यंस इत्याशङ्क्याप्रतिबन्धादित्याह—  
 अधेति । उक्तमपुरुषस्तूमयत्र प्रथमपुरुषे छान्दसत्त्वादिति ॥ ७ ॥

मनु × स्थूलारुन्धतीन्यायेन प्रधानोपदेशद्वाराऽऽत्मोपदेशोऽयमस्तु  
 तत्राऽऽह—

हेयत्वादचनाच्च ॥ ८ ॥

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् । 'स आत्मा तस्वमसि' इतीहोप-  
 दिष्टं स्यात्स तदुपदेशव्यवधानात्प्रत्यक्षतया तस्मिन्नेवा भा भूदिति मुख्यमा-  
 त्मानमुपदिदिशु शास्त्रं तस्य हेयत्वं ज्ञेयात् । यथाऽऽरुन्धतीं दिदर्शयिषु-  
 स्तस्मिन्मीपस्यताराया हेयत्वं ज्ञेते तद्भविष्यर्थः । एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानो-  
 पकनविरोधसमुच्चयार्थव्यशब्दः । तथा हि—'उत तमदेशमपाक्षयो

( दी० । ) शब्दो यथा क्रान्दुष्यलनवाचीत्यत आह—तदिति । नेत्यनुपवर्तते । तदुक्तं  
 न कुतः । तस्मिन्वक्तृते सद्दण्डिमादिगुणे निष्ठा तादात्म्यशुद्धिर्षस्य सोऽयं  
 तस्मिन्नेत्यस्य श्वेतकेतोः 'तस्वमसि' इति वाक्याप्रतिबन्धस्य चेतनस्य  
 मोक्षोऽविद्यातत्कार्यनाशः 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षयेऽथ  
 संपत्स्ये' इत्युपदेशः ध्रुत्या कथनं तस्मात् ॥ ७ ॥

अरुन्धतीदर्शनन्यायेन तस्मिन्नेत्यत आह—हेयेति । यद्यरुन्धती-

\* मौक्षयोगस्य । + ज्ञानेन । × स्थूलारुन्धतीति । यथाऽरुन्धतीं प्रदिशति  
 स्थूलताराः प्रदर्शयति तद्वत् ।

( अ०५० ) येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् [ छा०६।१।२ ] इति । ' कथं नु भगवः स आदेशो भवति ' इति । ' यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ' [ छा० ६।१।२ ] ' एवं सौम्य स आदेशो भवति ' [ छा० ६।१।६ ] इति वाक्य एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानोपक्रमः श्रूयते स विरुध्येत प्रधानज्ञानात्तद्विकारज्ञानेऽपि मोक्षवर्गज्ञानासंभवाद्भिति । श्रुत्यर्थस्तु—हे श्वेतकेतो येन श्रुतेन शास्त्रतोऽन्यदश्रुतमपि श्रुतं भवति । येन मतेन तर्कतोऽन्यदमतमपि मतम् । येन विज्ञातेनान्यदपि विज्ञातं भवति । तदादेशमादिश्यत इत्यादेशः शास्त्राचार्योक्तिगम्यं वस्तु अप्राक्ष्यः पृष्ठवानसि त्वमाचार्यमिति पितृवाक्यार्थः । अन्यज्ञानादन्यन्न ज्ञेयमिति पुत्रो ब्रूते—कथं नु भगव इति । कार्यस्य कारणज्ञानव्यत्व-मित्याह—पथेति । ज्ञातेऽपि मृत्पिण्डे कथं तद्विकारधीरित्यत आह— पाचेति । यो विकारः स वामालम्बनमुच्यते परं वस्तुतो नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुर्नामधेयमिति । नाममात्रमेव नार्थोऽस्तीत्यर्थः । तर्हि श्रुतघटयो-रभेदे घटनाशे श्रुदोऽपि नाशः स्यादत आह—मृत्तिकेति । घटो मुद्गिन्नत्वेन निर्वक्तुं न शक्यत इति स ततोऽभिन्न एव मृत्तु घटाद्भिद्यत इति न दोष इति ॥ ८ ॥

सदेव सोम्येति सच्छब्दवाच्यं प्रधानमितोऽपि न भवतीत्याह—

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रस्तुत्य श्रूयते—' यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेवं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति ' [ छा० ६।८।१ ] इति । एषा श्रुतिः पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं स्वपिति नाम निर्वक्ति । स्वशब्देन सच्छब्दवाच्यात्मा परामुद्ध्यते । स्वं प्रत्यपीतो भवतीति लीनो भवति ।

( टी० । ) न्यायेनानात्मन्यात्मशब्दः स्यात्तदा हानवोग्यं हेयं तस्य भावो हेयत्वं नापमात्मेति श्रूयात् । न च तस्य वचनमभिधानं तस्मान्नारुन्धती-न्यायः । चकारस्त्वन्पदोषार्थः ॥ ८ ॥

संयोगा विप्रयोगान्ता इति न्यायेनावचनमित्यत आह—स्येति । एतदेव कारणं प्रकृत्य यत्रैतदित्युपक्रम्य स्वपितिनामानिर्वचनेन ' स्वं

[अ० १००१  
सू० १०-१०] महामृतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २१

( न० १० । ) अपिपूर्वस्वैतेर्लघार्थत्वात्सुषुप्पवस्थाधामुपाधिकृतविक्षेपाभा-  
वात्स्थात्मनि प्रलीन इवेति स्वं ह्यपीतो भवतीत्युच्यते । तथा च सूत्रार्थः—  
तस्मिन्मकृतसच्छब्दवाच्यात्मनि अप्यथाह्यपशवणादिति । तत्र यदि प्रधा-  
नमेव सच्छब्देनोच्येत तदा चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धं स्यात् । भ्रुत्व-  
न्तरं च—<sup>१</sup> तद्यथा प्रियथा स्त्रिया संपरिष्वको न बाह्यं किंचन वेद्  
नाऽऽन्तरमेवमेवार्थं पुत्रपः प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वको न बाह्यं किंचन  
वेद् नाऽऽन्तरम् [ वृ० ४ । ३ । २१ ] इति सुषुप्पवस्थायां चेतनेऽप्यपं  
दर्शयति अतो यस्मिन्नप्यवः सर्वेषां चेतनानां तच्चेतनं सच्छब्दार्थं  
जगत्कारणम् ॥ ९ ॥

किंच—

मत्तिसामान्यात् ॥ १० ॥

गतेः सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतेः समत्वादित्यर्थः । न हि  
काचिदपि विशुद्धसुषुपलभ्यते । कुञ्जशिखाकथे चेतनं कारणं कुञ्जचिदचेत-  
नमिति । किंतु सर्वत्र चेतनमेव कारणमुपलभ्यते । 'यथाऽग्नेर्ज्वलतः  
सर्वा विशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरश्वमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा  
यथाचतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' [ की० ३ । ३ ]  
इति । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' [ तै० २ । १ ]  
इति । 'आत्मन एवेदं सर्वम्' [ छा० ७ । २ । ६ ] इति । 'ए आत्मन  
एव प्राणो जायते' [ प्रश्न० ३ । ३ ] इत्याद्याः श्रुतय आत्मन एव  
कारणत्वं दर्शयन्ति । आत्मशब्दश्चेतनपर इत्युक्तम् ॥ १० ॥

किंच—

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

ज्ञानधेनैव सर्वज्ञेश्वरो जगतः कारणमिति श्रुते । श्वेताश्वतराणां

( धी० । ) ह्यपीतो भवति ' इति स्वस्मिन्नात्मनि चेतनस्वाप्ययो लयः  
स्वाप्यवस्तस्मात् ॥ ९ ॥

कस्मिंश्चित्कल्पे प्रधानादि जगत्कारणं स्यादित्यत आह—गतीति ।  
स्यादेवं यदि काचिद्देवान्तेषु तदप्यवगम्येत न त्ववगम्यते । सर्वेष्वपि  
वेदान्तेषु गतिरवगतिश्चेतनकारणत्वस्यैव समाना तस्या भावः सामा-  
न्यम् । तस्मान्न त्वदुक्तम् ॥ १० ॥

नन्वस्तु चेतनं कारणं मा भूत्सर्वज्ञमित्यत आह—श्रुतेति । श्रुतस्य

(अ०१०।) मन्त्रोपनिषदि 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः' [श्वे०६।९] इति सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्ज-  
निता न चाधिपः' [श्वे० ६। ९ ] इति । यथाऽऽरोरित्पादेरचमर्थः—  
विस्फुल्लिकप्रसङ्गार्थं ज्वलत इति । विप्रतिष्ठेरज्ञानागतिस्त्वेन दिक्षो विप्र-  
भृताः स्युः । प्राणाश्चक्षुरादयो यथायतनं यथागोलकं विप्रतिष्ठन्ते विवि-  
धमुद्बुच्छन्तीति यावत् । प्राणेश्वोऽनन्तरमादित्वाद्युचो देवास्तदनुग्राहका-  
स्तेभ्योऽनन्तरं लोक्यन्त इति लोका विषया भवन्तीत्यर्थः । प्राणो हिर-  
ण्यगर्भः । ज्ञः सर्वज्ञः । स कारणमिति कारणत्वोक्तेः सर्वज्ञता । विशे-  
षतः सर्वविद्यः स सर्वज्ञः कारणम् । तस्य सर्वेश्वरत्वमाह—कारणेति ।  
कारणानीन्द्रियाणि । तेषामधिपाः स्वामिनो जीवास्तेषामधिपः परमेश्वर-  
स्तस्य सर्वहेतुत्वमाह सर्वजीवान्मतीश्वरत्वं हिरण्यगर्भस्याप्यतीति ।  
ततो विशेषमाह—न चाधिप इति । तस्य निषयता स्वयं न स्वस्य निष-  
यताऽस्तीत्यर्थः । तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणं न चाचेतनं प्रधानम-  
न्यहेति सिद्धम् । इतीक्षत्याधिकरणम् । अस्मिन्नाधिकरणे सूत्राणि  
षट् ॥ ११ ॥

नन्वेवमथात इत्यारभ्य श्रुतत्वाच्चेत्तदन्तैः सूत्रैः सर्वेषां वेदान्तानां  
सर्वज्ञसर्वशक्तिब्रह्मपरत्वं समर्थितं किमपरमवशिष्टं पदार्थमुत्तरसूत्रसंदर्भं  
इति । उच्यते—निर्विशेषब्रह्मणः स्वरूपेणोपदेशायोगार्थिकचिद्व्याघुप-  
हितत्वेनोपदेश इति वक्तव्यम् । तत्र कस्मिन्मास्य उपाधिविषयक्षितः  
कस्मिन्मास्ये न विवक्षित इत्याकाङ्क्षायां तद्विवेचनार्थमुत्तरसूत्रसंघ-  
र्भोऽर्थयानिति । तथैव तद्विशेषं निर्विशेषं च ब्रह्म भूयते—'यत्र हि  
द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पर्यति' । [ वृ० ४।५। १५ ] 'अथ  
यत्रान्यत्पदवक्ष्यन्त्यच्छृणोत्पन्वद्विजानाति तददृश्यं यो वै भूमा तदमृतमथ  
यददृश्यं तन्मर्त्यम् । [ छा० ७।२४। १ ] सयाणि रूपाणि विचित्य धीरो  
नामानं कृत्वाऽभिवदन्पदास्ते' [ तै० आ० ३। १२। ७ ] इत्यादीनि  
सविशेषवाक्याणि 'यत्र त्वस्य सर्वमानवामृतात्केन कं पश्येत् ।

( दी० । ) श्रुतत्वं तस्मात्सर्वज्ञकारणत्वस्य साक्षाद्देवोक्तत्वादित्यर्थः ।  
चकारस्तु रचनानुपपत्त्यादिकं समुच्चिनोति ॥ ११ ॥

पूर्वाधिकरणेऽनेजसोर्भौणेश्वरो ( जे ) तन्मात्रपठितस्यापि ब्रह्मणो

(सं० १० ।) [बृ० ४।५।१५] 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यत्सृणोति नान्यत्स्निजा-  
नाति स भूमा' [ छा० ७ । २४ । १ ] 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निर-  
वद्यं निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्' [श्वे० ६ । १९]  
'स एव नेति नेत्यात्मा' [ बृ० २ । ३ । ६ ] 'अस्थूलमनञ्जु' [बृ० ३ ।  
८ । ८ ] इत्यादिनिर्दिशेषवाक्याणि ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति । तत्र  
कानिचित्कममुकपरधान्युपासनानि कानिचिदभ्युदपाद्यर्थानीति घोष्यम् ।  
श्रुत्वर्थस्तु—यत्र यस्यां सत्यविद्यावस्थायां तुच्छमपि द्वैतं सद्य  
भाति तत्रैतत्तः संसारी सन्नितरं पश्यति दृष्ट्यादिगोचरमुपाधिमद्वस्तु  
भवतीत्यर्थः । यस्मिन्नात्मनि द्रष्टव्यादि चक्षुरादिनाऽनुसंधत्ते तदल्पं  
परिच्छिन्नमुपहितमिति यावत् । भूजोऽप्यस्य च विशेषान्तरमाह—  
यो वा इति । अथेति द्योतितविशेषोऽनेन प्रकटितः । सपञ्च ईश्वरो  
नामरूपादिकं विश्वं निर्माणं तत्र प्रविश्य जीवरूपेणामिददनादि कुर्ष-  
न्योऽनतिष्ठतेऽन्तर्धामी तं विद्वानिहैवाद्युतो भवतीत्यर्थः । यत्र यस्यां  
विद्यावस्थापामस्य विदुषः सर्वै कर्माद्यात्मातिरिक्तेणासदेवाऽऽसीत्तत्र केन  
करणेन कं विपर्यं को वा कर्ता पश्येद्विद्यावस्थापद्वेषवहार्धमनौपाधिकं  
तत्त्वमित्यर्थः । यत्र भूजि स्थितो विद्वानन्यद्वद्वद्व्यं चक्षुषा न पश्यति  
अन्यच्छ्रोत्रव्यं श्रोत्रेण न शृणोति न चान्यन्मन्तव्यं ज्ञातव्यं वा मनसा  
बुद्ध्या वा मनुते जानाति स भूमा दृष्ट्याद्यगोचरो निरतिशयमहत्त्व-  
संपन्नः परमात्मैवार्थः । निष्कलं निरंशमत एव निष्क्रियं निष्क्रियत्वादेव  
शान्तं परिणामरहितं निरवद्यं रागादिरहितं धर्मादिरहितं निरञ्जनमित्यर्थः ।  
यथा मृदाकनयः सेतुर्नदीकुल्वादिपरफूलभासेरुपायस्तथा संसारसागरस्य  
परं ब्रह्म तद्भावस्यासुतवाक्योत्पद्युद्धचमित्यक्तं सत्साधनं सेतुवद्व्यस्थि-  
तम् । वाक्योत्पत्त्यज्ञानस्य कथं नाज्ञस्तत्राऽऽह—दग्धेन्धनमिषेति । यथा  
दग्धेन्धनो वह्निः शाम्यति तथाऽज्ञानमपीत्यर्थः । इतिरिदमर्थे । इदं मेदं  
नेति निषेधाद्यभिभूत आत्मेत्यर्थः । तथा सविशेषनिर्विशेषपरं वाक्या-  
न्तरमपि—न्यूनमन्वत्स्थानं संपूर्णमन्यत् । इति । अर्थार्थः—निष्यव-  
ञ्जादभ्युदपास्यं गुणानां स्थानं न्यूनं परिच्छिन्नं ततोऽन्यत्स्त्रियवच्छं  
मुक्तोपसृप्यं त्रिधापरिच्छेदस्यैव सच्चिदानन्दामकमिति । एवं च यत्र  
सगुणवाक्ये गुणविषया तत्रोपासना भवति यत्र तु ध्रुपमभ्युदपि गुणो  
न विवक्षितस्तद्वाक्यं श्रेयब्रह्मपरमेवेति निर्णयार्थमुत्तरं ब्रह्मसंदर्भं इति  
फलितम् ।



(आनन्दमयकोशस्य परमात्मत्वम्, अधि० ६ )

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

(ब० १० १) पूर्वं तावत्सर्वेषां वेदान्तानां निर्गुणब्रह्मपरत्वमुत्सर्गतः सिद्धं तत्सगुणधास्यदक्षिणापोद्य सगुणवाक्यविचारः प्राप्तस्तमपोद्येदमधिकरणं निर्गुणविचारात्मकमारभ्यते । पञ्चम्यपवादकापवादकत्वादस्य सगुणविचारानन्तर्यमुचितं तथाऽपि पूर्वाधिकरणे संज्ञाभाषात्प्रापपाठो न निश्चायक इत्युक्ते 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' [ तै० २ । ५ । १ ] इत्यत्र मपटो विकारे प्राचुर्ये च मुख्यत्वात्संशये विकारप्रापपाठो निश्चायकोऽस्तिथिः पूर्वाधिकरणसिद्धान्तयुक्त्यभावेन प्रवृत्तत्वात्प्रत्युदाहरणलक्षणसंगतिरस्तीति सगुणविचारात्प्रागिदमारभ्यते । पूर्वपक्षे जीवस्याऽऽनन्दमयत्वेनोपास्तिः फलं सिद्धान्ते निर्गुणब्रह्मप्रमितिरिति सिद्धान्तगतैकदेशिमते तु मयत्रोपास्तिरिति विवेकः । तैत्तिरीयकेऽन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयकोशचतुष्टयानन्तरं 'तस्माद्वा एतस्माद्द्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' [ तै० २ । ५ । १ ] इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमानन्दमयज्ञानं सत्यं ज्ञानमिति प्रकृतं परं ब्रह्मोच्यत उतऽऽनन्दमयादिविकारवद्ब्रह्मणोऽर्थान्तरं जीव इति । तत्राद्यमयादिविकारप्रापपाठात्तस्य मयमेव शिरः । मोक्षो वक्षिणः पक्षः' [ तै० २ । ५ ] । इत्यादिना प्रियाद्यवयवयोगात्तरयैव एव शारीर आत्मेति शारीरत्वश्रवणाच्च जीव इति प्राप्तम् । तस्य पूर्वोक्तस्य विज्ञानमयस्यैव आनन्दमय एव शारीर आत्मेति श्रुत्यर्थः । एवं प्राप्त उच्यते—आनन्दमयोऽभ्यासात् । आनन्दमयः परमात्मा भवितुमर्हति कुतोऽभ्यासात् । आनन्दमयशब्दस्य ब्रह्मण्येव बहुकृतयोऽभ्यासादित्यर्थः । तथा हि आनन्दमयं प्रस्तुत्य 'रसो ये सः' इति तस्यैव रसत्वमुक्त्योच्यते—'रसश्च ह्येवायं सत्त्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्येवान्यात्कः प्राणयात् । पदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवाऽऽनन्दयाति' [ तै० २ । ७ ] । 'सैवाऽऽनन्दस्य मीमांसता भवति' [ तै० २ । ८ ] । 'एतमानन्दमय-

(श्री० १) मुख्यमीक्षणमुक्तमात्मज्ञानादादिभिः । अत्र तु मपटो विकारे प्राचुर्ये च तुल्यत्वात्प्रापपाठ्या विकारार्थतैवेत्यानन्दमयो जीवः प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य प्रथममैन्दुक्षिणां मतेन समाधानं ब्रूमः—आनन्देति । 'अन्योऽ-

(अ० १००१) भात्मानभ्रुवसंक्रामति' [तै० २।८] 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न विभेति कुतश्चेति' [ तै० २ । ९ ] । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । [ तै० ३ । ६ ] इति ब्रह्मधाऽम्पासः भ्रुवते । न चाऽऽनन्दपदस्यैवाभ्यासो नाऽऽनन्दमपपदस्येति वाच्यम् । घसन्ते ज्योतिषा पजेतेत्यत्र ज्योतिष्यपदस्य ज्योतिष्टोमपरत्ववदानन्दपदस्याऽऽनन्दमपपरत्वात् । भ्रुत्वर्थ-स्तु-रसः सार आनन्द इत्यर्थः । अयं जीवः पूर्णानन्दः सर्वसाक्षी सर्व-मेरको न स्याच्चेत्तर्हि प्राणादिरथेतनस्य चेष्टा न युक्तेत्याह-को हीति । अन्याज्जीवेत् । यद्यदि । आनन्द इत्यनन्तरं मेरक इति शेषः । आनन्-धितृत्वाद्यपि परमानन्दत्वमित्याह-एष हीति । आनन्दपतीत्यर्थः । स्वयं धमी परं धनिनं करोति लोके तद्भस्त्वयमानन्दः परमानन्दपतीति । यत्तु प्रायणांठादानभ्यमपस्य विकारित्वमिति तन्न । स्थुलाचन्धतन्प्राये-नान्नमपादिविकाराभ्युत्पत्तमप्रदर्शनस्याऽऽत्मज्ञानार्थत्वेनाऽऽनन्दमपस्य सार्थान्तरत्वात् । स एवाऽऽभेत्पथधारणादनन्तरमपस्याऽऽत्मनोऽनुपवेशा-स्तर्धान्तरत्वमप्यभ्यते । विज्ञानकोलावशादौपाधिकश्रियाद्यवस्योगो न विरुध्यते । ब्रह्मणोऽन्नमपादिकोशपरम्परया शारीरत्वमप्युपपन्नमेव । तस्मादानन्दमयः परमात्मा ॥ १२ ॥

विकारशब्दाच्चेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

ननु नाऽऽनन्दमयं ब्रह्म । कुतो विकारार्थकमपदमत्ययात् । ब्रह्मणश्चाऽऽ-नन्दविकारत्वानुपपत्तेरिति चेन्न । कुतः । प्राचुर्यात् । मयटः प्रकृत आनन्दप्राचुर्यवाचकत्वादित्यर्थः ॥ १३ ॥

मयटः प्राचुर्यार्थकत्वे हेत्वन्तरमाह-

तच्छेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

तमानन्दं प्रति ब्रह्मणो हेतुत्वव्यपदेशादित्यर्थः । 'एष ह्येवाऽऽनन्द-  
(श्री० ।) न्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इत्यानन्दमयः परमात्मा । कुतः । तं प्रकृत्य 'वक्षेप आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादिना ब्रह्मकृत्योऽभिधान-मभ्यासस्तस्मात् ॥ १२ ॥

विकारिति । विकारवाची मयटशब्दो विकारशब्दस्तस्मात्तस्मात्तऽऽनन्द-मयः परमात्मेति चेद्वैवं यदि तन्न । प्राचुर्यात् । तत्प्रकृतमचने मयडिति सूत्रात्प्राचुर्यार्थताऽप्यव्यभ्यते । तत्तश्चाऽऽनन्दविकारो नाऽऽनन्दमयः किंत्वानन्दमचुर इत्यर्थः ॥ १३ ॥

मयट उभयत्र साधारण्येऽपि प्राचुर्यं एवायमित्यत्र को हेतुरित्यत

(ब० १००) याति' इति ब्रह्मण आमन्वहेतुत्वं व्यपदिश्यते । योऽन्यमानन्द-  
यति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धम् ॥ १४ ॥

इतश्चाऽऽनन्दमयः परमात्मेत्याह—

मान्मवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

'पद्महाविद्यामोति परम् ।' [ तै० ति० २ । १ ] इत्युपक्रम्य 'सर्वं  
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'यो वेदं निहितं गुहायाम्' इत्यभिन्मन्त्रे सर्वान्तरं  
क्रेपत्वेनोक्तं तन्मान्मवर्णिकं ब्रह्म 'अन्वोऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः'  
इति गीयते । मन्त्रब्राह्मणवारैकाध्यात् । यद्यप्यत्र व्याख्यानव्याख्ये-  
यभावाभावेन मन्त्रब्राह्मणभावस्तथाऽपि ब्राह्मणस्य व्याख्यानरूपत्वेन  
व्याख्येयमन्त्रं प्रत्युपायत्वात्कृतेऽप्युपायोपेयभावोऽस्तीति मान्मवर्णि-  
कमित्युक्तम् ॥ १५ ॥

इतश्चाऽऽनन्दमयः परमात्मा न जीव इत्याह—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

इन्द्रराक्षितरो जीवो नाऽऽनन्दमयः । कुतोऽनुपपत्तेः । 'सोऽकाम-  
पत' [ तै० २ । ६ ] इति सृष्टेः पूर्वमीक्षणं 'बहुस्यां प्रजापेय' इति  
सृष्ट्यात्मकारणं 'स तपोऽप्यत । स तपस्तप्या । इदं सर्वमसृजत'  
इति सृष्टिहेतुत्वं च श्रूयते तत्सर्वं यानुपपत्तेरिति सूत्रार्थः । जीव-  
ज्ञानस्य शरीरसाध्यत्वादीक्षणानुपपत्तिर्वीच्या । कुतो तपःशब्द ईश-  
णपरः ॥ १६ ॥

(वी० ।) आह—तदिति । तस्य हेतुः कारणं तस्य 'एष तस्य ह्येषाऽऽनन्द-  
याति इति श्रुत्या व्यपदेशोऽभिधानं तस्मात् । चकार आनन्दमयस्य कार-  
णत्ववचनमाह ॥ १४ ॥

ननु जीवो वा प्रधानं वाऽऽनन्दस्य कारणमस्त्वित्यत आह—मान्मेति ।  
मान्मवर्णप्रतिपाद्यं मान्मवर्णिकं सत्यज्ञानाधिक्यं गुहां प्रविष्टं यत्तद्देवाऽऽ-  
नन्दमयशब्देन गीयते । चकारो ह्युपान्तरसमुच्चयार्थः ॥ १५ ॥

अस्तूपकमादिना जीव एवेत्यत आह—नेतर इति । नेतरो जीव इह  
न ब्राह्मः । कुतः । 'इदं सर्वमसृजत' इत्याद्यनुपपत्तेः । नोपपत्तिरनु-  
पपत्तिस्तस्याः ॥ १६ ॥

## भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

नाऽऽनन्दमयो जीवः कृतो जीवानन्दमयचोर्भेदेन व्यपदिश्यमानत्वा-  
दित्यर्थः । तथा च श्रूयते—‘रसो वै सः । रसः ह्येवार्थं लब्ध्वाऽऽनन्दी  
भवति’ [ तै० २।३ ] इत्यानन्दमयस्य लब्धव्यत्वेन जीवस्य लब्धव्येन  
भेदव्यपदेशः । न हि लब्धव्ये लब्धव्यो भवति ॥ १७ ॥

नन्यानन्दमयशब्देन प्रधानमुच्यताम् । तत्राऽऽह—

## कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

अनुमीयत इत्यनुमानम् । अनुमानैकगम्यं प्रधानमित्यर्थः । आनन्द-  
मयत्वेन कारणत्वेन वा प्रधानस्य तापेक्षा न रदीकारः, कृतः कामात् ।  
आनन्दमयाधिकारे ‘सोऽकामपतेति कामपितृत्वावयवणादित्यर्थः । न  
ह्यचेतने प्रधाने कामः संभवति । ईदृशतेर्नाशब्दमित्यत्र निराकृतमपि  
प्रधानं गतिस्त्वान्यमप्यञ्जनाय पुनर्गिराकृतमिति षोऽनुच्यम् ॥ १८ ॥

## अस्मिन्नस्य च तयोर्गं शास्ति ॥ १९ ॥

इतश्च न जीवे प्रधाने वाऽऽनन्दमयशब्दः । परमाद्भिन्नज्ञानमयमे  
प्रकृत आत्मनि प्रबुद्धस्य जीवस्य तद्योगं तदात्मना योगस्तद्वायापशि-  
मुक्तिरित्यर्थः । तं शास्ति शाब्दं तस्मादित्यर्थः । ‘यदा ह्येवैष एतस्मि-  
न्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽमयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽमयं

( शी० । ) नन्दस्त्वर्थं संकुचितमित्यत आह—भेदेति । भेदो लब्धु-  
लब्धव्यस्वभावः । ‘रसः ह्येवार्थं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति’ इत्यादिभूत्या  
तस्य व्यपदेशस्तस्मात् । चकारः संकोचानुपपत्त्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रकरणादिकमपि प्रधानस्यैवास्त्वित्यत आह—कामाचेति ‘सोऽका-  
मयत’ इति श्रुत्या सोऽभिहितः कामस्तस्माच्चेतन एव । अनुमी-  
यत इत्यनुमानं प्रधानं तस्यानपेक्षाप्रसङ्ग इति यावत् । चकारः  
पूर्ववत् ॥ १८ ॥

नम्यस्तूपचरितः काम इत्यत आह—अस्मिन्निति । अस्मिन्मकरणे  
कारणेऽस्य चेतनस्य तेन योगस्तद्योगस्तादात्म्यं शास्त्रयुपदिशति

(प्र०५०) भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुर्वते । अथ तस्य भयं भवति ' [तै०२।७] इति शास्त्रम् । अन्वयार्थः—यस्यासौम्यज्ञाना-  
वस्थायावेष विद्वानेतस्मिन्ब्रह्मणि पञ्चीकृतभूतपञ्चकेन तात्कार्येण सम-  
द्विष्युल्लवेन विराजा ह्रस्वशब्दात्मकेन तात्प्राग्बशून्ये हृदयमिच्छे स्वसं-  
वन्धितयाऽध्यस्तेग्निप्रमातेनापञ्चीकृतभूतकार्येणाऽऽभ्येन तादात्म्यही-  
नेऽनात्म्ये निष्कृष्योत्पद्यन्त इति निवक्तव्यं भूतसूक्ष्माणि तैश्चाभेदव-  
र्जितेऽनिरुक्ते निःशेषलयस्थानं निलयनं सकलकार्यसंस्काराधारा-  
दिद्या तद्व्येदशून्ये प्रकर्षेण स्थितिं पुनरावृत्तिरहितां लभते । अयमं यथा  
स्वादिष्युक्तं ध्यनक्ति—अथेति । ज्ञानफलमुपस्था ज्ञानाभावे दोषमाह  
श्रुतिः—यदा हीति । यद्यस्मिन्ज्ञानन्दमये ब्रह्मण्यल्पमन्वयनरमतादात्म्य-  
स्वरूपं पश्यति तदा संसारमवाप्त निवर्तत इत्यर्थः । इदं शास्त्रं प्रधानप-  
रिग्रहे जीवपरिग्रहे वा न घटत इति । तस्मादानन्दमयः परमात्मेति सिद्धम् ।  
इदं त्वेकदेशितम् । भगवत्प्रादास्तु अन्यस्यमानानन्दपदस्याऽऽनन्दमये  
लक्षणा । 'अन्वोऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इत्यन्नाऽऽनन्दमयपदस्य  
प्राच्युपाधिकत्वे ब्रह्मणि दुःखलक्षप्रसङ्गः स्यादिति प्रचुरामन्दे लक्षणा ।  
'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा इत्यत्र ब्रह्मपदस्याद्वयविशेषे लक्षणेति सुखमित्य-  
ल्लक्षनं विकारप्रायपाठपरित्यागश्चैकदेशितो स्यात् । स्वपक्षे तु 'ब्रह्म  
पुच्छम्' इत्यत्र पुच्छपदस्याद्वयप्रायपाठपरित्याग एवेति मन्वाना  
आनन्दमय इति मयश्चविकारार्थक एवेति मन्वानाः सूत्राप्यन्यथा  
व्याचक्षुः । अधिकरणरचना तु ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र किमानन्दमया-  
वयवत्वेन ब्रह्मोच्यत उत स्वमधानत्वेनेति ब्रह्मपुच्छशब्दाभ्यां संज्ञयः ।  
ईक्षत्वधिकरणे संज्ञापाभावात्प्रायपाठस्य न निश्चायकत्वम् । इह तु  
पुच्छपदस्यावयवधारत्वपोर्लक्षणसामान्यात्संज्ञेऽवयवप्रायपाठस्य नि-  
श्चायकत्वमिति मत्पुत्राहरणसंगतिः । प्रयोजनं च पूर्वोक्तं तत्र पुच्छश-  
ब्दाद्वयवत्वे प्राप्त उच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात् ।' आनन्दमयज्ञ-  
त्वेनाऽऽनन्दमयवाक्यस्थब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र विद्यमानं ब्रह्मपदमुपल-  
क्ष्यते । तद्ब्रह्मपदं न प्रधानपरं किंतु ब्रह्मपरं कुतोऽभ्यासात् । 'असन्नेह  
स भवति । असन्नह्येति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद' [ तै० २ ।  
६ ] इत्यादौ ब्रह्मपदस्याभ्यासादिति । यत्तु पुच्छशब्दावयवपरत्वमिति

(दी०) शास्त्रम् 'यदा ह्येवैषः' इत्यादिना । चकारः परिहारसमुच्चये । अथवा  
पुच्छशब्दस्य लाङ्गूले क्वदस्यावयव आधारे च लाक्षणिकत्वस्य तुल्यत्वेऽ-

(म० १०१) तत्राऽऽह—'विकारज्ञाव्याप्तेति चेन्न प्राचुर्यात् ।' विकारज्ञाव्या-  
 वृषयवपरपुच्छस्येन्द्रात् तत्समानाधिकरणब्रह्मपदं स्वप्रधानब्रह्मपरमिति  
 चेन्न । कुतः । प्राचुर्यादवयवज्ञाव्योपपत्तेः । प्राचुर्यं चात्रावयवमायप्रयोगः ।  
 एवं चाज्ञमयादीनां पुच्छान्तानवपवानुरदाऽऽनन्दमयस्यादान्तरायव-  
 योक्तौ पुच्छस्य दुद्धौ संनिधानादपुच्छमपि ब्रह्म पुच्छमित्युक्तं श्रुत्या । न  
 हि ब्रह्मणो मुरुपपुच्छत्वमानन्दमयस्य परमात्मत्वपक्षेऽपीत्युक्तं एवं प्रति  
 स्वस्य पुच्छत्वानुपपत्तेः । तस्माद्ब्रह्म पुच्छवत्पुच्छं सर्वाधिष्ठानं प्रतिष्ठा  
 परापरणं लौकिकस्याऽऽनन्दजातस्याऽऽधार इत्यर्थः । सर्वाधारत्वात्मति-  
 ष्ठापदस्यमभिव्याहाराद्धारलक्षणा युक्तेति । इतश्च पुच्छज्ञानेनाऽऽ-  
 धारो लक्ष्यत इत्याह—'तच्छ्रेतुव्यपदेशाच्च ।' तस्य ब्रह्मणो विकारजातं  
 प्रति हेतुत्वेन 'इदं सर्वमसृजत' [तै० २।६] इति वाक्ये व्यपदेशादित्यर्थः ।  
 न हि स्वविकारमानन्दमयं प्रति ब्रह्मणोऽवयवत्वं संभवति मुरुपत इति  
 स्वप्रधानं ब्रह्म पुच्छं श्रेयत्वेन वियक्षित इति । 'मान्त्रवर्णिकमेव च  
 गीयते' । यत्सर्वं ज्ञानमित्यादिमन्त्रवर्णोपस्थाशितं ब्रह्म तद्ब्रह्म पुच्छं प्रति-  
 ष्ठेति ब्राह्मणवाक्ये स्वप्रधान्येन गीयते मन्त्रब्राह्मणयोरैकाध्यादित्यर्थः ।  
 इतश्चाऽऽनन्दमयोऽत्र न प्रतिपाद्यस्तस्य वैपथिकप्रियाद्यवयवयोगेन  
 स्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तेरित्याह—'नेतोऽनुपपत्तेः' । 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र  
 ब्रह्म स्वप्रधानं नेतरः कुतोऽनुपपत्तेः । ब्रह्मणोऽवयवत्वेऽवपथ्यानन्द-  
 मयोऽत्र प्रतिपाद्यत इति शक्तव्यम् । न हि तत्संभवति सावयवस्या-  
 श्रिमवाक्योक्तस्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तेरित्यर्थः । अतो ब्रह्म स्वप्रधानम् । इत-  
 श्चात्र पुच्छवाक्ये ब्रह्म स्वप्रधानमित्याह—'भेदव्यपदेशाच्च' । 'रस ९  
 ह्येषां लब्ध्याऽऽनन्दी भवति' [तै० २ । ७] अयमानन्दमयो जीवो  
 रसशब्दितं ब्रह्मानन्दं प्रतिविम्बितं लब्ध्याऽऽनन्दी भवतीति लब्धूलब्ध-  
 व्यकृषेण भेदव्यपदेशादित्यर्थः । इतश्च ब्रह्मपुच्छक आनन्दमयोऽत्र न  
 प्रतिपाद्य इत्याह—'कामाच्च मानुमानपेक्षा' । काम्यत इति काम  
 आनन्दस्तस्य ब्रह्मत्वहृष्टेनानुमानेनाऽऽनन्दमयस्यापि ब्रह्मत्वमपेक्षितत्वं  
 विकारार्थकमपह्नुरोधादित्यर्थः । आनन्दमयज्ञाव्यो ब्रह्मपर आनन्दज्ञाव्य-  
 त्वादानन्दो ब्रह्मेत्यत्राऽऽनन्दज्ञाव्यवदित्यनुमानम् । इतोऽपि ब्रह्मपुच्छ-  
 वाक्ये ब्रह्म प्रधानमित्याह—'अस्मिन्नस्य च तद्योगं ज्ञासित' । अस्मि-  
 न्पुच्छवाक्योक्ते ब्रह्मणि प्रबुद्धस्याऽऽनन्दमयस्य जीवस्य 'यदा ह्येष एत-

(श्री०) वषवभाषे पाठात् 'ब्रह्म पुच्छम्' इत्यत्रापि ब्रह्मानन्दमयस्यावयव

(ब० व०) सिद्धम्<sup>१</sup> इत्यादिशास्त्रं तद्योगं मुक्तिं शास्तीत्यर्थः । तस्मादानन्दमयस्यात्राप्रतिपाद्यत्वात्पुच्छं ब्रह्मैव स्वप्रधानं निविशेपं ज्ञेयमिति सिद्धम् ॥ १९ ॥

( आदित्यान्तर्गतहिरण्यपुरुषस्याक्षयन्तर्गतपुरुषस्य चेश्वरत्वम्,  
अधि० ७ )

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

पूर्वत्र ब्रह्मपदमानन्दमयपदमानन्दपदव्यासश्वेति मुख्यत्रितयात्मक-  
ब्रह्मप्रमाणवशाद्भिर्गुणब्रह्मानिर्णयो यथा तद्ब्रह्मपदस्याद्विबहुप्रमाणात्सं-  
सारी हिरण्यमयः पुरुषोऽस्त्विति पूर्वसिद्धान्तचुल्लया पूर्वपक्षोत्थाना-  
नाद्ब्रह्मरूपान्तररसंगत्या पूर्वसिद्धनिर्गुणब्रह्मसमन्वयापवादाकमि-  
दमारभ्यते । फलं च पूर्वोत्तरपक्षयोरुपास्तित्वेव पादसमाप्तिपर्यन्तम् ।  
छान्दोग्ये श्रूयते—‘ अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुण्यो  
नृश्यते हिरण्यमयश्चिरिण्यकेन आ प्रणसात्सर्वं एव सुवर्णः’  
[ छा० १ । ६ । ६ ] ‘ तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवम-  
क्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै  
सर्वभ्यः पाप्मभ्यो य एषं वेद’ [ छा० १ । ६ । ७ ] इत्यादिद्वयम् ।  
अथाध्यात्मम्—‘ अथ य एषोऽन्तराक्षिणि पुरुषो ब्रूयते’ [ छा० १ । ७  
५ ] इत्यादि । उपास्तिप्रस्तावार्थोऽथशब्दः । य एष शास्त्रसिद्ध आदि-  
त्यमण्डलमध्यवर्ती । स्थानाद्यवयवकथनं परमात्मन उपास्तरथं ब्रह्म-  
व्यम् । हिरण्यमयो ज्योतिर्मयः । तत्रावहितधिषामनुमयं प्रमाणयति—नृश्यत  
इति । हिरण्यमयपदं ज्योतिष्परम् । सुवर्णपदमपि ज्योतिष्परम् । प्रणसो

(दी० १) इति प्रस्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समापचे सिद्धान्तेन ॥ १९ ॥

आनेन्देति । ‘ अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः’ इत्यत्र ‘ ब्रह्म पुच्छं  
प्रतिष्ठा’ इति स्वप्रधानमेव ब्रह्म । कुतः । ‘ असन्नेव’ इत्यादिना ब्रह्म-  
णोऽभ्यासात् ।

विकारेति । विकारोऽवयवः पुच्छं तस्य शब्दस्तस्मात् स्वप्रधान-  
मिति चेदेवं यदि तन्न । प्राचुर्यात् । विकारमाद्यपाठात् । विकारशब्दो  
न ब्रह्मणः स्वमाधानं निवर्तयतीत्यर्थः ।

(३०५०) । प्रणखो न स्यात्प्रम् । चक्षुषोर्धिशेषमाह—तस्येति । कपेर्मर्कट-  
स्याऽऽत्तः वृष्टमागोऽत्यन्तं तेजस्वी तन्नृत्यम् । पुण्डरीकं पथाऽत्यन्तं  
तेजस्य तथाऽत्य वेवस्याक्षिणी नेत्रे । ध्यानार्थमेव नाम करंति-  
तस्येति । नाम निर्धक्कि—स इति । उपित उद्भूतः सकार्यसर्वपायास्पृष्ट  
इत्यर्थः । ध्यानफलमाह—उदेतीति । अधिदेवतं देवतामधिकृत्योपासित्वा-  
व्यनित्यर्थः । अविदेवध्यानोदात्तनन्तर आमानं देहमधिकृत्यापि तद्वक्ति-  
रित्याह—अथेति । कृताहर्षं स्थानहृदयस्थं पुरुषमधिकृत्य रूपदत्तयन्तुया  
सर्वपायास्पर्शभ्रूत्वा च सदाचः । किमपं पुरुषो विद्याकर्मातिशयवशात्प्रा-  
प्तोत्कर्षः कश्चित्संसारी उक्त नित्यसिद्धः परमेश्वर इति । किं तावत्वात्तं  
संसारीति । कुतः । हिरण्यवस्तुविरत्यादिक्रमवत्प्रवृत्तमात् । अक्षिपुरुष-  
स्यापि 'तस्यैतस्य तदेव रूपं पद्मगुण्य रूपम्, । (छा०१।७।५) इति रूप-  
वत्प्रवृत्तमात् । 'देव चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चंटे देवकामानां  
च' इत्यादित्यपुरुषस्य 'स एव ये चैतस्मादावाञ्चो लोकास्तेषां चंटे मनुष्य-  
कामानां च' इत्याक्षिपुरुषस्य चैश्वर्यमर्वादाव्यवणात् । न हि परमात्मनो  
मर्वादावश्वैश्वर्यं युक्तम् । 'स एव सर्वेश्वरः' (७०१।१।२२) इति श्रुतेः । स  
आदित्यपुरुषोऽमुष्मादादित्याहूर्ध्वगानः लोकानामीशिता देवकामानां  
देवभागानां चेत्यर्थः । एतस्माच्चक्षुषोऽर्वांगतानां लोकानामीशिताऽक्षि-  
पुरुषो मनुष्यभोगार्णा चेत्यर्थः । तस्मात्तद्व्यादित्ययोरन्तः पुरुषः परमे-  
श्वर इति प्राप्त उच्यते—'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' । य एवोऽन्तरादित्ये य  
एवोऽन्तराक्षिणीति च धूयमाणः परमेश्वर एव न संसारी । कुतः । तद्धर्मो-  
पदेशात् । तस्य परमेश्वरस्य ये धर्मास्तेषामस्मिन्या रूप उपदेशादित्यर्थः ।

(३०६) । तद्धेतुत्विति । तस्याऽऽनन्दमपादेनगतो हेतुः कारणम् । माच-  
प्रधानो निर्देशः । तद्धेतुत्वपदेशः श्रुत्याऽभिधानं तस्मात् । शेषेऽनन्द-  
पदस्थानेषु ब्रह्म स्वप्रधानमिति पठित्वा पूर्ववद्व्याख्यातम् ॥ १९ ॥

पूर्वाधिकरणे मयतो विचार आनन्दस्याऽऽनन्दमात्रे ब्रह्मणो देव-  
कालवत्त्वपरिच्छिन्ने वस्तुनि मुख्यार्थत्वं पुनः प्राचुर्यानन्दमथावप्येषु  
अतः प्राथमातो वाचितः । एवमिहापि मयादाधाररूपाणां श्रवणाज्जीव  
एव प्राप्तेश्वर्यमिच्छितः कश्चित्संवादित्यत आह—अन्तरिति । 'अथ य  
एवोऽन्तरादित्ये हिरण्यवः पुरुषः' इत्यत्र यो हिरण्यवः पुरुषः स परमे-



(अ० १०१) तद्यथा तस्योदिति नामोत्पादिना सर्वपाप्मविरहेणाऽऽदित्यपुरुषस्य नामोक्त्वा तदेव नामाक्षिपुःपस्यातिदिशति—‘यज्ञाम तज्जाम’ [ छा० १ । ७ । ५ ] इति तत्सर्वपाप्मराहित्यं ब्रह्मधर्मः । एवम्—‘सैव ऋक्तत्ताम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म’ इति ऋगाद्यात्मत्वं निर्धारयति श्रुतिः । तच्च सर्वात्मकत्वं ब्रह्मण एवोपपद्यते । सैव ऋगित्वादेरपमर्थः—तच्छब्देन पुरुषपरामर्शः । विधेयापेक्षयाऽन्यलिङ्गव्यपदेशः । उक्थं ज्ञानविशेषः । तस्मादुच्यते तस्मात्स्तोत्रमुद्यथादन्यच्छब्दसूक्तं । ब्रह्म त्रयो वेदा इति । एवं सर्वगाननीचमानत्वं भूतौ निर्दिष्टम् । ‘तद्य इमे वीणायां गायन्तेपेतमेव ते गावन्ति’ इत्यादौ हिरण्यमभुक्तेसादिकं मायिकं परमेश्वरस्य लोकानुग्रहार्थमुपपद्यत इति न तेन विरोधः । तस्मादुक्षयादित्यधोरन्तः परमात्मा ॥ २० ॥

किंच—

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

आदित्याक्ष्णोरन्तः श्रूयमाणः पुरुष आदित्यज्ञरीराभिमामिनो जीवादन्यः । कुतः । भेदव्यपदेशात् । आदित्यज्ञरीराभिमामिजीवादन्यस्य परमात्मनोऽन्तर्यामिषपाऽन्तर्यामिबाह्वजे भेदेन व्यपदेशादित्यर्थः । ‘य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद पस्याऽऽदित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमपत्येव त आत्माऽन्तर्याम्यद्युतः’ [ वृ० ३ । ७ । ९ ] इत्यादिश्रुत्यन्तरे तयोर्भेदव्यपदेशाद्वापि आन्तरशाब्दश्रुत्या प्रत्यभिज्ञानात्परमेश्वर एवाक्षयादित्ययोरुपास्य इति लिङ्गम् ॥ २१ ॥

( परब्रह्मण आकाशशब्दवाच्यत्वम्, अधि० ८ )

आकाशस्तलिङ्गात् ॥ २२ ॥

पूर्वमव्यभिचारिब्रह्मलिङ्गेनापहतपाप्मत्वादिना रूपवस्वाधिकग्रन्थथा (धी०) श्वरः । कुतः तद्भूमौपिपेक्षात् । तस्य धर्मास्तद्भूमौ अपहतपाप्मत्वाद्यस्तेषाम् । ‘उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मन्धो य एवं वेद’ इत्यादिश्रुत्योपदेशोऽभिधानं तस्मात् ॥ २० ॥

नन्वादित्यादित्यो नान्य ईश्वर इत्यत आह—भेदेति । अस्ति देशतादित्योऽन्य ईश्वरः । कुतः । ‘य आदित्ये तिष्ठन्’ इत्यादिनाऽऽधाराद्येवभेदस्य व्यपदेशात् । चकार उक्तव्यावृत्त्यर्थः ॥ २१ ॥

पूर्वाधिकरणेऽन्यथासिद्धलिङ्गवशाद्देन्यथासिद्धरूपवैरवादि नीतम् ।

(शं० १०) नीतम् । इह तु लिङ्गाद्याकाशशब्दश्रुतिरन्वया नेतुं न शक्यते  
 लिङ्गापेक्षया ध्रुतेः प्रचलत्वादिति प्रत्युदाहरणसंगत्येवमारभ्यते । छान्दोग्ये  
 श्रूयते—'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह  
 वा इमानि भूतान्वाकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्तीत्या-  
 काशो ह्येवम्यो ज्ञायानाकाशः परायणम्' [ छा० १।९।१ ]  
 इति । तत्रोभयत्राऽऽकाशशब्दस्य प्रयोगदर्शनात्संशयः । किं भूताका-  
 शोऽत्राऽऽकाशशब्देनाभिधीयत उत परं ब्रह्मेति । 'यद्येव आकाश  
 आनन्दो न स्यात् [ तै० २।७ ] इत्यादिपदे ब्रह्मण्यपाकाशशब्दप्रयोगो  
 भूताकाशे रूढ इति विषयवाक्यार्थस्तु शालावत्यनामकः कश्चन  
 ऋषिर्जैवलि राजानं पृच्छति—अस्येति । सर्वस्य प्रपञ्चस्य किमधिकर-  
 णमिति प्रश्नार्थः । जैवलिरुत्तरमाह—आकाश इति । कथंभूत आकाशः  
 सर्वजगत्प्रतिष्ठा तत्राऽऽह—सर्वाणीति । भूताकाशम्यावृत्तये हेत्वन्त-  
 रमाह—आकाशो हीति । तत्रैव हेत्वन्तरनाकाशा इति । अयं सिद्धा-  
 न्तार्थः । तत्र कथं भूताकाश इति युक्तम् । न च वाक्यशेषानुपपत्तिः ।  
 आकाशाद्वापुरित्यादौ तस्यापि वाय्वादिकारणत्वश्रवणात् । तस्माद्भू-  
 ताकाश इति प्राप्ते इमः—'आकाशस्तद्विज्ञात्' आकाशाशब्देन ब्रह्मणो  
 ग्रहणं युक्तं कुतस्तद्विज्ञात्तस्य ब्रह्मणो यद्विज्ञं महाभूतसदृत्वादिकं  
 तस्यास्मिन्वाक्ये ह्यस्तत्वावित्यर्थः । नन्विदं भूताकाशस्यापि वाय्वादि-  
 कारणत्वं दर्शितमिति चेन्न । मूलकारणब्रह्मणोऽपरिग्रह आकाशादेवे-  
 त्यवधारणं सर्वाणीति च भूतविशेषणमाकाशं प्रत्यस्तं यन्तीति कारणे  
 लपप्रदर्शनं चाननुकूलं स्यात् । ज्ञाप्यस्त्वपरापणत्वप्रदर्शनं च ब्रह्मण्येव  
 समञ्जसम् । ध्रुत्यन्तरं च स्वष्टं ब्रह्मण एव परायणत्वं दर्शयति—  
 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दानुः परायणम्' [ सु० ३।९।२८ ]  
 इति । रातेर्धनस्य दानुर्धनमानस्य । रातिरिति पाठे रातिर्वन्द्युरित्यर्थः ।  
 किं च—'स एव परोक्षीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' [ छा० १।९।  
 २ ] इत्युद्गीथ आकाशरूपदेवताधर्मान्परत्वादीनुपसंहरति जैवलिस्तद्भू-  
 ताकाशे न युज्यते । न हि तस्याऽऽनन्त्यं संभवति । ध्रुती परत्वं गुणत

(शं० १) अत्र त्वाकाशमुत्पाकृतसर्वभूतोद्भवावेर्लिङ्गस्य संकोच इति प्रत्यु-  
 दाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—आकाश इति । 'आकाश इति होवाच'

(ब० १०) उक्तुष्टत्वं वसोचरत्वं कालतो वस्तुतश्चापरिच्छिन्नत्वं मनन्तत्वं देशतोऽपरिच्छिन्नत्वं द्रष्टव्यम् । यत्तु लिङ्गाच्छ्रुतिर्वलीयसीति तन्न । त्वयेदेकं कुलस्यार्थं इति न्यायेन बह्विनामवत्काशलिङ्गश्रुतीनामनुग्रहापेकस्या आकाशश्रुतेर्षाधस्य युक्तत्वात् । तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मैवात्र देवतोद्गीथ उपास्यमिति सिद्धम् ॥ २२ ॥

( ब्रह्मण आकाशशब्दव्याणशब्दवाच्यत्वम्, अधि० ९ )

अत एव प्राणः ॥ २३ ॥

तत्र चातिदेशत्वात् प्रथक्संगत्वपेक्षा । यद्वा पूर्वत्राऽऽकाशश्रुतेरव्यभिचारिब्रह्मलिङ्गोपबृंहितत्वाद्वाधो युक्तः । इह भूयमाणसंशेषानादिलिङ्गस्य प्राणेऽपि संभवेनाव्यभिचारिब्रह्मलिङ्गसहचारभावात्प्राणश्रुतिबाधो न युक्त इति प्रत्युदाहरणसंगतिः । तत्रैवाऽऽकाशशब्दानन्तरं श्रुत उद्गीथे—‘ प्रस्तोतर्षा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेद्विद्वान्मस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ’ । [ छा० १ । १० । ९ ] ‘ कतमा सा देवतेति ’ [ छा० १ । ११ । ४ ] प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता ’ [ छा० १ । ११ । ५ ] इत्यादि । अस्यार्थः— उद्गीथाधिकारे प्रासङ्गिकं प्रस्तावध्यानमिति वक्तुमुद्गीथ इत्युक्तम् । कश्चिद्विश्वाकाशपणनामा धनाय राज्ञो चार्यं गत्वा ज्ञानधैर्मर्षं स्वस्य प्रकटपम्प्रस्तोतारमुवाच । हे प्रस्तोतर्षा देवता प्रस्तावं सामभक्तिविशेषमन्वायत्ताऽनुगता तां चेद्विद्वान्मम विदुषः संनिधौ प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । स प्रस्तोता भीतः संश्वाकाशपणं पप्रच्छ कतमा सेति । तस्य प्रतिवचनं प्राण इति । मुख्यप्रणवायुं व्यावर्तयति—सर्वाणीति । संविशन्ति लीनानि भवन्ति लपकाले । अभ्युज्जिहते जन्मकाले प्राणमभिलक्ष्योद्गच्छन्तीति । तत्र—‘ प्राणवन्धनं हि साम्य मनः ’ [ छा०

(दी०) इत्याकाशशब्दः परमात्मना । कुतः, तस्य परमात्मनो लिङ्गं सर्वभूतोत्वस्यादि तस्मात् ॥ २२ ॥

पूर्वाधिकरणे ‘अस्य लोकस्य का गतिः’ इति सर्वकारणस्य प्रश्नदुर्शनादुत्तरेऽपि सर्वकारणमाकाशं श्रुत्या । निकृष्टत्वा व्यवस्थापितम् ।

३ ब्रह्मण्यव्ययानां लिङ्गश्रुतीनामिदं ।

(न०५०) ६।८१ ] 'प्राणस्य प्राणम्' [ वृ०४।४।१८ ] इत्यादि ब्रह्मणि प्राणशब्दप्रयोगप्राणवाच्यौ च प्रसिद्धतरत्वात्संशयः । किमत्र प्राणशब्देन ब्रह्मामिधीयत उत वायुविकार इति । मनःशब्दलक्षितं तत्साक्षि-  
 चैतन्यं प्राणे परस्मिन्नैक्येन स्थितमित्यर्थः । प्राणस्य पञ्चस्थितिवृत्ते-  
 र्वायुविकारस्य प्राणं सत्तास्फूर्तिमात्मानं ये विदुश्चे ब्रह्म जानन्तीत्यर्थः ।  
 तत्र प्रसिद्धिबलाद्वायुविकारः प्राण इति प्राप्त आकाशस्याप्यमतिवि-  
 शति भगवान्मुञ्जकारः—'अत एव प्राणः' इति । अत एव पूर्वभूतो-  
 क्ततल्लिङ्गादितिहेतोरेव प्राणशब्दे ब्रह्मेत्यर्थः । 'सर्वाणि इ वा इमानि  
 भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति' [ छा० १ । ११ । ५ ] इत्यादिना  
 महाभूतसंवेदानादिकं ब्रह्मलिङ्गं प्राणवाक्ये श्रूयते । न च 'यदा वै  
 पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि चागम्येति प्राणं चक्षुः प्राणं मनः प्राणं  
 श्रोत्रं स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधिपुनर्जायन्ते' [ श्र० ५० ब्रा० १० ।  
 ३ । ३६ ] इति श्रुत्या वायुविकारेऽपि संवेदानादि श्रूयत इति वाच्यम् ।  
 न हि तत्र महाभूतसंवेदानादि श्रूयते किं त्विन्द्रियसंवेदानादिक-  
 मेव । श्रुत्यर्थस्तु—तर्हि तस्यां सुषुप्तपवस्थापामिर्यर्थः । वाक्य-  
 दमनुक्तकर्मन्द्रियलक्षकम् । चक्षुःश्रोत्रे बुद्धीन्द्रियाणामुपलक्षणम् ।  
 तस्मादन्यथासिद्धब्रह्मलिङ्गात्प्राणशब्दवाच्यं ब्रह्मैवोपास्यप्रस्तावदेव-  
 तेति सिद्धम् ॥ २३ ॥

( परब्रह्मणो ज्योतिःशब्दवाच्यत्वम्, अधि० १० )

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

पूर्वं प्राणवाक्ये ब्रह्मलिङ्गसत्त्वाद्भवतु ब्रह्मपरता । इह वाच्ये तदभा-  
 वात्त ब्रह्मपरतेति प्रत्युदाहरणसंगत्येदमारभ्यते । छान्दोग्ये श्रूयते—

(छं- )अत्र तु न तादृक्किंचिदस्ति प्रवृत्त सुषुप्तादिन्द्रियाणां सर्वभूतसाराणां  
 प्राणे लघोत्वस्योः श्रवणात्प्रस्तावदेवता मुख्यप्राण इति प्रत्युदाहरणे-  
 नाऽऽक्षिप्यातिदेशेन समाधत्ते—अत इति 'प्राण इति होवाच' इत्यत्र  
 प्राणशब्दः परमात्मा । कृतः । अत एव । सर्वभूतोद्भवादिलिङ्गादेव ॥२३॥

पूर्वाधिकरणे तल्लिङ्गादाकाशप्राणश्रुत्योर्ब्रह्मपरत्वमुक्तम् । नात्र ज्योति-  
 र्वाक्ये तदस्तीति कृत्वमेव ज्योतिरिति प्रत्युदाहरणेन ज्योतिर्लिङ्गश्रवणा-

(अ० व०) 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पुष्टेषु सर्वतः पुष्टेष्वनुत्तमेषुत्तमेषु लोकेष्विदं वाच तद्यद्विदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः' [ छा० ३।१।३।७ ] इति । अस्यार्थः—गायत्र्युपाधिब्रह्मोपास्यनन्तरमुपास्यन्तरोक्तस्योऽथशब्दः । अथ दिवो मूलोकात्परः परस्ताद्यज्योतिर्दीप्यते तद्विदमित्यौघरज्योतिष्यथपश्यते । कुत्र तद्दीप्यते तस्मात्सह—विश्वत इति । विश्वस्मात्त्राणिवर्गादुपरीत्यर्थः । विश्वशब्दस्य कतिपयार्थत्वं व्यावर्तयति—सर्वत इति । सर्वस्माद्भूरादिलोकात्सर्वसंसारमण्डलादुपरीत्यर्थः । उत्तमा न विद्यन्ते येभ्यस्तेऽनुत्तमास्तेषु । इदंशब्दार्थं स्फुटयति—यदिति । लोकेष्वेदोर्भौतिकतेजसि ब्रह्मणि च प्रयोगात्संशयः । किमिह ज्योतिःशब्देनाऽऽदित्यादिकं तेजोऽभिधीयत उत ब्रह्मेति । किं तावदत्र पुक्तं भौतिकमिति । कुतः । प्रसिद्धत्वादतो दिव इत्यादिना मर्यादाविश्रवणाच्च । न हि सर्वव्यापिनो ब्रह्मणो मर्यादादिकं पुक्तं तस्माद्भौतिकं ज्योतिरिति प्राप्ते भ्रमः—ज्योतिश्चरणाभिधानादिति । अत्र ज्योतिःशब्दश्राद्धं ब्रह्मैव कुतश्चरणाभिधानात्पादाभिधानादित्यर्थः । तथा हि ज्योतिर्वाक्यत्पूर्ववाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिश्यते—'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाश्च पुरुषः । पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिधीति' [ छा० ३ । १२ । ६ ] एतदर्थस्तु—गायत्री वा इदं सर्वमित्यत्र भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्मानुषैः पञ्चविधा चतुष्पादा गायत्रीति बहुक्तं तद्गायत्र्युपाधिब्रह्मणो महिमा विभूतिस्तावान्पादानयं प्रपञ्चः स्वयं पुरुषस्ततो ज्यावान् । तदेवाऽऽह—पाद इति । सर्वाणि भूतान्यस्यैकः पाद एकदेशः । त्रिपादस्यामृतं दिवि स्योतनवति स्वात्मनि स्थितमिति । एवं च यदतः पर इत्यत्र यच्छब्दस्य सर्वनामत्वेन प्रसिद्धार्थवाचकत्वात्पूर्ववाक्ये श्रुतबन्धित्वेन प्रसिद्धं ब्रह्मात्रापि श्रुतबन्धाद्यच्छब्देन प्रत्यभिज्ञायते । अतः पर इत्यादिना श्रुतं ब्रह्मणो मर्यादादिकमुपासनार्थमित्युक्तम् । ज्योतिःशब्दो ब्रह्मण्यपि प्रसिद्धो वेदान्तेषु । तस्माद्विह ज्योतिःशब्द[ श्राद्धं ] ब्रह्म ॥ २४ ॥

(श्री०) 'दिति हृष्टान्तेन चाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—ज्योतिरिति । 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः' इति ज्योतिःशब्दं ब्रह्मैव कुतः । चरणाभिधानात् । पूर्वस्मिन्गायत्रीवाक्ये पादोऽस्येत्यादिना चरणानां पादानामुक्तत्वात् ॥ २४ ॥

छन्दोभिधानादिति । पूर्वस्मिन्वाक्ये 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इत्या-

छन्दोभिधानाच्चेति चेन्न तथा चेतोर्पण-

निगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥

( म०१० ) बहुक्तं पूर्वञ्च गायत्र्याग्यच्छन्दोऽधिकब्रह्मण उक्तत्वात्तद्वन्न  
प्रत्याभिज्ञापत इति तन्न । 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यद्विदं किंचेति' गाय-  
त्र्याख्यच्छन्दसः प्रकृतत्वात्तस्यैव पादोऽस्य सर्वाणि मूतानीति मूतपाद-  
व्यपदेशो न ब्रह्मण इति पूर्ववाक्ये छन्द एवाभिधीयते न ब्रह्मेति चेन्न ।  
गायत्र्याख्यच्छन्दोद्दारेण तदनुगतब्रह्मणि सर्वात्मकारवं प्रतिपाद्यते  
गायत्री वा इदं सर्वमित्यादिना । न हि अक्षरसंनिवेशमात्राया गायत्र्याः  
सर्वात्मकार्यं समञ्जसम् । तस्माद्गायत्र्यां विकारे यदनुगतं ब्रह्म तदेष  
गायत्री वा इदं सर्वमित्यादिना प्रतिपाद्यत इति । निष्कर्षार्थस्तु—छन्दो-  
भिधानाद्गायत्र्याख्यच्छन्दस एव पूर्ववाक्ये प्रकृतत्वाच्च ब्रह्मणः प्रकृतत्व-  
मिति चेन्न । कुतः । तथा छन्दोद्दारेण तते ब्रह्मणि चेतोर्पणस्य चित्त-  
समाधानस्य निगदात्भिधानात् । तन्न दृष्टान्तः । तथा हि दर्शनम् ।  
अन्यत्रापि विकारद्वारेण ब्रह्मण उपसर्गं दृश्यत इति दर्शनं दृष्टमि-  
त्यर्थः । ' एतं ह्येव बह्वृचा महत्पुण्ये मीमांसन्त एतमशाचध्ववर्धेव एतं  
महावते छन्दोगाः ' [ एत० आ० ३ । २ । ३ । १२ ] इति । तद्-  
र्थस्तु—एतमेवाऽऽत्मानमुन्धेदिनो महत्पुण्ये मधामे शोभे तदनुगतमुपा-  
सते । यदुर्वेदिनोऽग्री कृती सामवेदिनो महानताख्यकृती तदनुगतं  
ब्रह्मानुसंदधत इत्येतरेषे दृष्टमित्यर्थः । एवं च गायत्रीशब्दो ब्रह्मलक्षक  
इति पूर्ववाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टम् । यद्वा गायत्रीशब्दो ब्रह्मणि गौणः ।  
तथा च सूत्रे सिद्धान्तभागस्यायमर्थः । यथा गायत्री षडक्षरैः पादैश्च-  
तुप्पदैर्ब्रह्मणि चतुष्पादिति गायत्रीशब्देनाभिधीयते । चतुष्पा-  
त्त्वगुणयोगात्तथा गायत्रीसादृश्येन चेतोर्पणस्य ध्यानस्य निगदात्भि-  
धानादिति । तथा हि दर्शनमिति च्छन्दोभिधापिशब्दस्य सादृश्याद्-  
न्यत्र प्रयोगे दृष्टान्तः । तथा हि—ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दृश  
सन्तस्तत्कृतम् ' [ छा० ४ । ३ । ८ ] इत्युपक्रम्याऽऽह—'सैषा विराट्'  
(शं०)दिना गायत्र्याख्यस्य च्छन्दसोऽभिधानाद्ब्रह्मणश्च ब्रह्मण इति चेदेवं  
यदि तन्न । तथा चेतोर्पणनिगदात् । चेतसो मनसो गायत्र्याख्ये छन्दोसि  
ब्रह्मदृष्टया समर्पणं निगद्यते कथ्यतेऽमेनेति निगदस्तत्तमात् । तथा हि दर्शन-  
म् । हि यस्माद्यथाऽत्र चेतसोऽर्पणस्य दर्शनमबलोकनं तथाऽन्यत्रापि दर्श-  
नम् । एतं ह्येव बह्वृचा महत्पुण्ये मीमांसन्त इत्यादि । अथवा चेतोर्पणनि-

(३०७०) इति । अस्यार्थः—संवर्गविद्यायागधिदैवतमग्निसूर्यचन्द्राम्भांसि चार्थोऽस्ति यन्तेऽध्यात्मं प्राणो वाक्चक्षुःश्रोत्रमनासीत्युक्तम् । ते वायुना सह पञ्चाऽऽधिदैविका आध्यात्मिकेभ्यः प्राणादिभ्योऽन्ये तथा प्राणादयः पञ्चाऽऽधिदैविकेभ्योऽन्य एवं सर्वे दश सन्तस्तत्कृतमित्युच्यते । कृता-परपर्यायचतुरापनामकद्युतगतचतुरङ्गवच्चत्वारः पदार्थाः प्रकृते सन्ति । त्र्यङ्गाययत्रयो द्यङ्गाययद्वावेकाङ्गाययदेकश्च । एवं प्रकृते दशके सर्वा-न्तर्मावात्तज्ये सर्वजयो भवति । यथा कृते जिते ज्ञेतादिसंज्ञानि त्र्यङ्गा-यादीनि जितानि भवन्ति तद्वत् । तत्र चतुरङ्गापरपर्यायचतुरङ्गायनामक-द्युतस्य कृतमिति संज्ञा । स चतुरङ्गायो दशालकश्चतुर्भ्यङ्गकेषु त्रयाणां त्रिषु द्वयोर्द्वयोरेकस्य चान्तर्मावाद्वाद्वाद्योऽपि दश । तथा च दशत्व-संख्यासाहस्र्याद्वाद्वाद्यः कृतमित्युच्यन्ते । एवमेव दशाक्षरा विरा-डिति श्रुत्या विराण्नामकच्छन्दसो दशात्मकत्वाद्वाद्वाद्यौ विरादशब्द-प्रयोग इति यथा तद्ब्रह्मणि चतुष्पात्त्वसाभ्याद्वाचञ्जीशब्दप्रयोग इति दृष्टान्तार्थः । तस्मात्पूर्ववाक्ये ब्रह्मैव निर्दिष्टं न च्छन्द इति सिद्धम् ॥२५॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

इतश्च गायत्रीवाक्ये ब्रह्मैव प्रतिपाद्यमित्यभ्युपगन्तव्यमित्येवंशब्दार्थः । कुतो भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः । भूतपृथिवीशरीररुद्धद्वैश्वतुष्पदा गाय-त्रीति व्यपदेशस्य ब्रह्मण्येवोपपत्तेरित्यर्थः । न ह्यक्षरसंनिवेशरूपगायत्री-छन्दसि भूतादिपादव्यपदेशः संभवति । किं च 'ते वा एते पञ्च ब्रह्म-पुरुषाः' [ छा० ३ । १३ । ६ ] इति श्रुतिः पूर्वं ब्रह्मणः प्रकृतत्वे संगच्छते । तथा हि गायत्र्याख्यब्रह्मणो हार्दस्योपास्त्यङ्गत्वेन द्वार-पालादिगुणविध्वर्थं 'तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुपयः' [ छा० ३ । १३ । १ ] इत्यादिवाक्यम् । तत्र 'ते वा एते पञ्च ब्रह्म-

(शे०) गदादिति चेतसोऽर्पणम् । यथा हि गायत्रीशब्दाभिधेये ब्रह्मणि निग-द्यते तथा हि दर्शनम् । अल्पत्रापि च्छन्दोभिधापिशब्देन 'सैषा विरा-डज्ञादि' इति ब्रह्मामिधानस्य ॥ २५ ॥

ब्रह्मण्येव गायत्रीवृष्टिः किं न स्यादित्यत आह—भूतादीति । भूत-मिदं सर्वम् । आदिशब्देन पृथिवीशरीररुद्धपानि । ताम्येव पादा विमा-गास्तेषां व्यपदेशः कथनं तस्योपपत्तिः संभवस्तस्मात् । एवं गायत्र्यां

(म०१०)पुरुषाः ' [ छा० ३।१३।६ ] इति ध्रुतम् । तथा चोपास्यद्भानां द्वारपालानां हृदयच्छिद्रेषु स्थितानां प्राणादिवायूनां ब्रह्मपुरुषत्वोक्तैर्हृदयच्छिद्रेष्वपि ब्रह्मसंयन्वाऽवगम्यत इत्यतोऽस्ति पूर्ववाक्ये ब्रह्म प्रकृतम् । नेह मायत्रीमात्रस्वैधोपास्यत्वे तद्भानां ब्रह्मपुरुषत्वं युक्तम् । अतो हृदयच्छिद्रेषु ब्रह्मसंयन्वात्तत्रस्थथायूनां ब्रह्मपुरुषत्वमिति ब्रह्मगुरुषुभ्युपपत्तिरिति । श्रुत्ययंस्तु—हृदयस्य पञ्च देवच्छिद्राणि । आदित्वादिनामकैः प्राणादिवायुभिर्द्वैः परिपास्यत्वाद्देवसुपित्वं छिद्राणामुपचयते । तानि हृदयच्छिद्राणि हृदयमाद्रुमुखदक्षिणामुस्रमत्स्रुमुखोदङ्गमुखोर्ध्वमुखरूपाणि । तत्स्थाः प्राणापानव्यानसमानोदानामकावापयः क्रमेणाऽऽदित्यचन्द्राग्निपर्जन्याकाशनामकाः पञ्च ब्रह्मपुरुषा इति । तस्माद्वायत्रीवाक्ये ब्रह्मैव प्रतिपाद्यमिति उच्यतेतिवाक्ये द्युसंयन्वात्तदेव प्रत्यभिज्ञायत इति सिद्धम् ॥ २६ ॥

उपदेशभेदाच्चेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥

ननु पूर्वस्मिन्वाक्ये 'त्रिपादस्यासुतं दिवि' इति सप्तम्या धीराधारत्वेन निर्दिश्यते । अथ 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' इत्यत्र पञ्चम्या[अ]वधित्वेन द्यौर्निर्दिश्यते । तथा च विभक्तिभेदेनोपदेशभेदकथनभेदाज्ज्योतिर्यक्ये प्रत्यभिज्ञानं न संभवतीति चेन्न । कुतः । उभयस्मिन्नप्यविरोधात् । विभक्तिभेदेनोपदेशद्वयेऽपि प्रत्यभिज्ञाया अविरोधादित्यर्थः । प्रधानमातिपदिकार्थेन प्रत्यभिज्ञाया गुणभूतविभक्त्यर्थो न प्रतिबन्धक इति भावः । तस्मात्परं ब्रह्मैव कीक्षेपकाशाद्युपास्यं ज्योतिःशब्देन नान्यद्भौतिकं तेज इति सिद्धम् ॥ २७ ॥

(श्ल०) ब्रह्मदृष्टिर्गायत्रीशब्दाभिधेये ब्रह्माणि नाक्षरमात्रं गायत्री भूतादिपादवत् । चकारः पूर्वपक्षिणोऽपि पूर्ववाक्यब्रह्मण्यनुपपत्तिमाह ॥ २६ ॥

उपदेशेति । उपदिश्यत इत्युपदेशो वाक्यम् । 'परो दिवः' 'असुतं दिवि' इति पञ्चमीसप्तम्यन्तत्वेनेतस्य पूर्वस्य च भेदात्त ब्रह्म पूर्ववाक्य इति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । उभयस्मिन्नपि पक्षद्वयेऽपि प्रातिपदिकार्थस्यैकत्वाद्ब्रह्मप्रत्यभिज्ञानात्त विरोधस्तस्मात् । अथवा पञ्चम्यन्तत्वेन सप्तम्यन्तत्वेन वा व्यपदेशोऽप्युभयस्मिन्नपि वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रपरतः श्येन इतिवत्प्रत्यभिज्ञानस्य न विरोध इति ॥ २७ ॥



( ब्रह्मणः प्राणशब्दप्रतिपाद्यत्वम् 'अधि० ११ ) ।

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥ २८ ॥

(ब०व०)पूर्वस्मिन्नाधिकरणे 'पदतः परः' इत्यत्र पञ्चदशस्य प्रसिद्धार्थवाचकस्य बलवत्त्वात्तल्लहकृतं ब्रह्मलिङ्गं तेजोलिङ्गापेक्षया बलवदित्युक्तं न तथेह किञ्चिद्बलवत्तया संपादकमस्तीति प्रत्युदाहरणसंगतिरस्याधिकरणस्य । यद्वा पूर्वं द्विवि दिव इत्यत्र प्रधानप्रकृत्यर्थानुरोधाद्गुणभूतप्रत्ययार्थोऽन्वया नीतो यथा तद्ब्रह्मिहापि स्वतन्त्रप्राणाद्विपदार्थमेवप्रतीती तत्सापेक्षब्रह्मरूपवाक्यार्थप्रतीतिगुणभूताया अपलायो युक्त इति दृष्टान्तसंगतिः । पदार्थप्रतीतिः स्वातन्त्र्यं जनकत्वेन वाक्यार्थप्रतीतिगुणत्वं तज्जन्यत्वेनेति बोध्यम् । अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्दीन्द्रप्रतर्दनाख्याधिका—'प्रतर्दनो ह वै देवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण' [ कौषी० ३ । १ ] इत्यारभ्याऽऽज्ञाता । तस्यां ध्रुवते—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामाचुरमुत्तमुपास्व' [ कौ० ३ । २ ] इति । तथोत्तरत्रापि—'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्यो-  
ल्यापयति' [ कौषी० ३ । ३ ] इति । तथा—'न वाचं विजिज्ञासित वक्तारं विन्द्यात्' इत्यादि । अन्ते च—'स एव प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽज-  
न्दोऽजरोऽमृतः' [ कौ० ३ । ८ ] इत्यादि । अस्यार्थः—द्विवोदासस्यापत्यं पुमान्देवोदासिः प्रियं प्रेमास्पदं धाम गृहं तद्व्रती हेतुर्युद्धेनेति । तत्कारणेन पुरुषकारप्रदर्शनेन च प्रतर्दनो राजेन्द्रस्य गृहं जगामेत्यन्वयः । 'तं हेन्द्र उवाच । प्रतर्दनं वरं ते ददामीति स होवाच प्रतर्दनः।

(धी०)पूर्वाधिकरणे द्विवि दिव इति च प्रकृत्यर्थमाश्रित्य प्रत्यभिज्ञानेन ब्रह्मप्रतीती यच्छ्रुतेः प्रसिद्धार्थापेक्षायां ब्रह्मैवेत्युक्तेः । तथाऽत्रापि पदार्थस्य प्राणादेः प्रधानत्वादुपक्रमोपसंहाराद्विवाक्यार्थस्तदनुसारेण नेय इति देवता वा जीवो वा मुख्यप्राणो वैकं वा ह्यं वा त्रयं वा ब्रह्मापि वा न तु ब्रह्मैवेति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—प्राण इति । 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति प्राणशब्दः परमात्मा । कुतः । तथाऽनुगमात् । तथा होन्द्रप्रतर्दनाख्याधिकायाम् । 'वं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्वसे' इत्यादि-  
लिङ्गाव्यपयार्थोचनया परमात्मनोऽनुगमोऽवगमो यस्मात् ॥ २८ ॥

(प्र०५० ।) त्वनेव वरं वृणीष्व ये रवं मनुष्याय हिततमं मन्पसे' [कौपी० ३।१] इति । तत इन्द्र उवाच—प्राणोऽस्मीत्यादि । मुख्यप्राणं ध्यावर्तयति—  
 प्रज्ञात्मेति । निर्विशेषचिन्मात्रं ध्यावर्तयति—तं मामिति । इदं च प्राण-  
 स्वेन्द्ररूपदेवतात्वे लिङ्गम् । प्राणस्य मुख्यप्राणरूपत्वे लिङ्गमथ सत्त्वि-  
 त्यादि । देहधारणं न वागाद्विकृतमित्युक्तवानन्तर्यमथशब्दार्थः । प्राण-  
 वायोर्देहधारणं तदुत्थापनं च कार्यमिति प्रसिद्धमिति सत्त्वित्युक्तम् ।  
 प्राणस्य जीवत्वे लिङ्गम्—न वाचमिति । प्राणस्य परमात्मत्वे लिङ्गं  
 स एव इत्यादि । एवं च प्राणशब्दस्वेन्द्रप्राणवायुजीवपरमात्मपरत्वे  
 लिङ्गानां विद्यमानत्वात्संशयः किंपरः प्राणशब्द इति । तत्र प्रसिद्धत्वा-  
 त्प्राणवायुपर इति प्राप्त उच्यते—'प्राणस्तथाऽनुगमात्' तत्र प्राणो  
 ब्रह्मेव । कुतः । तथाऽनुगमात् । तथा ब्रह्मपरत्वेऽनुगमाद्ब्रह्ममादि-  
 त्स्वर्थः । तथा हि प्रतर्दनः सल्लु हिततमं पुरुषार्थं वृष्टवांस्तस्य परमपुरु-  
 षार्थकामस्य प्राण उपास्यत्वेनोपदिश्यते प्राणोऽस्मीत्यादिना । एवं च  
 परमपुरुषार्थत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं प्राणवायुः स्यात् । तथा—  
 'स यो वां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको भीयते न स्तेपेन  
 भूषणहृत्पया' [ कौपी० ३ । १ ] इत्यादि ब्रह्मपरिग्रहे घटते ।  
 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्हृदे परावरे' [ मुण्ड० २ । ८ ]  
 इत्यादिना ब्रह्मज्ञानिनः कर्मक्षयश्रवणात् । तदर्थस्तु—योऽधिकारी मां  
 ब्रह्मरूपं साक्षादनुभवति तस्य विदुषो लोको मोक्षो न भीयते न  
 हिंस्यते महताऽपि पापेन । ज्ञानमाहात्म्येन सर्वस्यापि पापस्य वृषत्वा-  
 दिति यावः । एवं प्रज्ञात्मत्वं च ब्रह्मण एव युक्तम् । एवमुपसंहारे  
 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यपि ब्रह्मपरत्वे घटते । तथा—'स न साधुनां  
 कर्मणा भूषांभवति नो एवासाधुना कनीयानेप ह्येव साधु कर्म कार-  
 यति' 'एव उ एवासाधु कर्म कारयति' 'एव लोकाधिपतिरेव  
 लोकपाल एव लोकेशः' [ कौपी० ३ । ८ ] इति च ब्रह्मण्येव सम-  
 स्तसम् । अत्र हि धर्माद्यसंस्पृष्टत्वं तत्कारयितृत्वं तदीशितृत्वं च ब्रह्म-  
 णोऽन्ताधारणं लिङ्गमस्तीति । तस्मात्पूर्वापरपर्यालोचनया ब्रह्मपरत्वेव  
 प्राणपदमिति ॥ २८ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्म-

संबन्धभूमा स्यात्सिन् ॥ २९ ॥

ननु वदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति तद्व्युक्तमिति । कुतो वक्तुरात्मोपदेशात् ।

(श्री०) न वक्तुरिति । नात्र परमात्मोपदेशः । कुतः । वक्तुरात्मन इन्द्रस्यो-

(ब० व० १) वक्तुरिन्द्रस्याऽऽत्मत्वेनोपदेशादित्यर्थः । तथा हि वक्ता हीन्द्रो नाम कश्चिद्विशुद्धवान्देवताविशेषः स्वमात्मानं प्रतर्दनाद्योपदिशति 'तं मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यहंकारवादेन । किंच देवतायाः प्राणत्वे लिङ्गान्तरवस्ति 'अहन्मुखान्पतीच्छालावृ-  
केभ्यः प्रायच्छम्' इति । उद्देवान्तवाक्यं तद्येषां मुखे न वर्तते तेऽह-  
न्मुखाः । शालापृक्षेभ्योऽरण्यश्वेभ्यः । नहीदं ब्रह्मणो युक्तम् । एवमिन्द्र-  
परत्व इतराद्यथासंभवं योजनीयमिति । अत्रोच्यते—अध्यात्मसंबन्ध-  
भूमा ह्यस्मिन्निति । हि यस्मादस्मिन्नध्यायेऽध्यात्मसंबन्धस्य परमात्म-  
संबन्धस्य भूमा यावदुत्पन्नमुपलभ्यत इत्यर्थः । तद्यथा 'चावदस्मिच्छरी-  
रि प्राणो वसति तावदायुः' इति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनः परमात्मभूत-  
स्याऽऽद्युत्पदानोपसंहारयोः स्यात्तद्वयं दर्शयति न पराचीनस्येन्द्रस्य ।  
एवमस्तित्ये च प्राणानां निःश्रेयसमिति धृतिरात्मानमिन्द्रियाश्रवं प्राणं  
दर्शयति । प्राणस्यास्तित्ये स्थितौ प्राणानामिन्द्रियाणां निःश्रेयसं  
स्थितिरिति धृत्यर्थः । एवमेव 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्'  
इति । परमात्मानं वक्तारमुपक्रम्य 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरपिपितो  
नामावरा अपिता एवमेवेता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्यापिताः प्रज्ञामात्राः  
प्राणोऽपिताः स एष प्राण एष प्रज्ञात्माऽऽनन्वोऽजरोऽमृतः' इति वाक्यं  
विषयेन्द्रियव्यवहारानभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति । धृत्यर्थस्तु—  
तत्तत्र भूतमात्रादीनां नानात्वं नेत्यर्थे ह्यहान्तः । यथा लोके प्रसिद्धस्य  
रथस्यारेषु मध्यवर्तिशलाकास्तु चक्षोपान्तनेमिरपिता नाभी चक्षुषिष्ठि-  
काचामरा अपितास्तद्दृश्यानि पृथिव्यादीनि मात्राः शब्दादयो विषया  
मीयन्त इति मात्राः प्रज्ञामात्रास्तु स्वस्वयोपदेविन्द्रियेषु बुद्धिद्वाराऽ-  
पिताः कर्मेन्द्रियेष्वपि तद्विषया अपितास्तदधीनत्वात्तद्व्यवहारस्य ताश्च  
प्रज्ञामात्राः प्राणो परस्मिन्नापिताः । प्राणस्य ब्रह्मत्वे लिङ्गं स एष इति ।

(क० १) पदेशः 'तं मामायुरमृतमुपास्व' इत्यादिना । तस्मादिति चेदेवं चदि  
नेति पूर्वस्मादनुवर्तते । तदुक्तं न । कुतः । अध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् । हि  
यस्मादस्मिन्नकरणे स्वात्मानमधिकृत्य वर्तते इत्याध्यात्मं तस्य संबन्धः ।  
अर्धेतात्मप्रतिपादकानि वाक्यानि 'चावदस्मिच्छरीरे प्राणो वसति  
तावदायुः' वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्युपक्रम्य 'तद्यथा

[८०१५०५ ब्रह्माणुतपदिषीदीपिकाभ्यां सवेतानि । ४३

४३०-२९]

(८०१०१) तस्माद्दध्यात्मसंबन्धवाङ्मुखात्प्राणात्मकब्रह्मोपदेश एषां न देवतात्मोपदेश इति सिद्धम् ॥ २९ ॥

कथं तर्हि वक्रुतात्मोपदेश इत्याशङ्क्याऽऽह—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

इन्द्रस्य वक्रुतामेव विजानीहीत्युपदेशः शास्त्रदृष्ट्या ज्ञातव्यः । अहमेव परं ब्रह्मेति शास्त्रदृष्ट्या पश्यन्नेष्टयुक्तवानित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तो वामदेववदिति । यथा वामदेवः शास्त्रदृष्ट्या 'अहं मनुमवसं सुषंश्च' [ बृ० १ । ४ । १० ] इत्याह तद्वदित्यर्थः । वक्रुतामिन्द्रो यतीनित्यादि देवतापरत्वे लिङ्गमिति तन्न । यद्देवान्तवास्योत्थज्ञानप्रभावादहमेवंश्रुतोऽस्मीतीदृशवेदान्तवाक्यान्मध्येवानि नो चेद्दृष्टव्यश्चभ्यः प्राबध्द्यमिरयेतदर्थकरेनाविशेषाय । तस्मात्प्राणात्मकब्रह्मपरमेतद्वाक्यमिति सिद्धम् ॥ ३० ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गाज्जेति चेतोपासकै-  
विध्यादाश्रितत्वादिह तयोऽगात् ॥ ३१ ॥

ननु वक्रुतामध्यात्मसंबन्धवाङ्मुखात् देवतात्मा प्राण इति तत्सर्वं तथाऽपि न ब्रह्मपरमेवेदं वाक्यं किं तु जीवमुख्यप्राणवायुपरमपि । कुतः । जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च । 'न वाचं विमिज्जासीत वक्तारं विद्यात्' इति जीवलिङ्गं वागादिकरुषैर्व्याघृतस्य वक्रुतामेवस्य विज्ञेयवसु-  
पलभ्यते । एषम् 'प्राण एव प्रज्ञात्वेद् शरीरं परिगृह्योत्थापयति' [ को० ३ । ३ ] इति प्राणलिङ्गं देहधारणस्य प्राणलिङ्गत्वात् । तथा हि प्राणसंवादे श्रुते—वागादवः सर्वे प्राणाः प्रत्येकं श्रेष्ठतागाल्भनो मल्पमाना-  
स्तस्मिन्निवारयिषवा प्रजापतिमुपजग्मुः स च तानुवाच चस्मिञ्जुक्त्वान्ते शरीरं प्रापिष्ठतरमिष भवति स पुष्पाकं मध्ये श्रेष्ठ इति । तस्मिन्वजा-  
( सी० । ) एषस्वारोषु' इत्यादीनि तस्य मूमा धाङ्मुत्तन् ॥ २९ ॥

कथं तर्हि 'मामायुः' इत्यादिना वक्रुतरिन्द्रस्याऽऽत्मोपदेशः—  
शास्त्रेति । शास्त्रस्य तत्त्वमसीरषाद्देहीतीत्यात्मनिश्चया तूपदेशोऽभिधानं वामदेववत् । यथा वामदेवः 'अहं मनुमवसं सुषंश्च' इत्याशुक्तवानंभ-  
मिति ॥ ३० ॥

जीवमुख्येति । जीवश्च मुख्यप्राणश्च तयोर्लिङ्गम् । 'वक्तारं विद्यात्' इति जीवस्य 'प्राण एव प्रज्ञात्वेद् शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इत्यादि-

( म०५० । ) पतायेषमुक्तवति वागादिभूक्तान्तेष्वपि मूकादिभावेन शरीरं स्वस्थमस्त्वत् । मुखप्राणोच्चिह्नमिपार्शुं तु वागादीनां व्याकुलत्वाद्वागादीन्प्रति प्राण उवाच—मा मोहमापद्यथ पतोऽहमेवैतत्करोमि किं तत्पञ्चधा प्राणाधानादिभेदेनाऽऽत्मानं विमर्शयित्वा शरीरं वञ्चति गच्छतीति वानं वानमेव वाणमस्थिरं शरीरमिति यावत् । तद्वदभ्य विधारयामीति ध्वषणाद्देहधारणं प्राणलिङ्गमेवार्थतोऽनुक्तान्ता श्रुतिस्तु ' मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविमर्शयित्वाणमवदभ्य विधारयामि ' [ म० २ । ३ ] इति प्राणवायोः प्रज्ञात्मकत्वं कथमिति चेज्ज्ञानेन्द्रियाभयत्वादेति ब्रूमः । तस्मादुपपन्नमादिपर्यालोचनया ब्रह्मरूपैकवाक्यार्थप्रतीतावपि तस्या जीवमुख्यप्राणरूपपदार्थप्रतीतिजन्यत्वेन गुणत्वात्पदार्थप्रतीतिश्च तज्जनक [ त ] वा प्रधानत्वाद्देहवाक्यार्थप्रतीतिमपोद्य वाक्यमेद् एव न्याप्य इति जीवमुख्यप्राणब्रह्मणां त्रयाणामुपास्थानां प्रत्येकं स्यातन्मध्येण वाक्यार्थत्वमिति त्रीणि वाक्यानि नैकं ब्रह्मवाक्यमिति चेन्न । उपासनात्रैविध्यास्त्रीण्युपासनानि प्रसज्येरश्चित्त्वर्थः । उपपन्नमोपसंहाराभ्यां ब्रह्मपरत्येनैकवाक्यत्वे संभवति वाक्यमेदो न पुक्तः । न च पदार्थप्रतीतिमुख्यत्वम् । तस्या वाद्यवार्थप्रतीतिशेषत्वेन तस्या एव प्रधानत्वात् । न हि जनकत्वमात्रेण प्राधान्यं युक्तम् । संनिपत्योपकारकाणामपि प्राधान्यापत्तेः । अन्यत्र ब्रह्मलिङ्गपञ्चाशत्प्राणशब्दस्य ब्रह्माणि प्रवृत्तेराधितत्वाच्च । इहापि हिततमोपन्यासादिवह्मलिङ्गयोगाद्ब्रह्मण्य एवायमुपदेश इति । यत्तु जीवादिलिङ्गमस्तीति तत्परत्वमिति तन्न । प्राणध्यापारस्त्वापि परमेश्वरायत्तत्वेन देहधारणस्यापि ब्रह्मण्युपचारितुं शक्यत्वेनान्यथासिद्धप्राणवायुलिङ्गभावात् । तथाच श्रुतिः—' न प्राणेन नापानेन मर्षो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाधितौ [ काठ० २ । ५ । ५ ] इति प्राणादि-व्यापारस्येश्वरावत्त्वमाह । नापि ' न वाचं विजिज्ञासीत ' इत्यादि-जीवलिङ्गविरोधः । जीवस्य ब्रह्मानन्त्यत्वेन सर्वोपाधिपरित्यागेन जीवस्य स्वरूपं ब्रह्म दर्शयितुं ' न वाचं विजिज्ञासीत ' इत्यादि ( लो० ) प्राणस्य । तस्मान्न परमात्मैकब्रह्मणमिति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । उपासनात्रैविध्यात् । उपासनमुपासा तिस्रो विधा यस्याः सा त्रिविधा तस्या भावस्त्रैविध्यम् । उपासायास्त्रैविध्यं तस्मात् । उपासनात्रैविध्यप्र-

(सं० १० ।) प्रत्यगात्माभिस्तुलीकरणाथमुपदेशो न विदधते । ' ब्रह्माद्याऽन-  
भ्युदितं येन वानभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' [ किं० १ । ४ ] इति श्रुत-  
न्तरं बाभादित्यावृत्तस्य वक्तुर्ब्रह्मत्वं दर्शयति । तस्माद्ब्रह्मपरमेष्ठेर्वाक्यं  
न प्राणाद्विश्रितचपरम् । एकदेशिनस्तु ' मोपासात्रैविध्यादाभितत्वादिह  
तद्योगात् ' इत्यर्थार्थान्तरमाचक्षते । तथा हि—न ब्रह्मवाक्ये जीव-  
मुख्यप्राणलिङ्गयोदिरोधः । द्युतः । उपासात्रैविध्यात् । जीवधर्मण  
प्राणधर्मण ब्रह्मधर्मण च सहितस्य त्रिविधस्योपासनस्यैकस्य विवाक्षि-  
तत्वादित्यर्थः । अतो न वाक्यभेद इति । तत्र 'आयुरयुगमित्युपासव ।  
' आहुः प्राणः' [ की० ३ । २ ] इति ' इदं शरीरं परिगृह्योत्थायवति ' ।  
' तस्मादेतदेवोक्त्यमुपासीत ' [ की० ३ । ३ ] इति प्राणधर्मः । ' अथ  
यथाऽस्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति तद्यात्वात्पामः ' [ की०  
३ । ४ ] इत्युपक्रम्य ' वागेवास्या एकमङ्गनदृढुहस्यै नाम परस्ताव-  
तिविहितं भूतमात्रा । प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्या-  
प्नोति ' [ की० ३ । ४ ] इत्यादि जीवधर्मः । ' ता वा एता दृशैव  
भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञानात्रा अधिभूतं चद्धि भूतमात्रा न स्युर्न  
प्रज्ञानात्राः स्युर्ब्रह्मा प्रज्ञानात्रा न स्युर्भूतमात्रा न स्युः । नह्यन्तरतो  
रूपं किंचन सिध्मेत् । नो एतज्ज्ञाना । तद्यथा रथस्यारेषु मेमिरार्पितो  
नाभावरारार्पिता एवमेवेता भूतमात्राः प्रज्ञानात्रास्वार्पिताः प्रज्ञानात्राः  
प्राणेऽर्पिताः स एव प्राण एव प्रज्ञात्मा [ की० ३ । ८ ] इत्यादि ब्रह्म-  
धर्मः । एतवर्थस्तु—'प्राणो हि भूतानामायुः' इति श्रुत्यन्तरेण प्राण-  
स्याऽऽयुर्गं सिद्धं जीवनस्य तदधीतत्वात्तस्मात्प्राणस्यैव देहाद्युत्थापक-  
त्वाद्देहादिकमुत्थापयतीत्युक्तं प्राणः । एवमायुर्दामृतत्वोक्तत्वं प्राण-  
धर्म इत्यर्थः । सहवासः सहोत्क्रान्तिश्चेत्युक्तयानन्तर्यमथशब्दार्थः ।  
अस्या जीवात्प्रज्ञायाः संबन्धीनि भूत्वा सर्वाणि भूतानि हृत्पत्वेन  
कल्पितानि वस्तुतो यथैकं भवन्ति तथा तद्गस्तु व्याख्यास्याम इत्युपक-  
म्येकं वागेवेति । बुद्धेः सामासायाः स्वरूपतो चातत्वेऽपि विपयि-  
त्यरूपपूर्णशरीरमिन्द्रियसाध्यम् । तत्र नामप्रपञ्चविपयित्वमर्धशरीरं  
बुद्धेरहकारलक्षणायास्तथा रूपप्रपञ्चविपयित्वमर्धशरीरम् । तथा च

(दी० ।) सङ्गादित्यर्थः । जीवमुख्यप्राणग्रहणे वाक्यभेदः स्यान्न ब्रह्मग्रहण  
इत्यर्थः । प्राणशब्दः कथं ब्रह्मणीत्यत आह—आभितत्वात् । अन्वयावि  
'प्राण इति होवाच' इत्यादौ ब्रह्मणि स्वीकरणात् । तत्र तत्तत्सङ्गादिति

(अ०१०१) कर्मेन्द्रियेषु मध्ये वागेवास्याः प्रज्ञाया देहाधमेकमङ्गमदुहदु-  
 ज्ञेचितवती पूरयायासेत्यर्थः । नामात्मरूपपञ्चे वाग्द्वारा प्रविष्टा बुद्धिर्ना-  
 मपञ्चाविपचित्वलक्षणमधं शरीरं व्याप्नोतीति यावत् । तस्याः प्रज्ञायाः  
 पुनर्नामं किल परस्तादुपरभागे रूपपञ्चाविपचित्वलक्षणेऽधंशरीरे चक्षु-  
 रादिना प्रतिबिद्धिता समुत्थापिता भूतमात्रा रूपाविरूपा कारणं भव-  
 तीत्यर्थः । चक्षुरादिना प्रकाशितोऽर्थपञ्चो बुद्धेरितरभागं रूपपञ्च-  
 विपचित्वलक्षणं पूरयायासेति यावत् । एवं च वागिन्द्रियेणार्थपञ्चेन  
 च जीवाख्यपञ्चापूर्णं विपचित्वलक्षणं शरीरं प्राप्य द्रष्टृ भवतीति  
 सिद्धम् । तदुपहितचैतन्यद्वारा स्वरूपे द्रष्टृत्वाध्यासमाह—प्रज्ञचेति ।  
 तथा द्वारा धार्चं करणं प्रति चिदात्माऽहं वक्तृत्वध्यासमनुभूय वाचा  
 करणेन सर्वाणि नामानि वक्तव्यत्वेनाऽऽप्नोति चक्षुषा सर्वाणि रूपाणि  
 पश्यतीत्येवं द्रष्टृत्वमनुभवतीत्यर्थः । सर्वभूतविषयकत्वनात्मनि द्रष्टृत्वा-  
 दिसंपादकत्वं च बुद्धेर्धर्म इति फलितम् । चक्षुरेवास्या इत्यादिपंचावा-  
 न्तरार्थोऽपि संगृहीतः । सर्वाधारत्वानन्वत्वादिर्ब्रह्मधर्म इत्याह—ता  
 वा इति । भूतानि पृथिव्यादीनि पञ्च मात्राश्च ज्ञावाद्यः पञ्चेता दृश  
 भूतमात्रा अधिमज्ञं प्रज्ञेन्द्रियाणि तदुत्पन्नज्ञानानि वाऽचिकृत्य प्रवर्तन्ते ।  
 दृश प्रज्ञामात्राः पञ्चेन्द्रियाणि तदुत्पन्नज्ञानाधिमभूतं भूतानि पृथिव्या-  
 दीनि शब्दादीनि चाचिकृत्य प्रवर्तन्ते । एवं भूतमात्राणां दृशानां ग्राह-  
 त्वेन प्रज्ञामात्रात्मकग्राहकापेक्षत्वमुक्तम् । प्रज्ञामात्राणां दृशानां ग्राह-  
 कारणां ग्राह्यभूतमात्रापेक्षत्वं चोक्तम् । इदमेव मिथः सापेक्षत्वं ग्राह्य-  
 ग्राहकयोः साधयति—यद्धीति । तदेव स्पष्टयति—नहीति । ग्राह्या-  
 ग्राह्यं न सिध्यति किंतु ग्राहकादेव । एवं ग्राह्यं विना ग्राहकं न निर्व-  
 ङ्गतीत्यन्योन्यसापेक्षत्वमित्यर्थः । इदं ग्राह्यग्राहकद्वयं वस्तुतो न भिन्न-  
 मित्याह—नो इति । किंत्वेकस्मिन्नात्मन्यारोपितमिति शेषः । तद्यथे-  
 त्यादि(देः) कृतं व्याख्यानम् । तस्माद्ब्रह्मण एव धर्मत्रयेणोपास-  
 नमेकं विधाकृतम् । अन्यत्रापि ‘ मनोमयः पाणशरीरः ’ [ छा० ३ ।  
 १४ । २ ] इत्यादाद्युपाधिधर्मेण ब्रह्मोपालनस्याऽऽभितत्वादिहापि  
 तद्युज्यते । तस्मा[ देत ] ब्रह्मवाच्यमिति । इदमेकदेशिनतमचुक्तम् ।

(श्री०१) चेत्तत्राऽऽह—इह तद्योगात् । इहास्मिन्नध्याये तेषां लिङ्गानां योगा-  
 द्विद्यमानत्वात् । आचार्यदेशीयास्त्वेवं व्याचक्षते—जीवभुख्यप्राणलिङ्गैश्च

(भ० १०१) तथा हि-किञ्चनोपासनात्रयविशिष्टं ब्रह्म विधेययुतं ब्रह्मविशिष्टोपासनाद्यर्थं किं वा ब्रह्मानुवादेन तदाश्रितोपासनात्रयम् । नाऽऽद्यः । ब्रह्मणः सिद्धत्वेन विध्ययोगात् । नापि द्वितीयः । वाक्यान्तरेण ब्रह्मणो ज्ञातत्वात् । नापि तृतीयः । ब्रह्मानुवादेनोपास्तिविधावेकविशेष्याव-  
हीकारादुपास्तीनां मियोऽन्यथात्वत्प्राप्तिविधावृत्त्या वाक्यभेदस्य दुरपह्नवत्वात् । तस्माद्यथाव्याख्यातमेव रमणीयमिति ज्ञेयपरमेवेदं प्रत-  
र्द्धनवाक्यमिति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

न्यायाः ११ सूत्राणि ॥ ३१ ॥

नन्वेकप्राणजीवब्रह्मगुणविशिष्टं ब्रह्मविषयकं ब्रह्मोपासनं विधीयते यथाऽऽरुणयाद्यनेकगुणविशिष्टः कपो विधीयत इति न दोष इति चेत्तत्र वक्तव्यम् । आरुणयादीनां कृपेणान्वये पश्चादन्वयो गधि जायते तद्द्वयं नुत्र भवतीति प्राणादाविति चेन्न । तेषां प्रकृतेऽस्तत्वात् । ननु वयं प्राणादिगुणानां प्राणैः संबन्धमुपस्था पश्चादुपासनाविषये संबन्ध इति श्रुतं हति चेत्तत्रापि वक्तव्यम् । प्राणादिगुणविशिष्टत्वेन साध्यत्वं प्राणादीनां तद्विशिष्टत्वेन चोपासनायाः साध्यत्वं तत्र भावनाभेदे वाक्यभेदः । प्राणादिकर्मिकोपासनाकर्मिका चैकैव भावनेति चेत्तद्वि-  
शेषरूपप्रसङ्गः । एकैव भावना गुणकरणकप्राणकर्मिका गुणविशिष्ट-  
प्राणकरणिका ब्रह्मविषयकोपासनाकर्मिका चेति वैरूप्यम् ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्रजकाचार्यश्रीननुकुन्दचोविन्दसरस्व-

तीपूज्यपादशिष्यरामकिंकरधर्मकृती वैवास्तिकसूत्रवृत्ती

ब्रह्मासृत्वार्पणार्थं प्रथमाध्यायस्य स्यद्वयब्रह्मलि-

ङ्गास्यः प्रथमः पादः ॥ १ ॥

(दी०) ब्रह्मण एवोपासनायास्त्वैविध्यं विद्यक्षितमुक्तं तथाऽपि जीवब्रह्मदेव-  
तामुह्यप्राणानां लिङ्गसंनिपाते ब्रह्मलिङ्गं बलीय इति मोक्तम् । यद्यप्य-  
न्तस्तद्धर्मोपदेशादित्यत्रैतद्व्युक्तं तथाऽप्यत्र कार्यकारणवोर्धर्मसंनिपाते  
कारणमेवाऽऽश्रयणीयमिति विशेषः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्रजकाचार्यश्रीननुकुन्दचोविन्दसरस्व

श्रीशंकरानन्दभगवतः कृती ब्रह्मसूत्रदीपिकायां प्रथमा-

ध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥



एवं प्रथमे पादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि वाक्यानि सर्वज्ञसर्वशक्तिजगद्-  
स्पष्टिस्थितिलपकारणब्रह्मपरतया नीतानि । कानिचिद्वाक्यान्स्पष्टब्र-  
ह्मलिङ्गानि संविद्यमानानि द्वितीवृत्तीवषाड्भ्यां ब्रह्मपरतया गीयन्ते ।  
तत्र द्वितीयपादे प्राथश उपास्यब्रह्मपराणि विचार्यन्ते । तृतीये ज्ञेय-  
ब्रह्मपराणीति विभागः ।

( मनोमयः प्राणशरीर इत्यादिच्छान्दोग्यवाक्येन ब्रह्मज  
उपास्यत्वविचारः, अधि० १ )  
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्पादे सर्वज्ञत्वादिगुणकस्य ब्रह्मणः सिद्धत्वात्तदुपजीव्य(व्यो)-  
चरस्योत्थानान्नेतुहेतुमद्भाषः संगतिः पूर्वोत्तरयोः । पूर्वाधिकरणत्वा-  
धान्तरसंगतिस्तु यथा पूर्वं जीवाविलिङ्गबाधया ब्रह्मपरत्वमुक्तं ब्रह्मलि-  
ङ्गवशात् तथेह ब्रह्मलिङ्गमस्ति किंतु ब्रह्मणः प्राकरणिकत्वमेव । तथा  
च प्रकरणोपेक्षया लिङ्गस्य बलवत्त्वाच्चीवस्य मनोमयत्वाविलिङ्गमस्तीति  
तत्परमेवास्त्विति प्रत्युदाहरणसंगतिः । यद्वा पदान्तरत्वाद्वाधान्तर-  
संगत्पपेक्षेति सर्वत्राधिकरणे सविशेषवाक्यविचाररूपपूर्वोत्तरपक्षयो-  
रुपपत्तेरेव फलम् । यत्र तु निर्दिशेषवाक्यविचारस्तत्र पूर्वपक्षे तदुपास्तिः  
सिद्धान्ते प्रथितिरिति भेदः । छान्दोग्ये श्रूयते—सर्वं स्त्विवद् ब्रह्म  
तज्जलामिति ज्ञान्त उपासीत । अथ सत्तु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतु-  
रस्मिद्धौके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति । स क्रतुं कुर्वति मनोमयः  
प्राणशरीरः [ छा० ३ । १४ । १, २ ] इत्यादि । अस्वार्थः—सर्वं  
जगद्ब्रह्मैवेत्यत्र हेतुमाह—तज्जेति । तस्माज्जापत इति तज्जम् । तस्मिंल्ली-  
पत इति तज्जम् । तस्मिन्निति चेदत इति तद्वन्व । तज्जं च तज्जं च  
तद्वन् च तज्जलान् । अथवलोपश्लान्दसः । इतिशब्दो हेतौ । यस्मा-  
देवं तस्मात्सर्वं जगद्ब्रह्मैवेत्यर्थः । स क्रतुं कुर्वतित्यत्र पिहितःशुभासन-  
मनूद्य शान्तरूपगुणं विदधाति—ज्ञान्त इति । यतो ब्रह्मातिरिक्तं किंचि-  
न्नास्ति अतो द्वेषादीनामयाथाच्छान्तः सन्नुपासीतेत्यर्थः । गुणं विधाय

(दी०) पूर्वपादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि वाक्यानि विचारितानि । द्वितीवृत्तपादेऽ-  
स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि वाक्यानि उपासनाप्रचुराणि कृद्विषयाणि विचा-

\* अग्निज्ञेयं जुहोतीत्यनेन वागविवानं यत्रा जुहोतीत्यनेन वागमन्त्रं क्विरुषो  
गुणे विधीयते ।

- १ (न०३०) गुणिविधितया पुंस्रयत्नसाध्याया उपासनायाः फलमाह—  
अथेति । पुरुषोऽधिकृत उपासकः कृतुमयः संकल्पयस्तत्र हेतुर्वधेति ।  
ज्ञानं कर्म वा यथाऽस्मिन्देशे स्थितः संकल्पयति तथा तदनुसारेण फलं  
परत्र लभते सोऽधिकृतः कृतुं ध्यानं कुर्यात् । किं ध्यायेदित्याकाङ्क्षायामाह  
मनोमय इति विभक्तिव्यत्ययेन मनोमयं प्राणशरीरं परमात्मानं ध्याये-  
दित्यर्थः । अत्र मनोमयत्वादेः प्रकृतब्रह्मसापेक्ष्यनिरपेक्षत्वाभ्यां संशयः  
किमत्र मनोमयत्वादिगुणकः शारीर उपास्यत्वेन गृह्यते किं वा पर-  
मात्मेति । किमत्र युक्तं शारीर इति । कुतः । 'अथाणो ह्यवनाः सुभ्रुः'  
[ मु० २ । १ । २ ] इत्यादिना ब्रह्मणो मनआदिसंयन्धनिरासात् ।  
२ जीवस्य मनआदिसंयन्धस्य सर्वसिद्धत्वात् । तस्मात्मनोमयत्वादेः  
प्रकृतब्रह्मनिरपेक्षत्वाच्छृणुकः शारीर एवोपास्य इति प्राप्ते ब्रूमः—'सर्वत्र  
प्रसिद्धोपदेशात्' अत्र परमेव ब्रह्मोपास्यत्वेन गृह्यते । कुतः । सर्वत्र  
प्रसिद्धोपदेशात् । सर्वेषु वेदान्तेषु परसिद्धं ब्रह्म जनत्कारणं तस्यैवात्र  
'सर्वं सल्लु' इत्यादिनोपदेशादित्यर्थः । यदुक्तं मनोमयत्वादि प्रकृतब्रह्मा-  
संबन्धीति तत्र । मनोमयत्वादिशेष्याकाङ्क्षायां यत् 'सर्वं सल्लिचद्  
ब्रह्म' इति प्रकृतं तदेवान्धेति नाप्रकृतो जीवः । अन्यथा प्रकृतहानप्रस-  
ङ्गात् । न च तदसंभयः । सर्वात्मकत्वेन सर्वदाप्युपपत्तेरिति ॥ १ ॥

किंच—

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

विवक्षितोपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टा ये गुणाः सत्त्वसंकल्पत्वाद्य-  
स्तेषां ब्रह्मण्येवोपपत्तेरित्यर्थः । 'मनोमयः प्राणशरीरो भास्वरः सत्त्व-  
संकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः' [ छा० ३ ।  
१४ । २ ] इत्यादिनोपदिष्टाः । यद्यपि मनोमयत्वादि जीवत्वासाधारणं  
तथाऽपि सत्त्वसंकल्पत्वाद्यनुरोधेन सर्वात्मके ब्रह्मणि मनोमयत्वाद्युप-  
पत्तिः । जीवधर्मान्ब्रह्मणि दर्शयति च श्रुतिः—' त्वं खी त्वं पुमानसि

(छं०) यन्ते—सर्वत्रेति । सर्वेष्वपि वेदान्तेषु परसिद्धं ब्रह्म प्रसिद्धैरात-  
न्धनेनेह 'सर्वं सल्लिचद् ब्रह्म' हस्त्युपज्ञान्तं तस्यैव मनोमयत्वाद्युपदेशस्त-  
स्माद्ब्रह्मानं प्रतिपाद्यम् ॥ १ ॥

जीवब्रह्मणोः सति साधारण्ये कथं ब्रह्मैश्वर्यत आह—विवक्षितेति ।  
ब्रह्मविष्टा विवक्षिताः । उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टाः सत्त्वसंकल्पप्र-

(प्र० व० १) त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो वृण्हेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ' [ श्वे० ४ । ३ ] इति । जीर्णः स्थविरो भूत्वा धो वृण्हेन वञ्चति गच्छति सोऽपि त्वमेवेत्यर्थः । अयाण इत्यादिश्रुतिस्तु निर्गुणब्रह्मविषयेत्याविरोधः ॥ २ ॥

एवं सत्यसंकल्पत्वादीनां ब्रह्मण्युपपत्तिमुक्त्वा जीये तेषामनुपपत्ति-  
माह—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

तुशब्दोऽवधारणार्थः । अत्र मनोमयत्वादिगुणकं ब्रह्मैषोपास्यं न तु शारीरः । कुतोऽनुपपत्तेः । सत्यसंकल्पत्वादीनां जीव आश्रस्येनानुपपत्ते-  
रित्यर्थः ॥ ३ ॥

शारीरस्य मनोमयत्वादिगुणकत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

न शारीर इत्यनुषङ्गः । न शारीरो मनोमयत्वादिगुणक इहोपास्यः कुतः । कर्मकर्तृव्यपदेशात् । 'एतमिति प्रेत्याभिसंभवितास्मि' [ छा० ३ । १४ । ४ ] इति । एतमिति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणकमुपास्यं कर्मत्वेन व्यपदिशति । अभिसंभवितास्मि प्राप्तास्मीति शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन व्यपदिशति । न च सत्यां गतावेकस्मिन्नशारीरे कर्मकर्तृभावः \*आश्र-  
येनोपपद्यते । तस्मान्न शारीर उपास्यः ॥ ४ ॥

(टी०) भूतयः । चिबक्षिताश्च ते गुणाश्चेति । तेषां परस्मिन्ब्रह्मणि उपपत्तिः संभवस्तस्याः । चकार उभयसाधारण्यनिवारणार्थः ॥ २ ॥

जीवेऽपि केषांचित्सत्त्वाज्जीव एवेह स्यादित्यत आह—अन्विति । शारीरो जीव इह न ग्राह्यः । कुतः । सत्यसंकल्पादीनां तस्मिन्ननुपपत्ते-  
रसत्त्वाच्च एव ॥ ३ ॥

नन्वणुत्वादीनां जीवधर्माणां ब्रह्मण्यसंभवः समोऽतो जीवः किं न स्यादित्यत आह—कर्मैति । एतमिति ब्रह्मणः कर्मं तस्य 'अभिसंभवि-  
तास्मि' इति जीवस्य कर्तृत्वस्य च व्यपदेशस्तस्मात् । चकारोऽणुत्वादे-  
र्ब्रह्मणि सद्भावसमुच्चयार्थः ॥ ४ ॥

\* अनुत्वेन ।

किंच—

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

(ब०५०) मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव न शारीरः । कुतः । शब्दविशेषे  
पात् । मनोमयत्वादिविशिष्टपरमात्माभिधायकस्य प्रथमान्तशब्दस्य  
सत्त्वादित्यर्थः । तथा हि समानप्रकरणे—‘ग्रीहिर्वा यथो वा इयमाको  
धाश्यामाकतण्डुलो वैषम्यमन्तरात्मन्युरूपो हिरण्यवः’ [ शत०ब्रा० १०  
६ । ६ ] इत्यादौ पुरुषो हिरण्यव इति प्रथमान्तशब्देन परमात्माभिधा-  
नमन्तरात्मन्निति सत्त्वम्यन्तेन शारीराभिधानं वृष्टमितीहापि प्रथमान्त-  
त्वेन श्रुतो मनोमय इत्यादिशब्दः परमात्मपर एवेति ॥ ५ ॥

ननु कर्मकर्तृव्यपदेशो न संभवति जीवब्रह्मणोरभेदादित्याश-  
ङ्क्याऽऽह—

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

स्मृतिवशाज्जीवपरमात्मनोभेद इत्यर्थः ।

इंश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्राकृद्भानि मापया ॥ [म०गीता०१८।६१]

इत्याद्या स्मृतिः कल्पितं भेदं दर्शयति । अतः कर्मकर्तृव्यपदेश उप-  
पद्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न

निचाव्यत्वादेवं व्योमदच्च ॥ ७ ॥

ननु नात्र परमात्मोपास्यः । कुतः । अर्भकौकस्त्वात् । अर्भकमल्पमोकः

(सी०) ननु मामहं नं जानामीतिवदं कर्मकर्तृव्यपदेशः स्यादित्यत आह—  
शब्देति । शब्दाज्जीवस्याभिधायिनः शास्त्रान्तरे ‘अन्तरात्मन्’ इति  
सत्त्वम्यन्तात्पुरुषो हिरण्यवत्त्वादिगुणामिधायको विशेषीऽन्यस्तस्मात् ।  
सति चान्यस्मिन्नैकस्मिन्कर्मकर्तृभावे इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

शब्दोऽपि ‘यजमानः प्रस्तरः’ इत्यादिवदप्रसिद्धार्थ इत्यत आह—  
स्मृतेश्चेति । स्मरणं स्मृतिः । इंश्वरः सर्वभूतानाम्’ इत्यादि वा ।  
चकारः प्रसिद्धान्तरसमुच्चयार्थः ॥ ६ ॥

अर्भकौक इति । अर्भकमल्पमोको नीहं यस्य सोऽर्भकौकास्तस्य

१ अ. पुस्तके न शब्दो वासित् । २ अ. ‘एतेति’ । ३ अ. ‘तर्भः उपपुरवे दि । ४ अ. ‘वो  
वत्त’ । ५ अ. वा शब्दो वासित् । ६ अ. शिकन् ।

(म० ५०) स्थानं यस्य सोऽर्मकौकास्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादित्यर्थः । 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' [ छा० ३।१४।३ ] इति हृदयरूपपरिच्छिन्नावतन-  
त्वादित्यर्थः । किं च तद्यपदेशाच्च । एवञ्च्येनेवैप 'अणीयान्नीहेर्वा यवा-  
ह्वा' [ छा० ३।१४।३ ] इत्यणीयस्वरूप व्यपदेशात् । आराग्रमात्रो  
पीव इहोपास्यो न सर्वगतः परमात्मेति चेन्न । निचाप्यत्वादेवम् । अर्म-  
कौकस्त्वादिविशिष्टत्वेन रूपेण परमात्मन इह निचाप्यत्वाद्गुपास्थत्वादि-  
त्यर्थः । सर्वगतस्य ह्यल्पदेशगतत्वं कवाचिद्भुव(द्व)पेक्षया संगच्छते ।  
यथा सकललोकाधीशः परमात्मा श्रीरामचन्द्रोऽयोध्याधीश इति व्यप-  
दिश्यते । नैतावता सर्वगतत्वहानिः । तत्र कृष्टान्तः—व्योमवाविति ।  
यथा सर्वगतमपि व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयाऽर्मकौकोऽपि अणीयोऽपि  
व्यपदिश्यते त[द्]द्वाप्यतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

संभोगप्रतिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

नन्वीश्वरस्य व्योमवत्सर्वगतत्वचेतमत्वाविशेषाज्जीवयत्सुखदुःखानुभ-  
वरूपसंभोगप्रतिरिति चेन्न । वैशेष्यात् । जीवपरमात्मनोरत्यन्तं विशेषा-  
दित्यर्थः । जीवः कर्ता भोक्ता धर्मादिमांशेति तस्य सुखदुःखसंबन्धो  
युक्तः । परमात्मा तु तद्विलक्षण इति न तस्य संभोगप्रतिरिति । विशेष  
एव वैशेष्यं स्वार्थं पश्य । विशेषातिशयद्योतनार्थो वा । न च जीवपर-  
मात्मनोरभेदाद्भोक्तृत्वादिबैलक्षण्यमपि न स्यादिति वाच्यम् । विम्बप्रति-  
विम्बयोः परस्परधर्मासांकर्यत्वाऽऽवालसिद्धत्वादिति । तस्मान्मनो-  
मयत्वादिगुणकः परमात्मैवोपास्यो न शरीर इति सिद्धम् ॥ ८ ॥

(दी०) भावस्तत्त्वं तस्मात् । 'एष आत्माऽन्तर्हृदये' इति परिच्छिन्नावतन-  
त्वाच्च केवलमेव तस्य जीवस्य व्यपदेशोऽभिधानम् । 'अणीयान्नीहेर्वा  
यवाह्वा' इत्यादि तस्मात् । चकार उक्तसमुच्चयार्थः । न ब्रह्मग्रहणं  
न्याप्यमिति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । निचाप्यत्वात् । एवमणीयस्व-  
गुण ईश्वरो निचाप्यो द्रष्टव्यस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । व्योमवच्च ।  
यथा सर्वगतमपि व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयाऽर्मकौकोऽणीयश्चैवम् ।  
चकारो ब्रह्मणः सर्वात्मत्वसमुच्चयार्थः ॥ ७ ॥

संभोगेति । सम्पद्भोगः संभोगः सुखदुःखावित्तस्य प्राप्तिः सर्वात्मत्व  
ईश्वरस्य भोक्तृत्वादिप्रसङ्ग इति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । वैशेष्यात् ।  
'अनश्नन्नन्यो अग्निचाकशीति' इत्यादिनाऽवगतस्वरूपस्य भोगाभा-  
वस्तस्मात् ॥ ८ ॥

(३०१०) ( ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वम्' अधि० २ ) ।

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

पूर्वं ब्रह्मणो भोक्तृत्वाभाव उक्ते तर्हि तद्ब्रह्मण्यपि जीवस्यैव न ब्रह्मण्य इति दृष्टान्तसंगत्येवमारभ्यते । अत्र पूर्वपक्ष उपास्तिः फलं सिद्धान्ते निर्दिशेपन्नप्रमितिरीति विवेकः । कठवह्नीषु क्षूयते—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे नगदत ओदनः । सूर्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद् रुचञ्च सः' [क०१ । २ । २५] इति । अस्त्यर्थः—एव परमात्मनो ब्रह्म च क्षत्रं चोभे ज्ञात्या प्रसिद्धे अन्नपदेदन्नो यस्य च सूर्युः सर्वमात्क उपसेचनमोदगमिष्वृत्तं भवति तद्ब्रह्मर्षस्थात्ता परमात्मा कारणात्मा वर्तते तं निर्दिशेपमात्मानं नाधिरतो दुश्चरितादितिमन्त्रोक्तोपायवा-  
 स्त्वथा वेदेत्यमन्य उपाधरहितो न वेदेति काकार्यः । अत्रौदनोपसेचनमन्न-  
 चितः कश्चिदज्ञा प्रतीयते । तत्र किमग्निरन्नो जीवः परमात्मा चेति संज्ञापः ।  
 त्रयाणामप्यस्मिन्ग्रन्थे प्रश्नोपन्नासः संज्ञायवीजम् । किं तावत्प्राप्तमग्नि-  
 रिति । कुतः । 'अग्निरन्नादः' [ वृ० १ । ४ । ६ ] इति श्रुतिप्रसिद्धि-  
 भ्याम् । जीवो वा स्यात् । 'तयोरन्यः विष्णुर्लं स्वाहृति' [मु० ३।१।१]  
 इतिद्विश्रुतेन परमात्मेति प्राप्ते ह्यमः—'अत्ता चराचरग्रहणात्' । अत्ते-  
 श्वरो भवितुमर्हति । कुतः । चराचरग्रहणात् । चराचरयोः स्थावरज-  
 ङ्गमचोराद्यत्वेन ग्रहणाच्छ्रवणादित्यर्थः । सूर्युपसेचनत्वेन सर्वप्राणिमा-  
 नस्याऽऽद्यत्वेन प्रतीयमानत्वात् । ब्रह्मक्षत्रग्रहणमुपलक्षणार्थम् । न हि  
 सर्वसंहर्तुः परमात्मनोऽन्यस्य जीवादेश्वराचरात्त्वं युक्तम् । तस्माद्भवे-  
 श्वर एव ॥ ९ ॥

( दी० ) पूर्वाधिकरणे 'सर्वं सत्त्विदं ब्रह्म' इत्येवंपराद्विवाक्यान्मनोमय-  
 वाक्ये ब्रह्म स्वीकृतं तस्य च वैशेष्येण हेतुनाऽभोक्तृत्वं समर्थितं तस्मा-  
 देव जीवो भोक्ताऽत्ता 'यस्य' इत्यस्मिन्वाक्येऽप्यसंहर्तृत्वमसृत्वं तथाऽ-  
 प्यग्निरन्नाद इति श्रुतिलोकप्रसिद्धिभ्यामाग्निरेवात्ता ब्रह्मत्समात्प्रसिद्ध्या  
 मनोमयं ब्रह्मेति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अत्तेति अत्ता संहर्ता पर-  
 मेश्वरः । कुतः । चराचरग्रहणात् । 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च' इत्यादिना  
 चराचरस्य जङ्गमस्थावरस्य ग्रहणं स्वीकरणं तस्मात् ॥ ९ ॥

\* शुद्धे ब्रह्मणि स ईश्वरः ।

१ क. 'नदीतिः । २ क. 'तत्त' । ३ क. 'विशिष्टं न' ।

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

(अ०५०।) इतश्चेश्वर एवात्ता । कुतः । प्रकरणात् । परमात्मनः प्रकृतत्वादि-  
त्यर्थः । 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' [काठ० १।२। १८] इत्यादिना  
परमात्मनः प्रकृतत्वात् । 'क इत्या वेद् यत्र सः' इति च दुर्दिज्ञेयत्वं  
ब्रह्मणोऽसाधारणं लिङ्गं दृष्टव्यम् ॥ १० ॥

(चेतनचोर्जविश्वरयोर्द्वुहागतत्वम्' अधि० ३ )

गुहां प्रविष्टावात्मनौ हि तदर्शनात् ॥ ११ ॥

पूर्वं ब्रह्मक्षेत्रज्ञस्य मृत्युपदसंनिध्यादिति स्वस्तुपरत्ववदिहापि पिब-  
च्छब्दस्य संनिहितगुहाप्रवेशादिना बुद्धिक्षेत्रज्ञपरत्वमस्त्विति दृष्टान्त-  
संगत्याऽस्याऽऽरम्भः । पूर्वपक्षे बुद्धिमिन्नजीवज्ञानं फलं सिद्ध्यान्ते तु  
निर्गुणब्रह्मज्ञानमिति विभागः । अतृवाक्यानन्तरं कठवल्लीपु पठ्यते—  
'ऋतं पिबन्ती सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे' । छायातपौ  
ब्रह्मविद्यो वदन्ति पञ्चाङ्गयो ये च त्रिणाचिकेताः' [काठ० १।३। १] इति ।  
अस्यार्थः—ऋतमावश्यकं कर्मफलं पिबन्ती भुञ्जानौ जीवपरमा-  
त्मानौ छत्रिणो गच्छन्तीतिवदेकस्य जीवस्य भोक्तृत्वेन ब्रह्मणोऽपि  
भोक्तृत्वव्यपदेशः । सुकृतस्य धर्मस्य कार्यं देहरूपलोके वर्त-  
मानौ परार्धे ( धर्म ) परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानमर्हतीति परार्धं ( धर्म )  
हृदयं तस्मिन्परमे श्रेष्ठे या गुहा नभोलक्षणा तां प्रविश्य स्थितौ छाया-  
तपवन्मयो विरुद्धौ कर्तृत्वादितद्वैलक्षण्याभ्यां तौ ब्रह्मविद्ः पञ्चाङ्गयः  
कर्मिणश्च वदन्ति । त्रिर्नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेतास्तेऽपि  
वदन्तीत्यर्थः । तत्र संक्षयः । किमिह बुद्धिजीवौ निर्दिष्टावुत जीवपर-  
मात्मानाविति । तत्र बुद्धिजीवाविति प्राप्तम् । कुतः । जीवस्य बुद्धि-  
भिन्नत्वेन ज्ञानार्थं प्रश्नदर्शनात् । 'येवं प्रेते किञ्चिकित्सा मनुष्येऽस्ती-  
त्येके नापमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तु-

(धी०।) नन्वग्निजीवयोरपि साधारण्ये कुतः परमात्मैवात्सेत्यत आह—  
प्रकरणेति, प्रकरणं महावाक्यम् । 'न जायते म्रियते' इत्यादि तस्मात् ।  
चकारः 'क इत्या वेद्' इत्यादि दुर्दिज्ञानत्वादिसमुच्चयार्थः ॥ १० ॥

पूर्वाधिकरणे मृत्युशब्दसंनिधानाद्ब्रह्मक्षेत्रादिविश्वमित्याभित्येश्वरः  
संहरतित्युक्तम् । इहापि पिबच्छब्दस्य संनिहितगुहाप्रविष्टादिशब्दानुसारेण

(अ०१०१) तीपः ' [ काठ० १।१।२० ] इति । मनुष्ये प्रेते मृते सति येवं विचिकित्सा संशयः परलोकगामी भोक्ता जीवोऽस्तीत्येके नास्तीति चान्येऽतस्तत्त्वपोपदिष्टोऽहमेतन्नविचिकित्सं तत्त्वं ज्ञातुमिच्छामीति मृत्युं प्रति नचिकेतसो वचनमिति धराणां नचिकेता मृत्युं धरत्रयं पृष्टवान् । स्वपितुः सौमनस्यमग्निविद्याऽऽत्मविद्या वेति तेषां धराणां मध्य एष तृतीयो वर इत्यर्थः । एवं च बुद्धिजीवयोः पृष्टत्वाच्चावेवात्र निर्दिश्येते । किं च गुहाप्रवेशस्य ब्रह्मणोऽसंभवात् । अतपानासंभवाच्च बुद्धिजीवा-  
 विति प्राते ब्रह्मः—'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।' गुहां प्रवि-  
 ष्टाविह जीवपरमात्मानावेव । कुतः । आत्मानौ हि । हि यस्मात्परमात्मानौ  
 तस्मादित्यर्थः । अतं पिबन्ताविति । कर्मफलभोगश्रवणेनेकस्तावदा-  
 त्मेति द्वितीयोऽप्यात्मैव न्याय्यस्तत्र हेतुमाह—तद्दर्शनादिति । संस्था-  
 भवणे हि संस्थावतोरैकैकपवतोर्लोकदर्शनादित्यर्थः । तद्यथाऽस्य गौर्द्वि-  
 तीयोऽन्वेष्टस्य इत्युक्ते गौरिव द्वितीयोऽन्वेष्टस्यो नाश्वो न वा मनुष्यः ।  
 एवमिहापि चेतनत्वसामान्याज्जीवपरमात्मानावेव । बुद्धिविलक्षणजी-  
 वप्रश्रयान्यवेषोत्तरं नैतद्वाक्यम् । नापि गुहाप्रवेशानुपपत्तिर्ब्रह्मणः ।  
 'यो वेद् निहितं गुहायाम्' इत्यादौ बहुलं गुहाप्रवेशाभवनात् । न  
 चर्तपानानुपपत्तिः । छत्रिन्यायस्य दक्षितत्वादिति । तस्माज्जीवपरमा-  
 त्मानावेव गुहां प्रविष्टौ ॥ ११ ॥

किंच—

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

जीवपरमात्मनोरैवास्मिन्नर्थे गन्तुगन्तव्यभावेन मन्तुमन्तव्यभावेन  
 विशेषितत्वादित्यर्थः । 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च' [काठ०  
 १।३।३] इत्यादिनाऽनन्तरेण ग्रन्थेन रथादिकल्पनया विज्ञाना-  
 त्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्यन्तारं कल्पयति । 'सोऽध्वनः पारमाप्रोति

(श्री०) बुद्धिजीवपरत्वमिति बुद्धान्तेनाऽऽक्षिप्य समाश्रये—गुहामिति । गुहा  
 बुद्धिर्हृदयं वा तां प्रविष्टौ तस्या अन्तःस्थितौ जीवपरमात्मानौ हि  
 यस्मान्तस्य जीवस्य दर्शनं प्रत्यक्षेण तस्य परमात्मनश्च दर्शनश्रुत्या  
 'गुहाहितम्' इत्यादिकया तस्मात् ॥ ११ ॥

ननु बुद्धेरप्यस्ति दर्शनमित्यत आह—विशेषेति । 'सोऽध्वनः पारमा-  
 प्रोति' इति गन्तुत्वेन जीवस्य 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इति गम्यत्वेन



(म० व०) तद्विष्णोः परमं पदम् । [काठ० १।३।९] इति परमात्मानं गन्तव्यं कल्पयति । तथा—‘तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति’ [का० १।२।१२] इति पूर्वस्मिन्ग्रन्थे मन्तृमन्तव्यत्वेन तावेष विशेषितौ । स जीवः । अध्वनः संसारमार्गस्य पारमेय विक्षिप्तद्वि—तदिति । व्यापमशीलस्य ब्रह्मायः स्वरूपं परमं कार्यकारणातीतं पदं तदेव पारं ज्ञेयं मान्यदित्यर्थः । दुर्दर्शं सूक्ष्मत्वाद्गुह्यज्ञानमत एव गूढमनुप्रविष्टमाच्छादितरूपेण विद्यमानम् । कुत्रेत्यत आह—गुहेति । गुहायां दुग्धायाहितं निक्षिप्तं गह्वरे बहुविधानर्थसंकटे देहे स्थितं पुराणं चिरन्तनं तमीश्वरमध्यात्मयोगः प्रत्यगात्मन्येष चित्तसमाधानं तत्सहकृताङ्गाव्याधिगमः साक्षात्कारस्तेन सोऽहमेवेति निश्चित्य धीरो विद्वान्दृष्ट्वापलक्षितं संसारं जहातीत्यर्थः । तथा—‘समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीज्ञया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः’ [मु० ३।१।२] इति मन्त्रान्तरेऽपि जीवपरमात्मानावेव विक्षिप्तद्वि मन्तृमन्तव्यभावेन । आत्मेश्वरयोः समानस्तुल्यो वृक्षो देहः पुरुषो जीवो निमग्नो मनुष्योऽहमित्यभिनिवेशवाननीज्ञयाऽविद्यया मुह्यमानस्तस्वमजानन्ननिज्ञं शोचति संसारमनुभवति जुष्टं ध्यानादिना सेवितं यदा तस्य कर्षद्नापामन्यं चिन्त्यभूतमीश्वरं प्रत्यक्त्वेन पश्यति तदाऽस्यैवाऽऽमत्येनं दृष्टस्य महिमानं स्वकर्म प्राप्नोति ततश्च वीतशोको भवति तत्र हेतुरिति शब्देनोक्तः । बन्धहेतोरविद्याया दग्धत्वादित्यर्थः । न ह्यविद्याध्वंसानन्तरं बन्धकल्पनं युक्तम् । ‘न ह वा एयं विद्धि किंचन रज आर्ध्वसते’ इति श्रुतेः । रजोऽविद्या विदुषि किंचनेष्वपि स्वकल्पितं नाऽऽर्ध्वसते न संपादयति स्वस्वा एवाभावादित्यर्थः । तस्मान्पूर्वस्मिन्परस्मिन् ग्रन्थे जीवपरधरेव विशेषितत्वाच्चावेष गुहां प्रविष्टाविति जीवत्वादिधर्मविनिर्मुक्तः परमात्मा ज्ञेय इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

( छायाजीवान्यदेवान्हित्वा परब्रह्मण एवोपास्यत्वम्, अधि० ४ )

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

पूर्वं पिबन्ताविति प्राथमिकद्वित्वध्रुत्या चेतनत्वेन तुल्यजीवपरह-  
(टी०) परमात्मनो विशेषणं तस्मात् । चकारो बुद्धेः प्रकृतविशेषणामात्रं समुच्चिनोति ॥ १२ ॥

पूर्वाधिकरणे प्रथमं पिबन्ताविति सदृशचोर्जावपरमात्मनोर्ग्रहणाद्-

(अ०१०) इत्यनुसाराच्चरमधुता मुहाप्रवेशादुपो नीतास्तर्हि तद्देव इत्यत  
 इति प्राथमिकप्रत्यक्षत्वोक्त्याऽक्षिमतिविम्बात्मावगत्यनुरोधाच्चरमधुता  
 अमृतत्वाद्यः शु(स्तु)त्पर्यवेन कथंचिन्नेया इति ह्यहान्तसंगत्याऽस्याऽऽ-  
 रम्भः । पूर्वपक्षे प्रतिविम्बोपास्तिः फलं सिद्धान्ते ब्रह्मोपास्तिरिति । उप-  
 कोसलविद्यायां छान्दोग्ये श्रूयते—<sup>१</sup> 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो हृदयत एष  
 आत्मेति ह्योवाचैतद्मृतममयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यस्मिन्सर्विर्बोदकं वा  
 सिञ्चति वल्मनी एव गच्छति' [ छा० ४ । १५ । १ ] इत्यादि ।  
 अस्वार्थः—पुरुषः परमात्मा हृदयते शास्त्रत एव आत्मेति उपकोसलं  
 प्रति आचार्यं उवाच । प्रतिविम्बात्मकच्छायाव्यावृत्त्यर्थमाह—एतद्विति ।  
 इत्युवाचेत्यन्वयः । अक्षिरूपस्थानस्य ब्रह्मस्वरूपमाह—तद्विति । वल्मनी  
 पदमन्वयाने इति द्वितीयाद्विवचनम् । ब्रह्मणो निर्लेपत्वाच्चक्षुषोऽपि  
 निर्लेपत्वात्सारूप्यमित्यर्थः । तत्राक्षिष्यन्तर उपदिश्यमानः परमात्मोत्र  
 प्रतिविम्बादिरिति संशये इत्यत इति षषणात्सर्वगतस्याक्षिस्थानत्वानु-  
 पपत्तेश्च न परमात्मा किंतु प्रतिविम्बादिरिति प्राप्ते ब्रूमः—<sup>२</sup> 'अन्तर  
 उपपत्तेः' । अन्तरोऽक्षिमध्यगतः परमात्मैव । कुतः । उपपत्तेः ।  
 आत्मत्वामृतत्वामयत्वादीनामिहोक्तानां परमात्मन्येषोपपत्तेरित्यर्थः ।  
 न च इत्यत इत्यनेन विरोधः । दर्शनस्य क्षात्रीयत्वेनाविरोधात् ।  
 किंच—<sup>३</sup> एतं संपद्दाम इत्याचक्षते । एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसं-  
 यन्ति । एष उ एव वामनीरेप हि सर्वाणि वामानि नयति । एष उ  
 एव मामनीरेप हि सर्वेषु लोकेषु भाति' [ छा० ४ । १५ । २ ] इत्यत्र  
 निर्दिष्टसंपद्दामत्वादिगुणानां परमात्मन्येषोपपत्तेरन्तरः परमात्मैव । तद्व-  
 र्थस्तु—संपद्दामशब्दार्थमाह—एतं हीति । वामानि कर्मफळानि एतम-  
 क्षिपुरुषं हेतुमाश्रित्याभिसंयन्ति उत्पद्यन्ते । संयन्ति वामान्वस्मादिति  
 संपद्दानः सर्वफलोद्पद्यहेतुरित्यर्थः । वामनीरेप्ययमेवेत्याह—एष इति ।  
 वामनीशब्दार्थमाह—एष हीति । वामानि शोभनानि जने प्रापयति  
 जनस्य सर्वशुभप्रापकोऽप्ययमेवेत्यर्थः । मामनीरेप्ययमेवेत्याह—एष

(दी०)सारेण मुहाप्रवेशाद्विचरमं नीतं तथा 'य एषोऽक्षिणि' इति प्रथमं  
 छायात्मनः प्रतीतेरमृतत्वादीनां नयनं तस्मिन् । अध्यात्मन्तमनवस्थित-  
 स्तर्हि जीवो देवतात्मा चेति ब्रह्मान्तेनाऽऽक्षिष्य समाधत्ते—अन्तर इति ।

(न० १००)हीति भामनीपदार्थमाह—भामानि भानानि नपतीति भामनीः । अपभेव सर्वप्रकाशक इत्यर्थः । न हि प्रतिबिम्बस्यान्यस्य वैतादृशा गुणाः संभवन्ति । तस्यादृश्यन्तरः पुरुषः परमात्मा ॥ १३ ॥

कथं पुनः सर्वगतस्याल्पमाक्षिस्थानं व्यपदिश्यत इत्यत्रोत्तरं पठति—  
स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

ईश्वरस्याल्पस्थानादिव्यपदेशो नास्तुपपन्नः । कुतः । स्थानादिव्यपदेशात् । 'पथ्यल्लुपि तिष्ठन्' [ वृ० ३ । ७ । ४ ] इत्यादीधीश्वरस्य चक्षुःस्थानव्यपदेशस्य ह्यतत्त्वादित्यर्थः । आदिपदेन रूपवत्त्वपरिग्रहो वृष्टान्तत्वेनोक्तः । 'हिरण्यमस्युः' [ छा० १ । ६ । ७ ] इत्यादौ रूपवत्त्वस्योपासनार्थत्वेनोपादानाद्विहापि उपासनार्थमल्पस्थानत्वपदेशो न विरुध्यत-इति भावः ॥ १४ ॥

अपि च—

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

अक्षिपुरुषः परमात्मैवोपदिश्यते । कुतः । सुखविशिष्टाभिधानात् । एवकारेण नात्र संशयः कार्य इति सूच्यते । सुखविशिष्टं ब्रह्म वाक्योपक्रमे भूयते तस्यैवेहाभिधानादित्यर्थः । तथा हि गुरुगृह आचार्याज्ञया चिरकालं वर्तमानमुपकोसलं गार्हपत्याद्यङ्गप ऊचुः—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति । तत्र कंशब्दो वैपथिकसुखे रूढः । संशब्दश्चाऽऽकाशे रूढ इति परस्परभेदे प्राप्ते श्रुतिराह—'यद्वाव कं तदेव खं यदेव

(श्री०) 'य एषोऽक्षिणि' इति चक्षुषोऽन्तरः पुरुषः परमेश्वरः । कुतः । अनुत्खामयत्वादीनां तत्रोपपत्तेः सद्भावात् ॥ १३ ॥

कथं परमेश्वरः सर्वगतोऽक्षिणीत्यत आह—स्थानादीति । सर्वगतस्याल्पुपासनार्थः स्थानस्य पृथिव्यादेरादिशब्देन रूपस्य हिरण्यमस्युत्वादेर्नाह उदिस्थादेः 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादिना व्यपदेशस्तस्मात् । चकारोऽन्यस्य स्थानाद्यभावसमुच्चयार्थः ॥ १४ ॥

मा भूद्यपदेशः सहजसिद्धजीवस्य चक्षुःस्थानमस्ति च क्वचिदक्षिणाक्षिसुखे विन्व इत्यादिव्यपदेश इत्यत आह—सुखेति । वाक्योपक्रमे प्रकान्तस्य सुखविशिष्टस्य 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्यादिना

(अ०५०) श्रं तदेव कम्' इति । एवं परस्परवैशिश्यप्रतिपादनात्सुखविकिष्टं ब्रह्म वाक्योपक्रमे श्रुतमिति तस्यैवान्न ग्रहणं युक्तमिति नादकृतच्छाया-  
देरित्यक्षयन्तरः परमात्मा ॥ १५ ॥

किंच—

श्रुतोपनिषत्काल्यप्रिधानाच्च ॥ १६ ॥

इतश्चाक्षयन्तरः परमात्मा । कुतः । श्रुतोपनिषत्काल्यप्रिधानात् ।  
श्रुताऽभ्यस्तोपनिषद्ब्रह्मविद्या येन स श्रुतोपनिषत्कः । तस्य या गतिरधि-  
रादिरूपा तस्याः प्रकृतेऽभिधानादित्यर्थः । 'अथोचरेण तपसा ब्रह्मच-  
रणेण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विव्याऽऽदित्वमभिजयन्ते । एतद्वै  
प्राणानामाचतनभेतदद्भुतमभयमेतत्पराधणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते' [ अ०-  
१ । १० ] इति । स्मृतावपि—

अग्निर्धोतिरहः स्रुद्धः पण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ [ अ० गी० ८।२४ ]

इति । या गतिर्ब्रह्मविदां दर्शितां सेवाश्विपुरुषविदः श्रूयते—'अथ  
यु चैवास्मिन्नज्ञानं कुरुन्ति एदि च नार्थिपमेवाभिसंभवन्ति' इत्युप-  
क्रमे 'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतौ-  
म्बह्व गमयतीत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमा-  
वर्तं नाऽऽवर्तन्ते' [ छा० ४ । १५ । ५ ] इति । तद्वर्थस्तु—अथ देहपा-  
तानन्तरं ब्रह्मचर्याद्विपसा हेतुनाऽऽत्मानमनुसंधाय तद्विद्यया ध्याना-  
द्यथोत्तरमार्गमधिंराद्युपलक्षितं प्राप्य तेनाऽऽदित्याद्विद्वारा कार्यं ब्रह्म  
प्राप्नुयन्तीत्यर्थः । कार्यं ब्रह्म विशिनष्टि—एतदिति । व्यष्टिसमस्तेन्द्रियाणां  
समष्टयभिमानी हिरण्यगर्भः स्थानमित्यर्थः । तस्य चारतवं स्वरूपमाह—  
एतद्भुतमिति । एतद्विशेषणसिद्ध्यर्थं हेतुमाह—एतस्मादिति । स्मृताव-  
न्याद्विशद्वैरातिवाहिन्यस्तद्भिमानीन्यो देवता नृह्यन्ते । अथेत्युक्त्वाथंम् ।

(दी०) ब्रह्मण एव मत्स्वन्वस्याभिधानं तस्मात् । अतोऽत्र ब्रह्मण एव  
ग्रहणम् । चकारो जीवस्वानुपास्वस्याध्यापिनोऽक्षिस्थानासंभवसमुच्च-  
यार्थः ॥ १५ ॥

उपक्रमोऽप्यन्यस्य किं न स्यादित्यत आह—श्रुतेति । श्रुतोपनिषद्येन  
सोऽर्थं श्रुतोपनिषत्कस्तस्य या गतिरीश्वरज्ञानवतः श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धौ

(ब्र० व० १) अस्मिन्नूपासके घृते यदि पुत्रावृषः शब्दं शवसंबन्धिसंस्कारादि कर्म कुर्वन्ति यदि वा न कुर्वन्ति उभयथाऽप्यप्रतिहतोपास्तिफलस्त उपासका अचिराद्यभिमानीनी देवतां प्राप्नुवन्ति । अचिषोऽहर्देवतां ततः शुक्लपक्षदेवतां ततः षण्मासोपलक्षितोत्तरायणदेवतां ततः संवत्सरदेवतां ततश्चाऽऽदित्यं ततश्चन्द्रं ततो विद्युतमाप्नुवन्ति । तत्र च स्थितानुपासका-  
न्ब्रह्मलोकादागत्यामानयो मनुसृष्टावनुत्पन्नो ब्रह्मलोकभव इति यावत् । स पुरुषो गन्तव्यं कार्यं ब्रह्म गमयति प्रापयतीत्याचिरादिदेवैर्मेतुभिरुप-  
लक्षितत्वाद्देवपथो गन्तव्येन ब्रह्मणोपलक्षितत्वाद्ब्रह्मपथश्चैतेन पथा कार्यं ब्रह्म प्रतिपद्यमानाः पुनरिमं मानवं मनोः संगं जन्ममरणाद्यावृत्ति-  
युक्तत्वादावर्तकत्वं नाऽऽवर्तन्ते न प्रविशन्तीति । तस्मादक्षिपुरुषः परमात्मा ॥ १६ ॥

इतश्चाक्षिपुरुषः परमात्मा न प्रतिविम्बात्मेत्याह-

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

इतरश्छायापुरुषादिरक्षित इति न युक्तम् । कुतः । अनवस्थितेः । उपासकस्य सर्वत्राक्षिणि ष्छायासंपादकविश्वभूतपुरुषान्तरस्यानवस्थानादित्यर्थः । असंभवाच्च । अमृतत्वादिगुणानां छायापुरुषेऽसंभवादि-  
त्यर्थः । तस्मात्परमात्मैवाक्षिस्थान उपास्य इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

(श्री०) देवयानास्थो मार्गस्तस्य । 'यदुचैवास्मिन्नशब्धं कुर्वन्ति' इत्यादि-  
माऽभिधानात् । चकारो ब्रह्मशब्दादेरन्ध्रानुपपत्तिसमुच्चयार्थः ॥ १६ ॥

छायात्मविज्ञानात्मदेवतात्मपरमात्मनां कर्धंचिद्रूपपत्तिसाम्ये कुतः परमात्मैव गृह्यते नेतर इत्यत आह—अनवस्थितेरिति । नावस्थितिरन-  
वस्थितिः सदाऽवर्तमानत्वं छायात्मनः पुरुषान्तरस्य समीपेऽसंभयत्वम-  
विद्यमानत्वं विज्ञानात्मनो रसादिग्रहणे सुषुप्तिसमये चाविद्यमानत्वं देवतात्मनो नियामकामावाद्विद्यमानत्वं तस्याः । न केवलमेतद्व्युत्तत्वा-  
दीनां त्रयाणामप्यसंभवः समानो ज्ञेयादिमत्त्वात् । तस्माच्चकार उक्ता-  
नुक्तद्रूपणसमुच्चयार्थः । नेतरोऽन्यश्छायात्मा विज्ञानात्मा देवतात्मा चेति ॥ १७ ॥

( प्रधानजीवेतरन्वेभ्यस्त्वैवान्तर्पामिशाब्दवाच्यत्वम्, अधि० ५ )  
अन्तर्पाम्यधिदेवादिषु तद्ब्रह्मव्यपदेशान् ॥ १८ ॥

(म०१०।) पूर्व 'स्थानाद्विषयपदेशाच्च' इति सूत्रे 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि-  
त्प्राद्यन्तर्पामिवाङ्गणस्थं ' यश्चक्षुषि तिष्ठन् ' इत्यादिवाक्यधनन्तर्पामिणो  
ब्रह्मत्वं सिद्धवन्त्वोदाहृतं तदाक्षिप्य समाधीयत इत्याक्षेपसंगत्वेदमा-  
रभ्यते । पूर्वपक्षे यत्परतया वाक्यं नीयते तदुपास्तिः फलं सर्वत्र सवि-  
शेषविचारं द्रष्टव्यम् । सिद्धान्ते शङ्कोपास्तिरथेतीहापि तथा फलं द्रष्ट-  
व्यम् । अन्तर्पामिशाङ्गणे क्षुपते— 'य इत्थं च लोकं परं च लोकं  
सर्वाणि भूतानि योऽन्तरो यमयति' [ बृ० ३ । ७ । १ ] इत्युपक्रम्य  
'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या आन्तरो यं पृथिवी न वेद् यस्य पृथिवी  
शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्यप त आत्माऽन्तर्पाम्यमृतः ' [ बृ० ३ ।  
७ । १ ] इत्यादि । अत्र पृथिव्यां तिष्ठन्तर्पामित्युक्ते स्थावरादिरिति  
शङ्का वारयति—पृथिव्या इति । तद्भिमानिदेवतां प्रत्याह—यमिति ।  
अशरीरस्य कथं नियन्तृत्वमित्यत आह—यस्येति । नियम्यकार्यकरण-  
संघातेनैव नियन्तृत्वमिति । फलितगाह—य इति । तस्य शिञ्जत्वमं  
वारयति—एष इति । मम चेत्यर्थः । एवं 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् '  
इत्याद्यधिदेवतानन्तरं 'यः सर्वेषु लोकेषु ' इत्यधिलोकं ' यः सर्वेषु  
भेदेषु ' इत्यधिभेदं ' यः सर्वेषु यज्ञेषु ' इत्यधियज्ञं ' यः सर्वेषु भूतेषु '  
इत्यधिभूतं ' यः प्राणेषु ' इत्यादि ' य आत्मनि ' इत्यन्तमध्यात्मं च  
कश्चिदन्तरस्थितो यमचितान्तर्पामी क्षुपते स किमधिदेवाद्यभिमानी  
देवतात्वा किं वा प्राणाणिमार्गम्यर्थः कश्चिद्योगी किं वा परमात्मेति  
संशयः । किं तावत्यासं देवतात्मेति । क्लृप्तः । 'पृथिव्येव यस्याऽऽवतन-  
मग्निर्लोको मनो ज्योतिः' [ बृ० ३ । ९ । १६ ] इत्यादिना कार्यकर-  
णसंघातस्य देवतायां क्षुतत्वेन तस्या नियन्तृत्वोपपत्तेः । अस्यार्थः—  
यस्य देवस्य पृथिवि आपतनं शरीरमग्निर्लोको लोकयंतऽनेन रूपादि-

(शं०।) पूर्वाधिकरणे स्थानाद्विषयपदेशादिनाऽन्तराक्षिणीश्वर इत्युक्तं  
स्थानं जीवस्थाप्यसुतत्वादिषु प्रधानस्यापि रचादित्याक्षिप्य समाधत्ते—  
अन्तरिति । 'यः पृथिवीमन्तरो यमयति' इत्यादावन्तर्पामयति नियमयती-  
त्यन्तर्पामि उपदिष्टः परमेश्वरोऽधिदेवादिषु वैश्वभिक्षुण्य वसंत इति  
अधिदेवम् । आदिशब्देनाध्यात्ममधिभूतमित्यादि । तेष्वधिदेवादिषु ।

(न० १०) रिति लोकब्रह्मज्ज्योतिरेव मन इत्यर्थः । नह्यशरीरस्य निपन्तृत्वं युक्तम् । तस्माद्देवतात्मा योगी वेति प्राप्ते ब्रूमः—अधिदेवादिषु श्रूयमाणोऽन्तर्धामी परमात्मैव । कुतः । तद्धर्मव्यपदेशात् । तस्य परमात्मनो धर्माणामिह व्यपदेशादित्यर्थः । सर्वान्तर्यामित्वमात्मत्वममृतत्वं द्रष्टृत्वं चेह परमात्मनोऽसाधारणधर्मा उदाहृतवाक्ये द्रष्टव्याः । न चाशरीरस्य कथं निपन्तृतेति वाच्यम् । नियम्यशरीरेणैव तस्य निपन्तृत्वोपपत्तेरिति ॥ १८ ॥

ननु प्रधानमन्तर्धाम्यस्त्वित्याज्ञाः क्वयाऽऽह—

न च स्मार्तमन्तर्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

स्मार्तं सांख्यस्मृतिकल्पितं प्रधानं नान्तर्धामिज्ञाब्दवाच्यम् । कुतः । अतद्धर्माभिलापात् । तच्छब्देन प्रधानमुच्यते न तदध्यानमिन्द्रः परमात्मैत्यर्थः । तस्यैव चेतनस्य धर्मा द्रष्टृत्वाद्यप्यस्तेषामिह्याभिलापात् । अधिधानादित्यर्थः । अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता [ वृ० ६ । ७ । २३ ] इति वाक्यशेषे द्रष्टृत्वाद्यप्येतनधर्माः श्रूयन्त इति नाचेतनं प्रधानमन्तर्धामीत्यर्थः ॥ १९ ॥

तर्हि चेतनो जीवो योगी भवत्वन्तर्धामित्यत आह—

शारीरश्वोऽपि हि भेदेनैनमधीपते ॥ २० ॥

शारीरो नान्तर्धामीति नकारस्य पूर्वशुभ्रादनुषङ्गः । कस्मात् । उभयेऽपि हि काण्वा माध्यंदिनाश्चान्तर्धामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन बाधीपते । 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' [ वृ० ३ । ७ । २२ ] इति काण्वाः । विज्ञानपदं जीवपरम् । 'य आत्मनि तिष्ठन्' [ वृ० ३ । ७ । ३० ] इति माध्यंदिनाः । तस्मात्पृथिव्यादिव-  
(दी०) कुतः । तद्धर्मव्यपदेशात् । तस्य परमेश्वरस्य धर्मास्तद्धर्माः 'यं पृथिवी न वेद्' इत्यादिना बुद्धिज्ञानत्वादयस्तेषां व्यपदेशादभिधानात् ॥ १८ ॥

अदृष्टत्वादिगुणैः प्रधानं किं न स्यादित्यत आह—न चेति । न च नैव स्मृत्येव प्रतिपाद्यं स्मार्तं प्रधानम् । कुतः । अतद्धर्माभिलापात् । तस्य प्रधानस्य धर्मास्तद्धर्मा न तद्धर्मा अतद्धर्माः 'अदृष्टो द्रष्टा' इत्यादिनोक्ता द्रष्टृत्वाद्यप्यस्तेषामभिलापोऽभिधानं तस्मात् ॥ १९ ॥

शारीरस्तर्हि स्यादित्यत आह—शारीरिति । शरीरे भवः शारीरो जीवः । चकारो नकारानुवृत्त्यर्थः । शारीरोऽपि न । कुतः । हि

(अ०१७०)वृद्धिचम्बलमेव जीवस्य न नियन्तुत्वम् । भेदेनैवमर्थापत् इति पाठ एवं 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यादिना प्रकरणेत्यर्थो बोध्यः । तस्माद्-  
चिदेवादिषु अन्तर्पामी परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ २० ॥

( प्रधानजीवी निराहृत्येश्वरस्य भूतयोनित्वम्, अधि० ६ )

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

पूर्वं प्रधानविरोधिद्रव्यादिधर्मवशात् प्रधानमन्तर्पामीत्युक्तम् । तर्हि तद्धिरोधिधर्माणामत्राश्रयणात्प्रधानमेवाहृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः स्यादिति प्रत्युदाहरणसंगत्याऽऽस्याऽऽरम्भः । आधर्वर्ण वाक्यमाभ्यापते—  
'अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते यत्तद्वेद्यमद्याह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद्व्यप्यं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' [ सु० १ । १ । ५ । ६ ] इत्यादि । अस्वार्थः—  
पूर्वमपर शब्देनादिलक्षणा विद्योक्ता रुदानन्तर्पमथशब्दार्थः । यथा तदक्षरमधिगम्यते सा परोत्कृष्टफलिका विद्येत्यर्थः । अक्षरस्य धर्म-  
समुदायत्वं धारयति—यदिति । अदृश्यमदृश्यं ज्ञानेन्द्रियागम्यम् । अद्याहं कर्मेन्द्रियाविषयः । अगोत्रं वंशज्ञानम् । अवर्णं जातिहीनम् । न केवलमिन्द्रियाविषयः किं तु तद्गर्हितं चेत्याह—अचक्षुरिति । न विद्येते चक्षुःश्रोत्रे यस्य तत्तथा । इदं च ज्ञानेन्द्रियोपलक्षणम् । कर्मेन्द्रियाभावमाह—तदिति । पाजिष्य पादुष्य पाणिपादं तद्यस्य नास्ति तत्तथा । उपलक्षणमेतत्कर्मेन्द्रियाणाम् । नित्यमनाशोपलक्षितम् । विभुं प्रभुं सर्वगतं सर्वकल्पनाधिष्ठानम् । सुसूक्ष्मं दुर्ज्ञानत्वात् । तद्व्यप्यं नाशागात्वात् । यद्यथोक्तमक्षरं भूतयोनिं यथा परिपश्यन्ति धीराः सा परा विद्येत्यन्वयः । तत्र संशयः—किमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः प्रधानं वा शारीरो वा परमात्मा वेति । अदृश्यत्वादीनां प्रधाने संभवा-  
त्प्रधानमिति प्राप्ते ब्रूमः—अदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमात्मैव ।

(टी०)पस्मादुभयेऽपि कौण्ड्या माध्यादिनाश्च परमात्मनो भेदेन 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्येवं शारीरमधीयते पठन्ति ॥ २० ॥

पूर्वाधिकरणे द्रव्यत्वादिश्रयणात् प्रधानम् 'य आत्मनि' इति भेद-  
श्रयणात् जीवोऽप्यन्तर्पामीत्युक्तं तद्वद्व्यामावैविति प्रत्युदाहरणेनाऽऽ-  
क्षिप्य समाधत्ते—अदृश्येति । यत्तद्वेद्यमित्यादिनोक्तो न दृश्योऽदृश्य-



(म०व०।) कुतः । धर्मोक्तेः । 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमक्षं च जायते' [ मु० १।१।९ ] इतीश्वरधर्मस्य सर्वज्ञत्वादिभूतयोनी निर्देशादित्यर्थः । सामान्यतः सार्वज्ञ्यं विशेषतः सर्वविषयं यस्य ज्ञानमेव तपस्तस्मादीश्वरादेव तत्कार्यरूपं ब्रह्मादि द्विरूप्यगर्भः सूक्ष्मभूतात्मकं नाम स्थूलभूतात्मकं रूपं च ब्रीहियवादि सार्वभौतिकमन्नं च जायत इत्यर्थः । ननु 'अक्षरात्परतः परः' इत्यक्षराद्भूतयोनेः परस्येश्वरस्य सर्वज्ञत्वं श्रूयते न भूतयोनेरिति चेन्न । 'वेनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्पती ब्रह्मविद्याम्' [ मु० १ । २ । १३ ] इति । येन ज्ञानेनाक्षरं प्रकृतं भूतयोनिं सर्वज्ञं पुरुषं सत्यं वेद तां ब्रह्मविद्यामुपसन्नाय ज्ञान्ताय प्रोवाचाऽऽचार्यः प्रब्रूयादित्युपक्रम्याक्षरात्परतः पर इत्युच्यमानः परो न भूतयोनेरतिरिच्यते किंत्वक्षरादित्यविद्यानिर्देशस्ततः पर इति न विरोधः । किं च विषयवाक्येऽक्षरात्मक-भूतयोनिविद्यायाः परत्वं श्रूयमाणं भूतयोनेर्ब्रह्मत्वं गमयति । न हि ब्रह्मविद्यातोऽन्या विद्या परामवितुं युक्ता । मोक्षफलकत्वात्मकपरत्वस्य ब्रह्मविद्याया एव संभवात् । ब्रह्मविद्योपक्रमे श्रूयमाणामपरविद्यामून्वेवाङ्गिष्ठक्षणां कर्मविद्यामनित्यफलकत्वेन निन्दति च नित्यफलकब्रह्मविद्याप्रशंसयै । तस्मात्परविद्याविषयपूतमक्षरं भूतयोनिर्ब्रह्मैव । निन्दा हि श्रूयते—'पूवा ह्येते अब्रूवा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येषमिनन्दन्ति मूढा जराश्रुतुं ते पुनरेवापिचन्ति' [ मु० १ । २ । ७ ] इति । निन्दित्वा च कर्मविद्यां ततो विरक्तस्य ब्रह्मविद्याधिकारं दर्शयति—'परीह्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायास्त्रास्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रिषं ब्रह्मनिष्ठम्' [ मु० १ । २ । १२ ] इति । अपमर्थः—पूबन्ते गच्छन्तीति पूवाविनाशिनः । अत एवाष्टादशः । के ते, यज्ञरूपाः । यज्ञो रूपमुपाधिर्षेधां ते तथा, ऋत्विगाद्वोऽष्टादश । ऋतुषु याजयन्तीति ऋत्विजः षोडश यज्ञोपाधिकास्तद्व्यपत्नी यजमानश्च यज्ञोपाधिकावेव षष्टादश यज्ञरूपाः । क्षयिष्णुफलकत्वाद्दवरं जघन्यं कर्म येषु श्रुत्या विहितमेतदेव कर्म श्रेयोहेतुर्न ब्रह्मधीरिति ये मूढा ह्यप्यन्ति ते पुनर्जरा-

(वी०)स्तस्य भावस्तत्त्वं तदादिर्षेपामद्याह्यत्वादीनीं तेऽहश्यत्वाद्द्वो गुणा यस्य सोऽपमहश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वरः । कुतः । धर्मोक्तिः ।

(अ०१०८)पूर्वं मरणमेवाऽऽभ्युवन्तीत्यर्थः । कर्मजन्यांल्लोकान्प्रत्यक्षादिनाऽनि-  
त्यतया परीक्ष्य ज्ञात्वा निर्बेदं वैराग्यमायादृच्छेन्नास्त्वक्तुतो मोक्षः कृतेन  
कर्मणाऽहं तु नित्यकृतार्थं तस्मात्किं कर्मणेति विरक्तः संस्तस्य ब्रह्मणो  
ज्ञानार्थं गुरुपादोपसर्पणं कुर्यात् । तत्कृत्वा मुक्तिप्राप्त्यर्थं ज्ञानाय श्रवणादि-  
कुर्यादित्यर्थः । रिक्तहस्तस्तु मोषेयाद्दानानं दैवतं गुरुमिति न्वायेन  
समिन्नाभिरित्युक्तम् । भोजियमित्वादिनाऽभ्यवनराहितस्य कर्मिणो वा  
गुरुत्वं वार्यते । कर्म निन्द्या ततो विरक्तस्याधिकारोक्तेरक्षराविद्या ब्रह्म-  
विद्येति कलितम् । तस्माद्ब्रह्मत्वादिगुणकः परमात्मा ॥ २१ ॥

अपि च—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

अदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव नेतरौ प्रधानजीवो । कुतः । विशे-  
षणात् । 'दिव्यो ह्यमृतः पुरुषः सबाह्याम्बन्तरो ह्यजः । अशाणो  
ह्यमनाः शुभ्रः ' [ सु० ५ । १ । २ ] इत्यादिना दिव्यत्वाविशेषणश्र-  
वणादित्यर्थः । प्रधाननिरासे हेत्वन्तरमाह—भेदव्यपदेशादिति । 'अक्ष-  
रात्परतः परः ' [ सु० २ । १ । २ ] इति प्रपञ्चोपादानस्याव्याकृतस्ये-  
श्वरशक्तिभूतस्य श्रुत्यधिकृतस्य जलस्य परमात्मनश्च भेदेन व्यपदिष्ट-  
त्वादित्यर्थः । दिव्यः स्वयंज्योतिरमूर्तो निरवयवः पुरुषः पूर्णो बाह्यं  
कार्यमम्बन्तरं कारणं ताभ्यां कल्पिताभ्यां सहाधिष्ठानत्वेन तिष्ठतीति  
सबाह्याम्बन्तरः सर्वकल्पनाधिष्ठानमिति यावत् । अजः कुटस्थः । न  
ह्येतादृशविशेषणानि अल्पके जीवे वा संभवन्ति । तस्मात्परमात्मैव  
भूतयोनिः ॥ २२ ॥

( ६० । ) धर्माः सर्वज्ञत्वादयः 'यः सर्वज्ञः' इत्यादिना तेषामुक्तेरभिधा-  
नात् ॥ २१ ॥

जीवप्रधानपदार्थयोरपि केषांचिद्भ्रमाणां संभवात्कुतो न स्वीकार  
इत्यत आह—विशेषणेति । विशेषणम् । 'दिव्यो ह्यमृतः पुरुषः' इति  
जीवाद्यतिरिक्तत्वेन भूतयोर्भेदव्यपदेशः । अक्षरात्परतः प्रधानास्त्वपदार्था-  
त्यञ्जनीनिर्दिष्टात्पर इति प्रथमान्तत्वेन भूतयोर्भेदः परमेश्वरस्य भेदेन व्यप-  
देशः । विशेषणं च भेदव्यपदेशश्च विशेषणभेदव्यपदेशौ ताभ्यां नेतरौ  
जीवप्रधानास्त्वपदार्था ॥ २२ ॥

## रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

(अ०१०)किं च भूतयोनिः परमात्मैव नेतरावित्यनुषङ्गः । कुतो रूपोपन्यासात् । रूपं सर्वविकारात्मकं शरीरं तस्योपन्यासादित्यर्थः । 'अक्षरात्परतः' इत्यस्थानन्तरम् 'एतस्माज्जायते प्राणः' [ सु० २ । १ । ३ ] इत्यादिना प्राणादिपृथिव्यन्तानां सृष्टिभूत्वा तस्यैव भूतयोनिः सर्वकार्यात्मकं रूपमुपन्यस्यति—'अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्या विशः भोजे वान्निवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वस्य पदस्य पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' [ सु० २ । १ । ४ ] इति । अग्निर्द्युलोकः 'असौ वाक् लोको गौतमाग्निः' इति श्रुतेः । त्रिवृता वेदा वागित्यन्वयः । पद्भ्यामिति प्रथमार्थे । पादौ पृथिवी । वस्यैतादृशं शरीरं स एष सर्वभूतानामन्तरात्माऽऽस्मेत्यर्थः । न ह्येतादृशरूपोपन्यासो जीवाभ्यक्तयोः परिग्रहे घटते परमात्मनस्तु सर्वात्मकत्वात् युज्यते । अस्य सूत्रस्य वृत्तिकारमतरीत्याऽपमर्थः प्रदर्शितः । शंकरभगवत्पादास्तु अग्निमूर्धेति वाक्यस्य जायमानमध्यपाताज्जायमानहिरण्यगर्मरूपसूत्रात्मपरत्वं न परमात्मपरत्वमिति वदन्ति । तथा हि—एतस्माज्जायते प्राणो वनः सर्वेन्द्रियाणि च । स वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' [ सु० २ । १ । ३ ] इति पूर्वं प्राणादीनां सृष्टिरुक्ता । तथोत्तरत्रापि 'तस्माद्दिशिः समिधो वस्य सूर्यः' [ सु० २ । १ । ५ ] इति । यस्य द्युलोकस्य सूर्यः समिधोऽग्निरिव भासकः । यद्वा । अग्निर्द्युलोको वस्य सूर्य एव समिधः । 'तस्याऽऽदित्य एव समिदिति श्रुतेः । सोऽपि तस्मादेव जायत इत्यर्थः । एवं पूर्वमुत्तरत्र च जायमानानां निर्दिष्टत्वात् अग्निमूर्धेति वाक्यं जायमानहिरण्यगर्मपरमेव । हिरण्यगर्मस्याऽऽत्मन उत्पात्तिः क्षुत्पन्तरे श्रूयते—' हिरण्यगर्मः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स वाधार पृथिवीं द्यामुत्तेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम' [ ऋ० सं० १० । १२१ । १ ] इति । समवर्ततागायत जातः सन्त्रीश्वराज्ञया पतिर्यभूव भूतग्रामस्य कस्मै हिरण्यगर्माप विधेम परिचरेम । सूत्रार्थस्तु भूतयोनिः परमात्मैव । कुतः । 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' [ सु० २ । १ । १० ] इत्यादिना सर्वात्मकात्मकरूपोपन्यासादिति । सर्वं कर्म सुसाध्यं तपो ज्ञानं च पुरुष एवेत्यर्थः । तस्मादहंश्रुत्वादि-

(द्वि०)परशब्देन भूतयोनिरेवागमः कुत इत्यत आह—रूपेति । रूपस्य भूतयोनिः स्वरूपस्थानन्तररूपोपन्यासादभिधानात् । 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' इत्या-

( अ० १७० । ) गुणको भूतयोनिः परमात्मा निर्दिशेषो ज्ञेय इति सिद्धम् ॥ २३ ॥

( ब्रह्मणो वैश्वानरान्द्रव्यान्पदस्य, अधि० ॥ ७ ॥ )

वैश्वानरः साधारणगन्धविशेषात् ॥ २४ ॥

अत्र ह्यपोपन्वासप्रसङ्गाद्ब्रह्मलोकपदं वैश्वानरः स्मृतो विचार्ये इति प्रसङ्गसंगतिः । यद्वा पूर्वं दास्योपक्रमस्याहुरपत्वादिज्ञाधारण्यस्य वास्यशेषस्यत्वस्यैकत्वाद्युक्त्या ब्रह्मविषयत्वमुक्तं तर्हि तद्वैश्वेहापि उपक्रमस्यसाधारण्यस्य दास्यशेषस्यहोमाधारत्वोक्त्या प्रसिद्धत्वमुक्ती-  
तया जाठरार्थकत्वमसिवाति इदाम्तसंगतिः । 'को न आत्मा किं ब्रह्म' [छा० ५। ११] इत्यात्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्ययेपि तत्रैव नो ब्रह्मैत्युपक्रम-  
न्याऽऽज्ञायते—'यत्नेतमेवं प्रादेशनात्रमभिधिमामात्मानं वैश्वानरमु-  
पात्ते सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वामरमपदमसि तस्य ह वा एत-  
स्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य सूत्रेण सुतेजाश्चन्द्राविश्वरूपः प्राणः पृथग्भवतांत्मा संदंष्ट्रो बह्वल्लो वास्तिरेप रपिः पृथिव्येव पादादुर एव वेदिलोमानि बहि-  
र्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' [छा० ५। १८] इत्यादि । अस्वार्थः—आत्मानोऽसंसारित्वात् ब्रह्मपदं ब्रह्मणोऽपरोक्ष-  
त्वार्थमात्मपदम् । प्राचीनशालास्यथज्ञान्मुद्रजनमुद्रिलाः समेत्येत्थं भीमांसां बल्लः—को न आत्मा किं ब्रह्मेति । पश्चाद्ब्रह्मलोकं तत्र वैश्वान-  
रोऽवनेति निश्चयार्थं कैकेयराजमश्वपतिमागत्येषुः—आत्मानमि-  
त्यादि । संप्रत्ययेपि सर्वदा ध्यायति । स च कैकेयराजो ब्रह्मलोकसूर्य-  
दाय्याकाशधारिपृथिवीनां मध्ये ब्रह्मलोकदिरेकैक एव वैश्वानर इति भीमांसाकाले विपद्मानाः प्राचीनशालावयः पद्भ्यपयो मत्समीपमा-  
गता इति ज्ञात्वा तादृशविपरीतमुच्छिन्निरासेन सम्यग्वैश्वानरमुच्छिञ्चि-  
त्वाहविषया तानेव पपच्छ 'कं त्वमात्मानमुपात्ते' [छा० ५। १७] इत्यादिना । पृष्ठाश्च सन्तस्तत्रैकश्रयिर्ब्रह्मलोक एव वैश्वानर इत्युपाचा-  
न्यस्तु सूर्यो वैश्वानर इत्येवं क्रमेण पृथिवीपर्यन्तमेकैकस्य वैश्वानरत्वं  
श्रुत्वा तेषां सूर्यप्राचीनां क्रमेण सुतेजस्त्वविश्वरूपवपृथग्भवतांत्वस्यद्ब्र-

(छं० १) दिना । चकारोऽन्वस्य तदसंभवार्थः ॥ २३ ॥

पूर्वाधिकरणे सर्वज्ञत्वं न प्रधानस्य साधारण्येन च पुरुषस्य न ब्रह्मणं किं त्वीश्वरस्यैवेत्युक्तं तावद्वं साधारण्यं जाठरे वाऽऽदित्ये वा अविदेऽपि

( म० व० । ) लम्बपरित्यक्त्वा इत्वं गुणधोर्गं विधाय प्रत्येकं वैश्वानरस्वपक्षं  
 मूर्धपाताम्भत्वप्राणोत्क्रमणदेहृशीर्णतावस्तिभेदपादशोषणैर्दोषैर्मिन्दित्वा  
 तेषामेव द्युसूर्यादीनां वैश्वानरपुरुषं प्रति सूर्यादिभावमुक्त्वा क्लृप्तं वैश्वान-  
 नरोपासनमुपदिशति यस्वेतमित्यादिना । +आमिगुरूपेण विश्वं मिमीते  
 जानातीत्यभिविमानस्तं प्रादेशपरिमाणमुपास्ते यस्तस्य सर्षलोकाद्याश्चर्यं  
 फलमित्यर्थः । लोका मोगभूमयो भूतानि तद्गुपाधयो भोक्ताः स्वय-  
 मात्मान इति भेदः । तत्संबन्धिकलमज्ञशब्दार्थः । ध्यानफलमुक्त्वा  
 ध्वेयमाह—तस्वेति । सुतेजस्त्वगुणा छौर्वैश्वानरस्य मूर्धा । विश्वरूप-  
 त्वगुणकः सूर्यश्चक्षुः । 'एष शुक्ल एष नीलः' इत्यादिसुतेर्विश्वरूपत्वं  
 बोध्यम् । पृथङ्मानाना वर्त्म गमनमात्मा स्वभावो यस्य वायोः स तथा  
 नानागतत्वगुणयुक्तो वायुः प्राणः । बहुलत्वगुण आकाशोऽस्य संदिहो  
 देहमध्यमित्यर्थः । रविर्धनं तद्गुणा आयोऽस्य वस्तिमूर्धस्थानम् । प्रति-  
 ष्ठात्वगुणा पृथिवी यस्य पादौ तस्य वैश्वानरस्य होमाधारत्वसंपन्नार्थ-  
 मुर एवेत्यादि । एवं सति वैश्वानरशब्दस्य अयमग्निर्वैश्वानरो घोऽयमन्तः  
 पुरुषे' [ वृ० ५ । ९ ] इत्यादौ जाठरे 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा  
 वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' [ अ० सं० १० । ८८ । १२ ] इत्यादावग्नि-  
 सामान्ये 'वैश्वानरस्य सुमती स्याम राजा हि कं भुवनानामग्निश्रीः'  
 [ अ० सं० १ । ९८ । १ ] इत्यादावग्निशरीरायां देवतायां प्रयोगदर्शना-  
 द्रुपकमे च 'को न आत्मा' इत्युपक्रमाच्च संशयः । किमत्र वैश्वानरो जाठर  
 उताग्निसामान्यमुताग्निशरीरा देवताऽऽहोस्विच्छारीरः परमात्मा वेति ।  
 श्रुत्वर्थस्तु—पुरुषाकारे देहे विश्वस्मै भुवनाय वैश्वानरमग्निमह्नां केतुं चिह्नं  
 सूर्यमकृण्वन्कृतवन्तो देवास्तद्गुणे दिनव्यवहारादित्यर्थः । वैश्वानरस्या-  
 ग्न्वाधिष्ठानस्य देवस्य सुमती शोभनबुद्धौ वयं स्याम भवेम तस्मात्त-  
 द्विषया सुमतिर्भवत्वित्यर्थः । अत्र हेतुः—राजा हीति । हि यस्माद्भुव-  
 नानामयं राजा कं सुह्रं सुसहेतुरभिमुखा थीरस्येत्यभिधीरीश्वरस्तस्मा-  
 त्तस्य सुमती स्यामेति स्तुतिवाक्यार्थः । तत्र जाठरादौ वैश्वान-

(टी०) वा भूताग्नी वाऽनैकान्तमित्याक्षिप्य समाधत्ते—वैश्वानर इति । 'आ-  
 त्मानमेवेनं वैश्वानरम्' इत्यादिनोक्तो वैश्वानरे विश्वश्चासौ नरोति विश्वा-

\* प्रतिष्ठत्वं । + अनरोस्तथा ।

(१००) रक्षस्वस्य शक्तिञ्ज्वालाठरादिरव वैश्वानर इति प्राप्ते धूमः—वैश्वानरः परमात्मैव कुतः साधारणशब्दविशेषात् । साधारणशब्दयोरपि विशेषः साधारणशब्दविशेषस्तस्मादित्यर्थः जाठराग्निज्ञानान्पतहेवतासु साधारणो वैश्वानरशब्दो जीवपरयोः साधारण आत्मशब्दस्तयोर्वैश्वानरात्मशब्दो जाठराग्नी जीवादी च साधारणयोरपि सतोः परमात्मपरत्व एव विशेषोऽवगम्यते । ' तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्वं सुतेजाः ' [ छा० ५ । १८ ] इत्यादा उक्तद्यमूर्ध्वत्वादेः सर्वात्मक-परमात्मपरिग्रह एवोपबन्धतरत्वात् । तस्माद्वैश्वानरः परमात्मा ॥ २४ ॥

स्मर्षमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

किंच वैश्वानरपदस्य परमात्मपरत्वे स्मर्षमाणं स्मृत्युक्तरूपमनुमानं स्यात् । अनुमापकं लिङ्गं स्यादित्यर्थः ।

' यस्याग्निरास्यं धौर्मूर्धां खं नामिश्वरणौ क्षितिः ।

सुर्वक्षस्तुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः ' । [ महामा० शान्ति० ४७ । ६८ ]

इत्यस्याः स्मृतेः शरीरात्मकरूपप्रतिपादनपरया उदाहृतश्रुतिरेव मूलम् । मूलान्तररूपने मानाभावात् । तथा च स्मृती परमेश्वरस्यैवोक्तत्वात्तन्मूलश्रुतौ विद्यमानवैश्वानरशब्दः परमात्मपर एवेति तात्पर्यम् । श्रुत्र इति शब्दो हेतौ । यस्मादेवं लिङ्गमस्ति तस्माद्वैश्वानरः परमात्मैवेति ॥ २५ ॥

(१०१) नरो वैश्वानर एव वैश्वानरः । विश्वे वा नरा अस्पृते वैश्वानरः परमेश्वरः । कुतः । साधारणशब्दविशेषात् । साधारणशब्दयोर्विशेषः साधारणशब्दविशेषः । वैश्वानरशब्दोऽन्यादित्यात्मनां साधारणः । आत्मशब्दश्च जीवपरमात्मनोर्पद्यपि तथाऽप्यस्ति विशेषः ' तस्य ह वा एतस्य ' इत्यादिनोक्तो धूमूर्ध्वत्वादितस्तस्मात् ॥ २४ ॥

धूमूर्ध्वत्वादिकमपि परमेश्वरस्यैव कुत इत्यत आह—स्मर्षमाणमिति । ' यस्याग्निरास्यम् ' इत्यादिना स्मर्षमाणं रूपं परमेश्वरस्यानुमीयतेऽनेनेत्यनुमानं लिङ्गं स्याद्भवेत् । इति यस्मात्तस्माद्वैश्वानरः परमात्मैवेत्यर्थः ॥ २५ ॥

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति  
चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरु-  
षमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

(अ० १००) ननु वैश्वानरो न परमात्मा । कुतः । शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च । शब्दस्तावद्वैश्वानरशब्दो न परमात्मपरः । जाठरादौ रुद्रत्वात् । आदि-  
शब्दात् 'हृदयं गार्हपत्यः' [ छा० ५ । १८ । २ ] इत्याद्यग्नित्रेताक-  
ल्पनम् । 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्भोमीयम् ।' [ छा० ५ । १९ ।  
१ ] इत्यादिना प्राणाहुत्याधारतासंकीर्तनं च गृह्यते । एतेभ्यो हेतुभ्यो  
जाठर एव वैश्वानरः । किंच 'अन्तः प्रतिष्ठानात् ।' पुरुषेऽन्तः प्रति-  
ष्ठितं वेद' [ शत० ब्रा० १० । ६ । १ । ११ ] इति वैश्वानरस्थान्तः  
प्रतिष्ठानश्रवणात् । इदं च जाठरे संभवति । न च धूमूर्धत्वाद्यनुपपत्तिः ।  
अग्निशामान्यात्मकभूताग्निपरिग्रहे तस्योपपत्तेः । द्युलोकादिसंबन्धस्य  
तस्मिन्मध्येऽवगतत्वात् । 'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेसामाततान  
रोदसी अन्तरिक्षम् ।' [ ऋ० सं० १० । ८८ । ३ ] इति मन्त्रः ।  
इमां पृथिवीमुतद्यामपि द्यावापृथिव्यावेव रोदसी यो भानुना रूपेणाऽऽ-  
ततान व्यासवानन्तरिक्षं तपोर्मध्यं चाऽऽततान स देवोऽग्निर्द्युलोका-  
द्यवधो ध्येय इति मन्त्रार्थः । तस्मान्न वैश्वानरः परमात्मेति चेन्नार्यं  
दोषः । कुतः । तथा दृष्ट्युपदेशात् । तथा जाठररूपेण परमेश्वरस्य  
दृष्टेरुपासनाया उपदेशादित्यर्थः । 'मनोमयः प्राणशरीरो भारुपः'  
[ छा० ३ । १४ । २ । ] इति वत् । यद्वा तथा जाठररूपेण परमात्म-  
दृष्टेरुपदेशात् । 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' [ छा० ३ । १८ । १ ] इति  
वदित्यर्थः । ननु जाठर एव वैश्वानरो मुख्योऽस्तु तत्राऽऽह—असंभवा-  
दिति । मूर्धैव सुतेजा इत्यादिजाठरेऽसंभवादित्यर्थः । न च भूताग्नी  
तत्संभव इत्युत्तरसूत्रे वक्ष्यते । अपि च—पुरुषमपि चैनं वैश्वानरं वाज-  
सनेधिनोऽधीयते—'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्युरुषः स यो ह्येतमेवमग्निं

(टी०) शब्दादिभ्य इति । शब्दादिभ्यो वैश्वानराग्निशब्दा आदिशब्दाभ्युदयं  
गार्हपत्याग्नित्रेताकल्पनादिशब्दौ च तदाव्यश्व तेभ्यः । न केवलमेवम-  
न्तःप्रतिष्ठानादपि 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इत्यादिना पुरुषस्थानारवस्था-  
नाच्च न परमेश्वरो वैश्वानर इति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । तथा जाठरापरि-

(अ० न०) वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदं [ज्ञात० प० ब्रा० १० । ६ । १ । ११ ] इति परमेश्वरस्य सर्वात्मकत्वात्पुरुषत्वं पुरुषेऽन्तः— प्रतिष्ठितत्वं च सर्वमप्युपपद्यते । 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' इति सूत्रपाठेऽयमेवार्थः । न हि जाठरस्य पुरुषविधत्वं संभवति । परमात्मन- स्तृणासत्त्वं सर्वात्मकत्वादविरुद्धं यथा चैतच्छथा स्पष्टयिष्यामः संपत्ते- रिति सूत्रे ॥ २६ ॥

ननु छुमूर्धत्वादिकं प्रदर्शितमन्वावर्णाभ्यूताग्नीं संवपति तच्छरीराया देवताया वैश्वर्ययोगादित्यत आह—

अत एव न देवताभूतं च ॥ २७ ॥

देवताभूतं चैकवज्रावाहमयमपि न वैश्वानरः । कुतः । अत एवो- क्तेश्चो हेतुश्च । न हि विकारस्याग्नेर्विकारान्तरण्डुलोकाद्यात्मकत्वं संभ- वति । अग्निशरीराया देवताया अपि न संभवतीश्वराधीनैश्वर्यत्वात् । तस्मात्सर्वात्मकः परमात्मैव वैश्वानरः ॥ २७ ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

पूर्वं जाठरार्थकत्वमन्वाविशब्दस्याभ्युपेत्य जाठरोपाधिकं वा जाठ- रप्रतीकं वा ब्रह्मोपास्यमित्युक्तमिदानीं विनैवोपाध्यादिकल्पनां साक्षा-

(शं०) श्वागेन दृष्टद्युपदेशात्परमेश्वरज्ञानं जाठरे करणीयमिति कथनात् । अथवा जाठरवैश्वानरोपाधेः परमेश्वरस्य द्रष्टव्यत्वेनोपदेशो दृष्टद्युपवेशः कुत इत्यत आह—अन्यस्मिन्न्युमूर्धत्वादेरसंभवाद्सत्त्वात् । न केवलमे- तस्य पुरुषत्वस्यापि पुरुषमपि चैनमधीयते । अधीयते चैनमग्निं पुरुषं वाजसनेयिनः । अथमेवापि शेषस्याभ्युपेक्ष्यस्यार्थः । तथा हि पठन्ति— 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः' इति । ये तु पुरुषविधमपि चैनमधीयत इति सूत्रावयवं पठन्ति तेषामेवोऽर्थः । जाठरपरिग्रहे पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठा- तत्वं केवलं स्यात् । ननु पुरुषविधत्वपुरुषविधमपि चैनमधीयते वाजस- नेयिनः—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेति ॥ २६ ॥

मा भूजाठरोऽस्तु देवता भूतं वेत्यत आह—अत एवेति । अत एवो- क्तहेतुम्पो छुमूर्धत्वादिव्यो न देवताऽऽदित्यादिर्न च भूतं भीमोऽग्निः ॥ २७ ॥ साक्षादपीति । उक्तेश्चो जाठरप्रतीको जाठरोपाधिर्वा वैश्वानर

१ अ. 'करो जाठरीकत' । २ अ. 'देवात्' । ३ अ. 'यस्या' । ४ अ. 'परोऽन्तः प्र' । ५ अ. 'चैवैत' ।



(५० ब्र०) देव परमेश्वरोपासनपरिग्रहे विरोधाभावं जैमिनिराचार्यो मन्यते । पूर्वापरपर्यालोचनया वैश्वानरस्य ब्रह्मत्वे निर्णीते वैश्वानरशब्दोऽग्निशब्दश्च केनचिद्योगेन ब्रह्मपरतया नेतव्य इति तात्पर्यम् । विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः सर्वात्मकत्वात् । सर्वेषां नरः कर्तेति वा सर्वकारणत्वात् । विश्वे नरा नियम्या अस्येति वा सर्वेश्वरत्वात् । विश्वानर एव विश्वानरः । राक्षसवापसादिवत्सवार्थं तद्धितः । एवमग्निः परमात्मा । अग्निघातोर्गत्यर्थकस्य निग्रथयान्तस्याग्निरिति रूपम् । तत्राहुःपति गमयति जगतोऽग्रं जन्म प्रापयतीत्यग्निरग्रणीरुक्तः । एवं च परमात्मनोऽग्रणीत्वाद्गतिव्यति । तस्माद्देवश्चानरः परमात्मैवोपास्य इति सिद्धम् ॥ २८ ॥

ननु परमात्मपरिग्रहे कथं प्रादेशमात्रत्वश्रुतिरित्याशङ्क्य तां व्याख्यानुसारयते—

अभिव्यक्तेरित्याश्रयः ॥ २९ ॥

अनवच्छिन्नरूपापि परमात्मनः प्रादेशमात्रत्वमुपपद्यते । कथम् । अभिव्यक्तेः । उपासकानामनुग्रहाय परमेश्वरो हृदयाश्रुपासनास्थानेषु प्रादेशपरिमाणोऽभिव्यज्यते किलेत्याश्रय आचार्यो मन्यते ॥ २९ ॥

अनुस्मृतेर्चादरिः ॥ ३० ॥

प्रादेशमात्रहृत्पुण्डरीकस्थेन मनसाऽनुस्मृतेर्ध्वानात्प्रादेशमात्र इत्युच्य-

(दी०) उपास्य इत्युक्तम् । जैमिनिरुवाचार्यः साक्षादपि विनोऽपि प्रतीकोपाधी वैश्वानरस्येश्वरस्योपासनमविरुद्धं मन्यते ॥ २८ ॥

अस्मिन्पक्षे कथं प्रादेशमात्रश्रुतिरित्यत । आह—अभिव्यक्तेरिति । 'यस्त्वितमेवं प्रादेशमात्रम्' इति प्रादेशमात्रश्रुतिरितिमात्रस्यापीश्वरस्याविरुद्धेत्याश्रय आचार्यो मन्यते । कुतः—अभिव्यक्तेः । अतिमात्रोऽपीश्वरो भक्तानां प्रादेशमात्र एवाभिव्यज्यते प्रकटी भवति यतः प्रदेशेषु वा हृदयादिषूपलब्धिस्थानेषु विशेषेणाभिव्यज्यते । इतिशब्दः प्रकारवचनः ॥ २९ ॥

अनुस्मृतेरिति । चादरिराचार्यः प्रादेशमात्रे हृदये प्रतिष्ठितेन मनसा स्मरति इति यवप्रस्थान्यायेन प्रादेशमात्रश्रुतेरविरोधं मन्यते । प्रादेश-

( ३०६० ) त इति वाङ्मिराचार्यो मन्यते । यथा प्रत्यपरिगितास्तण्डुलाः प्रस्था इत्युच्यन्ते तद्वत् ॥ ३० ॥

संपत्तिरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ ३१ ॥

सूर्यप्रभृतिष्णुष्णान्ते प्रादेशमात्रे वैश्वानरस्यापासकवभतिपादनात्पर-  
मेश्वरस्य प्रादेशमात्रस्य संपन्नम् । ततः प्रादेशमात्रत्वसंपत्तेः प्रादेशमा-  
त्रत्वश्रुतिरूपपद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । अस्मिन्नर्थे श्रुत्यन्तरसं-  
वादान् सूर्यकारः—तथा हि दर्शयतीति । वैश्वानरस्य प्रादेशमात्रत्वं  
संपत्तिद्वारा श्रुत्यन्तरमपि दर्शयतीत्यर्थः । तथा हि समानप्रकरणं  
वाजसनेयिब्राह्मणं सूर्यभृतीन्पृथिवीपर्यन्तांश्रिलोक्यात्मनो वैश्वानरस्था-  
वयवानध्यात्मसुधांदिषु चतुष्कपर्यन्तेषु प्रसिद्धपुरुषावयवेषु संपादयत्व-  
रमात्मनो वैश्वानरस्य प्रादेशमात्रत्वसंपत्तिं दर्शयति । एवं च पुरुषाव-  
यवेषु वैश्वानरस्य संपादनात्पुरुषविद्यत्वम् । पुरुषावयवेषु संपादितस्य  
वैश्वानरस्वितेः पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वम् । यद्यपि कार्यकारणसंघातरूपस्य  
पुरुषस्य चायदवयवमनुदानात्तत्रके पुरुषे समुदायिनो सुधांदिषुचतुष्कान्त-  
रवावयवस्य शास्त्राया इव वक्षे विश्वमानत्वात्तच्छ्रितस्य वैश्वानरस्य पुरु-  
षस्यैवं स्वपदिश्यते तथाऽपि शास्त्रास्यपक्षिणो ब्रह्मनिष्ठत्वव्यपदेशव-  
दिति रहस्यम् । ब्राह्मणं पठन्ते—‘प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुभिरिदंता  
अभिसंपन्नास्तथा नु व एतान्ब्रह्मामि यथा प्रादेशमात्रमेवामिसंपाद-  
यिष्यामीति । स होवाच सूर्यान्मुषदिशन्नुवाचैष वा अतिष्ठा वैश्वानर  
इति । चक्षुरी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतंजा वैश्वानर इति । नासिके  
उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्भवतीत्मा वैश्वानर इति । मुखमाकाशमुपदिश-  
न्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति । मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै  
रपिर्वैश्वानर इति चतुष्कमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति’ ।  
[शत० ब्रा० १०६ । १ । १०११ ] इति । अस्यार्थः—परमेश्वरप्रादेश-

(दी०) मात्रत्वेन वाऽयमप्रादेशमात्रोऽप्यनुस्मरणीयः प्रादेशमात्रश्रुतेर-  
र्थदत्तव्य ॥ ३० ॥

संपत्तिरिति । संपत्तिनिमित्ता वा स्वात्प्रादेशमात्रश्रुतिरिति जैमिनि-  
राचार्यो मन्यते । कृतः । तथा हि समानप्रकरणे वाजसनेयिब्राह्मणे  
सुधांदिषुचतुष्कान्तेषु देहावयवेषु सूर्यभृतीन्वयवान्संपादयत्प्रादेशमात्रत्वं

(म०व०) मात्रमपि संपदा प्रादेशमात्रमिव सम्पद्विदितवन्तो देवास्तमेवे-  
 श्वरं पूर्वमभिसंपन्नास्ततो युष्मभ्यं तथा ह्युपभृतीनवयवान्यक्ष्यामि यथा  
 प्रादेशपरिमाणं वैश्वानरं संपाद्विष्यामीति प्राचीनशालाङ्गीन्यत्वश्वपतिः  
 कैकेपो राजोवाच किं कूर्वांसित्युक्ते स्वस्य मूर्धानमुपदिशन्कराश्रेण  
 दर्शयन्नेष वै भूलोकादीनतीत्य तिष्ठतीत्यतिष्ठा द्यौर्वैश्वानरस्यावयव  
 इति प्रसिद्धमनुष्यमूर्धनि अधिदैवं यो मूर्धा ह्युलोकस्तद्दृष्टिः कर्तव्येत्यु-  
 वाच । एवमेव स्वस्य चक्षुषी दर्शयन्नुतेजाः सूर्वो वैश्वानरस्य चक्षु-  
 रिति प्रसिद्धचक्षुषोर्वैश्वानरस्वाधिदैवं यदादित्याख्यं चक्षुस्तद्दृष्टिः कर्त-  
 व्येत्युवाच । एवमग्रेऽपि स्वावयवेषु वैश्वानरावयववहुष्टिरिति द्रष्टव्यम् ।  
 पृथग्ब्रह्मात्मा वायुर्वैश्वानरस्य प्राणो मुखं स्वमुखान्वाचिच्छन्नं पद्मस्त-  
 रिमद्गन्धात्मनमसि योऽधिदैवं बहूललाकाशो वैश्वानरस्य वेहृमध्यादयव  
 इति तद्दृष्टिरित्युवाचेत्यर्थः । मुख्याः स्वमुखसंभवास्तास्वप्नु वैश्वानरस्य  
 चस्तिभूता रविपद्वाच्या या आपस्तद्दृष्टिरित्युवाच । एवं स्वक्षुत्केऽध-  
 रमुखफलके प्रतिष्ठापद्वाच्या वैश्वानरपाद्भूता पृथिवी द्रष्टव्येति ॥३१॥

आमनन्ति चैनमास्मिन् ॥ ३२ ॥

अस्मिन्प्रादेशपरिमाणे मूर्धञ्जुकान्तराल एनं परमेश्वरं जाबाला  
 आमनन्ति अतोऽपि प्रादेशमात्रश्रुतिरूपपक्षेत्यर्थः । एवमामनन्ति—‘य  
 एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति । सोऽविमुक्तः  
 कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै  
 वरणा का वै नासी ’ [जाबालोप०खण्ड०२] इति । सर्वाणीन्द्रियकृतानि  
 पापानि धारयति नाशयति वरणा नासीति । ‘कतमञ्चास्य स्थानं  
 भवतीति । भ्रुवोर्ग्राणस्य च यः संधिः स एष ह्युलोकस्य च परस्य च  
 संधिर्भवति ’ [ जाचा० २ ] इति । अस्वार्थः—य एष प्रसिद्धः परमा-  
 रमाऽनन्तोऽव्यक्तः स्वरूपेणानभिव्यक्तो दुर्बिज्ञेय इति यावत् । तं कथं  
 विजानीयादित्यत्रिप्रश्ने याज्ञवल्क्यस्वोत्तरम्—स इति । स हि पर-

(श्री०) षत्तिं परमेश्वरस्व दर्शयति ‘प्रादेशमात्रमिह वै देवाः सुवि-  
 दिताः’ इत्यादिना ॥ ३१ ॥

ननु तत्राविद्यमाने परमेश्वरे कथं संपत्तिरपीत्यत आह—आमन-  
 न्तीति । आमनन्ति चैनं परमेश्वरमस्मिन्मूर्धाचिबुकान्तराले जाबालाः

(४०५०)मात्मा जीवात्मनि अदिष्टुक्ते षडद्वारतः संसारिणि प्रतिष्ठितः पर-  
स्वैव प्रत्यक्षादित्यर्थः । पुनरद्विरपुण्ड्रश्च—त इति । याज्ञवल्क्यो दूते-  
वरणावायामिति । वरणाद्विष्णुवार्थं ददुम्यदे निर्वक्ति—सर्वाणीति । सर्वावि-  
न्द्रियकुत्सितान्दोषान्वारयति तेन वरणा नृवायित्यर्थः । तान्दोषान्नाश-  
यतीति नासीति । तथा च नियन्त्रकीवद्द्वारा नियन्तुरीश्वरस्याधिष्ठानत्वा-  
द्नासाद्युक्तोः पाप्मनाशकत्वमिति सिद्धम् । तत्रापि स्थानविशेषजिज्ञा-  
सायां वृच्छति—रुतमचेति । पूर्वोक्तमश्वत्थवार्थं स्पष्टयति—भुवंप्रैरिति ।  
तदेव स्थानमित्यर्थः । स संधिर्लुंकात्स्व स्वर्गस्य परस्य च ब्रह्मलो-  
कस्य संधित्वेन ध्येय इत्याह—स इति । तस्मात्परमेश्वरोपास्तिपरं वैश्वा-  
नरवाक्यमिति सिद्धम् ॥ ६२ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्माद्युतवर्षिण्यां प्रथमाध्यायस्या-  
स्पष्टब्रह्मलिङ्गाख्यो द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

( नृत्रात्महिरण्यगर्भप्रदानभोक्तृनीश्वराणां मध्ये केवलमीश्वरस्यैव  
सर्वाधिष्ठानमूलत्वम्, ( अधि० १ )

शुभावायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

एवं त्रैलोक्यात्मा वैश्वानरः परमात्मैत्युक्तम् । तर्हि त्रैलोक्यायतन-  
मन्यद्वित्याशङ्क्य समाधानाद्वाक्षेपसंगतिः । यद्वैषक्यमस्यसाधारणशब्दस्य  
वाक्यशेषस्यलिङ्गेन शुभूर्धत्वादिना महापरत्ववदिहात्पुण्यक्रमस्यसाधार-  
णायतनत्वस्य वाक्यशेषस्यहेतुस्यत्या परिच्छिन्नप्रधानादीं सेतुशब्दाहं  
व्यवस्थाऽस्तिवति ह्यहान्तसंगतिः । प्रापशो निर्दिशेते ब्रह्माणि अस्मिन्पादे  
वाक्यानां समन्वयप्रतिपदनाच्छ्रुत्यध्यापपादसंगतयो बोध्याः । अत्र

(श्री०) 'य एषोऽनन्तः' इत्युपक्रमे 'वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठितः'  
इत्यादिना । अकारः सर्वगतस्वात्रात्यन्तासत्त्वस्य शङ्काया अनु-  
दपमाह ॥ ६२ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

तृतीये पादेऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि वाक्यानि निर्दिशेपश्चुराणि योग-  
विषयाणि विचार्यन्ते । अत्र पादे त्रयोदशाधिकरणानि तत्रेदं सप्त-  
सुत्रमाद्यम्—सुभ्वेति द्यौश्च भूश्च शुभुवी शुभुवावादी यस्य तद्विदं सुभवादि

(अ०१००) पूर्ध्वपक्षे प्रधानाद्युपासितः फलं सिद्धान्ते ब्रह्मप्रमितिरिति विवेकः । आर्थवर्णे भूयते—‘यस्मिन्द्योः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः, सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचां विमुञ्चयामृतस्यप सेतुः’ [ सु० २ । २ । ५ ] इति । अस्यार्थः—लोकत्रयाधिष्ठानत्वोक्त्या पञ्चीकृतभूताधिष्ठानत्वमाह—यस्मिन्निति । कार्यब्रह्माक्षयसमष्ट्यन्तःकर-पास्याऽऽत्मन्येव कल्पितत्वमाह—मन इति । इन्द्रियसमष्टिदेवतानां तत्रैव कल्पितत्वं सूचयति—सहेति । प्राणैरान्द्रियाधिष्ठानदेवैः । चकारंण मृतसुहृन्माविद्याजीवान्तर्यामिणामध्यस्तत्वं ध्वानितम् । सविलासां प्रकृतिं मायाख्यां क्षुत्क्षुक्तकर्माग्निना विलाप्य तमेवाधिष्ठानभूतमद्वयमात्मानं विजानथेति क्षुम्क्षुन्वत्याह माताश्रुतिः—तमेवेति । वाच्यवाचक-कल्पनानामैक्यसाक्षात्काराद्बोधमाहअन्या इति । एष साक्षात्कारः सविलासाविद्यानिवृत्तिलक्षणाभूतत्वस्य सेतुर्ध्ववस्थापक इत्याह—अमृ-तस्येति । विजानथेत्यनेनोक्तः साक्षात्कार एव इत्युच्यते । अमृतस्यामृ-तत्वस्य । अत्र द्युम्भादीनामोतत्वश्रवणात्किंचिदापतनं प्रतीयते तर्किं प्रधानमृत जीव आहोस्विद्ब्रह्मेति संशयः । तत्र प्रधानादिरिति प्राप्ते ह्रमः—‘द्युम्भाद्यापतनम् । सौश्च मूश्च द्युमुचौ द्युमुवावादी यस्य द्यौः पृथिव्य-न्तरिक्षमित्येवमात्मकस्य तद्द्युम्भादि तदापतनं ब्रह्मैव । कुतः । स्वश-ब्दात् । स्वस्य परब्रह्मणो वाचको य आत्मशब्दस्तस्मादित्यर्थः । तमेवैकं जानथ आत्मानमित्यात्मशब्दश्रवणादिति ॥ १ ॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

किंच द्युम्भाद्यापतनं ब्रह्मैव । कुतः । मुक्तेरुपसृप्यं मुक्तोपसृप्यं भाव-प्रधानो निर्देशः । मुक्तोपसृप्यत्वस्य व्यपदेशादित्यर्थः । यद्वा मुक्तेरुप-सृप्यं प्राप्यं यत्तस्यैवात्र निर्देशादित्यर्थः । मुक्तोपसृप्यत्वव्यपदेशादिति पाठे न कश्चित्पासः ।

(दी०) जगत्तस्याऽऽपतनमाश्रयः । ‘यस्मिन्द्योः पृथिवी चान्तरिक्षम्’ इत्यस्मिन्मन्त्रे प्रतिपाद्यं ब्रह्म । कुतः । स्वशब्दात् । स्वस्याऽऽत्मनो वाचकः शब्दः स्वशब्दः ‘तमेवैकं जानथ आत्मानम्’ इत्यत्राऽऽत्म-शब्दस्तस्मात् ॥ १ ॥

ननु प्रधानमेव कुतो न स्यादित्यत आह—मुक्तेति । मुक्ता अविद्या-तत्कार्ष्ण्यस्यास्तेरुपसृप्यं गन्तव्यं ब्रह्म यस्यस्य । तथाहि ‘तथा विद्वाञ्जा-

(१०१०) 'विद्यते हृदयप्रस्थिचिह्नचमते गर्भदेहायाः ।

क्षीयन्ते चाप्य कार्माणि तस्मिन्नेव पराध्वे' [मु० २ । २ । ८ ] तथा विद्वानामरूपाद्ब्रह्मकः परात्परं वृद्धवसुदेवि दिव्यम्' । [मु० ३ । २ । ८ ] इति । इदं च मुक्तोपसृप्यत्वं ब्रह्मण एव ध्रुवन्तरे प्रसिद्धम्—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अयं गर्भोऽसृजो भवत्यत्र ब्रह्म समसृजते' [ वृ० ४ । ४ । ७ ] इति । अपि च—'तमेदेकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुक्तम्' इति वाग्विमोक्तपूर्वकं विज्ञेयत्वं ब्रह्मलिङ्गं ध्रुवन्तरे तथा वृद्धावात् । 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुभवापाद्ब्रह्मज्ञानान्याचो विगडापनं हि तत्' [ वृ० ४ । ४ । २१ ] इति । हृदयप्रस्थिमिथ्याज्ञानरागद्वेषादितद्रहितो भूत्वा छिन्नसंज्ञयः सन्धीयकत्वयो यतस्य हृदये परमात्मा प्रकाशत इत्यर्थः । वृष्ट इति निमित्तसमर्प । तद्दर्शनार्थमित्यर्थः । यद्वा यथाधुत एवार्थः । यथा नद्यः स्वनामरूपाभ्यां विनिर्मुक्ताः समुद्रं प्राप्य तवात्मना तिष्ठन्ति तथा विद्वानपि साक्षात्कृतब्रह्म नामरूपकारणादधिष्ठानतो विमुक्तः पराद्वेषाकृतारूपादज्ञानात्परमस्मृदानर्थं पुरुषं पूर्वं दिव्यमखण्डं विद्वानुमात्स्येनाऽऽजोतीति मुक्तोपसृप्यत्ववाक्यार्थः । यदा ज्ञानावस्थावामस्य विदुषो हृदि स्थिताः कामाद्व्यस्तन्मूलाऽविद्या च निवर्तते । पुनर्जन्मसंपादककर्माभावावस्थां यजुमथेति । धीरो विवेकज्ञानी विवेकज्ञानमत्र पदार्थज्ञानम् । प्रज्ञामभेदलक्षणवाक्यार्थज्ञानम् । वाक्यार्थज्ञानार्थत्वेन कर्मकाण्डवैमुख्यं मुमुक्षुणा कार्यमित्पाह—'नानुभवायादिति । अनात्मार्थज्ञानाध्ययनफलमाह—वाच इति । वाच इत्येतदकण्ठतात्वादीनामदस्थानानामुपलक्षणम् । वागादिशोपणमेव ब्रह्मस्य चिन्तनफलमित्यर्थः । तस्माद्ब्रह्मवाद्यापतनं परं ब्रह्म ॥ २ ॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

अनुमीयत इत्यनुमानम् । साक्ष्यपरिकल्पितं प्रधानं न सृष्ट्याद्यायतनम् । कस्मात् । अतच्छब्दात् । तस्य प्रधानस्यानुमानस्य शब्दस्त-

(१०१) मरूपाद्ब्रह्मकः' इत्यादिनाऽस्मिन्धकरणे, व्यवदेशाद्विशोपणोपदेशोऽभिधानं तस्मात् ॥ २ ॥

नन्वस्तु मुक्तोपसृप्यं ब्रह्म जगत्कारणं च प्रधानं स्यादित्यत आह—नानुमानमिति । अनुमीयत इत्यनुमानं प्रधानं नात्र । कुतः । अतच्छ-

(प्र० १०) च्छब्दो न सोऽतच्छब्दस्तस्मात् । प्रधानप्रतिपादकशब्दस्याश्रवणादित्यर्थः । प्रत्युत तद्विरोधिशब्दा एव 'यः सर्वज्ञः सर्वविदित्वाद्यो वर्तन्त इति भावः ॥ ३ ॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

प्राणभृज्जीवोऽपि न ह्युभवाद्यापतनम् । कुतः । अतच्छब्दादेव । यद्यप्यात्मशब्दः साधारणस्तथाऽपि जीवस्य सर्वज्ञत्वं ह्युभवाद्यापतनत्वं चाऽऽश्नस्येन न संभवतीत्यात्मशब्दस्यातच्छब्दत्वमेव ॥ ४ ॥

जीवानिरासे हेत्वन्तरमाह—

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

न प्राणभृद्दुभवाद्यापतनं कुतो भेदव्यपदेशात् । 'तमेवैकं जानथ' इति ज्ञातृज्ञेयभावेन व्यपदेशादित्यर्थः । जीवस्य मुमुक्षुत्वेन ज्ञातृत्वात्परिशेषात्पक्षेण ह्युभवाद्यापतनं ब्रह्मेति ॥ ५ ॥

तत्रैव हेत्वन्तरमाह—

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम् ।' [मु० १ । १ । ७] इत्युपक्रमत्परमात्मन एवेदं प्रकरणं न हि जीवज्ञानात्सर्वज्ञानं भवति । तस्मात्प्रकरणादपि न प्राणभृदित्यर्थः ॥ ६ ॥

(दी०) व्दात् । तस्य शब्दस्तच्छब्दो न तच्छब्दोऽतच्छब्दस्तस्मात् । प्रधानप्रतिपादकशब्दाभावादित्यर्थः ॥ ३ ॥

चेतनशब्ददर्शनादस्तु तर्हि जीव इत्यत आह—प्राणभृदिति । चकारोऽनन्तरहेतोरनुकर्षणार्थः । प्राणान्धिमर्तीति प्राणभृज्जीवः सोऽपि न । कुतः । 'यः सर्वज्ञः' इत्यादेरतच्छब्दात् ॥ ४ ॥

जीवब्रह्मणोरभेदाज्जीव एवात्र स्यादित्यत आह—अमेवेति । भेदस्य 'तमेवैकं जानथ' इति ज्ञेयज्ञातृभावेन व्यपदेशात् ॥ ५ ॥

जीवब्रह्मणोर्भेदपक्षे कुतो ब्रह्मैवास्याऽऽशय इत्यत आह—प्रकरणादिति । ब्रह्मण इति वाक्यशेषः । 'कस्मिन्नु' इत्युपक्रम्यैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानादिकं श्रूयमाणं ब्रह्मण्येवोपपन्नमित्यर्थः ॥ ६ ॥

(अ०६०।) अपि च—

स्थित्यदनायां च ॥ ७ ॥

न प्राणभृद्ब्रह्मवाद्यापतनम् । कृतः । स्थित्यदनाभ्याम् । स्थितिश्चा-  
द्वनं च ताभ्यामिति यज्जर्माद्विद्यपतनम् । ब्रह्मवाद्यापतनं प्रकृत्य 'द्वा  
सुपर्णा' इति । जीवस्वादनं परमात्मनः स्थितिरिति द्वे निर्दिश्येते ।  
'तपोरन्यः पिप्पलं स्वाह्वति' इत्यद्वयम् । 'अनक्षत्रन्वो अभिचाक-  
शीति' इत्थीदासीत्येन स्थितिर्निर्दिश्यते । इदं च ब्रह्मवाद्यापतनस्य  
ब्रह्मते षट्ते नान्यथेति । तस्माद्ब्रह्मवाद्यापतनं परं ब्रह्म ज्ञेयमिति  
सिद्धम् ॥ ७ ॥

(प्राणपेशशोर्मध्ये पेशस्यैव सत्यज्ञघ्देन श्रेष्ठत्वम्, (अधि० २)

भूमा संप्रसादाद्ब्रह्मपदेशान् ॥ ८ ॥

पूर्वनात्मज्ञानाद्ब्रह्मवाद्यापतनं ब्रह्मेत्युक्तं तदनुक्तम् । 'तरति शोक-  
मात्मवित्' [ छा० ७।१।३ ] इत्यत्रात्रह्यप्यव्यात्मज्ञानाद्ब्रह्मपेशादि-  
त्यादौपसंगत्याऽऽन्याऽऽरम्भः । पूर्वपक्षे प्राणोपास्तिः फलं सिद्धान्ते  
ब्रह्मप्रमितिरेति । एवमेव निर्दिशेषवाक्यविचारे पूर्वपक्षे चस्य कस्य  
चित्तुपास्तिः सिद्धान्ते ब्रह्मप्रमितिरेवेति बोध्यम् । छान्दोग्ये श्रूयते—'सुतं  
ह्येव मे भगवद्ब्रह्मेशस्यस्तरति शोकमात्मविदिति । सोऽहं भगवः  
शोचामि तं मा भगवाऽशोकस्यै परं पारं तारयतु' [ छा० ७।१।  
३ ] इति । नारदेन वृष्टः सनत्कुमारो नाम ब्रह्मेत्युपविदेशः । पुनर्नारदः—  
'अस्मि भगवां नान्नो भूयः' [ छा० ७।१।५ ] इति पृथच्छ ।  
तस्योत्तरम्—'वाग्वाव नान्नो भूपती' [ छा० ७।२।१ ] इति ।

(इ०।) ननु प्रकरणादिना जगत्कारणमेव प्रतीयते नेम्बर इत्यत आह—  
स्थितौति । स्थितिरवस्थितिरज्ञानमिति यावत् । 'अनक्षत्रन्वो अभि-  
चाकशीति' इति श्रुतेः । अद्वनं भक्षणम् । 'पिप्पलं स्वाह्वति' इति  
श्रुतेः । स्थितिश्चाद्वनं चाऽऽभ्यामीश्वरो जीवाद्यः सिद्धः । नचेम्बरा-  
द्वन्वत्र जगत्कारणत्वमिति चकारार्थः । कृत्वा चिन्तेयम् ॥ ७ ॥

पूर्वाधिकरण आत्मज्ञानाद्ब्रह्मवाद्यापतनं ब्रह्मेत्युक्तं तत्राऽऽत्मज्ञानः  
प्राणं नैकान्त इत्याक्षिप्य समाचक्षे—भूमेति । ब्रह्मोर्मावो भूमा । 'यो

१ 'एव' अस्मिन्नेवमः अस्मिन्नेवमः । २ च. वरतापेनेयम् । ३ च. 'चि-  
न्तेयम्' ।



(न०१)तथा 'अस्ति भगवो वाचो भूयः' [छा० ७।२।२] इति प्रश्ने 'मनो वाच वाचो भूयः [छा० ७।३।१] इत्युत्तरम् । एवं प्राणपर्यन्तं भूयः प्रश्नोत्तरे दृश्यते । प्राणोपदेशानन्तरं च प्रश्नं विनैवेदं श्रूयते—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' [छा० ७।१६।१] इति । 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति [छा० ७।२३।१] यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्वच्छृणोत्यन्वद्विजानाति तदल्पम्' छा० ७।२४।१] इत्यादि । अस्वार्थः—नास्ये सुखमस्तीति भूमैव सुखम् । तस्मान्निरतिशयं सुखमिच्छना भूमैव विजिज्ञासितव्यो विशेषेण ज्ञातुमेष्टव्य इति सनत्कुमारोक्तौ सुमुमुक्षुर्नारदस्तदुपश्रुत्य भगवन्भूमानमेव विशेषेण ज्ञातुमिच्छामीत्याह—भूमानं भगव इति । भूज्ञो लक्षणमाह—यचेति । ध्ययहारातीतं पूर्णं वस्त्वेव भूमेत्यर्थः । लक्षणं व्यतिरेकमुखेण स्पष्टवित्तुं परिच्छिन्नलक्षणमाह—अथेति । एवं स्थिते संशयः किं प्राणो भूमेति परमात्मेति । 'प्राणो वा आज्ञाया भूयान्' [छा० ७।१५।१] इति पूर्वं प्राणस्य संनिधानात्प्राणो भूमेति युक्तम् । न च 'तरति शोकमात्मवित्' इति प्रश्नवाक्य आत्मोपदेशे प्राणात्मप्रकरणात्संनिधेर्दृष्टव्यमिति वाच्यम् । नाम ब्रह्मेत्युपास्त्वेति समाधानवाक्ये नामादेरब्रह्मण एवोपदेशेन प्रश्नस्थात्मज्ञावस्यापि नामादिपरत्वेनानात्मपरत्वादात्मप्रकरणात्सिद्धेः । प्रश्नोत्तरयोरेकार्थत्वनिश्चयमाह । तरमात्प्राणो भूमेति प्राप्ते भूमः—भूमा परमात्मैव । कुतः । संपत्सादादृष्ट्युपदेशात् । सम्पत्प्रतीकत्वस्यैवस्वीकारमिति संपत्सादः सुषुप्तवस्था । तस्यां चावस्थायां प्राणो जागर्ति । संपत्सादशब्देन प्राण उच्यते । प्राणःसुषुप्तं भूम्न उपदेशादित्यर्थः । प्राणोपदेशानन्तरम्—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति तु शब्देन प्राणवादास्यानतिवादत्वमुक्त्वा सत्यशब्दवाच्यपरमात्मवादास्यातिवादत्वं ह्यवन्भूमानमुपदिदेश । अतो भूज्ञः प्राणादूर्ध्वमुपदेश इति गम्यते । किं च तरति शोकमात्मविदिति आत्मप्रकरणेऽज्ञाया परमात्मा । न च प्रकरणात्सिद्धिः । आत्मोपदेशार्थं नामादुपदेशेन नाम ब्रह्मेत्युपास्त्वेत्यादेरतरति शोकमात्मविदिति प्रश्नोत्तरत्वासिद्धेः । अतो भूमा परमात्मा नामादि-

(दी०)थै भूमा' इत्यादौ परमात्मैव स्वीकरणीयः । कुतः । संपत्सादादृष्ट्युपदेशात् । सम्पत्प्रतीकत्वस्यामवस्थापामिति सुषुप्तिः संपत्सादस्तथा

[१०७=१५०-१०] ब्रह्मानुतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । ८१

( ३०९० । ) प्राणान्तमतीत्य सत्यशब्दवाच्यात्मोत्कृष्ट इति यो वदति स एषोऽतिवादीति छुत्रर्थः ॥ ८ ॥

धर्मापदेशश्च ॥ ९ ॥

किं च यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिनोक्तानां सर्वव्यवहारामावादिधर्माणां परमात्मन्येवोपपत्तेः परमार्थमय भूमा । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मेवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' [ वृ० ४ । ५ । १५ ] इत्यादिसुत्यन्तरे सर्वव्यवहारामावस्य परमात्मधर्मत्वेनावगतत्वात् । 'यो धं भूमा तत्सुखं नात्वे सुखमस्ति भूमिव सुखम्' इति दुःखसहितसुखनिराकरणेन भूमाः सुखत्वं दर्शितं ब्रह्मधर्मः । एवं 'यो धं भूमा तदद्भुतम्' इति श्रूयमाणमद्भुतत्वं ब्रह्मधर्मः । 'अतोऽन्यदात्तम्' [ वृ० ३ । ४ । २ ] इति श्रुतेः । आर्तमार्तिमद्भिनातीति यावत् । एवं स्वे महिस्त्रि प्रतिद्वितास्य सर्वगतत्वं सर्वात्मकत्वं चैते धर्मा ब्रह्मण्येवोपपद्यन्ते । तस्मात्प्राणो नोपास्यः किंतु भूमा परमात्मा ज्ञेय इति सिद्धम् ॥ ९ ॥

(प्रणवब्रह्मणामध्ये ब्रह्मण एवाक्षरशब्दवाच्यत्वम्, अधि० ३ )

अक्षरमभ्यरान्तधृतेः ॥ १० ॥

पूर्वं सत्यशब्दस्य ब्रह्मणि रुद्रत्वाद्भूमा ब्रह्मेत्युक्ते तद्भद्राप्यक्षरशब्दस्य षण्णु रुद्रत्वाद्भ्रं एवाक्षरमस्त्विति हृदान्तसंगतिः । ओंकाररूपोपास्तिसंज्ञज्ञानमित्युभयत्रफलम् । बृहदारण्यके श्रूयते—'कस्मिन्नसत्त्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति स होवाचेतद्दे तदक्षरं गार्भि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु' [ वृ० ३ । ८ । ७ । ८ ] इत्यादि । अस्थार्थः—यद्गुर्ध्वं दिवो यदधस्तात्पृथिव्या ये चोमे द्यावापृथिव्या यदन्तरिक्षं

(दी०) तस्यामवस्थायां स्थितः प्राणो लक्ष्यते । संसत्तादाद्धि उपरि एष तित्यादिनोपदेशाद्भिधानात् ॥ ८ ॥

ननु 'प्राणो ह पिता' इत्यादिना प्राणस्यापि भूमा श्रुत इत्यत आह—धर्मेति । धर्माणां 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति' इत्यादिनां तस्मिन्परमात्मन्युपपत्तेश्च । चकारस्तेषां प्राणेऽनुपपत्तिं चाऽऽह ॥ ९ ॥

पूर्वाधिकरणे प्राणसार्वात्म्यं गौणमित्युक्तम् । तत्राब्रह्मणोऽपि प्रणवस्य सार्वात्म्यदर्शनमित्याक्षिप्य समाधत्ते—अभ्युत इत्यक्षरं न क्षर-

(ब०ब्र०)यद्भूतं भवद्भविष्यच्च तत्सर्वं कस्मिन्नोतं प्रोतं चेति गार्गी प्रश्ने क्लृते याज्ञवल्क्येनाऽऽकाशे तत्सर्वमोतं प्रोतं चेति निरस्ते गार्गी पुनरष्ट-  
च्छब्दाकाशोऽव्याकृताख्यः कस्मिन्नोतप्रोतत्वेन तिष्ठतीति तत्र संशयः ।  
किमक्षरशब्देन वर्ण उच्यत उत ब्रह्मेति । अक्षरसमाम्नाय इत्यादावक्षर-  
शब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वाद्गर्ण एवाक्षरशब्दवाच्य इति प्राप्ते ब्रूमः—अक्षरं  
ब्रह्मैव । कुतः । अम्बरान्तधृतेः । पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजा-  
तस्य धारणादित्यर्थः । विषयवाक्यार्थकथनसमयेऽम्बरान्तधारणं प्रति-  
पादितम् ॥ १० ॥

ननु अम्बरान्तधृतिः प्रधानेऽपि संभवतीत्यत आह—

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

सा च धृतिः परमेश्वरस्यैव कर्म नान्यस्वाचेतनस्य । कुतः । प्रशास-  
नात् । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृता  
तिष्ठतः' [ बृ० ३ । ८ । ९ ] इत्यादिना प्रशासनश्रवणादित्यर्थः ।  
प्रशासनं नामाऽऽज्ञा सा च चेतनस्यैव नाचेतनस्य प्रधानस्येति ।  
तस्मादक्षरं ब्रह्म ॥ ११ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

इतश्च परमात्मैवाक्षरशब्दवाच्यस्तस्यैश्वरस्य प्रशासनं कर्म । कुतः ।  
अन्यभावव्यावृत्तेः । अन्यस्य प्रधानादेर्भावो धर्मोऽन्यभावस्तद्यावृत्ते-  
स्तद्विपरीतधर्मश्रवणादित्यर्थः । 'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं  
श्रोत्रमते मन्त्रविज्ञातं विज्ञातु' [ बृ० ३ । ८ । ११ ] इति द्रष्टृत्वाद्दो  
नाचेतने संभवन्ति तस्माद्द्रष्टृत्वादिसमानाधिकरणप्रशासनवान्परमात्मै-  
वाक्षरम् । 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टुं नान्यदतोऽस्ति श्रोतुं नान्यदतोऽस्ति

(सि०) तीति वा । 'एतद्वै तदक्षरम्' इत्याद्युक्तं ब्रह्मैव । कुतः । अम्बरान्त-  
धृतेः । अम्बरमाकाशमव्याकृतं तदन्ते चस्य तदिदमम्बरान्तं तस्य धृति-  
धारणं तस्याः ॥ १० ॥

धृतिरप्यचेतनस्य किं न स्यादित्यत आह—सा चेति । सा च धृतिः  
परमेश्वरस्यैव कर्म । कुतः । प्रशासनात् । प्रकर्षणं शासनं प्रशासनम् ।  
'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी' इत्यादिश्रुतेस्तस्मात् ॥ ११ ॥

अस्तु प्रशासनमप्यौषचारिकमित्यत आह—अन्येति । अन्यस्याचेत-  
नस्य भावोऽचेतनत्वं तस्माद्द्रष्टृत्वमिति पृथक्करणम् । 'अक्षरस्य प्रशा-

(न०५०)मन्तु नान्यदतोऽस्ति विज्ञातुं इति द्रष्टव्यन्तरनिषेधाच्च न जीवोऽ-  
प्यक्षरमिति । तस्मादक्षरं ब्रह्म ज्ञेयमिति सिद्धम् ॥ १२ ॥

( परापरब्रह्मणोर्मध्ये परब्रह्मण एव त्रिमात्रेण प्रणवेन ध्येयत्वम्,  
अधि० ५ )

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥ १३ ॥

पूर्वमोकारस्य पूर्वपक्षत्वेन वृद्धौ सान्निध्यात्तस्मिन्मोकारे ध्यातव्यमिदु  
निरूप्यत इति वृद्धिसान्निध्यसंगतिः । यद्वा पूर्वमक्षरशब्दस्य वर्णे  
रुदव्यापि जगद्वृत्तिलक्षणलिङ्गेन ब्रह्मणि न क्षरतीति व्युत्पत्त्याऽचलत्वा-  
दनादिवाच्यापित्वाद्वा योगवृत्तिराश्रिता तद्ब्रह्मिहापि देशपारिच्छिन्नप-  
ल्लभ्यतिलिङ्गेन परशब्दस्याऽऽपक्षिकपरत्वविशिष्टे हिरण्यगर्भे वृत्तिरस्त्विति  
वृष्टान्तसंगतिः । कार्यब्रह्मण उपास्तिः पूर्वपक्षफले सिद्धान्ते परब्रह्मो-  
पास्तिरिति भेदः । आद्यवर्णे भूवते—‘ एतद्दे सत्यकाम परं चापरं च  
ब्रह्म यद्वोकारस्तस्माद्ब्रह्मिन्नेतेनेवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति ’ [ ४०५ । २ ]  
इति प्रकृत्य ‘ यः पुनरेतं त्रिमात्रेणामित्येतेनेवाक्षरेण परं पुरुषमभि-  
ध्याधीत ’ [ ४०५ । ५ ] इत्यादि । अस्यार्थः—विष्णुलादो नामाऽऽचार्यः  
सत्यकामेन पृष्टो ध्याचष्टे हे सत्यकाम परं निर्विशेषमपरं च कार्यं ब्रह्म  
यत्तदेतद्देश योऽयमोकारः स हि प्रतिमेव विष्णोस्तस्य प्रतीकस्तस्मात्प्र-  
णवं ब्रह्मात्मना चिद्ब्रह्मेतेमोकारध्यानायतनेन प्राप्तिसाधनेन परापरयो-  
रेकतरमन्वेति यथाध्याने एकमात्रे त्रिमात्रे वा हिरण्यगर्भोपास्तिं कुर्वा-  
दिति दर्शयित्वा ब्रवीति—यः पुनरोमित्येतदक्षरं त्रिमात्रमिति । तृतीया  
द्वितीयात्वेन नेया ब्रह्मोकाराभेदोपक्रमात् । तथाविधमक्षरं सूर्यान्तस्थं  
परं ध्यावीति । स उपासकः सूर्यं प्राप्ते साममिन्नल्लोकं प्रति नीयत  
इति । अत्र संशयः । किमपरं ब्रह्म ध्यातव्यमुपदिश्यते किं वा परं  
ब्रह्मेति । अपरमिति प्राप्ते ब्रह्मः—स ध्यातव्यः परमात्मैव । कुतः  
ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् । वाक्यशेषे ध्यातव्यस्येक्षतिकर्मत्वेन व्यपदेशात् य

(४०)सितुरिदं दृष्टम् इत्यादिना । चकार उपचारनिवारणार्थः ॥ १५०-  
पूर्वाधिकरणेऽक्षरशब्दवाच्यं ब्रह्म प्रशासनादिशुक्लम् । इदा—  
‘ तदपरमेव ब्रह्म ध्याधीत ’ इति ब्रह्मलोकफलदर्शनादिति वृत्तिशब्द-  
निधानादाक्षिप्य समाधत्ते—ईक्षतीति । ‘ परं पुरुषमभिध्याधीत भेत् ’

(ब०१०)त्यर्थः । 'स एतस्मात्पराज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'  
[ प्र० ५ । ५ ] इति । स ध्याता । जीवघनशब्देन ब्रह्मलोक उच्यते ।  
सकलजीवामिमामिहिरण्यगर्भाधारत्वात् । तथा च ब्रह्मलोकाहोका-  
न्तरापेक्षया परात्परं पुरुषं परमात्मानमीक्षते साक्षात्करोतीत्यर्थः । ईक्ष-  
तिपदार्थस्य दर्शनस्य लोके यथार्थविषयकत्वाद्यथार्थस्वरूपपरमात्मैवे-  
क्षतिकर्मैति तत्समानविषयकध्यानस्यापि परमात्मैव विषयः । ध्याने-  
क्षणयोरैकविषयत्वमियमात् । 'यथा पादोदरस्त्वचा निर्मुच्यत एवं ह  
वे स पाप्मना विनिर्मुच्यते' इति पापविनिर्मोकफलवचनं परमात्मानं  
ध्येयं सूचयति । पादोदरः सर्पः । तस्मात्कममुक्त्यर्थमोकारे ध्यातव्यः  
परमात्मेति सिद्धम् ॥ १३ ॥

(दहराकाशत्वेन प्रतीयमानानां विषयविवब्रह्मणां मध्ये ब्रह्मण एव  
तदाकाशवाच्यत्वम्, अधि०५ ।)

दहर उत्तरेऽप्यः ॥ १४ ॥

पूर्वं परमपुरुषशब्दस्य ब्रह्मणि रुढत्वाद्ब्रह्मोपास्यमित्युक्तं भवति तद्द-  
विहायकाकाशशब्दस्य मूताकाशे रुढत्वात्तस्यैवोपास्यत्वमस्त्विति ह्येता-  
न्तसंगतिः । पूर्वपक्ष आकाशाद्युपासितः फलं सिद्धान्ते परोपासित-  
द्वारा प्रमितिरिति च्छान्दोग्ये भूमविद्यानन्तरं श्रूयते—'अथ यदिदम-  
स्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेदम दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्वदन्त-  
स्तदन्वेष्टय्यं तद्वाव विनिज्ञासितव्यम्' [ छा० ८ । १ । १ ] इत्यादि ।  
अस्यार्थः—यिद्यान्तरारम्भार्थोऽयंशब्दः । यदिदमिति प्रसिद्धं हृदयं  
परासृष्टम् । अस्मिन्निति प्रत्यक्षत्वोक्तिः । ब्रह्मपुरं शरीरम् । तस्मिन्द-  
हरेः सूक्ष्मं ह्यपुण्डरीकं तदाधारत्वात् । हृदयस्य वेदमत्वं संपादयति—  
दहर इति । दहरः सूक्ष्मोऽस्मिन्हृदयेऽन्तराकाशः परमात्मा सदा तिष्ठ-

(टी०)परः पुरुषः परमात्मा । कुतः । ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् । स एतस्मादि-  
त्यादिना पुरुषमीक्षत इत्यन्तेनेक्षतिकर्मणो व्यपदेश ईक्षणमीक्षतित्तस्य  
कर्म तद्यार्थं तस्य व्यपदेशस्तस्मात् । स एव वेहः परपुरुषशब्दाभ्याम-  
भिधायतव्यः प्रत्यभिज्ञावते ॥ १३ ॥

पूर्वोचिकरण ईक्षतिध्यायतिकर्मणोः परपुरुषत्वेन प्रत्यभिज्ञानैर्द्वैक्ये  
सति ध्यायतिकर्म परब्रह्मेत्युक्तम् । तदप्युक्तम् । दहरवाक्योपक्रमोक्तजी-

(अ० १००) तित्पथः । तस्मिन्नुदये व्यवहितत्वेऽपि योग्यत्वात्तच्छब्देन हृद-  
यपरामर्शः । तदाकाशारब्धं ब्रह्मान्वेष्टव्यं विचार्य विजिज्ञासितव्यं श्लेष-  
मिति । अत्र दृष्टपुण्डरीके यो दहराकाशः श्रुतः स किं भूताकाश आहो-  
स्वित्परमात्मेति संशये प्रसिद्धिबलाद्भूताकाश इति प्राप्तम् । यद्वा ब्रह्मपुर-  
शब्देन शरीरमभिदधता तत्त्वामिजीवोपस्थितेर्जीवो दहर इति प्राप्ते  
ब्रूमः—दहराकाशः परमात्मेव । कस्मात् । उत्तरेभ्यो वाक्श्लेषगतेभ्यो  
हेतुभ्यः । तथा हि जिज्ञास्यत्वेनाभिहितस्य दहरस्याऽऽकाशस्य तं  
चेद्भूयस्त्विद्युक्कम्प्यं ' किं तद्व्य विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासित-  
व्यम्' [ छा० ८।१।२ ] इत्याश्लेषपूर्वकं समाधानवाक्यम् । ' स  
ब्रूयाद्यावात्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्चा-  
वापृथिवी अन्तरेव समाहिते' [ छा० ८।१।३ ] इत्यादिकमाका-  
शोपमानत्वं द्यावापृथिव्यधिष्ठानत्वेन दर्शयति । भ्रुत्वर्थस्तु—तमाचार्यं  
शिष्या ब्रूयुः किमिति ब्रूयुः—किं तदिति । हृत्पुण्डरीकमेव तावदल्पं  
तस्मिन्विद्यमानाकाशोऽपि तत् इत्येतत्पुण्डरीके किमासि यच्छ्रुतियुक्ति-  
भ्यामन्वेष्टव्यं यद्वाव साक्षात्कर्तव्यमित्यल्पतादोषेण दहरस्य श्लेषत्वमा-  
क्षिप्तं शिष्यैः । तत्र समाधानम्—स ब्रूयादिति । स आचार्यो ब्रूयात्कि-  
मिति यावानिति । अस्मिन्निति दहराकाशोक्तिः । अल्पत्वदोषश्चाऽऽ-  
काशोपमानेन निराकृतः । तथा च द्यावापृथिव्याद्यधिष्ठानमाकाशोपमितं  
तद्दहराकाशाद्यर्थं ब्रह्मैव । एवम्—'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु-  
दिशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः [ छा० ८।१।५ ] इति  
चाऽऽनन्त्वापहतपाप्मात्वादयो गुणा न भूताकाशे जीवे वा संभवन्तीति ।  
जीव आत्मत्वसंभवेऽप्युत्तरगुणानामसंभवो बोध्यः । विमृत्युर्मरणरहितः ।  
विजिघत्सो विगता जिघत्साऽस्तुमिच्छा यस्य स विजिघत्सः । तथा  
' तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः  
क्षीयते' [ छा० ८।१।६ ] इति कर्मणामन्तवस्त्वमुक्त्वा, 'अथ य  
इहाऽऽमानमनुविद्य प्रजन्तेर्ताश्च सत्यान्कामार्स्तेषां संशेषु लोकेषु काम-  
चारो भवति' [ छा० ८।१।६ ] इति प्रकृतदहराकाशविज्ञानस्था-

(श्लो०) यस्य वाक्श्लेषे स उत्तमपुरुष इति शब्दाभिधानात्तद्व्यप्यपुरुषशब्द-  
स्याप्यब्रह्मविषयत्वसंभवादाक्षिप्य समाधत्ते—दहर इति । 'दहरोऽस्मिन्'

(अ० १०) नन्तफलवस्त्वं वदन्परमात्मत्वमस्य सूचयति । सत्यान्कामांश्चेति  
 चकारेण तेषामप्युपास्यत्वमुक्तम् । तथा च सत्यकामादिगुणकमात्मानम-  
 नुविद्यानुभूय ये परलोकं प्रयन्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारः स्वेच्छया  
 संचरणमप्रतिहृतमनन्तमैश्वर्यं भवतीत्यर्थः । तस्मादेतेभ्य उत्तरेभ्यो  
 हेतुभ्यो दहराकाशः परमात्मा ॥ १४ ॥

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

उत्तरेभ्य इत्यस्य प्रपञ्चोऽयम् । किंच इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्ग-  
 च्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति ' [ छा० ८ । ३ । २ ] इति दहर-  
 वाक्ये प्रकृतं परमेश्वरं ब्रह्मलोकशब्दमभिधाय प्रजाशब्दाध्यानां  
 जीवानां प्रत्यहं तद्विषया गतिरुच्यमाना गन्तव्यस्य दहराकाशस्य  
 ब्रह्मतां गमयति । गतिं ब्रह्मलोकशब्दं चाभिप्रेत्य गतिशब्दाभ्यामित्युक्तं  
 सूत्रकारैः । प्रत्यहं ह्युपप्लवस्थायां जीवस्य ब्रह्मगमनम् । तथा हि दृष्टं  
 श्रुत्यन्तरे—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति ' [ छा० ६ । ८ । १ ]  
 इत्यादौ । तथा च दहराकाशगमनं ब्रह्मगमनमेवेति वृद्धीकृतं तथा हि  
 दृष्टमित्यनेन । प्रत्यहं हिरण्यवर्मब्रह्मलोकगमनासंभवाद्ब्रह्मैव लोक इति  
 कर्मधारयसमास एव ग्राह्य इत्यस्मिन्नर्थेऽहरहर्गमनमेव लिङ्गमित्यने-  
 नोक्तम् । चशब्देन निपादस्य\*पतिन्यायोऽपि कर्मधारयग्रहणे  
 सूचितः ॥ १५ ॥

(दी०) इति वाक्ये दहरः सूक्ष्मः परमात्मा । कुतः । उत्तरेभ्यो हेतुभ्यः ।

'यावान्वा अवमाकाशः' इत्यादिनोक्तेभ्यः ॥ १४ ॥

ननु ब्रह्मैवगुरुशब्दश्रवणात् कुतो न जीव इत्यत आह—गतिशब्दा-  
 भ्यामिति । गतिर्गमनं शब्दो ब्रह्मलोकशब्दः । 'अहरहर्गच्छन्त्येतं  
 ब्रह्मलोकम्' इति श्रुतेः । गतिश्च शब्दश्च गतिशब्दौ तान्पां गति-  
 शब्दाभ्यां दहरः सः । तथा हि दृष्टं हि यथाऽत्र तथा श्रुत्यन्तरेऽपि  
 'सता सोम्य' इत्यादिकेऽहरहर्ब्रह्मगमनं दृष्टमवगतम् । न च ब्रह्मणो  
 लोक इति वैयधिकरण्यं यत एतदेवाहरहर्गमनं लिङ्गमपि सामानाधि-  
 करण्ये ॥ १५ ॥

\* एतया निपादशक्तिं यान्वेत् । द्विनः त्पतिरन्यो वा द्विनः षष्ठी समासः ।  
 कर्मधारयमुक्त्यापिपाशो रौद्रयागहृत् ।

धृतेश्च महिज्ञोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

(३०१) धृतेरपि हेतोः परमेश्वर एव इहाराकाशः । अनतिक्रान्तप्रकरणं इहाराकाशं निर्दिशति—'अथ य आत्मा स सेतुविधृतिरेषां लोकानाम-संभेदाय' [ छा० ८ । ४ । १ ] इति । विधृतिरिति किञ्चिन्तत्वाद्भिधारक उच्यते । सेतुशब्देन वर्णाश्रमाद्यसंस्कारहेतुत्वमुच्यते । न हि सर्वलोक-विधारकत्वं ब्रह्मणोऽन्यस्य संभवति । अस्य च विचारणलक्षणमहिज्ञोऽस्मिन्परमात्मन्यन्यत्रापि श्रुत्यन्तर उपलब्धेः परमात्मलिङ्गत्वमेव । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रज्ञासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' [ बृ० ३ । ८ । ९ ] इति । तथा—'एव सर्वेश्वर एव भूताधिपतिरेव भूतपाल एव सेतुविधारण एषां लोकानामसंभेदाय' [ बृ० ४ । ४ । २२ ] इति ॥ १६ ॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

इहाराकाशशब्दोऽपि परमात्मन्येव प्रसिद्धो न जीवे । 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता' [ छा० ८ । १४ ] 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्वाकाशादेव समुत्पद्यन्ते' [ छा० १ । ९ । १ ] इत्यादिदर्शनात् । पद्यन्वाकाशशब्दस्य भूताकाशोऽपि प्रसिद्धिरस्ति तथाऽपि 'यावान्वाऽपमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति तस्योपमानत्वेन ब्रह्मणोपमेयइहाराकाशत्वं संभवतीति इहाराकाशः परमेश्वर एव ॥ १७ ॥

(क्ष०) नन्वाकाशोपमया गगनं गगनाकारमिति न्यायेनाऽऽकाश एव जीवो वा कुतो न स्यादित्यत आह—धृतेरिति । धारणं धृतिस्तस्याः । 'स सेतुविधृतिः' इति धृतोर्इहः परमात्मैवास्यासाधारणस्य महिम्नः प्रभावस्यास्मिन्परमेश्वरे 'सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादिनोपलब्धेरुपलम्भात् ॥ १६ ॥

ननु भूताकाश एव किं इहरो न स्यादित्यत आह—प्रसिद्धेरिति । प्रसिद्धिर्वैदिकी 'आकाशो वै नाम' इत्यादिना तस्याः । चकारोऽन्यस्यानुपपत्त्यर्थः ॥ १७ ॥

\* अक्षराद्येषु ।

१ अ. ग. किञ्चिद् ।



इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ॥ १८ ॥

(अ० व० १) ननु 'य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणामिनिष्यद्यत एष आत्मेति होवाच' [ छा० ८। ३। ४ ] इति संप्रसादशब्देनेतरस्य जीवस्याप्यस्मिन्पकरणे परामर्शात्स जीवो दहराकाशोऽस्त्विति चेन्न । असंभवाज्जीव आकाशोपमेयत्वापहतपाप्मत्वादीनामसंभवादित्यर्थः । अत्यर्थस्तु—य एष इति सर्वनामभ्यां विद्वानुक्तः । तमेव नृसं सर्वकालुष्यनिर्मुक्तं वक्ति—संप्रसाद इति । संप्रसादशब्देन सुषुप्तववस्थावाचकेनावस्थायानुच्यते । अस्माद्विमानद्वयविषयाच्छरीरात्सूक्ष्मशरीरद्वयात्समुत्थाय विविक्रमात्मानं ज्ञात्वा । विवेकज्ञानं चात्र श्रवणमनननिदिध्यासनानि । तत्फलमाह—अभिनिष्यद्यत इति । अभिनिष्यत्तिः साक्षात्कारः । अस्य फलमाह—परमिति । उपसंपद्य निष्यद्यत इत्येतन्मुखं व्यादाय स्वपितीतिवद्वृष्टव्यम् । ज्योतिःशब्दस्य सूर्यादिपरत्वभ्रमं वारयति—एष इति । गुरुरिति शेषः ॥ १८ ॥

( अक्षिपुरुषत्वेनाऽऽपाततः प्रतीचमानयोर्जीवपरेज्ञायोः परेशस्यैव तत्पदवाच्यत्वम्, अधि० ६ )

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

नन्वपहतपाप्मत्वादीनामसंभवाच्च जीवो दहराकाश इत्यसंगतम् । अतिबलेन जीवस्वाप्यपहतपाप्मत्वादिसंभवात् । तथा हि दहरविद्याया उपरि प्रजापतिविद्यायाम्—' य एषोऽक्षिणि पुरुषो हृष्यत एष आत्मेति होवाच ' [ छा० ८। ७। ४ ] इति जाग्रदवस्थापन्नं दृष्टारं जीवमुपक्रम्य ' एतं त्वेव ते भूषोऽनुध्याख्यास्यामि ' [ छा० ८। ९। ३ ] इति जीवमेव परामुश्य ' य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येव आत्मा ' [ छा० ८। १०। १ ] इति । तद्यत्रैतत्कुतः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न

(क्षि०) इतरेति । इतरस्य जीवस्य परामर्शो लिङ्गम् । ' अथ य एष संप्रसादः ' इत्यादि । तस्मात्स जीवो दहर इति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । असंभवात् । ' धावान्वा अयमाकाशः ' इत्यादेर्लिङ्गस्येति शेषः ॥ १८ ॥

पूर्वाधिकरणेऽपहतपाप्मत्वाद्दधौ धर्मा उक्तास्ते जीवेऽपि संभवेयुरित्वाक्षिप्य समाधत्ते—उत्तरादिति । वृ(द्)हरस्य गर्भभूतमेतैत् ।

(म०१०)विजानात्येष आत्मा ' [छा०८।११।१] इत्यवस्थात्रयविशिष्टं जीवमेव प्रतिपाद्य तत्पदं जीवस्यापहृतपाप्मत्वादि दर्शयति—' एत-  
दभूतमभयमेतद्ब्रह्म ' इति । 'माह सत्त्वयमेवं संश्रयात्मानं जानात्यपमह-  
नस्मीति नो एवेमानि मृतानि ' [ छा० ८।११।२ ] इति स्रष्टव्य-  
वस्थायामिन्द्रेणोक्तं दोषमुपलभ्य पुनः प्रजापतिः ' एतं त्वेव ते भूपोऽ-  
नुष्याक्यास्यामि मां एवान्यत्रैतस्मात् ' [ छा० ८।११।३ ] इत्युप-  
क्रम्य शरीरनिम्दापूर्वकम् ' एष संश्रयादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं  
ज्योतिरुपतंपद्य स्येन रूपेणामिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः ' [ छा०  
८।१२।१ ] इति जीवमेव शरीरात्समुत्थितमुत्तमपुरुषं दर्शयति ।  
तस्मात्पहृतपाप्मत्वादीनां ध्रुतिबलाज्जीवि संभवाज्जीवो बृहराकाश  
इत्युत्तराशेदिति सूत्रावपर्यार्थः । उत्तराद्य एषोऽक्षिणीत्यादिवाक्यात् ।  
ध्रुत्यर्थस्तु—इन्द्रविरोचनी स्रष्टु सुरासुरराजानावात्मानं विविदिपन्ती  
समित्पाणी प्रजापतिं जग्मतुः । आगत्य द्वात्रिंशद्दुर्षाणि ब्रह्मचर्यमूपतुः ।  
अथैतौ प्रजापतिरुवाच किं कामाविह स्थो युवामिति । तावृचतुः । य  
आत्माऽपहृतपाप्मा तमावां विविदिषाच इति । ततः प्रजापतिरुवाच ।  
प्रथमं य एषोऽक्षिणीति जाग्रदवस्थायामक्षिस्थानः सन्यो हृश्यते  
शाम्भतः स आत्माऽपहृतपाप्मेत्युवाच । य एवापहृतपाप्मत्वादिगुणः  
' एतदभूतमभयमेतद्ब्रह्म ' [छा० ८।११।१] इति । एतच्छ्रुत्वा ताव-  
प्रक्षीणकल्मषतयाऽक्षिनिष्ठच्छायापुरुषमात्मत्वेन गृहीत्वा पुनः प्रजापतिं  
पश्यच्छतुः । अथ योऽयं भगवोऽप्स्वादर्शं स्रष्टुवादी च हृश्यते कतम  
एतेष्वसावथवा सर्वेष्वेव एवेति तमेतं प्रश्नं श्रुत्वा प्रजापतिरेतौ ब्रान्ता-  
विति ज्ञात्वा यदि वयं युवां भ्रान्ती स्थ इति ब्रूमस्तदा दीर्घनस्येन  
तत्त्वं न गृह्णीयातामित्यनयोराशयमनुरुध्य प्रत्युवाच—उदशाराव आत्मा-  
नमीक्षेथां तत्र यद्ब्रह्मते तन्मां प्रति ब्रूतमिति । तौ ब्रह्मा संतुष्टहृदयो  
नाब्रूतामथ प्रजापतिरेतौ विपरीतव्राक्षिणीं मा भूतामित्पाज्ञयवान्प्रच्छ  
किमत्र पश्यतमिति । तौ होचतुर्नखलोमादिमन्तं प्रतिविम्बपुरुषमुदस-  
रावेऽपश्यावेति । उत्पत्तिनाशवराद्याद्यथा शरीरमात्मा न भवति एवं  
छायापुरुषोऽपि नाऽऽमेत्येव तौ जानीयातामित्याशयवान्प्रजापतिरु-  
वाच—साध्वलंक्रुतौ सुवसनी परिष्कृतौ भूत्वा पुनरुदशारावे पश्यतमा-  
त्मानमिति । तौ साध्वलंक्रुतौ सुवसनी छिन्ननखलोगानी भूत्वा तथैव

(टी०)उत्तरात् 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो हृश्यते' इति प्राजापत्याद्वाक्याज्जी-

(ब्र० व०) चक्रतुः । पुनः प्रजापतिना वृष्टौ तमेव च्छायात्मानमुचतुः । तदुप-  
 श्रुत्य प्रजापतिर्षताहो अद्यापि भ्रमो न शान्तोऽनयोरिति मत्वाऽऽत्मतत्त्वं  
 कथयामि तौ तेन कल्मषक्षयेऽस्मद्वाक्यसंदर्भपर्यालोचनवाऽऽत्मतत्त्वं  
 प्रतिपत्स्येते स्वयमेवेत्युवाच 'य आत्माऽपहतपाप्मा एतदमुत्तममयमेत-  
 द्ब्रह्म' इति । तयोर्मध्ये विरोचनो देहानुसारित्वाच्छायाया देह एवाऽऽ-  
 त्मतत्त्वमिति मत्वा स्वगृहमागत्य तथैवाहुरानुपदिदेश । इन्द्रस्तु स्वगृ-  
 हमागच्छन्मार्ग एव च्छायात्मनोऽनित्यत्वादिदोषं चिन्तयित्वा पुनः  
 समित्पाणिः सन्प्रजापतिसमीपमागत्य तेन वृष्टः सन्मार्गे चिन्तितमुवाच ।  
 प्रजापतिस्तु ह इन्द्र त्वं कल्मषक्षयार्थं पुनर्द्वात्रिंशद्वापाणि ब्रह्मचर्यं  
 चराथ प्रक्षीणकल्मषाय तेऽहमेतमात्मानं भूयोऽनुव्याख्यास्यामीति अथो-  
 चत् । स तथा चरितब्रह्मचर्यः प्रजापतिमुपससाद् । उपसन्नायेन्द्राय  
 प्रजापतिर्व्याचष्टे योऽक्षिणि पुरुषो दक्षितः प्रथमपर्याये सोऽयमेव स्वप्ने  
 वासनामपर्यैर्नितादिभिर्विषयैर्ब्रह्मीयमानः सेव्यमानोऽनेकविधान्मोगान्मु-  
 श्रान्नो विहरतीति यावत् । इदं श्रुत्वा देवेन्द्रः शोकमयादिविचिद्यतापा-  
 नुमबाह्न स्वप्ने किं तदस्तीत्युवाच । एवमुक्तवति मघवति प्रजापतिः  
 पुनर्द्वात्रिंशद्वापाणि ब्रह्मचर्यं चराद्याप्यक्षीणकल्मषोऽसीति चरित्वा  
 गतायेन्द्राय प्रजापतिर्व्याचष्टे । योऽपमाद्यद्वितीयपर्यायधोरक्षिणि स्वप्ने  
 चाऽऽत्मा दक्षितः स एष सुषुप्त्ववस्थायां प्रकाश इत्याह—तद्यत्रैतत्सुप्त  
 इति । तदेतदिति संबन्धः । यत्र यस्यां सुषुप्त्ववस्थायामेतत्स्वपनं यथा  
 स्यात्तथा सुप्तस्तस्यामवस्थायानुपसंहृतकरणश्रावः समस्तः करणव्यापा-  
 रकृतकालुष्यहानिः संप्रसन्नः स्वप्नमज्ञानमात्रतया विलापयन्मुक्ताद्यावृत्तः  
 स्वप्नमयुक्ततैजसत्वं विहाय प्राप्तो भूत्वा ज्ञानकिर्यां विना स्वरूपचैतन्ये-  
 नाज्ञानसाक्षी साक्ष्यस्य गृह्याद्यैः सत्तास्फूर्तित्वादात्मेत्यर्थः । इदं श्रुत्वा  
 पुनरिन्द्रो न किञ्चिद्ज्ञावतेत्याह—नाहेति । अहेति निपातः सेवार्थं ।  
 सिद्धमानो हीन्द्र उवाचायं सुप्तः पुरुषोऽयमस्म्यहमित्येवमात्मानमस्या-  
 मेवावस्थायां न जानातीयानि भूतानि नो एव जानाति विनाशमेव  
 प्राप्तो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवं दांषं दृष्ट्वा पुनः प्रजापतिशु-  
 पससाद् । उपसन्नं पुनरुवाच वताद्यापि ते कल्मषक्षयो नाभवत्तदर्थं पुनः  
 पञ्च वर्षाणि ब्रह्मचर्यं चरेत् । तदेवमेकोत्तरशतं ब्रह्मचर्यं चरेत् सहस्राक्षाय  
 ब्रह्मचर्यसंपन्नमृदितकषापाय प्रजापतिर्व्याचष्टे योऽपमाद्यद्वितीयतृतीयप-

(दो०) योऽत्र चेद्यदि तन्न । कुतः । आविर्भूतस्वरूपो यत आविर्भूतं स्वरूपम्-

(त०१० ।) यथेष्टे अग्निनि न्यसे सुपुत्री बानुस्पृहोऽपहतपाप्मत्वादिगुणो  
 दृशितस्तमेव भूयोऽनुप्याख्यास्यामि नैतद्व्याद्व्यामिस्तुपद्मस्य तुरीये  
 'मयवन्मत्स्यं वा इदं शरीरम् ।' इत्यादिना शरीरं निन्दित्वा तस्माद्दृशितं  
 जीवमेवोत्तमं पुरुषं दर्शयति प्रजापतिर्य एष संमसादोऽस्मादित्यादिना ।  
 तस्मादपहतपाप्मत्वादीनां जीवे संमसाजीव एष दहराकाश इति श्रुते  
 ह्यमः—'उत्तराचोदायिभूतस्वरूपस्तु ।' तुशब्देन पूर्वपक्षस्यावृत्तिः । उत्तरा-  
 त्तज्जापतिवाक्पादायि न जीवाशङ्का युक्त्यर्थः । यत आविर्भूतस्वरूपोऽस्य  
 जीवो विवक्षितो न तु जीवत्वेन रूपेण । 'परं ज्योतिरुपसंपन्न स्वेन  
 रूपेणामिनिष्पद्यते' इति उपसंहारदर्शनात् । यदपहतपाप्मत्वादिभिः  
 प्रतिपाद्यं परं ब्रह्म तदेव जीवस्य परमार्थिकं स्वरूपं न तु जीवत्वं  
 दद्यात्ताऽऽविर्भूतस्वरूपस्य जीवस्य ब्रह्मत्वेनापहतपाप्मत्वादिकमुपपद्यते  
 न तु जीवत्वेन रूपेणेति नासंभवादिति पूर्वसूत्रस्थहेतुर्नासिद्ध इति।११॥

ननु दहराकाशस्येश्वरत्वे 'अथ य एष संमसादः' इत्यादिना जीव-  
 परामर्शो व्यर्थः स्यादित्यत उत्तरं पठति—

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

अन्यार्थोऽयं जीवपरामर्शो न जीवप्रतिपादनाय । 'परं ज्योतिरुप-  
 संपन्न स्वेन रूपेणामिनिष्पद्यते' इत्युपसंपन्नव्यपरमात्मपर एवायं  
 जीवपरामर्शो जीवोपसंपन्नव्यत्वेन हि परमात्मोपदिश्यते स चोपदेशो  
 जीवपरामर्शं चिना न संभवतीति तदर्थं जीवपरामर्शो न जीवप्रतिपाद-  
 नार्थमिति ॥ २० ॥

( ३० । ) स्येत्याविर्भूतस्वरूपोऽक्षिष्टक्षितो निरुपाधिस्वरूपः । तुशब्दो  
 नकारार्थः ॥ ११ ॥

'अथ य एष संमसादः' इत्यादिजीवपरामर्श एव सति व्यर्थ एव  
 स्यादित्यत आह—अन्यार्थेति । परामर्शो हि जीवस्वान्वयस्य परमात्मनो  
 रूपस्य दर्शनार्थः । 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादिरुपावगतिः[ ]  
 प्रयोजनम् । अथ वाऽन्योऽर्थो यस्य स तथा । चकारो जीवग्रहणेऽपुरु-  
 पार्थमाह ॥ २० ॥

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

( अ० १० । ) ननु दृष्टोऽस्मिन्नन्तराकाश इत्याकाशस्याल्पवश्वव्याप्त पर-  
मात्मत्वं किं त्वाराद्यंमात्रजीवत्वं युक्तमिति चेत्तत्र समाधानमुक्तमर्मकौक-  
स्त्वात्तद्यप्येवमेषोपासनार्थमौपाधिकमल्पत्वं परमेश्वरेऽप्यविरुद्धमि-  
त्यर्थः । तस्माद्दृष्टराकाशः परमात्मैवोपास्य इति सिद्धम् ॥ २१ ॥

( जगत्प्रकाशकत्वेनोपलब्धयोः सूर्यादितेजःपदार्थचैतन्ययोश्चैतन्य-  
स्यैव तत्प्रकाशकत्वम्, अचि० ७ )

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

पूर्वं परं ज्योतिरुपसंपद्येति वाक्यार्थविचारप्रसङ्गात् ' तच्छुभ्रं ज्यो-  
तिर्षां ज्योतिः ' इतिवाक्योक्तपरं ज्योतिर्दृष्टापकं न तत्रेति वाक्यं  
विचार्यमिति प्रसङ्गसंगतिरस्याधिकरणस्य । यद्वा पूर्वज्ञाऽऽत्मश्रुत्याद्यनु-  
रोधादाकाशाद्यस्य कृदित्यागेनेश्वरे वृत्तिरुक्ता तथेहापि तत्रेति सतिस-  
प्तम्या तत्रज्ञानव्याप्तस्य तेजोन्तरामिमावकत्वप्रतीत्यनुरोधान्न भाती-  
त्यस्य वर्तमानार्थत्यागेन यस्मिन्सति सूर्यादिकं न भास्यति स तेजोधा-  
तुरुपास्यत्वेनोच्यत इति पूर्वपक्षोत्थानाद्दृष्टान्तसंगतिः । पूर्वपक्षेऽलौकि-  
कतेजसपासितः फलं सिद्धान्ते निर्विशेषब्रह्ममिति रिति भेदः ।  
मुण्डकोपनिषद्दि श्रूयते—' न तत्र सूर्षो भाति न चन्द्रतारकं मेमा  
विद्युतो भान्ति कुतोऽप्यमग्निः । तमेव भान्तयनुमाति सर्वं तस्य भासा  
सर्वमिदं विमाति ' [ मु० २ । २ । १० ] इति । सिद्धान्ते तत्रेति  
विषयसप्तमी । तथा च तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि विषये सूर्यादयो न भासक-  
त्वेन भासन्ते यथा घटादौ विषय आलोकादिकं भासकत्वेन भासते  
तद्दृष्टपतेजसो बह्वेः फल्गुत्वमभिप्रेत्य कैमुतिकन्यायमाह—कुत इति ।  
इतश्च 'सूर्यादिर्न ब्रह्मणि भासकत्वमिति आह—तमेवेति । यथा

(दी०) अल्पश्रुतेरिति । अल्पाभिधापिनी श्रुतिर्दृष्ट इति तस्या न परमा-  
त्मैति चेदेवं यदि तत्रेति सूत्रान्तरात् । कुतः । तदुक्तम् । तत्त्वदीयं  
षोडशमुक्तपरिहारं निचाप्यत्वादित्यादिना ॥ २१ ॥

पूर्वाधिरणे ' एवं त्वेव ते ' इत्येतच्छब्दस्य प्रकृतार्थत्वाद्दृष्टस्य  
जीवता निरस्ता तद्व्युक्तं तत्रेत्यादौ सर्वनाम्नः प्रकृतार्थत्वानियमादि-

१ (म०प०)सूर्यादिप्रकाशयो घटादिर्न सूर्यादिप्रकाशक एव ब्रह्मप्रकाशसूर्यादि-  
दिर्न ब्रह्मप्रकाशक इत्यर्थः । ननु यथा सुरी गच्छति शिष्यस्वात्मगमनं  
स्वमिष्टगमनकृतमखं सूर्यादिः स्वमिष्टमानकृतमनुमानं किं मेत्याह—  
तस्येति । यथाऽप्यःपि०उत्स्य द्वाहृद्विधाऽऽतिनिष्ठैव तथा सूर्यादिर्मानं ब्रह्म-  
निष्ठमेव न पृथग्मानमित्यर्थः । अत्र संशयः । सूर्यादि जगद्भासकतया  
प्रतीपमानं तेजोदिशोपो वा ब्रह्म वेति । तेजस एव प्रकाशकत्वप्रसिद्धेः  
प्रचलेन तेजसा दृबलस्याभिमवदशनाच्च तेजोविक्षेप एवेति प्राप्ते ब्रूमः—  
अत्र तथा प्रतीपमानं ब्रह्मैव । कुतः । अनुकृतेः । अनुकृतिरनुकरणं  
पक्षमेव मान्यमनुभाति सर्वमित्यनुमानं तदनुकृतिशब्देनोच्यते । न हि  
तेजस्तजोन्तरे भासमाने भासते स्वप्रकाशतया भासमानत्वेत्यन्यमु सर्वं  
सूर्यादि भासत इति युक्तम् । सृष्टे तस्य चेत्यनेनोद्वाहृतयास्ये चतुर्थचर-  
णोऽभिप्रेतः । 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति सर्वभासकत्वं  
तेजोन्तरस्याप्रसिद्धं विद्वद्भ्यं च भासमानस्य तेजसस्तोजोन्तराभिभावक-  
त्वेन भासकत्वाभावाद्ब्रह्मणस्तदपन्नं 'तद्वेधा ज्योतिषां ज्योतिः' इत्यादी  
प्रसिद्धं च । न तत्रेति तच्छब्देन च 'हिरण्यमे परे कोशे विरजं ब्रह्म  
निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यथात्मविदो विदुः' [ सु० २  
२ । १ ] इति प्रकृतब्रह्मग्रहणमेव युक्तमिति । श्रुत्यर्थस्तु—हिरण्यमे  
ज्योतिर्मय आनन्दमय इत्यर्थः । तस्मिन्नन्नमवाच्यपेक्षया परे कोशे ब्रह्म  
पुच्छं प्रतिष्ठेति यत्प्रतिष्ठाभूतं ब्रह्म तद्यतिष्ठितं तच्च विरजमागन्तुकमल-  
शून्यं निष्कलं निरवयवं शुभ्रं नैर्लभिकदोषशून्यं ज्योतिषां सूर्यादीनां  
ज्योतिरवभासकं तच्च विदुषामनुभवसिद्धमिति ॥ २२ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

अपि च ब्रह्मणः सूर्याद्यप्रकाशयत्वं तत्प्रकाशकत्वं च मगधद्वीतासु  
स्मर्यते—

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पायकः ।

यद्भावा न निवर्तन्ते तद्भाम परमं मम' [ म० गी० १५ । ६ ]

'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽक्षिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यद्यद्वाग्नां तत्तेजो विद्धि मामकम्' [ म० गी० १५ । २ ]

१ (क्षी०)श्याक्षिष्य समाधत्ते—अनुकृतोरेति । तमेव मान्यम् 'इत्युक्तः प्राज्ञ एव ।  
कुतः । अनुकृतेः । अनुकरणमनुकृतिः । अनुमातीतिश्रुतेः । तस्य  
चेतनस्य 'भासा' इत्यादिवाक्यादपि ॥ २२ ॥

(अ० १० ।) इति तस्मादनन्यपकादयः सर्वजगज्जासकः परमात्मा ज्ञेय इति सिद्धम् ॥ २३ ॥

( जीवात्मपरमात्मनोर्मध्ये परमात्मन एवाऋगुष्ठमात्रपुरुषशब्देन प्रतिपादनम्, अधि० ८ )

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

पूर्वत्रानुमानादिना लिङ्गेन तत्रेति विषयसप्तमीं कृत्वा न भातीत्यादौ भिजध्याहारेण न भासयतीत्यर्थो वर्णितो भवति भासकत्वेन न भान्ति सूर्यादय इत्यर्थकथनास्येहाप्यङ्गुष्ठमात्र इति परिमाणलिङ्गज्जीवमादायेशानोऽस्तीति स्मारयेदिति विध्यध्याहारेणोपासितपरमङ्गुष्ठवाक्यमस्त्विति हृद्यान्तसंगतिः । पूर्वपक्षे ब्रह्महृदया जीवोपास्तिः । सिद्धान्तेऽभेदप्रामितिः फलम् । कठयल्लीषु पठ्यते—‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ’ [ काठ० २ । ४ । १२ ] इति । तथा—‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतमव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वैतत् ’ [ का० २ । ४ । १३ ] इति । अस्यार्थः—स्वामाविकं परिच्छेदं वारयति—पुरुष इति । पूर्णत्वेन सर्वत्रोपलभ्यमान इत्यर्थः । तर्हि कथमङ्गुष्ठमात्रत्वमित्याकाङ्क्षाभिव्यक्तिस्थानद्वारा तदाह—मध्य इति । आत्मनि देहे मध्ये हृदयसङ्गतीत्यर्थः । जीवमावमापन्नस्य ब्रह्मण इदमङ्गुष्ठमात्रत्वसमर्थनमिति बोध्यम् । ईशानो भूतमव्यस्येत्यादिना त्वंपद्वाच्याङ्गुष्ठमात्रजीवानुवादेनाभेदबोधनादिति । तस्यैव परमात्मत्ववादिवाक्यान्तरमुदाहृतं तथेति । अधूमकमिति । लिङ्गव्यत्ययो ज्योतिरिष्यरत्वात् । यथाऽधूमकं ज्योतिरकलुषितमेकरूपं प्रकाशमात्रं दृष्टं तथाऽयमपि वस्तुतः कूटस्थप्रकाशधातुरित्यर्थः । शोधितत्वमर्थस्य तद्वर्ततामाह—ईशान इति । भूतमव्यग्रहणं भवतोऽपि प्रदर्शनार्थम् । अद्वितीयत्वमाह—स एवेति । अद्य वर्तमानकाले स एवास्ति श्वो भविष्यत्काले स एव भविताऽतीतकाले स एवाऽऽस्तीद्यत्रचिकेतसा

(सं०) त्रैत्राप्रसिद्धमिदं रूपमित्याह—अपि चेति । स्मर्यतेऽपि गीतासु ‘ न तद्भासयते सूर्यः ’ इत्यादिना ॥ २३ ॥

पूर्वाधिकरणे तत्रेति सति विषये च साधारणी सप्तमी न तद्भासयत इति विषयत्वनिषेधकस्तुत्या विषयत्वं व्यवस्थितं तद्व्यतिरिमाणमपि

( ३०७० । ) दृष्टमन्त्रस्य चर्मादित्यादिना तदेतदेवाहित्तीर्थं वस्त्विति । अत्र संशयः । किमिदं नूतुदास्यं श्रीपरस्तुत ब्रह्मपरमिति । तत्राङ्गमुत्तरिमा-  
पस्य ब्रह्मण्यतोमहाजीवपरमिदं वास्यमिति प्राप्ते ह्यमः—प्रत्यगमिन्नः पर-  
मात्मा वास्यमतिपाद्यः प्रमितः । कस्माच्छब्दादेव । ईशानो भूतम-  
व्यस्येत्यज्ज्ञानज्ञानात् । न हि जीव ईशानशब्द आक्षेपः । न चाङ्ग-  
उत्तरिमाप्यल्लिङ्गाजीवः प्रतिपाद्य इति युक्तम् । लिङ्गभूत्वोविरोधे भ्रुतेः  
प्रचलत्वात् । एतत्सूचनाधेयकारः । मनु वाक्यस्य परमात्मपरत्वे  
कथमङ्गुष्ठमात्रत्वस्योपपत्तिरिति चेत्काऽत्र कथंता त्वंपदवाच्याङ्गुष्ठ-  
मात्रजीवानुवादेन ब्रह्माभेदपरे वाक्येऽनुपपत्त्यभावादिति ॥ २४ ॥

ननु जीवस्य वस्तुतः सर्वगतस्य कथमङ्गुष्ठमात्रत्वमित्याह—

हृदयेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

तुदास्यः बाह्यानिरासार्थः । वस्तुतः सर्वगतस्यापि जीवमात्रमापन्नस्य  
परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणहृदयपापन्नतयाऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यत इत्यर्थः ।  
ननु मज्जिमुत्तिकादिशरीरेषु हृत्पुण्डरीकस्यानियतपरिमाणत्वात्कथं जीव-  
स्याङ्गुष्ठमात्रत्वनिपमत्तत्राऽऽह—मनुष्याधिकारत्वादिति । शास्त्र-  
स्थेति शेषः । षष्ठे फलार्थे कर्मणि तिर्यगादेरपि स्वर्गकामस्याधिकार  
स्वर्गकामभ्रुतेरविशेषादित्याशङ्क्याङ्गुष्ठत्वर्थवत्त्वाय समर्थविषयतया तिर्य-  
गादेः सामर्थ्याभावेन स्वर्गकामपदं संकोच्य मनुष्याधिकारत्वे स्थिते  
चातुर्वर्ण्यमधिकरोति शास्त्रमिति प्राप्यथ 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनाम्-  
धीत धीष्णे राजन्यः शरदि वैश्यः' इति त्रयाणामेवाग्निंसंबन्धध्रवणात्ते-  
पानेवाधिकार इति सिद्धान्तितम् । तथा च मनुष्याणां हृदयस्याङ्गुष्ठ-  
मात्रत्वात्तदपेक्षयाऽङ्गुष्ठमात्रत्वमित्यविरोध इति तात्पर्यम् । एवमङ्गुष्ठ-  
मात्रजीवानुवादेन विरुद्धांशं परित्याज्यामेदो बोध्यतेऽनेन वाक्येन ।

(टी०१) जीवैश्वरं वेति संशये 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषम्' इति निर्णीतार्थस्तुत्या  
जीवमेवेति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—शब्दादिति । अङ्गुष्ठमात्रः  
परमात्मा शब्दादेव प्रमितः परिमितः । कुतः । शब्दादेवेतानादिपदक-  
दन्वत्वादेव ॥ २४ ॥

कथं पुनः सर्वगतस्य परमात्मनः परिमाणोपदेश इत्यत्र ह्यमः—  
हृदिदिति । हृदि हृदयेऽवस्थानस्यापेक्षया तु एवमतिमात्रस्यापि अङ्गुष्ठ-



(अ० १०) इह मर्त्यं मुत्तरग्रन्थसंदर्भेण स्फुटी करिष्यति 'अह्नुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्पबुहेन्मुञ्जादि-  
धेयीकां धैर्वेण । तं विद्याच्छुक्रमयुतम्' [ का० २ । ६ । १७ ] इति ।  
अस्वार्थः—पो(यतो)ऽन्तरात्मा पुरुषत्वात्पूर्णाऽपि जनानां हृदये सदा  
संनिविष्टोऽतोऽह्नुष्ठमात्र इति त्वंपदवाच्यानुवादः । तस्यान्वयव्यति-  
रेकाभ्यां तदनुसारिभ्युत्था च शोधयत्वमाह—तं स्वादिति । शरीरं स्थूलं  
सूक्ष्मं च तस्मात्स्वाभिमानविषयात्पबुहेत्युभक्त्यां द्वैर्वेण समाधिनेति  
यावत् । तं विविक्तमात्मानं विदुःशुद्धमयुतं ब्रह्मैव जानीयादित्वाह—  
तमिति । तदेवं काठकवाक्यं प्रत्यम्बह्मणि ज्ञातव्ये समन्वितमिति  
सिद्धम् ॥ २५ ॥

( देवानां निर्गुणविद्यायामधिकारनिरूपणम् , अधि० ९ )

तद्दुर्पर्यपि वादरायणः संभवात् ॥ २६ ॥

पूर्वं मनुष्याधिकारं शास्त्रमित्युक्तम् । तर्हि क्रममुक्तयथांमिहपासना-  
भिर्मनुष्याणां देवत्वं प्राप्तानामधिकारो न स्यादित्वाक्षिप्य समाधीयत  
हत्याक्षेपसंगत्याऽस्याऽऽरम्भः । प्रसङ्गसंगत्या वाऽऽह—अत्र चाधिकार-  
निरूपणद्वारा मन्त्रार्थवादादीनां मानान्तरप्राप्तिशिरोधयोरसतोर्देवता-  
विग्रहादौ समन्वयोक्तेरध्यायसंगतिः । एवं मन्त्रादीनां स्वार्थे प्रामाण्य-  
न्यायसाभ्यादुपासनाधिकार्यादिसमर्पकाणां स्वार्थे प्रामाण्यात्तत्त्वमस्या-  
दिवाक्यानां ब्रह्मात्मैक्ये पर्यवसानमिति श्रुतिशास्त्रपादसंगतिः । पूर्व-  
पक्षे मन्त्राद्यप्रामाण्योद्दुपगमनादिवाक्यानामपि स्वार्थे तद्वचोमात्तत्त्वम-  
स्यादेरपि नैक्यनिष्ठतेति सिद्धान्ते तत्सर्वसंभवादैक्यनिष्ठतेति फलम् ।  
यद्वा देवानामनधिकारात्कममुक्तिसाधनेषुपासनेषु देवादिभोगद्वारा

(श्री०) मात्रश्रुतिः । हृदयस्वाह्नुष्ठमात्रत्वं कुत इत्यत आह—मनुष्याधिकार-  
त्वात् । शास्त्रस्येति शेषः । मनुष्याणामधिकारो मनुष्याधिकारस्तस्य माव-  
स्तत्त्वं तस्मात् । मनुष्याणां च प्रायेण स्वाह्नुष्ठपरिमितं हृदयं ततस्तद्द-  
द्यापेक्षयाऽह्नुष्ठमात्रः परमेश्वर इति ॥ २५ ॥

पूर्वाधिकरणेऽह्नुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षया मनुष्याधिकारत्वाच्छा-  
स्त्रस्येत्युक्तम् । तर्हि वेदान्ता अपि मनुष्याधिकारां एवेति दृष्टान्तेनाऽऽ-  
क्षिप्य समाधत्ते—तद्दुर्पर्यपीति । तेषां मनुष्याणामुपरि ये देवादयस्तेषामपि

(५०-६०) मोक्षकाममनुष्यप्रवृत्तिर्नास्तीति पूर्वपक्षफलम् । सिद्धान्ते तादृ-  
शप्रवृत्तिरस्तीति बृहदारण्यके श्रूयते—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव  
तदमवत्तथर्षिणां तथा मनुष्याणाम्' [ वृ० १।४।१० ] इति ।  
देवादीनां मध्ये यो यो ब्रह्म प्रत्यक्त्वेन साक्षादकरोत्स एव ब्रह्मात्मनाऽ-  
तिष्ठदित्यर्थः । अत्र किं देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति उत  
नास्तीति । शास्त्रस्य मनुष्याधिकारवासास्तीति भास्तेऽभिधीयते—तदु-  
पर्यपि वादरायणः संभवादिति । तेषां मनुष्याणामुपरिष्ठाद्ये देवादृष्टे-  
षामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति वादरायण आचार्यो मन्यते स्म ।  
कस्मात् । संभवात् । अर्थत्वसामर्थ्याद्यधिकारकारणस्य संभवादि-  
त्यर्थः । देवादीनां सदा भोगशालित्वेऽपि भोग्यवस्तुष्वनित्यत्वदोषव-  
र्शनाङ्गैराम्यादिकं निरतिशयानन्दमोक्षाद्यत्वं च संभवतीति भावः ॥२६॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

ननु देवादीनां विग्रहवत्त्वं विना ब्रह्मविद्यायामधिकारात्तदङ्गीकर-  
णीयं तथा सति कर्मण्यपि शरीरितय ऋत्विगादिवत्संनिधानैर्बोधकार-  
कत्वं स्यात्तत्र न संभवति एकस्य शरीरस्थानिकस्य युगपत्संनिधानासं-  
भवात्तस्माद्विग्रहवत्त्वाङ्गीकारे कर्मणि देवताया उपकारकत्वविरोधः  
प्रसज्येतेति चेन्नैव दोषः कस्मात् । अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् । एकस्य  
देवस्थानिकेषां शरीराणां युगपत्वातेः श्रुतौ दर्शनादित्यर्थः । तथा हि  
बृहदारण्यके शाकल्यब्राह्मणम्—'अथ हैमं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ  
कति देवा वाङ्मवत्स्य' इत्युपक्रम्य 'अथ ब्रवीं च शता अथ ब्रवीं  
च सहस्रा' इत्युक्त्वा 'कतमे ते' इति पृच्छायाम् । 'महिमान एव-

(६०-०) ब्रह्मविद्यायामधिकारं वादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः । संभ-  
वात् । संभाव्यते हि तेषामपि अर्थित्वादिकं विग्रहादिमत्त्वादित्यर्थः ॥२६॥

विरोध इति । यदि विग्रहवती देवता तदैकस्य यजमानस्य याग  
एका देवताऽऽगच्छेत् तत्र युगपद्भेदकस्य ऋत्विगादिवत्सोऽयं युगपद्भेदेः  
कर्मण्यनुष्ठीयमाने विरोधो देवताया विग्रहादिमत्त्वं इति चेदेवं यदि  
तन्न । कुतः । अनेकप्रतिपत्तेः । नैका प्रतिपत्तिरनेकप्रतिपत्तिस्तस्याः ।  
युगपद्भेदोऽनेकभोजने शक्तः । एकोऽपि अनेकेषां नमस्कारक्रियायां  
शक्त इति मानाविधाया व्यवस्थायाः संभवात् । कुत एवं लोके दर्श-

(म०१०) धामते त्रयस्त्रिंशत्स्वेव देवाः' [ बृ० ३।१।१२ ] इति त्रिसहस्रपञ्चदशिकत्रिंशत्तदेवानां त्रयस्त्रिंशद्देवेष्वन्तर्भावमुक्त्वा त्रयस्त्रिंशतोऽपि षट्सु षण्णां त्रिषु त्रयाणां द्वयोर्द्वयोरैकस्मिन्वाप्यात्मके देवेषुऽन्तर्भावं द्वयदेकस्य वायोरनेकरूपतां दर्शयति । अस्वार्थः—एने याज्ञवल्क्यं विदग्धः शाकल्यो वैश्वदेवमामकस्य शस्त्रस्य निषिद्धिं शस्यमाना देवाः कर्तन्ति पप्रच्छ तत्र याज्ञवल्क्यस्योत्तरम्—निविद्यपश्चेत्यादि । शस्यमानदेवनिष्ठसंख्यावाचकं मन्त्रपदं निषिद्धित्युच्यते । एवं पञ्चदशिकत्रिंशत्ताधिकत्रिसहस्रसंस्थानिर्णयानन्तरं 'कतमे ते' इति संख्येयस्वरूपपत्रे 'अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्याः प्रजापतिरिन्द्रश्च' इति त्रयस्त्रिंशद्देवेषु सर्वेषामन्तर्भावो दर्शितो महिमान एवैषामित्यादिना । एषां त्रयस्त्रिंशद्देवानां महिमानो विस्तारा एव वस्तुतस्त्रयस्त्रिंशद्देवैत्यर्थः । तेऽपि त्रयस्त्रिंशद्देवाः षण्णामग्निपृथिवीवाप्यन्तरिक्षादित्यादिवानां महिमानस्तेऽपि षड्देवास्त्रयाणां लोकानां महिमानस्ते त्रयो देवा द्वयोरन्नप्राणयोस्तौ चैकस्य प्राणशब्दवाच्यस्य वायोर्महिमानाविति । यद्वाऽनेकप्रतिपत्तेर्द्वानादनेकत्र कर्मणि चैकस्य प्रतिपत्तिरङ्गभावस्तस्य लोके दर्शनादित्यर्थः । यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैर्युगपदेको ब्राह्मणो नमस्क्रियमाणो हृद्यत एवमेकां विग्रहवतीं देवतामुद्दिश्य युगपत्सर्वे हवींषि त्यक्ष्यन्तीति न कश्चित्कर्मणि देवताया उपकारकत्वे विरोधः ॥ २७ ॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभावात्पक्षानुमानान्याम् ॥ २८ ॥

ननु माऽस्तु कर्मविरोधस्तथाऽपि शब्दे वेदवाक्ये विरोधः स्यादेव । अनित्यविग्रहवद्देवताया नित्यवेदार्थत्वाङ्गीकारे शब्दस्यार्थेन नित्यसं-

(श्री०) नात् । अनेकेषां प्रतिपत्तिस्तथाः । ऐश्वर्यविक्षेपाद्देवतानां युगपदनेकशरीरस्वीकारात् । तदेव कथमित्यत आह—दर्शनात् । तथाहि—'कति देवाः' इत्युपक्रम्य 'प्राणः' इत्यन्तेन श्रौतेन 'आत्मनश्च सहस्राणि' इत्यादिना स्मार्तेन च वाक्येन देवादीनामनेकशरीरप्राप्तिर्ह्येता ॥ २७ ॥

शब्द इतीति । मा भूत्कर्मणि विरोधो विग्रहादिमस्येन देवादीनां शब्दार्थानामनित्यत्वाच्छब्दार्थयोर्नित्यसंबन्धाभावाच्छब्दे देवैर्द्वयो-

(श्र० १००) ब्रह्मामावेन नित्यानित्यसंयोगविरोधादिति चेन्नाचमव्यसित विरोधः । कुतः । अतः प्रमदात् । देवादिनिष्ठनित्याकृतिवाचकाद्देवराज्ञेरेव देवादिमयञ्जस्य प्रमवाहुत्पक्षत्वश्रवणादित्यर्थः । तथा हि स्मृतिः—

अनादिनिधना नित्या वागुल्लुष्टा स्वर्षमुवा ।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।

वेदशब्देभ्य एषाऽऽदौ निर्भे स महेश्वरः । [महामा० १२ । २२३ । २४ । २५ । ] इति । श्रुतिरपि—<sup>१</sup> एत इति ह वै प्रजापतिर्देवानमुज्जतासु-  
ग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पित्रोस्तिरःपवित्रमिति ब्रह्मनाशब्द इति  
स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौमगेत्यन्याः प्रजाः<sup>२</sup> इति । तथा—<sup>३</sup>स  
मनसा वाचं मिथुनं समभवत् ।<sup>४</sup> [ वृ० १ । २ । ४ ] इति । अस्थार्थः—  
<sup>५</sup> एते अतृग्रभिन्दवस्तिरः पवित्रमाशब्दः । विश्वाम्भिसौमगा<sup>६</sup> इत्ये—  
तन्मन्त्रस्थपदैर्देवादीन्स्मृत्या ससर्ज ब्रह्मा । तत्रैतच्छब्द इन्द्रियाधिष्ठा-  
नदेवतास्मारकः । असुग्रशब्दोऽसुकृच्छब्दाच्यकषिरप्रधानदेहरमण्यमनु-  
ष्यस्मारकः । इन्दुमण्डलमध्यवार्त्तिपितृस्मारक इन्दुशब्दः । पवित्रं सौमं  
स्वमध्ये तिरस्कृतं चारयतां ब्रह्मणा तिरःपवित्रशब्दः स्मारकः ।  
ऋचोऽऽनुवतां प्रातवतां स्तोत्राणां गानरूपाणामाशवशब्दः स्मारकः ।  
विश्वेदेवज्ञांसनशाखाणां विश्वशब्दः स्मारकः । अभिसौमगेति शब्दो  
निरतिशयसौभाग्यवाचकः प्रजानां स्मारक इति । स प्रजापतिर्मनसा  
सह वाचं मिथुनमाथं समभवत्समभाववत् । अथीषकाक्षितां सृष्टिं मन-  
साऽऽच्छोषितवानिति यावत् । सूत्रस्थप्रत्यक्षानुमानशब्देन सूत्रेर्वेदप्रभवत्वं-  
प्रतिपादकभूतिस्मृती गृह्यते<sup>७</sup> । तथा च श्रुतिस्मृतिभ्यां वेदशब्दप्रभवत्वं

(श्रि०) भातर्थाभाष्यं न स्यादिति विरोध इति वेदेवं यदि तन्न । कुतः । अतः  
प्रमदात् । अतो वैदिकाच्छब्दाद्देवादिकस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिस्त-  
स्मात् । स एव कथमित्यत आह—प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । प्रत्यक्षं श्रुतिः  
प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात् । अनुमानं स्मृतिरतीद्विपर्यथात् ।<sup>१</sup> एत इति  
वै प्रजापतिः<sup>२</sup> इत्यादिका श्रुतिः । अनादिनिधना नित्या<sup>३</sup> इत्यादि  
स्मृतिः । अथैवाऽद्- करोतीत्यस्मदादीनां प्रथमतः शब्दः प्रतीयते  
पश्चाद्विह्वते । तद्विद्यं प्रत्यक्षं प्रजापतेरपि पूर्वं देवादिवाचकाः शब्दा

१ 'मं स्याच्छरीर । इति भक्त्यभूतिपुस्तके । २ स. 'जगत्' । ३ स. 'व न पुनः व' ।

(अ० १००) सुष्टेरित्यर्थः । आकृत्या लिङ्गेन विग्रहानङ्गीकारे कस्य सृष्टिः स्यादिति भावः । तस्माद्यथा गवादिशब्दानां नित्याकृतिवाचकत्वमेवं वैदिकशब्दानां नित्याकृतिवाचकत्वमिति न शब्देऽपि विरोध इति ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

अस्मृतकर्तृकत्वादिना सिद्धमेव वेदस्य नित्यत्वमनित्यार्थसंयोगे-  
नानुपपन्नमित्याशङ्क्य वेदादेवाऽऽकृतिविशेषावच्छिन्नदेवादिमुष्टिरिति  
प्रतिपादनाञ्जित्याकृतेरेव शब्दार्थत्वाज्ञानुपपन्नमित्यभिप्रायेण परिह-  
रति—अत एव नित्याकृतेः शब्दार्थत्वादेव वेदस्य नित्यत्वं नानु-  
पपन्नमित्यर्थः । एतत्सूत्रसूचितः प्रयोगश्च वेदोऽवान्तरप्रलयाव-  
स्थायां जगद्धेतुत्वादीश्वरवदिति अवान्तरप्रलयावस्थापित्यमेव ॥ हि  
नित्यत्वं नाम । अनुमानसिद्धार्थं श्रुतिरपि—‘पञ्जेन वाचः पदवीषमाव-  
न्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्’ [ अ० सं० १०। ७१। ३ ] इति ।  
पञ्जेन पुण्यकर्मणा वाचो वेदस्य पदवीषं ग्रहणयोग्यतामापन्नासवन्तोऽ-  
तस्तामृषिषु विद्यमानां वाचं याज्ञिका अन्वविन्दन्मूलविधिमन्तो बभू-  
वुरित्यर्थः । पूर्वस्थितामेव वाचं सर्वे ज्ञातवन्त इति तात्पर्यम् ॥ २९ ॥

समाननामरूपत्वाच्चाऽऽवृत्तावप्य-

विरोधो दर्शनात्सृतेश्च ॥ ३० ॥

नन्वाकृतिपदार्थकत्वेऽपि प्रलये सर्वाकृतिकव्यक्तिनाशे पुनस्तदाकृ-  
तिव्यक्त्युत्पत्तौ मानाभावाञ्जित्यानित्यसंयोगविरोधस्तदवस्थ इति चेदु-

(दी०) मनसि प्रादुरभवन्पश्चात्तान्ससर्जत्पुनमीयत इत्यनुमानम् । प्रत्यक्षं  
चानुमानं च प्रत्यक्षानुमाने ताभ्यामेव स विरोधः ॥ २८ ॥

तथोऽपि वेदस्य जनिमत्त्वेनानित्यत्वं स्यादित्यत आह—अत एवेति ।  
अत एव नित्यताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रमवत्त्वाञ्जित्यत्वमपि प्रत्ये-  
तव्यम् ॥ २९ ॥

मा भूदेवं शब्दविरोधस्तथाऽपि चदा पुनर्जगत्पूर्वं कृत्वा लीनं नवम-  
न्वज्जायते तदा स्यादेव विरोध इत्यत आह—समानेति । अन्वत्वेऽपि  
जापमानानां पूर्वेष्वपि पूर्वेषां चाऽऽवृत्तावपि प्रलयेऽपि विरोधः । कृतः ।

(न०५०) च्यते । सृष्टिप्रलयावृत्तावपि न शब्दे विरोधः । कस्मात् । समानामरूपत्वात् । न हि प्रलये जगतो निरन्वयनाशोऽस्ति वेनोत्पद्यमानं जगत्सद्विलक्षणं स्यात् । किं तु संस्कारात्मनाऽबिद्यार्थां तिष्ठत्येव जगत् । अनुभव इव भावनारूपसंस्कारात्मना । न चार्थसंस्कारे मानाभावः । मुदि मण्डकसंस्कारदर्शनाद्विप्रलयाख्यसुपुत्री सविपवेन्द्रिवाद्यर्थसंस्कारसद्भावाच्च । प्रबोधे पूर्वसजातीयव्यवहारात् । न च प्रतिदिनं सृष्टिप्रलययोः सद्भावे मानाभावः । 'यदा सुप्तः स्वप्नं न केचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैवं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति बह्वुः सर्वै रूयैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽऽग्नेर्वलतः सर्वां दिशो विस्फुल्लिङ्गा विप्रतिष्ठिरन्नेवमेवेतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवेभ्यो लोकाः' [ कौ० ३ । ३ ] इत्यादिभ्रुतेर्मानत्वात् । अन्वार्थः—अथशब्दरूपस्यार्थकः । यदेत्युपक्रमत् । प्राणशब्दः परमात्मपरः । अस्मिन्प्राणे जीव एवैकधा भवति तदात्मना तिष्ठतीत्यर्थः । तदैकीभावावस्थायामेनं प्रकृतं प्राणं परमात्मनमन्तर्बहिरिन्द्रियाणि सर्वाणि सविपचाणि अपिपन्ति परमात्मनि लीनानि भवन्तीत्यर्थः । प्रबोधे तस्मादेव परमात्मनो जगतो जन्माऽऽह—स इति । अविलम्बेनोत्पत्तौ दृष्टान्तः—यथेति । एवंशब्दात्पूर्वं तदेत्यध्याहारः । प्राणा चामाद्यस्तेभ्योऽनन्तरं तदनुग्राहकत्वेना अग्न्याद्यस्तेभ्योऽनन्तरं लोकाः शब्दादिविषया इति । तथा च यथा संस्कारबलात्पूर्वमण्डकादिसमानानामरूपत्वमुत्तरकार्यस्यैवं पूर्वकल्पितप्रपञ्चसमानानामरूपत्वादुत्तरप्रपञ्चस्येति पूर्वाकृतिभ्यस्त्युत्पत्तेर्न शब्दैः कश्चिद्विरोधः । समानानामरूपत्वं च क्षुतौ दर्शनात्सृतेभ्याम्पुपगन्तव्यम्—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् । विवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' [ ऋ० सं० १० । १९० । ३ ] इति । तथा नक्षत्रेष्टौ—अग्निर्वा अकामयत् । अन्नादो द्वैवानाः स्वामिति । स एतमग्रये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं

(टी०) समानानामरूपत्वात्पूर्वैर्वां नोत्तरेषामिति शेषः । समानं सदृशं नाम गौतमादि रूपं च सहस्राक्षत्वादि 'येषां ते' समानानामरूपास्तेषां भावस्तत्सर्वं तस्मात् । चकारात्कार्यस्य सत्त्वादिपि । समानानामरूपत्वमेव कुत

(म०१०) निरवपत् <sup>१</sup> [ तै०भा० ३।१।५।१ ] इति । भाविष्टुत्तिमाश्रित्य यजमानोऽग्निरित्युच्यते । एवं कामयित्वा किं कृतवर्तस्तदाह—स इति । कृत्तिकाभ्यः कृत्तिकारूप्यनक्षत्रदेवतायै । षड्वचनं नक्षत्रवाहुत्पाद्गो-  
ध्यम् । अष्टाकपालमष्टसु कपालेषु पचनीयं निरवपत् । उक्तपुरो-  
डाशाहविष्कामिष्टिं कृतवानित्यर्थः । तथा च योऽग्निर्वस्मा अग्रये निर-  
वपत्तयोः समाननामरूपत्वं दर्शयतीति सिद्धम् । स्मृतिरपि—

यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।

दृश्यन्ते तानि तान्वेष तथा भावा युगादिषु ॥

[ महाभा० १२ । ८५५० ] इत्यादिका द्रष्टव्या ॥ ३० ॥

उक्तं देवादीनामधिकारमाक्षिपति—

मध्वादिष्वसंज्ञवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

देवादीनां ब्रह्मविद्यायामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कस्मा-  
न्मध्वादिष्वसंज्ञवात् । एवं हि मधुविद्या श्रूयते—‘असौ वा आदित्यो  
देवमधु [ छा० ३ । १ । १ ] देवानां मोदनान्मध्यिव मधु तस्य मधुनो  
द्युलोक एव तिरश्चीनवंशः । अन्तरिक्ष आदित्याख्यमधुनोऽवस्थानात्तदेव  
मध्वाधारो यूपः । रोहितं ब्रह्मं कृष्णं परः(?) (रं) कृष्णं गोप्यं चेति पञ्च  
रोहितादीन्यसृतानि प्रागायुर्ध्वान्तपञ्चविंशत्यभिरादित्यरश्मिनाही-  
मिमंभुच्छिद्रभूताभी रोहिताद्याख्याभिस्तत्तद्देवोक्तकर्मकुसुमेभ्यस्तत्तद्दे-  
विकमन्त्रमधुकरैरादित्यमण्डलमानीतानि । पञ्चममसृतं गोप्यारूपं  
प्रणवकुसुमादुपासनाभ्रमरैरूर्ध्वदिग्गतसूर्यरश्मिरूपगोप्यारूपमधुच्छिद्रद्वा-  
राऽऽदित्यमण्डलमानीतम् । रोहितादिकमसृतं मकरन्दस्थानमूर्तं बह्वी  
हृतसोमाज्यपचःपुरोडाशादिरूपं द्रष्टव्यम् । तानि च रोहितादीन्यसु-  
तानि यज्ञस्तेजोवीर्यसकलेन्द्रियान्नरूपेण निष्पन्नान्यादित्यमधुसंबन्धीनि  
प्रागादिदिक्षु क्रमेण विद्यमानानां वस्तुद्रादित्यमरुत्साध्यरूपाणां देवाना-

(दी०) इत्यत आह—दर्शनास्मृतेश्च । दर्शनं ‘सूर्याचन्द्रमसौ’ इत्यादि ।  
स्मृतिरपि ‘ऋषीणां नामधेयानि’ इत्येवमादिका ॥ ३० ॥

मथिति ‘असौ वा आदित्यो देवमधु’ आदिशब्देनायमेव गौत-  
मोऽयं भारद्वाज इत्याद्याः । तासु मध्वादिषु विद्यास्वेादित्यादिरू-

(अ० १००) भुवजीध्वानीत्पेक्षं चिन्तयतां फलं वस्वाद्यातिरुच्यते । वस्वादीनां समानानां मध्य एको भूत्वा यज्ञाद्याद्युतं प्रत्यक्षानुमानादिभिः करणैरुपलभ्य तुष्यतीति । न ह्येवं भूतमधुविद्यायां सूर्यवस्वादीनां देवानामधिकारः संभवति । एकस्पोपास्योपासकभाषशाप्यपापकभावयोर्विरोधात् । सूत्रस्थादिज्ञानेन यासु विद्यासु आदित्यो मन्त्रेत्येवमादिकृपासु देवानामुपास्यत्वं ता विद्या मृह्यन्ते । तथा— 'इमावेव गौतमभरद्वाजाचयमेव गौतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवाग्निः ' [ बृ० २ । २ । ४ ] इत्याद्यासु विद्यासु ऋष्युपास्यकासु न तेपामेव ऋषीणामधिकारः संभवति । श्रुत्यर्थस्तु—इमौ दक्षिणवामकर्णौ क्रमेण गौतमभरद्वाजाविष्णुपास्यौ । द्वितीयेनावित्यनेन दक्षिणवामासिद्धयोक्तिः । तृतीयेनावित्यनेन दक्षिणवामनासिकासिद्धयोक्तिः । एवं सप्तसु त्रीर्षयेन्द्रियेषु सप्तर्ष्युपास्तिरित्यर्थः । न च मध्वादिविद्यासु देवादीनामधिकारे ब्रह्मविद्यायामधिकारः किं न स्यादिति वाच्यम् । विद्यात्वाविशेषेण ब्रह्मविद्यायामप्यनधिकारात् । तथा चायं प्रयोगः— ब्रह्मविद्या न देवादीनधिकरोति विद्यात्वान्मध्वादिविद्यावदिति ॥ ३१ ॥

अपि च—

ज्योतिषि ज्ञावाच्च ॥ ३२ ॥

अमणवत्तया परिहृश्यमानज्योतिर्मण्डल एव सूर्यचन्द्रादिवेदताज्ञानानां लोके प्रयोगसद्भावात्मण्डलस्य सृष्टिण्हादिवदचेतनत्वेन विग्रहाभावाद्दृशिवत्वादीनामपि तत्तुल्यत्वेन सामर्थ्याद्विश्रुतधर्मस्याभावाच्च देवादीनामधिकारः । न च मन्त्रार्थवादेभ्यो देवानां विश्वहृवस्वसिद्धेः सर्वं सुस्थमिति वाच्यम् । तेषामन्यपरत्वेन स्वार्थं प्रामाण्याभावात् । तस्माद्देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकाराभावं जैमिनिर्मन्यत इति शङ्कासूत्रपौरमिषाच ॥ ३२ ॥

(श्री०) एष्व पूर्वमेव सिद्धत्वात्फलाभावात्संभवस्तस्मात्कारणाद्ब्रह्मविद्यायामपि अनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ ३१ ॥

ज्योतिषीति । न केवलं फलाभावादनधिकारो ज्योतिष्यादित्यमण्डलादावादित्यादिशब्दानां भावाच्च सत्त्वात्प्यचेतनत्वाद्दीप्यत्वर्थः ॥ ३२ ॥



(अ० १०१) सिद्धान्तयति—

भावं तु वादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । वादरायण आचार्यो ब्रह्मविद्यायां देवादीनामधिकारस्य भावं मन्यते । यद्यपि देवतामित्रोपासनास्वनाधिकारस्तथाऽपि निर्गुणब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकारोऽस्ति हि । पूर्वोक्तस्य विद्यात्वादित्वनुमानस्य ज्योतिष्टोमादि न ब्राह्मणकर्तव्यं कर्मत्वाद्वाजस्युवदित्वाभाससाम्यं द्रष्टव्यम् । यद्वा ज्योतिषि भावाच्चैतस्योत्तरमस्ति हीति । यद्यपि देवताशब्दा ज्योतिरादी प्रयुज्यन्ते तथाऽपि तदभिमानिदेवतापरा एव संभवन्ति । अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाज्ज्योतिरादिरूपेणावस्थातुं विश्रमं गृहीत्वा व्यवहर्तुं च सामर्थ्यम् । तथा हि श्रुयते—‘भेषातिथिं भेषेति । भेषातिथिं काण्वाचनं भेषो भूवेन्द्रो जहार’ [ पञ्चविं० ब्रा० १।१ ] इत्यर्थः । तथा स्मर्यते च—‘आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम’ इति । नन्वर्थवादादीनां स्वार्थं प्रामाण्यामावात्कथं तेषां विश्रहवस्वसिद्धिरिति चेत्तत्राप्यस्ति हीत्येषोत्तरम् । मानान्तरविरोधसंभवादेरभावे तेषु एव विश्रहसिद्धिरिति । तथा हि अर्थवादादिभिः स्तुत्यादिकं लक्ष्यता वाच्यार्थोऽङ्गीकृत एव । न हि वाच्यार्थाभावे लक्षणा युक्ता । किं च ब्राह्मो ब्राह्मस्त्वमेव पजेतेत्यादौ ब्राह्मस्वरूपाकाङ्क्षायां सावित्रीपतितो ब्राह्मो यस्य पिता पितामहो वा सोमं न पिचेत्त ब्राह्म इति ब्राह्मस्वरूपं विध्यपेक्षितं सद्भिधिप्रमाणकमित्युच्यते । यथा वा स्वर्गरूपं विध्यपेक्षितं सद्भिधिप्रमाणकं तथा निःस्वरूपदेवतोद्देशेन द्रव्यत्यागायोगाद्भिध्यपेक्षितं देवतादित्स्वरूपं विश्रहवस्त्वं विधिप्रमाणकमेव । एवं मन्त्रार्थवाङ्मृत्यक्षमूलेतिहासपुराणादिभिरपि विश्रहवस्वसिद्धिः । न च प्रत्यक्षमूलत्वं पुराणादीनामसिद्धमिति वाच्यम् । तत्कर्तृणां योगमाहात्म्याद्देवादिभिः सह प्रत्यक्षव्यवहारसंभवात् । तथा च श्रुतिर्योगमाहात्म्यमाह—‘पृथक्प्रेतानिलक्षे समुत्थे पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् [ श्वे० २।१२ ] ।

(श्री०) भावमिति । तुशब्दो जैमिनीयपक्षव्यावृत्त्यर्थः । वादरायण आचार्यो देवादीनामधिकारसद्भावमाह हि यस्मादस्ति देवताधिकारस्य

‘३०५-’ इति । पादतलमारभ्याऽऽद्यानां जनेरा नाभेनाभिराशीर्धं श्रीवाया-  
श्चाऽऽक्षेपाशेहमाकाशधोहावाऽऽक्षरम् इत्यंण पृथिव्यादिधारणया  
पृथिव्यादिपश्चात्तमे भूतमनुदाये समुत्थिते प्रतिपत्तिद्वारा वशीकृते  
योगगुणे चानिनादीं प्रवृत्ते योगाभिव्यक्तं तेजोमयं देहं प्राप्तस्य योगिनो  
न योगादिप्रतिग्न्यर्थः । तस्मात्समूहेतिहासपुराणादिभ्यो विग्रहवच्य-  
सिद्ध्यावधित्वादिसंभवाद्देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति क्रममु-  
क्त्युपात्तानामु मुहुक्षुप्रवृत्तिरधिकलेति सिद्धम् ॥ ३३ ॥

(शूद्राणां वेदानधिकारकथनपूर्वकं शोकाकुलत्वेन शूद्रनाममात्रधा-  
रिणो जानधुतेर्ब्रह्मविद्याधिगमः । अधि० १० ।)

शुश्रूष्य तदनादश्रयणात्तद्राद्रवणात्सुच्यते हि ॥ ३४ ॥

पूर्वं यथा 'तद्यो यो देवानाम् ।' इति देवशब्दस्य मनुष्याधि-  
धिकारनिर्नापवादेन देवानामधिकार उक्तस्तथा मुमुक्षौ जानधुती  
शूद्रशब्दस्य लिल्लेन द्विजात्पधिकारनिर्णयमपोद्य शूद्रस्याप्यधिका-  
रोऽस्तििति ह्यान्नहंगत्वेदमारभ्यते । शूद्रशब्दस्य सिद्धान्ते क्षत्रिये  
समन्वयोक्तेरप्यापान्तर्भावोऽस्य युक्तः । शूद्रशब्दस्यैव वेदान्तानां  
स्वार्थं समन्वयसिद्धेः श्रुतिसंगतिः । पूर्वपक्षे जातिशूद्रस्यापि ब्रह्मवि-  
द्यायां त्रिवाणिकाद्विशेषः कलं सिद्धान्ते ततो विशेष इति विवेकः ।  
एवं किल्लान्न च्छान्दोग्ये चतुर्थाध्याय उवाच्यायते—जानधुतिः पीत्रा-  
यणः प्रियातिथिर्वह्नददाता बहुसदृणां वभूव तस्य राज्ञो गुजगणगारि-  
मसंतोपिताः सन्तो देवर्षयो हंसरूपमास्थाय निदाचसमथे प्रासादोपरि  
शयानस्थास्य राज्ञ उपरि मालामावध्याऽऽजग्मुस्तेवागग्नेसरं हंसं संवोध्य  
पृष्ठत आगच्छज्ञेको हंसः साज्जतनभ्युवाच—भो भो महाक्ष महाक्षास्य  
राज्ञो जानधुतेर्ह्रलोके व्याप्य विद्यमानं तेजो न पश्यसि किं तत्रे-  
जस्त्वां घटयति । अतस्तद्विलक्ष्य न गच्छेति । महाक्षेत्सुपहासः ।

(क्ष०) सुचकं वाचयजतं तथा विग्रहादिसत्त्वेऽर्धित्वादीं च ब्रह्मविद्यायाः  
साकल्येऽपि 'हन्त तमात्मानम्' इत्युपक्रम्य 'इन्द्रो ह वै देवानाम्'  
इत्यादि 'तद्यो यो देवानाम्' इत्यादि च ॥ ३३ ॥

पूर्वाधिकरणेऽत्रिवाणिकदेवानां 'तद्यो यः' इति लिल्लादधिकार उक्त-  
स्तद्विद्याधिकारिणः शूद्रशब्देन परामर्शास्त्रिणाद्वित्यादीनां च

१ य. '१५५-’ इति । २ य. 'विमले' । ३ य. 'शैतानां' । ४ य. 'यथां वां संज्ञाम्'  
३० ।

(अ०१०१) भद्राक्षेत्यर्थः । इदमुपश्रुत्याद्यगामी हंसः प्रत्युवाच—‘कमु वर एन-  
 भेतत्सन्तः सयुग्धानमिव रैकमात्थ ’ [ छा० ४ । १ । ३ ] इति । अय-  
 मर्थः—वरंति सोपहासं संबोधनमवरत्यर्थः । यद्वा वरो वराको जान-  
 श्रुतिः । कमुपद्माक्षेपार्थकं कथमित्यर्थः । रैको नाम कश्चन ब्रह्मिष्ठः ।  
 योजयति देशान्तरं गमयति स्वाकृष्टमिति पुण्या गन्धी शकटी तथा  
 सह वर्तत इति सयुग्धानमित्यर्थः । तथा चैनं वराकं जानश्रुतिं प्राणि-  
 मात्रं सन्तं मूढमरे सयुग्धानं भगवन्तमसह्यतेजसं रैकमिव कथमेतद्दृचनं  
 नवीषि । इदं श्रुत्वाऽयं राजा ब्रह्मविद्यार्थं रैकसमीपं गत्वा कृतार्थो  
 भविष्यतीति वृथालूनां हंसानामभिप्रायः । अथैव राजा हंसप्रयुक्तमना-  
 वरावाक्यं श्रुत्वा स्वस्यात्यन्तं निष्कर्षमुत्कर्षकाठां रैकस्य ज्ञात्वा दुःखि-  
 तमनाः कथमपि निज्ञामतिशाहृषांभभूव । ततो निशावसानसूचकं  
 बन्दिदृन्दसमारब्धस्तुतिसहस्रसंबलितमङ्गलतूर्यनिर्घोषमाकर्ण्य तल्पत-  
 लस्य एव राजा झटिति यन्तारमाहूयाऽऽदिदेश । विविक्तदेशेषु पर्य-  
 तगुहादिषु रैकाह्वयं सयुग्धानमन्विष्य पतन्तोऽस्मभ्वमाचक्ष्वेति । स  
 यन्ता तथैव क्वचिदतिविविक्तदेशे शकटस्याधस्तात्सन्तं पामानं कण्डू-  
 यमानं हृत्वाऽयमेव रैक इति निश्चित्यातिकुशलो रैकस्य तैस्तैरिच्छितैर्गा-  
 ह्रस्थेच्छां धनेच्छां चोन्नवीव निवेदयामास । स राजा तस्मिन्मय गवां  
 षट् शतानि रथं चाश्वदुक्तमादाय ससत्वरं रैकमुपससाद् । उपसद्य  
 चोवाच हे रैकेदं सर्वं गधादिकं गृहीत्वाऽनुशाधि मां भगवन्निति ।  
 तथैवमुक्तयन्तं ससंभ्रमं सस्पृहं चोवाच रैकः । ‘अह हारेत्वा शूद्र  
 तथैव सह गोमिरस्तु ’ [ छा० ४ । २ । ३ ] इति । अहेति निपातः  
 साटोपाह्वानमाह । शूद्रेति । हारेण युक्तो रथो हारेत्वा गोभिः सहि-  
 तस्तथैवास्तु किमेतावन्मात्रेण मम निर्वाहानुपवोगिनेति भावः ।  
 एवं स्थिते चिन्ता किं शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति न  
 चेति । अस्तीति तावत्भासम् । कस्मात् । अर्धित्वादिसंभवाद्देवाध्ययन-  
 साध्याहवनीयाद्यभावेनाग्निसाध्यकर्मानधिकारेऽपि देवादिवद्विद्यायाम-  
 धिकारसंभवात् । संवर्गविद्यायां मुमुक्षौ जानश्रुतौ शिष्ये रैकेण

(दी०१)सत्त्वाच्छूद्रस्याप्यधिकार इति हृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—शुभ-  
 स्वेति । शूद्रशोकोऽस्य जानश्रुतेः पौत्रायणस्य तत्तेषां हंसानामात्मन्य-  
 नादरोऽवज्ञानम् । ‘कम्बर एनभेतत्सन्तम् ’ इत्यादिना अवघात् । श्रुत-  
 द्वात्तथा रैकमत्याद्रवणादागमनाद्धि यस्माद्रैकेण ’ अह हारेत्वा

‘अ०१००’ (गुरुणा शूद्रशब्दप्रयोगाच्चेति । अत्र सूत्रम्—न शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायाः पारमधिकारः । उपनयनाभावेन वेदाध्ययनाभावात् । न हि वेदाव्यवधिकारः साध्यब्रह्मविद्यापामनधीतवेदस्याधिकारः संभवति शास्त्रीयसामर्थ्याभावात् । न चैवं सति देवानामप्यनधिकार इति साम्प्रतं तेषां स्वयंप्रभातवेदत्वात् । न च शूद्रस्यापि लिखितपाठादिना वेदप्राप्तिरिति युक्तम् । गुरुपसदनपूर्वकाध्ययनसंस्कृतवेदस्यैव ब्रह्मविद्यागुणकारकत्वात् । न च शूद्रभ्रमणालिङ्गेन तस्याधिकारः । न्यायामाये लिङ्गस्यासाधकत्वात् । तर्हि वैदिकशूद्रशब्दोऽनर्थकः स्यादित्याशङ्क्य तं व्याख्यातुमिदं सूत्रं गुणस्येति । अस्य जानश्रुतेः क्षत्रियस्य तदनादरभ्रमणात्तस्य हेतुस्थानादरभ्रमणाद्या गुणुत्पत्त्या सा शूद्रशब्देन सूच्यते रिक्रेण । स्वस्य सर्वज्ञत्वज्ञापनार्थं रिक्रेणः शूद्रशब्दं प्रयुक्तवानिति भावः । शूद्रशब्दं योगेन क्षत्रिये वर्तयति—तदाद्वेषणादिति । तस्याः श्रुचो जानश्रुतिप्राप्तत्वादित्यर्थः । यद्वा तस्य जानश्रुतेः ह्युचं प्राप्तात्वादिति । अथ वा तं रिक्रेण मति जानश्रुतिः श्रुचा दुद्रयेति शूद्रो जानश्रुतिरुच्यते । अतो न शूद्रस्याधिकारः ॥ ३४ ॥

ननु मुख्य एव शूद्रो जानश्रुतिरस्तु किं नचन्धेन योगेनेत्यत आह—  
क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

जानश्रुतिर्न मुख्यशूद्रः कुतः । क्षत्रियत्वगतेः । क्षत्रियत्वावधृतेरित्यर्थः । साऽपि कुतः । उत्तरत्र संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथेन प्रसिद्धक्षत्रियेणाभिप्रतारिनामकेन सह समभिव्याहारात्मकलिङ्गादित्यर्थः । सजातीयानामेष हि प्रायेण सहचारी भवतीति भावः । एवं ह्यभिप्रतारी संकीर्यते—‘अथ ह शौनके च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणां ब्रह्मचारी विमिक्षे’ [ छा० ४ । ३ । ५ ] इति । संवर्गविद्याविषयन्तरमर्थवादारम्भार्थोऽवशब्दः । शूनकस्यापत्यं शौनकं कापेयं कापिगोत्रं पुरोहितमभिप्रतारिणं च नाम्ना राजानं कक्षसेनस्यापत्यं काक्षसेनिं तौ भोक्तृमुपाविष्टौ सूदेन पाचकेन परिविष्यमाणां सेष्यमानौ

(दी०) शूद्र इति शूद्रशब्देनाऽऽमनः परोक्षविषयं ज्ञानमस्तीति सूच्यते । अतो न जानिशूद्रो जानश्रुतिः ॥ ३४ ॥

कठिरेष कुतो न स्वी क्लियत इत्यत आह—क्षत्रियेति । क्षत्रियत्वस्यापि गतिरवगतेरुत्तरत्र संवर्गविद्यावाक्यशेषे ‘अथ ह शौनकं च कापे-

(न० व०) भिक्षितवानित्यर्थः । अस्य चाभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं कापेयेन चित्र-  
रथपुरोहितेन योगाद्व्यगन्तव्यम् । चित्ररथपुरोहितत्वं च कापेयानां श्रुती  
प्रसिद्धम् ' एतेन चत्ररथं कापया अगमयन् ' [ ताण्ड्यब्रा० २० ।  
१२ । ५ ] इति । एतेन द्विरात्रण । समानान्वयानां हि प्रायेण समाना-  
न्वया एव याजका भवन्ति । ननु चित्ररथपुरोहितकापेययोगादभिप्रता-  
रिणश्चैत्ररथत्वं भवतु तथाऽपि कथं क्षत्रियत्वमिति चेन्न । ' तस्माच्चैत्र-  
रथिर्नामैकः क्षत्रियपतिरजायत ' [ ताण्ड्यब्रा० २० । १२ । ५ ] इति  
श्रुतेः । तस्माच्चैत्ररथादित्यर्थः । एवमभिप्रतारिणः क्षत्रियस्ये सिद्धे  
तत्समभिव्यवाहारात्मकलिङ्गाज्ज्ञानश्रुतेः क्षत्रियत्वमिति सिद्धम् ॥३५॥

संस्कारपरामर्शाच्चदशावाधिलापाच्च ॥ ३६ ॥

आद्यसूत्रे वेदाध्ययनाङ्गोपनयनाभावाच्च जातिशुद्धस्याधिकार  
इत्युक्तम् । इदानीं तु ब्रह्मविद्याङ्गोपनयनाभावाच्च तस्याधिकार इत्युच्यत  
इति भेदः । इतश्च न जातिशुद्धस्याधिकारः । कस्मात् । विद्योपदेशोप-  
नयनादिसंस्कारपरामर्शात् । ' तं होपनिन्ये ' [ शं० ब्रा० ११ । ५ ।  
३ । १३ ] ' अधीहि भगव इति होपससाद् ' [ छा० ७ । १ । १ ]  
' ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्धेषमाणा एव ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते  
ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ' [ प्र० १ । १ । ] इति ।  
अयमर्थः—तं विद्यार्थिनमाचार्यः किलोपनिन्य उपनीतवान् । अनुप-  
नीताय विद्यादानायोगादिति तात्पर्यम् । सनत्कुमारं प्रति नारदः  
' अधीहि भगव इति ' इमं मन्त्रमुच्चार्य गुरुपसदनं कृतवानित्याह—  
अधीहीति । भरद्वाजादयः षड्गुरुषः परं ब्रह्म परत्वेनोपगतवन्त इति  
ब्रह्मपरास्तद्ध्यानमिष्ठाश्च ब्रह्ममिष्ठाः परं परमार्थरूपं ब्रह्म विचारयन्तो  
निर्णयार्थमेव पिप्पलादस्तज्जिज्ञासितं सर्वं वक्ष्यतीति निश्चित्य रिक्तह-  
स्तानां गुरुपसदनायोगात्समित्पाणयः सन्तस्तमुपसन्नाः किलेत्वाह—

(क्षी०) एवमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिस्य ' इत्यभिप्रतारिणश्चैत्ररथस्य श्रवणं  
तेन समानाचार्यं संवर्गविद्यावाधिकांशुलिङ्गाद्धेतोः ॥ ३५ ॥

संवर्गतिरेकेणाशुद्धस्याधिकार इत्यत आह—संस्कारेति । संस्कारा  
उपनयनादवस्तेषाम् ' तं होपनिन्ये ' इत्यादिना ब्रह्मविद्याधिकारे पराम-  
र्शात्सवगमस्तस्मान् शुद्धोऽधिकारी । तेऽपि तस्य सन्विति मन्तव्यमित्यत  
आह—तदभावाधिलापाच्च । तेषां संस्काराणामभावस्तदभावस्तस्य

(म०१०) ब्रह्मपरा इति । ननु 'तान्दानुपनीषेव' [छा०५।१।१५] इत्यनुपनीतानामपि वैश्वानरविद्यायावधिकारधुतेरन्वितमुपनयमिति चेन्न । निषेधस्य प्राप्त्यपूर्वकत्वात्वातोपनयनानां प्राचीनशालादीनां द्विजातीनामेवाधिकारात् । निषेधस्तु विद्योपदेशरश्चयते राज्ञो म्यूनवर्षत्वाद्ब्रह्मण्यः । तान्प्राचीनशालादीनूपीननुपनीषेवाश्वपती राज्ञोदाचेति ध्रुत्वर्थः । ननु शूद्रस्याप्युपनयनं कल्प्यतामित्यत आह—तदभावाभिलाषाचेति ।

'न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति' [मनु० १०।४] शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः [मनु० १०।१२६] इत्यादिनोपनयनादिसंस्काराभावाभिलाषादित्यर्थः । पातकं भक्षयामक्षयविभागाभावकृतम् । एकजातिरुपनयनरहित इति स्पष्ट्यर्थः ॥ ३६ ॥

किं च—

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

जावालो हि मृतपितृको गुरुपसदनं कर्तुं कामो गोत्रमजानानो मातरं पप्रच्छ किं गोत्रोऽहमस्मीति साऽप्यहं न जानामीत्युवाच । ततः स जावालो गौतममुपससादोपसद्य उवाच हे भगवन्ब्रह्मचर्यं चरितुं त्वयीच्छामि मामनुगृह्णातु भवानिति । ततो गौतमेन किं गोत्रोऽस्तीति पृष्टः सत्यकामो जावाल आह—नाहं गोत्रं वेद् नापि मन्यातेति । ततः स गौतमस्तदीधेन सत्यवचनेन जावालस्य शूद्रत्वाभावं निश्चित्य प्रवृत्ते—'नैतद्ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये न सत्पादगाः [छा० ४।४।५] इति । एतत्सत्यवचनं विविच्य निःसंदिग्धं वक्तुमब्राह्मणो नार्हति अतएवं न सत्पादगाः सत्यवचनास्त्रातिगतोऽसि । अतस्त्वानुपनेष्ये तदर्थं समिधमाहरेत्यर्थः । ततश्च सूत्र-

(श्री०) 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' इत्यादिस्मरणेनाभिलाषस्तस्मात् । चकारादाचारादपि ॥ ३६ ॥

नन्वसंस्कृतविषयः शूद्रशब्दो न जातिविषय इत्यत आह—तदभावेति । तस्य जातिशूद्रत्वस्याभावस्तदभावस्तस्य निर्धारणम् । 'नैतद्ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति' इत्यनेन निश्चयः सत्यवचनेन तस्मिन्जाते जावालं गौतम उपनेतुमनुशासितुं च 'समिधं सोम्य' इत्यादिना प्रवृत्तेः । प्रवृत्तेः प्रवर्तनं

(ब्र०३०।) स्थापमर्थः—तस्य श्रुत्वस्वामावनिर्धारणे सत्येव विद्योपदेशे प्रवृत्तिदर्शनादिति । तस्मान्न श्रुत्स्वाधिकारः ॥ ३७ ॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

इतश्च न जातिश्रुत्स्वाधिकारः । यतः स्मृतितो वेदश्रवणस्य तदध्य-  
यनस्य तत्प्रयोजनयोरर्थज्ञानानुष्ठानरूपयोरर्थयोः प्रतिषेधादित्यर्थः । एवं  
स्मरन्ति—‘अथास्य वेदमुपपद्युष्यतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रपूरणम्’  
[ गी० धर्म० १२ । ४ ] इति श्रवणस्य निषेधः । त्रपुजतुभ्यां संतप्ताभ्यां  
सीसलाक्षाम्यामस्य श्रुत्स्य ब्रवाभ्यां श्रोत्रद्वयपूरणं वेदश्रवणप्रायश्चित्त-  
मित्यर्थः । ‘यद्यु ह्य वा एतच्छ्रमशानं यच्छ्रुत्स्मृतस्माच्छ्रुत्समीपे नाध्येत-  
व्यम्’ [ वा० धर्म० १८ । ११ ] इत्यध्ययननिषेधः । न ह्यश्रुतस्याध्ययनं  
संभवति । पद्यु पादयुक्तं संचारसमर्थमिति यावत् । ‘न श्रुत्वाय मतिं  
व्यात्’ [ मनु० ४ । ८० ] इति तदर्थज्ञाननिषेधः । ‘द्विजातीनाम-  
ध्ययनमिष्या दानम्’ [ गी० १० । १ ] इति तदर्थानुष्ठाननिषेधः  
श्रुद्वाणाम् । दानशब्देनात्र नित्यदानमुच्यते नैमित्तिकदाने श्रुत्स्वाप्य-  
धिकार इति द्रष्टव्यम् । सिद्धरथमभ्यासभृतीनां तु पूर्वजन्मकृतश्रवणा-  
दिना गर्भस्थवामदेववज्ज्ञानोत्पत्तिर्मन्तव्या । तस्मान्न कथमपि ब्रह्मवि-  
द्यायां श्रुत्स्य वेदपूर्वकोऽधिकार इति सिद्धम् ॥ ३८ ॥

(प्राणत्वेनाऽऽम्नातानां वज्रवायुपरेक्षानां मध्ये परेक्षस्यैव तादृश-  
प्राणशब्दवाच्यत्वम् । अधि० ११ )

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

समाप्तः प्रासङ्गिकोऽधिकारविचारः । इदानीं प्रकृतं वाक्यार्थविचारं

(दी०।) प्रवृत्तिस्तस्याः । चकारोऽसंस्कृतानां श्रुत्वं चतुर्थो वर्ण इत्यादिवि-  
रुद्धमित्याह ॥ ३७ ॥

ननु गीतमस्य मतमित्यत आह—श्रवणेति । श्रवणं चाध्ययनं  
चार्थश्च श्रवणाध्ययनार्थास्तेषां प्रतिषेधः स्मर्यते । श्रवणप्रतिषेधः—  
‘अथ हास्य वेदम्’ इत्यादिना स्पष्टं स्मृतानुपलभ्यतेऽर्थाध्ययनादेः ।  
अतो न मतं गीतमस्य किं चै न श्रुत्स्वाधिकारः । चकारादाचा-  
रादपि ॥ ३८ ॥

शब्दादेवेत्यस्मिन्नधिकारणे ब्रह्मवाक्ये जीवानुवाचो ब्रह्मैक्यबोधोधायेत्यु-

(अ०५०) प्रथर्वविष्णोः । ' शब्दादेव प्रमितः ' [ अ० सू० १।३ । २४ ] इत्यत्र ब्रह्मवाक्ये जीवानुवादी ब्रह्मव्यजानापेस्युक्तम् । न तथेह वदिव-  
मित्पाविशाक्ये प्राणानुवादी युक्तः । प्राणस्य स्वरूपेणापि कल्पितस्य  
ब्रह्मव्यायोगादिति प्रत्युदाहरणसंभत्याऽऽस्थाऽऽरम्भः । प्रासङ्गिकत्वा-  
भ्राव्यवहितेन संगत्वपेक्षा । पूर्वपक्षे प्राणोपास्तिः फलं सिद्धान्ते निर्वि-  
शेषब्रह्मज्ञानमिति भेदः । काठकवाक्यं पठ्यते—

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।

महद्भ्रमं वज्रमुद्यतं य एतद्द्विदुरद्युतास्ते भवन्ति ' [ काठ० २।६।२ ]

इति । अस्यार्थः—यत्किंचेद्वनविशिष्टं जगत्सर्वं प्राणे निमित्ते  
सत्प्रेजति चेदति । एजू कम्पन इति धातोः कम्पनार्थकत्वात्कम्पनं  
चेद्वेदेति चेदन इत्युक्तम् । तत्र जगत्समादेव निःसृतमुत्पन्नम् ।  
तत्र प्राणार्थं जगत्कारणं महद्भ्रमवच्छिन्नं विभेत्समात्सर्ववाप्यादीति  
मयम् । ' भीपाऽऽस्माहातः पठते ' [ तै० २ । ८ ] इत्या-  
दिभ्रुत्पन्त्रात् । तदेव मयहेतुत्वं निरूपयति—ब्रह्ममिति ।  
उद्यतं वज्रनिवित्यर्थः । प्राणाख्यब्रह्मज्ञानात्तस्य मोक्षहेतुत्वमाह—  
य इति । अत्र संवापः किं प्राणशब्देन मुख्यप्राणवायुं गृहीत्वा  
ब्रह्मशब्देन चाज्ञानहेतुं वायुं लक्षयित्वावपविपयकमेकमुपासनं विधे-  
यमुत निर्विशेषं ब्रह्मानेन वाक्येन प्रतिपाद्यमिति । तत्र तावदुपास्तित्प-  
रमिति युक्तम् । प्राणशब्दस्य तत्र प्रासङ्ग्येः । वायो हि पञ्चममायेन  
विवर्तमाने विद्युन्मेषवृष्ट्यज्ञानयो जायन्त इत्यज्ञानहेतुवायुलक्षकत्वं वज्र-  
शब्दस्यापि युक्तम् । न च मोक्षफलश्रवणविरोधः । तस्मात् । ' वायुरेव  
व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मुक्तुं जयति य एवं वेद ' [ वृ० ३ । ३ ।  
२ ] इति वायुवेदनस्यापि मोक्षहेतुत्वश्रवणादित्येवं प्राप्ते इमः—शब्दा-  
देव प्रमित इति व्यवहितमपि मण्डूकपुत्रवदनुवर्तते । अस्मिन्वाक्ये  
प्राणादिशब्दात्परमात्मैव प्रमितः । कुतः । कम्पनात् । सर्वशब्दवाच्यस्य  
सवायुकस्य जगतः कम्पनाजीवनादिचेष्टाहेतुत्वादित्यर्थः । ब्रह्मण्यपि  
प्राणशब्दप्रयोगो बहुलं वेदे दृष्टः । ' प्राणस्य प्राणम् ' [ बृह० ४ । ४

(दी०)कम् । इह तु प्राणस्य स्वरूपेण कल्पितस्य न ब्रह्मैक्यसंभव इत्यत-  
स्तदनुवादानुपपत्तौ प्राणोपासनेमेव विधेयमिति प्रत्युदाहरणेन मण्डू-  
कपुत्राऽऽक्षिप्य समापत्तौ—कम्पनादिति । प्राण एजति ' महद्भ्रमं वज्र-



(अ० व०) । १८ ] इत्यादौ ब्रह्मशब्दोऽपि मयहेतुत्वताभ्यादुपपद्यत इत्युक्तं वाक्यार्थकथनसमये । कम्पनहेतुत्वं ब्रह्मणः श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धम्—

न प्राणेन नापानेन मर्त्या जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतानुपाश्रितौ ' [ का० २ । ५ । ५ ]

इति । इतरेणाऽऽत्मना । एतौ प्राणापानी । किं च कम्पनवाक्यात्पूर्वमुत्तरत्र च ब्रह्मोक्तेरिहापि ब्रह्मग्रहणं न्याय्यम् ।

' तदेव श्रुतं तद्ब्रह्म तदेवावृतमुच्यते ।

यस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तद्गु नात्पेति कश्चन ॥ '

इति पूर्ववाक्ये ब्रह्मोक्तं श्रुतं ज्योतिष्मत् । अमृतं कूटस्थम् । उक्त-  
सर्वाधिष्ठानत्वं व्यतिरेकमुखेणाऽऽह—तद्गु नेति । किंचन जलं तद्ब्रह्म  
नात्पेति अतिक्रमेण न धर्तत इत्यर्थः । तथोत्तरप्रापि—

' मयादस्याग्निस्तपति मयात्तपति सूर्यः ।

मयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ' इति ।

अस्येश्वरस्य मयादम्यादयः स्वव्यापारे नियमेनानुवर्तन्ते राजाज्ञया  
मृत्यादिवदिति । उक्तान्याद्यपेक्षया मृत्योः पञ्चमत्वं यदुक्तं वायु-  
वेदनस्य मोक्षहेतुत्वं धृतमिति तन्न । विशेषप्रसामान्यात्मकस्य व्यष्टिसम-  
ष्टिवायोर्ज्ञानादपश्रुत्युनिवृत्तिमात्रधवणात् । तस्मादनेन वाक्येन निर्दि-  
शेषब्रह्म ज्ञेयमिति सिद्धम् ॥ ३९ ॥

( ब्रह्मणः परत्वज्योतिर्देवे । अधि० १२ )

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

पूर्वं सर्वशब्दश्रुतिसंकोचानुपपत्त्या प्रकरणात्प्राणशब्दं ब्रह्मेत्युक्तं न  
तथेह संप्रसादवाक्ये प्रकरणानुग्राहकं किंचिदस्ति येन प्रकरणाज्ज्योतिः—  
शब्दं ब्रह्म स्यादिति प्रत्युदाहरणसंगत्याऽस्याऽऽरम्भः । पूर्वपक्ष आदि-  
स्थोपासत्या दमश्रुक्तिः सिद्धान्ते ब्रह्मज्ञानान्श्रुक्तिरिति फलमेदः ।  
छान्दोग्ये प्रजापतिविद्यायां श्रूयते—'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समु-

(श्री०) मुच्यतम् ' इति प्राणब्रह्मश्रुतं ब्रह्मैव । कुतः । कम्पनात् । चल-  
नात् । सर्वस्य जगतः प्राण इति शेषः ॥ ३९ ॥

पूर्वाधिकरणे सर्वशब्दस्येव नेह कस्याश्चिच्छ्रुतेः संकोचः । अथ वा  
प्राग्निहेहापि 'संस्तुत्याय' इत्यादिश्रुतिसंकोचात्, 'स वावत्तदा-

(ब०ब०) त्वाद्य परं ज्योतिरूपसंपद्य स्थेन रूपेणामिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः [ छा० ८।१२।३ ] इति । एतदर्थो दहुराधिकरणेऽनुसंधेयः । तत्र संशयः किं ज्योतिःशब्देन प्रसिद्धसूर्यादितेजोऽभिधीयत उत ब्रह्मेति । तत्र सूर्यादीति युक्तं प्रसिद्धत्वात् । अथ वा एता हृदयस्य नाड्य इत्यादिनाडीसण्डे—‘अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुक्तामत्यर्थैरेव रश्मिभिरुर्ध्वमाक्रमते ’ [ छा० ८।६।५ ] इति सुमुखोरादित्यप्राप्त्यभिधानादत्रापि ज्योतिरूपसंपद्यत इति श्रवणाच्च । अपमर्थः—विशेषज्ञानोपरमानन्तर्यमथशब्दायः । यत्र प्रारब्धकर्मावसानकाले । एतदुक्तमर्थं यथा भवति तथेति क्षियाविशेषणम् । अस्माद्भिमानविषयाद्देहापुष्कमणं यथा करोत्यथ तदैतैरेवाऽऽदित्यस्य रश्मिभिरालम्बनैराकृतः सन्नाक्रमत उपरि गच्छति तत आदित्यं गच्छतीति । एवं प्राप्तेऽभिधीयते—ज्योतिरत्र ब्रह्मैव । कुतः । दर्शनात् । य आत्माऽपहतपाप्मेत्युपक्रमपर्यालोचनया ब्रह्मण एव प्रतिपाद्यतयाऽनुवृत्तिदर्शनादित्यर्थः । यदुक्तं सुमुखोरादित्यप्राप्तिरभिहितेति तन्न । अस्य निर्गुणब्रह्मप्रकरणत्वात् । न हि निर्गुणब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्ती स्तः । ‘अत्र ब्रह्म समभ्युते ’ [ ब० ४।४।७ ] इति श्रुतेः । तस्मात्परं ज्योतिर्ब्रह्मेहोपसंपत्तन्पत्वेन निर्दिश्यत इति सिद्धम् ॥ ४० ॥

( ब्रह्मण आकाशज्ञानव्याप्यत्वम् । अधि० १३ )

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिष्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

पूर्वमुपक्रमवशादर्थान्तरे प्रसिद्धोऽपि ज्योतिःशब्दः स्वार्थात्यच्यावितस्तथाऽऽकाशोपक्रमवशाद्ब्रह्मादिशब्दोऽपि स्वार्थात्यच्याव्यतामिति हृष्टान्तसंगत्येदमारभ्यते । पूर्वपक्षे मूताकाशमिन्नसर्वाधिष्ठानमूताकाशात्मकब्रह्मण उपास्त्या क्रममुक्तिः सिद्धान्ते सर्वाधिष्ठानब्रह्मधिवा साक्षान्मुक्तिरिति फलभेदः । छान्दोग्येऽन्ते श्रूयते—‘ आकाशो ह वै नाम

(छ०) क्षिप्य ’ इत्यादिना प्रसिद्धादित्यप्रकरणादादित्य एव ज्योतिरिति हृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—ज्योतिरिति । परं ज्योतिः परमेव ब्रह्म । कुतः । दर्शनात् । य आत्माऽस्मिन्प्रकरणेऽस्थैव दर्शनात् ॥ ४० ॥

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मप्रकरणादानर्थक्यप्रतिहेतौ च ज्योतिःश्रुतिर्नैता ।

(ब०-१०) नामरूपयोर्निर्बहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमुतैः-आत्मा [छा०  
८।१४। १] इति । ते नामरूपे यस्माद्ब्रह्मणोऽभिज्ञे तदित्यर्थः । यद्वा ते  
नामरूपे यस्य ब्रह्मणोऽन्तरा मध्ये वर्तते तदित्यर्थः । तत्र किमाकाश-  
शब्देन भूताकाश उच्यते उत परमात्मेति विशेपे-रूढ्या भूताकाश इति  
प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मैवाऽऽकाशशब्दवाच्यः । कुतः । अर्थान्तरत्वादि-  
व्यपदेशात् । ते यदन्तरेत्याकाशस्य नामरूपाभ्यामर्थान्तरत्वेन व्यपदे-  
शात् । न हि नामाद्यन्तःपातिन आकाशस्य भूतस्वः स्वस्माद्वर्धान्त-  
रत्वं युक्तम् । आदिशब्देन तद्ब्रह्मेत्यादिना ब्रह्मत्वादिव्यपदेशो द्रष्टव्यः ।  
तस्मादाकाशः परमात्मा ज्ञेय इति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

( ब्रह्मणो विज्ञानमपशब्दवाच्यत्वम् । अधि० १४ )

सुषुप्त्युक्तान्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

व्यपदेशादित्यनुवर्त्तेते । पूर्वं नामरूपाभ्यां भेदेन व्यपदेशादाकाशो  
ब्रह्मेत्युक्तं तदयुक्तम् । 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः' [ वृ० ४ । ३ ।  
२१ ] इत्यत्राभिज्ञे जीवे भेदोपचारादित्याक्षिप्य प्राज्ञशब्दस्य ब्रह्मपर-  
तया न भेद औपचारिक इति समाधानात्संगतिः । पूर्वपक्षे जीवानुवा-  
देन कर्मविशेषेऽङ्गभूतकर्तुः स्तुतिः फलं सिद्धान्ते जीवानुवादेन  
प्रत्यम्बह्यैक्यधीरिति विवेकः । बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके—'कतम  
आत्मेति चोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' [ वृ० ४ ।

(सं०) इह तु न ब्रह्मप्रकरणं नाप्याकाशश्रुतेरानर्थक्यं ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वा-  
दाकाशस्येत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—आकाश इति । आकाशो वै  
नाम' इत्यत्राऽऽकाशशब्दः परमात्मा । कुतः । अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।  
ते यदन्तरा तद्ब्रह्म इति नामरूपाभ्यामन्योऽर्थोऽर्थान्तरमाकाशं तस्य  
भावस्तत्त्वम् । आदिशब्देन नामरूपनिर्वहणादिकम् । तस्य व्यपदेशोऽ-  
भिधानं तस्मात् ॥ ४१ ॥

पूर्वाधिकरणे नामरूपाभ्यां भेदव्यपदेशादाकाशं ब्रह्मेत्युक्तम् । तत्र  
भेदव्यपदेशोऽनेकान्तः । असत्यपि भेदे प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्त इति  
भेदोपचारदर्शनादित्यत आह—सुषुप्तीति । 'चोऽयं विज्ञानमयः' इत्या-  
दिवाक्ये परमेश्वर एव प्रतिपाद्यः । कस्मात् । सुषुप्त्युक्तान्योर्भेदेन ।

१ अ. ग. विपदे । २ अ. 'स्य व्यपदेशाभावात् भेदेऽयुक्तम् । तत्र भेदव्यपदेशोऽने-  
कान्तः ।

(न=१०) ३।७] इत्युपक्रम्य सुपुण्याद्यवस्थामध्य उपन्यस्य 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु च एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नेते सर्वस्य दशी सर्वस्थेशानः सर्वस्वाधिपतिः' [ वृ० ४ । ४ । २२ ] इत्युपसंहारो हृदयते । अस्यायमर्थः—देहादीनामन्यतमो वा तदतिरिक्तो वाऽऽमेति जनकस्य प्रश्ने बाह्यवत्त्वस्योत्तरं योऽयमिति । विज्ञानं बुद्धिस्तन्मयस्तत्यायः । प्राणेषु हृदीति व्यतिरेकार्थं सप्तम्यौ । प्राणबुद्धिव्यतिरिक्त इत्यर्थः । बुद्धिबृचोर्धिबिनक्ति—अन्तरिति । अज्ञानाद्भिन्नविज्योतिरिति । पुरुषः पूर्णो योऽयमेवं भूतः स आत्मैत्यर्थः । स्वाधीनं सर्वं निपन्तुं शक्तिरस्तीति बलं सर्वस्थेशान इत्युक्तम् । स्वाधीनं स्थनिशम्यं च सर्वमधिष्ठाय पालयतीति बलं सर्वस्वाधिपतिरिति युक्तमिति । अत्र संशयः । किमर्थं बाह्यसंदर्भो जीवानुवाद्क उत तदनुवादेनासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपर इति । तत्रावस्थाद्युपन्यासात्स्वमात्मवाचकशब्दाभावाज्जीवानुवाद्क इति प्राप्ते मूलः—विज्ञानमयसुपुण्याद्यवस्थाप्यजीवानुवादेन ब्रह्माभेदप्रतिपादनपरोऽर्थं बाह्यसंदर्भो न जीवानुवाद्कः । कस्मात् । सुपुण्याङ्गान्धोरवस्थयोः शारीराङ्गदेने-श्वरस्य प्राज्ञज्ञानेन व्यपदेशात् । तथा हि सुप्तौ हाथद्यपदेशो हृदयते—'तद्यथा मियथा खिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद् गाऽऽन्तरमेव-मेवार्थं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद् नाऽऽन्तरम्' [ वृ० ४ । ३ । २१ ] इति । उक्तान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वाकड् उत्सर्जन्त्याति' [ वृ० ४ । ३ । ३५ ] इति शारीराङ्गदेन परमात्मानं प्राज्ञज्ञानेन व्यपदेशति । अन्वाकडोऽचिह्नितः । उत्सर्जन्त्येदनातः शब्दं कुर्वन्निति यावत् । ननु भेदव्यपदेशमात्रेणाभेदप्रतिपादनपरोऽर्थं संदर्भ इति कथं गम्यत इति चेदुच्यते—'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादिग्रन्थमृत्तिदर्शनात् । बुद्धौ ध्यायनर्था स्वयमात्मा ध्यायतीव चलन्तीव चल्तीव दन्तुतो न ध्यायति न चलतीत्यर्थः । एवम् 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षारैव ब्रूहि' इति पदे पदे प्रश्नः 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्को ह्ययं पुरुषः' [ वृ० ४ । ३ । १४ । १६ ] ।

(दी०) व्यपदेशादित्यनुवर्तते । सुषुप्तिः समस्तानामिन्द्रियाणामुपरमरत-स्राम् । 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः' इत्यादिनेतस्माच्छा-रोरात्युपवात्प्राज्ञरच परमात्मनो भेदः । उक्तमणमुक्त्वात्तिरित्येतस्याम् ।

(ब० व० १) इति पदे पदे प्रतिवचनं च वाक्यसंदर्भस्याभेदपरत्वं फलयति । अस्यार्थः—अतः कामादिविचेकानन्तरं मोक्षसाधनीभूतसाक्षात्कारायैव ब्रूहीति जनकप्रसार्थः । तेन जाग्रद्गोमादिनाऽनन्वागतोऽस्पृष्टो भवति असङ्गत्वादिति ॥ ४२ ॥

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

इतश्च जीवस्यासंसारित्वप्रतिपादनपरमिदं वाक्यजातम् । यतोऽस्मिन्वाक्ये पत्यादयः शब्दा असंसारित्वप्रतिपादनपराः संसारित्वप्रतिषेधपरश्च दृश्यन्ते । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' [ वृ० ४ । ४ । २२ ] इत्यसंसारित्वपराः 'स न साधुना कर्मणा भूवाज्ञो एवासाधुना कनीयान्' [ वृ० ४ । ४ । २२ ] इत्याद्याः संसारित्वप्रतिषेधका इति । तस्मादसंसारिपरमात्मस्वरूपप्रतिपादनपरोऽयं वाक्यसंदर्भ इति सिद्धम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भैषज्यसूत्रवृत्तौ ब्रह्मासूतवर्षिण्यां प्रथमाध्यायस्यास्पृष्टब्रह्म-  
लिकारूपस्तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

एवं तावत्प्रथमे पादे जज्ञास्पत्वेन प्रतिज्ञाते ब्रह्मणि जगज्जन्मादि-  
कारणे सर्वज्ञे समन्वयं वेदान्तानां प्रसाध्य ब्रह्मलक्षणस्य प्रधानेऽतिव्या-  
प्तिमाशङ्क्याशब्दत्वेन निराकृतम् 'ईक्षतेनाशब्दम्' [ अ० सू० १ । १ ।  
५ ] इत्यत्र । तदनन्तरं स्पष्टब्रह्मलिकारूपानि वाक्यानि ब्रह्मणि समन्वितानी-  
त्युक्तम् । द्वितीयतृतीयपादयोरस्पष्टब्रह्मलिकारूपानि प्रायज्ञ उपास्यमानि  
ज्ञेयमानि च समन्वितानीत्युक्तम् । इदानीं तु प्रधानस्याशब्दत्वमसिद्धं

(दी० १) 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वाकृष्ट उत्सर्जन्वाति' इत्या-  
दिना निर्दिष्टात् । शारीरात्प्राज्ञस्य परमात्मनो भेदः । सुषुप्तिश्रोक्ता-  
न्तिश्च सुषुप्त्युक्तान्ती तयोर्भेदस्तेन ॥ ४२ ॥

ननु जीवपरमात्मनोः प्रतीती कुतो जीवो न गृह्यत इत्यत आह—  
पतीति । पतिः सर्वस्याधिपतिः । आदिशब्देन सर्वस्य वशीत्यादि ।  
पत्यादयश्च ते शब्दाश्च पत्यादिशब्दार्तेभ्यः ॥ ४३ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

(१००१) काचिच्छास्त्रानु सत्परशब्दानामपि दर्शनादित्वाशङ्क्य तेषामन्य-  
परत्वप्रतिपादनार्थमयं पाद् आरभ्यते—

(कारणादस्यापत्रस्य स्थूलशरीरस्वैवाव्यक्तशब्दाभ्यत्वम् । अधि० १)

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीर-  
रूपकविन्वस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्मूत्रसंघर्षे ब्रह्मैव जगत्कारणत्वेन वेदान्तप्रतिपाद्यं न प्रधा-  
नादित्युक्तमयुक्तम् । ब्रह्मवत्प्रधानस्यापि जगत्कारणत्वेन वेदान्तबोध-  
त्वात् । न च कारणरूपवैयर्थ्यं कल्पभेदेन व्यवस्थानादिति ब्रह्माङ्गी-  
कारणाऽऽक्षेप इत्याक्षेपसंगतिः पूर्वग्रन्थेनास्याधिकरणस्य सूत्रकारि-  
वाच्यकशब्धं प्रयुक्तानिः सूचिता । अव्यवहितधिकरणेन तु मसिद्धजी-  
वोक्तिमद्भूनामसिद्धब्रह्मोक्तिवदप्रसिद्धप्रधानोक्तिपरमेव काठकवाक्य-  
मस्त्विति इष्टान्तसंगतिः । प्रधानस्याशब्दत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मणि वेदा-  
न्तानां समन्वयदाहर्षइति श्रुत्वध्यायसंगतिः । अविरोचनवपर्यन्तपाद-  
चिचारत्वात्सर्वेषां नवानामापाद्यं पादसंगतिः । पूर्वपक्षे ब्रह्मण्येव वेदा-  
न्तानां समन्वय इति निश्चयमायः फलं सिद्धान्ते तु तादृशनिषम  
इति विवेकः । काठकवाक्यं पठन्ते—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।  
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥  
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विपचांस्तेषु गोचरान् ।  
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

[ काठ० १ । ३ । ३ । ४ ]

‘सोऽध्वनः पारमाप्रोति तद्विष्णोः परमं यद्म् ।

[ का० १ । ३ । ९ ] इति ।

अनिषतेन्द्रियादेः पुंसः संसारित्वं निषतेन्द्रियस्वाध्वनः पारं विष्णोः  
परमं यद्मिति श्रावयित्वा किं तदध्वनः पारं विष्णोः यद्मित्याकाङ्क्षायां

(टी०) पूर्वपादत्रये ब्रह्मणि समन्वय इत्युक्तम् । तथाऽपि केषुचिद्वाक्येषु  
प्रधानादिवाचकशब्ददर्शनात्प्रधानादावपि कश्चन समन्वयः स्यादित्या-  
क्षिप्य ब्रह्मण्येव समन्वय इत्यवधार्यतेऽनेन पादेन । अत्राद्यावधिकरं-

(ब० व०) तेभ्य एवेन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानं विष्णोः पदं दर्शयति—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।

पुरुषाह परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

[ काठ० १ । ३ । १० । ११ ] इति ।

अस्यार्थः—आत्मनो मोक्षत्वेन प्राधान्याद्बुद्धित्वं रथस्यामित्वम् । स्थूलं शरीरं भोगावतनत्वेन गुणतया रथसमम् । विवेकाविवेकवृत्तिभ्यां बुद्धिरेव शरीरद्वारा भोक्तारं सुखे दुःखे चोपनयतीति सारथिः । मनसाऽश्वरक्षानास्थानीयेन विवेकिना विषयेभ्य इन्द्रियाणि निगृह्यन्ते तेनाविवेकिना विषयेषु प्रयत्यन्ते तेन युक्तं मनसः प्रग्रहत्वम् । इन्द्रियाणि संभृतानि युक्तिद्वारं प्रापयन्ति असंयतान्येनर्थं संसारमिति ह्यत्वं तेषाम् । यथाऽश्वो मार्गमालक्ष्य चलति एवमिन्द्रियग्रहणः स्वार्थमुपलभ्य चलन्तीति । शरीरादिषु मध्ये शब्दादीनां विषयाणां मार्गत्वम् । ननु मार्गं रथिनो रथाद्यपेक्षा न भोगे चिद्वपतया स्वभावेनैतद्भोगादित्यत आह—आत्मेति । आत्मा भोक्तेत्याहुरिति संबन्धः । तस्यासङ्गस्वार्थेन्द्रियासनिकर्षे भोगाभोगादिन्द्रियमनोयोगो यथा भवतीति क्रियाविक्षेपणेन भोक्तृत्वमाह—इन्द्रियेति । भाषे निष्ठा । यद्वाऽऽत्मा देहस्तद्युक्तमात्मानं भोक्तेत्याहुरिति योजना । यद्यप्यन्तरङ्गत्वादिन्द्रियाणामथाविक्षेपा परत्वं तथाऽपीन्द्रियाणां ग्रहत्वमर्थानां शब्दादीनामतिग्रहत्वं भ्रुती मिद्धिमित्यर्थानामिव परत्वम् । गृह्णन्ति वशी कुर्वन्ति पुरुषपशुमिति ग्रहा इन्द्रियाणि तेषां विषयाधीनत्वमित्यतिग्रहा विषयास्तेनातिग्रहतयाऽर्थानां प्राधान्यमित्याह—इन्द्रियेभ्य इति । सर्वेन्द्रियाथंभवहारस्य मनोमूलत्वान्मनसोऽर्थेभ्यः परत्वम् । निश्चयात्मकबुद्धिद्वारा विषया भोक्तृरुपकुर्वन्तीति संशयात्मकमनसो बुद्धेः प्राधा-

(री०) प्राणि तत्रेदं सप्तसूत्रमाहम् । ज्ञानुमानिकेति । अनुमानप्रतिपाद्यमानुमानिकं प्रधानमपि एकेर्षाचित्कठानां शास्त्रायाश्च महतः परमव्यक्तम् इति शब्दादिति चेदेवं यद्वि तन्न । कुतः । शरीररूपकविन्पस्तगृहीतेः ।

(अ० १०००) न्यम् । पूर्वं यो रथित्वेनोक्त आत्मा स भोक्ता बुद्धेर्भोगोपकर-  
णत्वात् । तस्याः स्वामित्वाच्चाऽऽत्मनो महत्त्वम् । महत् आत्मनः ।  
यद्दि महत्त्वस्याऽऽत्मविशेषणत्वं आत्मनः परमव्यक्तमिति स्यात्तस्य  
विशेष्यत्वादिति द्रुषे तदा महच्छब्देन हिरण्यगर्भबुद्धिरुच्यते तस्या  
व्यतिबुद्धिष्वापनादात्मत्वं च । एवंभूतहिरण्यगर्भबुद्धिं स्मृतिर्दर्शयति—

‘मनो महान्मातेर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः स्यातिरीश्वरः ।

प्रज्ञा संविधितिश्रियं स्मृतिश्च परिपठ्यते ’ ॥

[ महामा० १९ । १०११ ] इति ।

अपमर्थः—सर्वे प्रधानान्ता हिरण्यगर्भबुद्धिपराः । तस्या मनस्वे संवेह-  
रूपत्वं स्यादित्यत आह—मतिरिति । महत्त्वमुपपादयति—ब्रह्मेति ।  
भोग्यजाताधारत्वमाह—पूरिति । निश्चयतमकत्वमाह—बुद्धिरिति ।  
चितिशक्तिनस्त्वं ख्यातिः । ईश्वरते नियामकः । प्रज्ञा लौकिकयकृष्ट-  
ज्ञानम् । संविग्ज्ञानफलमुपासकस्य तत्वातेः । चित्तिश्रित्यधाना । स्मृति-  
ज्ञानसर्वार्थानुसंधानशक्तिमती । विद्वत्प्रसिद्धिमुक्तबुद्ध्यावनुकूलयति—  
परीति । श्रुतिरपि ‘यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्’ [ श्वे० ६ । १८ ]  
इत्यादिका हिरण्यगर्भबुद्धौ वेदाविर्भावमीश्वरानुग्रहाद्दर्शयन्ती तस्या  
उत्करूपत्वमाह । एतादृशी बुद्धिः सर्वासं बुद्धीनां परोत्कृष्टा । अस्मि-  
न्पक्षे पुरुषग्रहणेनैव तदभिज्ञो रथी भोक्ता गृहीतो द्रष्टव्यः । आत्मानं  
रथिनं विद्धीत्यादिवाक्यनिर्दिष्टाः सर्वे गृहीताः । अवशिष्टं रथत्वेन  
कल्पितं शरीरमव्यक्तास्वादिद्याकार्यं लक्षणयाऽव्यक्तशब्देन निर्दिशति—  
महतः परमव्यक्तमिति । एवं वस्तुगत्यर्थः प्रदर्शितः । तत्र संशयः ।  
द्विमव्यक्तशब्देन प्रधानमुच्यत उत पूर्वप्रकृतं शरीरमिति । तत्र सांख्य-  
स्मृतौ महदव्यक्तपुरुषशब्दानां तत्त्वत्रये प्रसिद्धत्वाद्यव्यक्तं प्रधानमेवे-  
त्याह—आनुमानिकमप्येकेषामिति चेदिति । अनुमानगम्यं प्रधानमप्ये-  
केषां शास्त्रिणां प्रत्यक्षमव्यक्तशब्देन पठ्यत इत्यशब्दत्वमसिद्धमिति  
चेदिति सूत्रावयवार्थः । परिहरति—नेति । कुतः । शरीररूपकविन्यस्तगृ-  
हीतिः । शरीरस्य पूर्ववाक्ये रथरूपेण विन्यस्तस्य कल्पितस्याव्यक्तशब्देन  
गृहीतेर्ग्रहणादित्यर्थः । रूपकात्मना रथात्मना विन्यस्तं रूपकविन्यस्तं  
शरीरं च तद्व्यक्तविन्यस्तं च तत्तयोक्तं तस्य गृहीतेरिति विग्रहः ।

(श्री०) शरीरं ह्यत्र रथरूपकेण विन्यस्तमुक्तं तस्याव्यक्तशब्देन गृहीतेर्ग्रह-



(प्र० ५०) कथं शरीरपरोऽव्यक्तशब्दस्तत्राऽऽह-दर्शयति चेति । पूर्वापरवाच्यसंबन्धः पर्यालोच्यमान औचित्येन प्रकृतं परिशिष्टं च शरीरमेवाव्यक्तशब्दबोधं दर्शयतीत्यर्थः ॥ १ ॥

ननु स्थूलशरीरस्य व्यक्तशब्दार्हस्य कथमव्यक्तशब्दार्हत्वमित्यत उत्तरं पठति—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

दर्शयतीत्यनुपपन्नः । तुशब्दः शब्दानिरासार्थः । स्थूलशरीरारम्भकभूतानां सूक्ष्मं कारणमव्यक्तशब्देन दर्शयति । कुतः । तदर्हत्वाद्यव्यक्तशब्दार्हत्वादित्यर्थः । ' गोभिः श्रीणीत मत्सरम् ' [ ऋ० सं० ९ । ४६ । ४ ] इत्यादिवत्प्रकृतिवाचकशब्देन विकारो लक्ष्यत इति भावः । गोभिर्धिकारैः पयोभिर्मत्सरं सोमं श्रीणीत मिथितं कुर्पादित्यर्थः ॥ २ ॥

ननु भूतसूक्ष्मात्मकाव्यक्ताङ्गीकार आगतः प्रधानवादः । सांख्यैस्तस्यैव प्रधानत्वेनाङ्गीकारादित्यत आह—

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

न प्रधानकारणवादे मया कृतः । कुतः । तदधीनत्वादीश्वराधीनत्वाङ्गीकारात् । स्वतन्त्रं चेतनानिष्ठितमव्यक्तं जगत्कारणमिति सांख्यमतम् । सिद्धान्ते तु ईश्वराधिष्ठितं मायाविद्याकाशादिशब्दवाच्यं जगत्कारणमिति महद्द्वैलक्षण्यम् । नन्वीश्वरादेव जगदुत्पत्ताव्यव्यक्तवैधर्म्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अर्थवादिति । प्रयोजनवैदित्यर्थः । देवात्मशाक्तिं स्वगुणैर्निरुद्धाम् । ' मायां तु प्रकृतिं विद्यात् ' [ श्वे० ४ । १० ] इति श्रुतिसिद्धमीश्वरस्य सहकारिभूतमव्यक्तमवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । न हि शक्तिरहितेश्वरः कार्यलेशं वा कर्तुं समर्थः । असङ्गत्वादिति तात्-

(श्री०) यात् । दर्शयति च । तथा ह्यनन्तरातीतो ग्रन्थ आत्मशरीरादीनां रश्मिरथादिकपकचक्षुसिं दर्शयति । चकारात्प्रकरणादिकं च ॥ १ ॥

स्थूलं शरीरं कथमव्यक्तशब्दार्हमित्यत आह—सूक्ष्ममिति । सूक्ष्मं सूक्ष्मशरीरमव्याकृताख्यम् । तुशब्द एवकारार्थः । कुतः । तदर्हत्वात् । तस्याव्यक्तशब्दाभिधानस्याहं बोध्यं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ॥ २ ॥

एवं चेत्स एव प्रधानवादः शब्दान्तरेणाऽऽपातित इत्यत आह—तदधीनिति । तस्य परमेश्वरस्याधीनमाचक्षते तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ।

(श०१०१) धम् । नन्वेवमपि कथं शरीरस्य महतः परत्वं कथं वाऽव्यक्तकार्यत्व-  
स्पेन्द्रियार्दीनामविशेषे स्थूलशरीरस्थैवाव्यक्तपदाहृत्यमिति चेन्नुच्यते—मह-  
च्छब्दवाच्यमोक्षपेक्षया हिरण्यगमंजुदध्यपेक्षयाऽव्यक्तास्यविद्यायास्ता-  
वत्परत्वं सर्वसिद्धं तदधीनत्वाद्मोक्षवादिः । तथा च तन्निरुद्धं परत्वं तद्वि-  
कारे वेह उपचरति । इन्द्रियार्दीनां तत्कार्यत्वादिशेषेऽपि स्वस्वशाब्दैरे-  
वोपात्तत्वात्परिशोपात्प्रकृताकाङ्क्षाव्यक्तज्ञानेन स्थूलदेहग्रहणं न्याय्य-  
मिति । आचार्यदेशीयैः सूत्रद्वयमिदमन्यथा व्याख्यातम् । शरीरं द्विविधं  
स्थूलं सूक्ष्मं द्वयमपि पूर्ववाक्ये रथत्वेन गृहीतम् । उत्तरस्मिन्वाक्ये सूक्ष्म-  
मेवाव्यक्तज्ञानेन गृहीतं तद्वहतिवात् । तच्चार्यवत्तदधीनत्वाद्द्वन्द्वमोक्षव्य-  
वहारस्येति सर्वथाऽपि प्रधानस्य नात्रावकाशः ॥ ३ ॥

अपि च—

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

सार्क्यः प्रकृतिपुरुषविशेषकान्मोक्ष इति वदन्निः प्रकृतिरपि तदर्थं  
ज्ञेयस्युक्तम् । न च ज्ञेयत्वेन प्रकृतेऽव्यक्तमुच्यते, अव्यक्तज्ञध्वमात्र-  
वचनात् । तस्मादपि नाव्यक्तं प्रधानम् ॥ ४ ॥

वदतीति चेन्न शब्दो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

अत्राऽऽह साख्यः—ज्ञेयत्वावचनादित्यसंगतम् । अव्यक्तज्ञान्दवाच्य-  
स्वैशोत्तरत्र ज्ञेयत्ववचनात् ।

<sup>१</sup> अज्ञानमल्पज्ञानरूपमन्यथं

तथाऽऽस्तं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

(श्री० ।) सूक्ष्ममीश्वराधीनं नैवं प्रधानमित्यर्थः । ईश्वर एव  
कारणमस्तु । एषं सूक्ष्मज्ञानाहंस्याव्याकृतस्य व्यर्थं कल्पनं स्याद्वि-  
त्यत आह—अर्थवत् । अर्थः प्रयोजनं सोऽस्यास्तित्यर्थवत् । नेश्वरस्यापि  
तद्विना कारणत्वमस्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

चेतनभोग्यत्वादस्तु तदधीनत्वं तस्यापीत्यत आह—ज्ञेयेति । ज्ञेयस्य  
भावो ज्ञेयत्वम् । यथा साख्यैरिष्टं प्रधानं नैवमस्य वचनं ज्ञेयत्वस्यावचनं  
ज्ञेयत्वावचनं न तदधीनतद्गुणचारादपि । अपत्यभिज्ञायमानत्वादित्यर्थः ।  
चकारोऽस्तस्त्वं स्वरूपस्याऽऽह ॥ ४ ॥

वदतीति । ज्ञेयत्वावचनमसिद्धम् । कुतः । निषाय्य तमित्यनेन

(अ० ५०) अनाद्यनन्तं महतः परं भुवं  
निचाप्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

[ काठ० २ । ३ । १५ ] इति ।

अज्ञादमित्यादिषु प्रत्येकं नित्यमिति संबध्यते । नित्यं सर्वदा  
निचाप्य ज्ञात्वा यादृशं ज्ञादादिहीनं प्रधानं तादृशमेवेदं वाक्यं ज्ञेय-  
त्वेन वदतीति चेन्न । प्राज्ञो हि परमात्मा निचाप्यत्वेन निर्दिष्टो न  
प्रधानम् । कस्मात् । प्रकरणात् ।

पुरुषात् परं किंचित्सा काठा सा परा गतिः ।

[ का० १ । ३ । ११ ]

‘ एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ’ [ काठ० १ । ३ । १२ ]

इत्यादिनाऽऽत्मन एव प्रकरणात् ॥ ५ ॥

त्रयाणामेष चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

किं च न प्रधानमव्यक्तज्ञव्याप्यं ज्ञेयं वा । यस्मात्त्रयाणामेवाग्नि-  
जीवपरमात्मनामेवैवं पूर्वोत्तरवाक्यपर्यालोचनया व्यक्त्यत्वेनोपन्यास-  
स्तद्विषय एव प्रश्नोऽपि दृश्यते कठवल्लीग्रन्थे नान्वस्व । तत्र ‘ स  
त्वमग्निं स्वर्गमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्धधानाय मह्यम् । ’ [ का०  
१ । १ । १३ ] इत्यग्निविषयः प्रश्नः ।

‘ येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चेके ।

एतद्विद्यामनुशिशुस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥

[ का० १ । १ । २० ] इति जीवप्रश्नः ।

अन्यत्र धर्माद्विन्वन्नाधर्माद्विन्वन्नास्मात्कृताकृतात् ।

अन्यत्र भूताच्च मव्याच्च यत्तत्त्वश्यसि तद्बुद् ॥

[ का० १ । २ । १४ ] इति परमात्मप्रश्नः ।

(श्री०) ज्ञेयत्वं वदति श्रुतिरिति चेदेवं यदि तन्न । हि यस्मात्प्राज्ञः परमे-  
श्वरोऽत्र निचाप्यः । कुतः । प्रकरणात् । तस्येति शेषः । प्रकरणं महावा-  
क्यम् । पुरुषात् परं किंचित्स्वादिक्म् ॥ ५ ॥

यथाऽग्निजीवी प्राज्ञस्वापि प्रकरणे तद्वत्प्रधानमपि स्यादित्यत आह-  
त्रयाणामिति । त्रयाणामग्निजीवपरमात्मनामेव प्रधानस्य चैवमुपन्यासः ।  
उत्तरम् । अग्नेः ‘ लोकादिमग्निम् ’ इत्यादिः । जीवस्य ‘ हन्त ते ’

(अ०५०) लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा  
[ का०१ । १ । १५ ] इत्यग्निविषयमुत्तरम् ।

‘ हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंपन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥

[ का० २ । ५ । ६ । ७ ] इति जीवस्योत्तरम् । ‘ न जायते म्रियते  
वा विपश्चित् ’ [ का० १ । २ । १८ ] इत्यादिपरमात्मनः प्रतिबचनम् ।  
न ह्येवं प्रधानस्य प्रश्नोत्तरे हृदयेते येनाप्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा  
स्यात् । श्रुत्यर्थस्तु—हे मृत्यो स मदर्थं दत्तवरसथं स्वर्ग्यं स्वर्गहेतुमग्निम-  
ध्येषि सदा स्मरसि तेन त्वं तद्विषयां विद्यां वदेत्यर्थः । जीवपरमात्म-  
प्रश्नी पूर्वं ध्याख्यातौ । लोकादिं लोकहेतुं विराट्कृत्स्नोपास्यत्वाहो-  
कादिं तमग्निमुक्तवाग्निचिकेतसे । याः स्वरूपतो यादृशीः, यावतीः  
संस्थातो यथा वाऽग्निश्चीयते तत्सर्वमुवाचेति संबन्धः । हन्तेदानीं गुह्यं  
गोप्यं चिरंतनं ब्रह्म प्रवक्ष्यामीत्युपक्रम्य जीवमपि ब्रवीति—यथेति ।  
आत्मा जीवो मरणं प्राप्य यथा भवति तथा वक्ष्यामीति योजना ।  
कथं भवतीत्यत आह—योनिमिति । मृतानां पुनर्विचित्रजन्मसंपत्तौ  
निमित्तमाह—यथेति । यद्यप्यस्मिन्कठवह्नीग्रन्थे जीवपरमारमनोः पृथ-  
क्प्रश्नौ न स्तः । वरान्वृणीष्वेति मृत्युना प्रेरितेन नचिकेतसा पितुः  
सौमनस्याग्निविद्यात्मविद्यात्मकवरप्रथमेव पृष्टमिति ‘ वराणामेष वर-  
स्तृतीयः ’ [ का०१ । १ । २० ] इति लिङ्गाग्निश्चितत्वात्तथाऽपि जीव-  
परयोः कल्पितभेदापेक्षया वराणामित्युक्तं सूत्रकारैः । वस्तुतस्तु वेद्यं  
प्रेत इत्यादिना पृष्टस्यैवाऽऽत्मनोऽन्यत्र धर्मादित्यादिना धर्मविशेषपु-  
रस्कारेणानुकर्ष इत्येक एव प्रश्नः । भेदस्व च कल्पितत्वं वाक्यपर्यालो-  
चनयाऽवगतम् । तथा हि ‘ यदेवेह तद्बुद्धं यद्बुद्धं तद्वन्विह ।

मृत्योः स मृषुमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।

[ का० २ । ४ । १० ] इति जीवमाज्ञभेददृष्टिमपवदति । इह देहे  
यद्यैतन्वं तदेवामुत्राऽऽदित्यादावसंसारि ब्रह्म यथाश्रुतं तदेवेह देहेम

(वी०) इत्यादिः । परमात्मनो ‘ न जायते ’ इत्यादिः । प्रश्नश्च प्रश्नोऽपि ।  
अग्नेः ‘ स त्वमग्निम् ’ इत्यादिः । जीवस्य ‘ वेद्यं प्रेते ’ इत्यादिः ।

( ३०५० । ) प्रविष्टमित्यन्योन्यैक्यमित्यर्थः । अमेदं ब्रह्मयितुं भेदं निन्दति—  
सुत्योरिति । यः कश्चिन्मूढ इह ब्रह्मात्मनि नानेव मिथ्याभेदं पश्यति  
वस्तुतोऽहं मित्र इति स मरणान्मरणं पुनः पुनः प्राप्नोति न सुखमा-  
मित्यर्थः । तथा जीवप्रश्नान्तरम् ‘ अन्धं वरं नचिकेतो वृणीष्व ’ इत्या-  
रभ्य सृत्सुना तैस्तैः कामैः प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता यदा न चचाल  
तदेवं मुमुक्षुं मत्वा ‘ विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बह-  
धोऽलोलुपन्त ’ [ का० १।२।४ ] इति प्रशस्य प्रश्नमपि तदीयं प्रशस्य तं  
यदुवाच ।

‘ तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

[ का० १ । २ । १२ ] इति तेनापि जीवप्राज्ञधोरभेद एवेति गम्यते ।  
यद्युभयोर्भेदस्तदा जीवप्रश्नानन्तरं प्रशंसा विफलैव स्यात् । सुत्यर्थस्तु—  
त्वा त्वां बहवः कामा मालोलुपन्त अयोविच्छेदं न कृतवन्तस्ततो  
विद्याधिर्न त्वां मन्येऽहमिति । जीवप्रश्नस्य परमात्मवाक्येनोत्तरमाह—  
तं दुर्दर्शमिति । न ह्यत्र भेदमिष्टयात्वे विवादः । यतो जीवप्रश्ने परमा-  
त्मानं प्रतिपादयत्युभयोर्भेदे तात्त्विक उन्मत्तप्रलापो भवेदित्येवमावीनि  
वाक्यानि भेदमिष्टयात्वे बोध्यानि ॥ ६ ॥

महद्दृष्टं ॥ ७ ॥

किं च यथा ‘ बुद्धेरात्मा महान्परः । ’ [ का० १ । ३ । १० ]  
‘ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् । ’ [ श्वे० ३ । ८ ] इत्यादी वेदे श्रुतो  
महच्छब्दो बुद्ध्याख्यद्वितीयत्ववाची नाङ्गी कियते साङ्ख्यैस्तथा वैदि-  
कोऽव्यक्तशब्दो नाप्रकृतप्रधानवाची । तस्मात्प्रकृतशरीरपरमेवाव्यक्त-  
मित्यशब्दत्वं प्रधानस्येति सिद्धम् ॥ ७ ॥

( श्रुतिप्रमितप्रकृतिस्मृतिसंमतप्रधानयोर्मध्ये तादृशप्रकृतेरेवाजाशब्द-  
वाच्यत्वम् । अधि० २ )

(वी०)परमात्मनः ‘अन्यत्र धर्मात्’ इत्यादिः । एवमनेन प्रकारेण त्रयाणा-  
मेव प्रधानस्य । आदिश्वकारः प्रधानस्य स्वरूपासत्त्वं समुच्चिनोति ॥६॥

ननु प्रधानं किंवदशब्दमित्यत आह—महदिति । महान्तमित्वाद्दी  
यथा सांख्याभिमतं महत्त्वं शब्दते महच्छब्देन तद्द्वैतप्रधानमपि नाव्य-  
क्तशब्देन शब्दते । चकारस्तस्वापि असत्त्वमूचनार्थः ॥ ७ ॥

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

(न०१०१) पूर्वमव्यक्तशब्दवाचप्रत्यभिज्ञानेन प्रधानस्यार्थतोऽप्रत्यभिज्ञाना-  
दव्यक्तपदावाच्यत्वेऽपि त्रिगुणत्वादिनाऽजामन्त्रेऽर्थतः प्रत्यभिज्ञानाद्-  
जापदं प्रधानपरमस्त्विति प्रत्युदाहरणसंगत्याऽस्याऽऽरम्भः । अध्यायपाद-  
संगतिफलानि पूर्ववद्बोध्यानि । श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—‘अजामेकां  
लौहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुक्षेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।’

[ श्वे० ४ । ५ ] इति । तत्र संवायः किमजाशब्देन प्रधानमुच्यत  
उत तेजो ब्रह्मात्मिका छान्दोग्यसिद्धावान्तरप्रकृतिरिति । तत्र न जायत  
इत्यजा सांख्यसिद्धा प्रकृतिरेव सस्वरजस्तमोगुणात्मकत्वाल्लौहितशुक्ल-  
कृष्णा च भवति । किं चैकोऽजः पुरुषो जुषमाणः सेवमानः कार्यकर-  
णसंघातामिमानीति यावत् । स तामनुक्षेते । तामजां भ्रमेणाऽऽमत्ये-  
नावगम्य तत्कार्यबुद्धिनिष्ठं सुखदुःखादिकमनुभवति अहं सुखी दुःखीति ।  
अन्यस्तु विवेकी भुक्तभोगां कृतभोगां विवेकज्ञानाज्जहाति त्यक्त्वा  
मुच्यत इति जीवभेदप्रतिपादनादजा प्रधानमिति नाशब्दं प्रधानमिति  
शास्त्रे द्रुमः—न प्रधानस्यासाधारण्येनात्र प्रत्यायकमस्ति । न जायत  
इत्यजेत्यन्यत्रापि योजयितुं शक्यत्वाल्लौहितादिशब्दाश्च रूपविशेषेषु  
रुद्धा न रजजादौ । यथाकथंचिन्नयनमन्यत्रापि नुत्पद्यते । साधारण-  
स्थल इदमेतत्पदवाच्यमिति निर्धारणभावे ह्यतान्तः—चमसवदिति ।  
यथा ‘अर्वाग्विलश्मस ऊर्ध्वबुध्नः’ [ वृ० २ । २ । ३ ] इत्यस्मिन्म-  
न्त्रेऽयं चमस इत्यवधारणं न संभवति कथंचिदर्वाग्विलत्वादेरन्यत्राप्य-  
विशेषात् । एवमजामन्त्रेऽप्यजात्वादेरविशेषान्न प्रधाननिर्णय इति  
अशब्दं प्रधानमित्यर्थः ॥ ८ ॥

(श्री०)पूर्वाधिकरणेऽर्थतोऽप्रत्यभिज्ञानाज्ञाप्यक्तशब्दवाच्यतेत्युक्तम् । इह तु  
त्रिगुणत्वादिना प्रधानस्य प्रत्यभिज्ञानात्तत्परो मन्त्र इति प्रत्युदाहरणे-  
नाऽऽक्षिप्य समापत्ते चमसवदिति । अजामित्यादिमन्त्रो न स्वात्मरूपेण  
कस्यचिदर्थस्य प्रतिपादकः । अधिशेषात् । अजाविज्ञानानां न कचिद-  
र्थविशेषो निरूपयितुं शक्यो विना प्रकरणादिकं सोऽयमविशेषस्तस्मात् ।  
किंवदित्यत आह—चमसवत् । यथा ह्यर्वाग्विलश्मस इत्यस्मिन्मन्त्रे  
स्वात्मरूपेण चमसपदं न कस्याप्यर्थस्य वाचकं तद्वदजाविपदानि ॥ ८ ॥

(म० व० १) ननु 'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्भिलश्मस ऊर्ध्वमुद्गः' इति वाक्यशेष-  
वाच्छिरश्मस इति निर्णयो भवति । इह त्वजामन्त्रे केयमजा प्रतिपत्त-  
व्येत्वाशाक्ष्य सजानीपश्रुत्वन्तरासेजोवज्रलक्षणाऽजा प्रतिपत्तव्येत्वाह-

ज्योतिरूपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

ज्योतिस्तेज उपक्रम आदौ यस्यास्तेजोवज्रलक्षणायाः सा ज्योति-  
रूपक्रमा । तुरवधारणे । सैवेहजा निर्धारणीया न प्रधानम् । कस्मात् ।  
तथा ह्यधीयत एके । हि यस्मादेके छन्दोगास्तेजोवज्रात्मिकाया भौतिक-  
कार्यप्रकृतेस्तथा लोहितादिरूपतामधीयत आमनन्ति—' यद्ग्रे रोहितं  
रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कुण्डं तदन्नस्य ' [ छा० ६ । ४ ।  
१ ] इति । तथा च लोहितादिशब्दसाम्यात्तान्येव तेजोवज्रानीह प्रत्य-  
भिज्ञापन्ते । यद्वाऽत्रैव श्वेताश्वतरोपनिषदि पूर्वापरपर्यालोचनायामनि-  
र्वाच्यमायाया जगत्कारणत्वप्रतीतेस्तस्या अजाशब्देन ग्रहणम् । तथा हि  
' किं कारणं ब्रह्म ' [ श्वे० १ । १ ] इत्युपक्रम्य ' ते ध्यानयोगानुगता  
अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ' [ श्वे० १ । ३ ] इति वाक्योप-  
क्रम ईश्वरशक्तेर्मायाख्याया जगद्धेतुत्वं गम्यते । वाक्यशेषेऽपि ' माया  
तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ' इति ' यो वोनिं योनिमधि-  
तिष्ठत्येकः ' [ श्वे० ४ । १० । ११ ] इति च तस्या एवावगतिर्न स्वत-  
न्त्रप्रधानस्येति । श्रुत्यर्थस्तु—ब्रह्मणः शुद्धत्वात्तत्र जगद्धेतुत्वमिति  
भुतिर्ब्रह्मवादिनः प्रति शङ्कते—किं कारणमिति । यज्जगत्कारणं तत्किं  
ब्रह्म वाऽन्यद्वेत्यर्थः । यद्वा जगदुत्पत्तौ किमुपकरणवद्ब्रह्मेत्यर्थः । ते  
पृष्टा ब्रह्मवादिनोऽजया रीत्या त्रिमुद्य ध्यानाख्येन योगेनानुगताः परमा-  
त्मानमनुप्रविष्टाः सन्तस्तस्यैव देवस्याऽऽत्मभूतमैक्येनाध्यस्तां माया-  
शक्तिं गुणत्रयवतीं त्रिगुणस्य जगतो निर्माणे सहकारिणीमपश्यन्निति  
योजना । प्रधाने मायाशब्दं वारयति—मायिनमिति । अविद्याशक्तिर्पोनि-  
स्तस्या एकत्वेऽपि कार्यभेदेन भेदाद्वीप्सा । तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—

(टी० १) तर्हि केयमजा प्रतिपत्तव्येत्यत आह—ज्योतिरिति । ज्योतिरूपक्रमे  
चक्षुर्बाह्यकार्ये प्रथमं यस्याः सा तेजोवज्रात्मिका प्रकृतिः । तुशब्दोऽव-  
धारणे । सैवाजा न काचित्पुनरन्या । कुतः । हि यस्मात्तथा यथाऽजा-  
मन्त्रे लोहितशुक्लकुण्डलरूपा तथा तेजोवज्रात्मिकां प्रकृत्य ' यद्ग्रे रोहितं

(३०५०) 'स्वतस्त्वविद्यामेदोऽत्र मनागपि न विद्यते' इति ।

अधितिष्ठति प्रेरयति । न हि परमत ईश्वरस्य तद्विद्यानृतत्वं संमत-  
मिति रहस्यम् ॥ ९ ॥

नन्वजाशब्दो न तावत्तेजोवन्नात्मिकायां प्रकृतौ रुद्रश्रुतौगवद्जात्व-  
जात्याधारत्वामावात् । नापि यौगिको जनिमत्त्वात्तेजोवन्नानामित्यत  
आह—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

चक्षुःशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः । तेजोवन्नात्मिकायां प्रकृतौ नाजाशब्द-  
स्यानुपपत्तिः । कुतः । कल्पनोपदेशात् । यथा लोकप्रसिद्धामजां मुक्त-  
मोगामिकोऽजस्त्यजति अन्यस्तामनुवर्तत एवं त्यागभोगयोः कार्यकार-  
णसंघाताद्युपादानभूतावास्तेजोवन्नात्मिकायाः प्रकृतेः साम्यद्योतनार्थ-  
कल्पनयाऽजात्वस्योपदेशात् । यथा मधुमिन्नस्याऽऽदित्यस्य 'असौ वाव  
आदित्यो देवमधु' इति मधुत्वोपदेशो यथा वा धेनुमिन्नाया वाचो  
धेनुत्वोपदेश एवमजाभिन्नायाः प्रकृतेरजात्वोपदेशो न कश्चिद्दि-  
रोधः । यदुक्तं जीवमेदोऽस्मिन्मध्ये प्रतिपाद्यत इति तन्न । लोकप्रसिद्ध-  
मेदानुवादेन बन्धमोक्षव्यवस्थापरत्वादस्य मन्त्रस्य । 'एको देवः सर्व-  
भूतेषु गूढः' [ श्वे० ६ । ११ ] इत्यादिनाऽऽत्मिक्यावगमात् । तस्मान्नात्र  
प्रधानस्यावकाश इत्यशब्दं प्रधानमिति सिद्धम् ॥ १० ॥

( प्राणचक्षुःश्रोत्रमनोज्ञानां पञ्चपञ्चजनशब्दवाच्यत्वम् । अचि० ३ )

(श्री०) रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तद्रूपं यत्कुण्डलं तद्रूपस्य' इत्यधीपते  
पठन्ति एके छन्दोगाः ॥ ९ ॥

रुद्रियोगयोरभावेऽजाशब्दः कथं तेजोवन्नेषु प्रतिपत्तव्य इत्यत आह—  
कल्पनेति । तेजोवन्नात्मिका लोहितशुक्लकुण्डलात्मिका प्रकृतिरजा माया  
छाग्विध वाय्वहृक्किरेणाजेन सेव्यमानाऽपरेण त्यज्यमाना । कल्प्यत इति  
कल्पना तस्या उपदेशः कल्पनोपदेशस्तस्मात् । च । अपि । अविरोधो  
न विरोधोऽविरोधः । कल्पनायां वृष्टान्तः—मध्वादिवत् । 'यथाऽऽदि-  
त्यस्यामधुनो मधुत्वम्' आदिशब्दाद्वागादेरधेन्वादेर्धेनुत्वादित्यम् ।  
तद्गवजजायाः प्रकृतेरजात्वम् ॥ १० ॥



॥ न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

(म० व०) पूर्णमाध्यात्मिकाधिकारे प्रसिद्धच्छांगग्रहणायोगादजा तेजआ-  
दिकेत्युक्तम् । तथा 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः' [बृ० ४ ।  
४ । १७] इति मन्त्रे पञ्चजनशब्देन प्रसिद्धमनुष्यग्रहणायोगादवयव-  
व्युत्पत्त्या सांख्यमिमत्पञ्चविंशतितत्त्वानां ग्रहणमस्त्विति हृदयान्तसंग-  
त्याऽस्याऽऽरम्भः । फलं पूर्ववद्ब्रह्मव्यम् । बृहदारण्यके षष्ठाध्याये  
श्रूयते 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' [बृ० ४ । ४ ।  
१६] इत्यनन्तरम्—

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।

तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मासृतोऽमृतम् ॥

प्राणस्य प्राणमृत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो  
बिद्मः । ते निश्चिक्नुर्वृह्म पुराणमग्रम्' [बृ० ४ । ४ । १६ । १७ ।  
१८] इति । परमार्थतोऽस्यार्थः—ज्योतिषां सूर्यादीनां ज्योतिर्भासकं  
तद्ब्रह्म देवा उपासते । आयुष्टेनामृतत्वेन च तेनोपासनेनाऽऽयुष्मन्तो  
जाता इति पूर्ववाक्यार्थः । सूर्यादिज्योतिरेकं पूर्वाकं प्राणस्य प्राणमि-  
त्यादिवाक्यशेषगताश्चत्वारः प्राणादयश्चेति मिलित्वा पञ्चजनाः पञ्च ।  
पञ्चजनशब्दोऽवयवार्थमनपेक्ष्य पुरुषमात्रं वक्ति लोकेऽत एव 'स्युः  
पुमांसः पञ्चजनाः' इत्यमरो जगाद् । प्रकृते च पुरुषग्रहणे वाक्यस्य  
निस्तात्पर्यत्वापत्त्या तत्संबन्धिप्राणादयो गृह्यन्ते पञ्चजनशब्देन । ते  
कर्तृत्वाकारूक्षायां पञ्चेति संख्यापूरणम् । तथा च पञ्च पञ्चजना  
आकाशश्चाविद्यास्यो यस्मिन्प्रतिष्ठितस्तमेव निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मकममृत-  
मात्मानं मन्य इति मन्त्रबुद्ध्या याज्ञवल्क्येनोक्ते जनकः पप्रच्छ बहिरिव  
त्वं किं विद्वान्ममत्प्यादन्यो मर्त्य इति नेत्याह—विद्वानमृत इति ।  
अस्मीति शेषः । अविद्यया कल्पितं मर्त्यत्वमिति भावः । प्राणादीनां

(दी०) पूर्वाधिकरणेऽजाशब्दो कृद्विद्योगाभावात्कल्पनया तेजोबन्नार्थपर  
इत्युक्तम् । इहापि पञ्चजनशब्दो कृदो मनुष्येषु व्यर्थो लक्षणायां प्राणादि-

॥ न सांख्योपसंग्रहादपीति पाठभेदः ।

(प्र०१००)नीचनाविप्रदत्त्वं पददक्ष्यं ये विदुस्ते तस्य स्वरूपं पुराणं चिरंतन-  
मग्रे कार्यदशायामप्यलुप्तत्वेन भवमश्रियं ब्रह्म निश्चिद्युर्निश्चयेन ज्ञातवन्त  
इति । तत्र पञ्चजनशब्देन मूलप्रकृत्यादीनि पञ्चविंशतितत्त्वान्युच्यन्त  
उत धार्यपक्षेपगताः प्राणादय इति संज्ञये तत्त्वानीति प्राप्तम् ।  
तथा हि—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥[सांख्यका०३]

इति संगृहीतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि वर्तन्ते । पञ्च पञ्चजना इति  
पञ्चानां जनानामादिमपञ्चपदेन पञ्चत्वोक्तौ पञ्चविंशतित्तनाः संप-  
द्यन्ते । ते जनाः कर्तात्याकाङ्क्षायां सांख्यस्मृतिसंगृहीतानि पञ्च-  
विंशतित्तरदानि संबध्यन्त इति नाशब्दं प्रधानमिति । स्मृत्य-  
र्थस्तु—मूलप्रकृतिः प्रधानमविकृतिरनादित्वान्महदहंकारौ पञ्चभूतानि  
सूक्ष्माणि पञ्चतन्मात्रसंज्ञानि च सप्त महदाद्याः प्रकृतयो विकृ-  
तयश्च । तत्त्वान्नरोपादानत्वात्प्रकृतित्वम् । अस्ति हि महतो बुद्ध्या-  
रूपस्याहंकारतत्त्वं प्रत्युपादानत्वं प्रधानापेक्षया विकृतित्वम् । एवं  
पूर्वापेक्षया विकृतित्वमहंकारादीनां द्रष्टव्यम् । प्रकृतित्वं चाहंका-  
रस्य पञ्चतन्मात्राणामेकादशेन्द्रियार्था चोपादानत्वात्पञ्चतन्मात्राणां  
चाऽऽकाशादिमहाभूतप्रकृतित्वं षोडशकस्य षोडशसंख्यावच्छिन्नस्यै-  
कादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतसमुदायरूपस्य विकारत्वमेव न प्रकृतित्वं पुरु-  
षस्तु कूटस्थ इति । अत्रामिधीयते—अस्मिन्नन्वे श्रूयमाणया पञ्च-  
विंशतिसंख्यया स्मृतिप्रसिद्धानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहात्प्रधा-  
नस्य शब्दवचमित्यपि न । कुतः । नानाभावात् । अस्मिन्मध्ये सर्व-  
नाम्नाऽऽकाशाशब्देन चाऽऽकाशाशब्दोः पृथक्श्रूयमाणत्वात्तौ विहाय  
गुणास्त्रयो महदादयो ह्यविंशतिः संभूय पञ्चविंशतिसंख्यया वक्तव्या-  
स्तथा च पञ्चपञ्चानां पञ्चकानामेकपञ्चकपर्याप्तान्यपञ्चकव्यावृत्तध-  
र्मवत्त्वाभावेन नानाभावात्पञ्च पञ्चजना इत्यनेन पञ्चानां पञ्चकानां  
ब्रह्ममिति प्रतिपादनमशक्यसमर्थनम् । लोके हि गोपञ्चकं ब्राह्मण-

(शे०)।नाक्येनान्वितोऽजोऽवयववृत्त्या प्रधानादियु स्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽ-  
क्षिप्य समापत्ते—न संख्येति । संख्याया ' यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः ' इति  
पञ्चविंशतेरुपसंग्रहादपि स्वीकारादपि प्रधानादीनां न भौतत्वम् । कुतः ।

(प्र० ५०) पञ्चकं चेति पञ्चकद्वयं वक्तुमुचितमेकग्रहणामात्रेण पर्याप्तान्यप-  
ञ्चकस्यावृत्तगोत्वादिधर्मवस्वादित्यर्थः । नानात्वेऽपि कथंचित्पञ्चविंशति-  
संख्याप्रतिपादकत्वाद्गीकारे बाधकान्तरमाह—अतिरेकाच्चेति । न ह्यस्मि-  
न्मन्त्रे पञ्चविंशतिसंख्यैव ध्रुवते किं त्वतिरेकात्माकाशावपि ध्रुवते ।  
तथा च तयोः पञ्चविंशतितत्त्वातिरेकत्वात्सप्तविंशतितत्त्वप्राप्तावपसि-  
द्धान्तापातः । न च गुणत्रित्वविवक्षया पञ्चविंशतिसंख्यापुराणान्न तत्त्वा-  
तिरेक इति वाच्यम् । तथा सत्यात्माकाशयोः पृथक्कथनवैवर्थात्कथंचि-  
द्भोग्यजातापेक्षयाऽऽत्मनः पृथक्त्वेन कथनस्य सार्थकत्वेऽप्याकाशस्य  
पृथक्कथनं निष्फलमेवेति भावः । वस्तुतोऽत्र पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीति-  
रेव नास्तीत्यपिशब्देन सूचयति । पञ्चजनशब्दस्यैकत्वेन योगमनपेक्ष्य  
पुरुषेषु कृष्टत्वात्चे कतीत्याकाशक्षायां पञ्चत्वसंख्यान्वयात् । अन्यथा  
पञ्चजना इत्यत्र पदमेदाद्गीकारे प्रधानजनान्प्रति गुणत्वेनान्वितस्य  
पञ्चत्वस्याऽऽद्यपञ्चत्वेनान्वयायोगो बाधकः । गुणयोः परस्परान्धवाद्-  
शंनान् । उभयोः पञ्चत्वयोः प्रधानजान्त्वयसंभवेऽपि जनेषु दशत्व-  
संख्याप्रतीतिरेव न पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिरिति न शब्दवत्प्रधानम् ॥११॥

ननु ते षड्चत्वसंख्याकाः पञ्चजनाः क इति स्वरूपपक्षस्योत्तरमाह—  
प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

माध्यंदिनशास्त्रायां पञ्चजनमन्त्रानन्तरमन्त्रे प्राणचक्षुःश्रोत्रान्नमनांसि  
ध्रुवमाणानि षड्चजनशब्देनोच्यन्ते । कस्मात् । वाक्यशेषात् । 'प्राणस्य  
प्राणमुत चक्षुपश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमुतान्नस्यान्नं मनसो ये मनो  
विदुः' [ बृह० ( माध्य० ) ४ । ४ । २१ ] इति वाक्यशेषस्यत्वादि-  
त्यर्थः । अन्नं विराट्प्राणचक्षुःश्रोत्रमनांसि सूत्रं तयोः कारणमव्याकु-  
ताकाशः ॥ १२ ॥

(श्री०) नानामावात् । तेषां पञ्चत्वे पञ्चत्वे नियामकामावाज्ञानात्वादेवा-  
मित्यर्थः । न केवलं नानात्वात्तिरेकाच्च । अतिरेकः पञ्चविंशतिसंख्याया  
आत्माकाशयोस्ततः पृथक्भवणात्तस्मादपि ॥ ११ ॥

के पुनस्ते पञ्चजना इत्यत आह—प्राणादय इति । प्राण आदिर्वैषां  
ते प्राणादयः । प्राणचक्षुःश्रोत्रान्नमनांसि । कुतः । वाक्यशेषात् । 'यस्मि-  
न्यञ्च पञ्चजनाः' इति वार्क्यशेषः 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादि-  
स्तस्मात् ॥ १२ ॥

[अ० १४०४  
पृ० १३-१४]

ब्रह्मासृतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि ।

१३१

(अ० १००) ननु माध्वंदिनानां प्राणादिष्वन्नस्याऽऽम्नानाद्भवतु पञ्चसंख्या  
काण्वानां त्वनाम्नानात्कथं पञ्चसंख्येत्यत आह—

ज्योतिषैकेपामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

एकेषां काण्वानामसत्यन्ने 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरापुर्होपासतेऽद्भु-  
तम्' [ षृ० ४ । ४ । १६ ] इति पूर्ववाक्यस्थज्योतिषा पञ्चत्वं पुरणी-  
यमित्यर्थः । तस्मादज्ञप्त्वं प्रधानमिति सिद्धम् ॥ १३ ॥

( ब्रह्मप्रतिपादकवेदान्तवाक्यसमन्वयानां युक्तियुक्तत्वम् । अपि० ४ )

कारणत्वेन चाऽऽकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

पूर्वाधिकरणत्रयेण प्रधानस्याज्ञप्त्वंत्वप्रतिपादनेन जगत्कारणत्व-  
क्षणं ब्रह्मण्येवेति नातिव्याप्तमित्युक्तत्वा कारणविषयाणां वेदान्तानां  
ब्रह्मणि समन्वय उक्तः स न संभवति । तेषां वेदान्तानां परस्परविक-  
ङ्कर्त्तृप्रतिपादकत्वेन स्वतो निश्चायकत्वाभावाद्ब्रह्मानुमानसिद्धप्रधानलक्ष-  
कत्व उक्तसमन्वयासिद्धेरित्याज्ञानानिरासार्थमिदमारभ्यते । नचाविरो-  
धार्थमधिकरणं नेह संगतमिति वाच्यम् । समन्वयतो वाक्यार्थज्ञाने  
स्मृतत्वादिमानान्तरविरोधाज्ञानानिरासस्याविरोधाध्यायार्थत्वादिह तु  
कारणविषयवाक्याणामेव मिथो विरोधान्न समन्वयो ब्रह्मणीत्याज्ञ-  
कृत्त्व तन्निरासेनैव समन्वयस्य साध्यत्वाद्दध्यायसंगतिसिद्धेः । असत्य-  
दस्य बाह्याभ्युपेतासत्परत्वनिराकरणेन समन्वयस्थापनात्पादसंगतिर्बोध्या  
पूर्वं पञ्चत्वसंख्यापुराणमन्त्रेण ज्योतिषा वेति विकल्पस्याविरोधेऽपि प्रकृते  
सिद्धे कारणात्मकवस्तुनि विकल्पायोगाद्विरोधे सत्यप्रामाण्यं वाक्या-  
नामिति तन्निरासाय प्रधानस्य कारणत्वमिति प्रत्युदाहरणलक्षणावान्त-  
रसंगतिः । पूर्वाक्षरपक्षयोः समन्वयासिद्धिस्तत्सिद्धिः फलमिति विवेकः ।

(दि०) कथं प्राणादयः पञ्चजना भवेयुः । येऽन्नं प्राणादिषु नाऽऽमनन्ती-  
त्यत उत्तरं पठन्ति—ज्योतिरिति । असत्यपि काण्वानामन्ने 'तद्देवा  
ज्योतिषां ज्योतिः' इत्यनेन ज्योतिषा तेषां पञ्चसंख्या पूर्णते ॥ १३ ॥

पूर्वाधिकरणेऽन्नज्योतिषोर्विकल्पेनोपासायां निवेशादविरोध उक्त इह  
तु सिद्धे कारणे विकल्पायोगाद्विरोधे सत्यप्रामाण्यमिति प्रत्युदाहरणे-

(ब्र० ५०।) अत्र जगत्कारणवादिवाक्यानि ब्रह्मणि मानं न वेति विशये नेति प्राप्तम् । कस्मात् । परस्परविरोधदर्शनात् । तथा हि—कचित् 'आत्मन आकाशः संभूतः [ तै० २।१ ] इत्याकाशपूर्विका सृष्टिः श्रूयते । कचिच्च 'तत्तेजोऽसृजत' [ छा० ६।२।३ ] इति तेजआदिका । कचित्तु 'स प्राणमसृजत' [ प्र० ६।४ ] इति प्राणादिका । कचिदकमैव सृष्टिः श्रूयते 'स इमाँल्लोकानसृजत । अम्मो मरीचिर्मरमापः [ ऐ० आ० २।४।१।२।३ ] इति । स ईक्षिता परमात्मा । लोकानेवाऽऽह—अम्म इति । अम्मवशरीरप्रचुरस्वलोकोऽम्मःशब्दार्थः । रश्मिप्रधानोऽन्तरिक्षलोको मरीचिः । मरं मरणप्रधानोऽयं लोको मरः । अम्बहुलः पाताललोक इति विवेकः । एवं सृष्टौ विमाने तत्कारणत्वलक्षितब्रह्मणि विमानं साक्षादपि जगत्कारणे विमानं दृश्यते । 'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सद्जायत' [ तै० २।७ ] इत्यसतः कारणत्वं कचिदवगम्यते । एवम्—'असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्समभवत्' [ छा० ३।१९।१ ] इति । वस्तुतोऽप्यनर्थः—इदं जगदग्रे प्रागवस्थायामसदिवाव्यक्तमासीत्ततोऽनभिव्यक्तनामरूपादव्यक्ताकारणादभिव्यक्तनामरूपं जगज्जातमव्यक्तमेव व्यक्तं भवतीति यावत् । तत्कारणं यदात्मना समभवत्तत्सदर्थक्रियोन्मुखमासीदिति । कचित्तु 'तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' [ छा० ६।२।१ ] इत्यसद्वादमुपन्यस्य 'कथमसतः सजायत' [ छा० ६।२।२ ] इति तं निरस्य सतः कारणत्वमाह—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' [ छा० ६।२।२ ] इति । कचिद्वैककर्तृकैव सृष्टिः श्रूयते—'तद्वेदं तद्व्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते' [ बृह० १।४।७ ] इति । तद्विदं जगत्तर्हि तदा प्रागवस्थायामव्याकृतं कारणमासीत्तत्कल्पितं शब्दात्मनाऽर्थात्मना च व्याक्रियत व्यक्तमभवदित्यर्थः । एवं परस्परविरोधान्न ब्रह्मणि समन्वयो वाक्यानां किं त्वनुमानादिसिद्धप्रधानलक्षकत्वमिति प्राप्ते ब्रूमः । कार्यविषयं विमानमक्रमादिप्रयुक्तम् 'न विषदद्भुतेः' [ ब्र० सू० २।३।१ ] इत्यादिना परिहरिष्यत्याचार्यः । अत्र तु कारणवि-

(क्षी०)नाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—कारणेति । कारणस्य भावः कारणत्वं तेनाऽऽकाशादपि विषयेषु यथैकस्यां शास्त्रायां व्यपदिष्टः सदेवेत्यादिना

[अ०१३००१५] ब्रह्मासूतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । १३३

( ब० व० । ) मानं परिहरति । चक्षव्यस्तु समाशब्धनार्थकः शङ्खानिरासं वक्ति । ब्रह्मणः कारणत्वे विरोधो नास्ति । कुतः । यथाश्वपक्षिकेः । आकाशादिषु यथाभूत ईश्वरः कारणत्वेन व्यपदिष्ट एकस्मिन्वेदान्ते तथाभूतस्यैवापरवेदान्तेऽप्युक्तेरित्यर्थः ॥ १४ ॥

न च क्वचिदसतः कश्चित्ततः कचित्स्वभावाद्बुत्पत्तिश्रवणाद्बिरोध इति वाच्यमित्याह सूत्रकारः—

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

असन्नेव स भवति । 'असद्ब्रह्मेति वेद् चेत्' इति असद्भावमपोद्य 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्देव' इति सदात्मानं विधाय 'सोऽकामयत' इति सतः सकाशात्सृष्टिमुक्त्वा 'तत्सत्यमित्याचक्षते' इति सदात्मानमुपसं- हृत्य 'तदप्येष श्लोको भवति' [ श्लो० २ । ६ ] इति प्रकृते सदात्तानि श्लोकमुदाहरति— 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति । तथा चासच्छब्देन सत एव समाकर्षात्सतः कारणशङ्केत्यर्थः । यद्यस्मिन्श्लोके निरात्म- कमसदबुद्धये तदाऽन्यसमाकर्षणेनान्यस्योदाहरणान्यकृतान्यसंबन्धः श्लोक आपद्यते । एवमसदेवेदमग्र आसीदित्यत्रापि तत्सदासीदिति समाकर्षा- दनभिष्यक्तनामरूपमसच्छब्दं ब्रह्मैव । एवं 'तद्देव तद्ब्रह्म्याकृतमासीत्- श्नामरूपाभ्यामेव व्याकियत' इत्यत्रापि 'स एव इह प्रविष्टः । आ नन्नाग्नेभ्यः' [ बृ० १ । ४ । ७ ] इति प्रकृतपरामर्शना स इत्यने- नाऽऽत्मनः समाकर्षणात् स्वभावादेव जगद्बुत्पत्तिव्याकियतेति कर्मण एव कर्तृत्वबोधकलकारो लूपते केदारः स्वयमेवेतिवस्तथपि पृथङ्कर्तारि न विरुध्यते । यद्वा कर्मण्येवायं लकारो गम्यते ग्राम इत्यादिवद्ब्रह्मः । एवं ब्रह्मणः कारणत्वे न कश्चिद्बिरोधः । नापि सृष्टिविरोधात्कारणे ब्रह्मणि विरोधः सृष्टिवाक्यानां निष्पन्नब्रह्मपरत्वेन सृष्टौ तात्पर्या- भावात् । भूतिरपि निष्फलसृष्टेः फलशङ्काप्रतिपत्त्यत्वं दर्शयति— 'अग्नेन सोम्य शृङ्गेनाऽऽपो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शृङ्गेन तेजोमूलम- न्विच्छ तेजसा सोम्य शृङ्गेन सम्मूलमन्विच्छ' [ छा० ६ । ८ । ४ ] इति शृङ्गं

( श्लो० । ) तथाऽन्यस्यामपि सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिनोक्तेरभिधानात् । चकारः कार्यस्यापि तथोक्तिसमुच्चयार्थः ॥ १४ ॥

असद्वा इदमित्यादिनाऽस्ति विगानमित्यत आह—समिति । प्रकृतस्यैव सत्यज्ञानादिलक्षणस्याऽऽकर्षणं प्रतिपादनमाकर्षः । सम्यङ्नामरूपादि-

(न० व० १) कार्ष्णं सम्भूलं ब्रह्म तस्मान्न केनापि विगानमिति जगत्कारणवा-  
क्यानां ब्रह्मणि समन्वयः सिद्धः ॥ १५ ॥

(प्राणजीवपरात्मनां मध्ये परात्मन एव क्लृप्तजगत्कर्तृत्वेन बाला-  
किना ब्रह्मत्वेनोक्तानां षोडशपुरुषाणां कर्तृत्वनिराकरणम् । अधि० ५ )

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

एवं हि गार्ग्यास्त्वक्पिणा बालाकिनाऽज्जातशब्दनामकस्य राज्ञः  
संवादः श्रूयते कौपीतिकेवाह्वणे—बालाकिरजातशब्दना ब्रह्मज्ञेन  
ब्रह्मणि संवदितुं ब्रह्म ते ब्रवाणीत्युपक्रम्याऽऽदित्यादिपुरुषाज्जीवानुक्त्वा  
तूष्णीं बभूव । तमजातशब्दार्थावादादितयाऽप्येव शिष्यभूताय गार्ग्याय  
ब्रह्मोपदेशार्थमिदमाह—‘ यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य  
चैतत्कर्म स व वेदितव्यः ’ [ कौ० ब्रा० ४ । १९ ] इति । अस्वार्थः—  
हे बालाके त्वया ये पुरुषा आदित्यादिगता ब्रह्मत्वेनोक्तास्तेषां पुरु-  
षाणां कर्ता न केवलं जगदेकदेशपुरुषकर्ताऽपि तु सर्वस्यैव जगत  
इत्याह—यस्येति । कर्मपदं जगद्वाचि । एवं सामान्यशिशोषाभ्यां जग-  
त्कर्ता ततो निष्कृष्टो ज्ञेय इत्याह—स इति । एवमस्य संगतिः । पूर्वं  
सच्छब्दादेकवाक्यस्थोऽसच्छब्दो नीतः । इह बालाकिवाक्यस्थब्रह्मश-  
ब्दादजातशब्दवाक्यस्थकर्मशब्दो न शक्यते तदनुगुणतया नेतुं वाक्य-  
भेदादिति प्रत्युदाहरणम् । यद्वा वाक्यभेदेऽपि यथोत्तरसच्छब्दात्माची-  
नासच्छब्दो नीतस्तथोत्तरकर्मशब्दात्तदनुगुणतया ब्रह्मशब्दनयनमिति  
द्वहान्तसंगतिः । उक्तवाक्यसमन्वयासिद्धिस्तसिद्धिः पूर्वात्तरपक्षयोः  
फलं बोध्यम् । एवं स्थिते संशयः किमत्र पुरुषः कर्ता वेदितव्यः प्राण  
उत जीव आहोस्वित्परमात्मेति । प्राण इति तावत्प्राप्तम् । कुतः । यस्य  
वै तत्कर्मैति चलनात्मकस्य कर्मणो वात्यात्मकप्राणस्यैव संभवात् ।  
वाक्यशेषे च ‘अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति’ इति प्राणशब्दध्वनान्तात् ।  
जीवो वा तल्लिङ्गस्यापि वाक्यशेषे दर्शनात्—‘तद्यथा भेठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा

(श्री०) राहित्येनाऽऽकर्षस्तस्मात् ॥ १५ ॥

पूर्वाधिकरणे सदेवेत्यादिनैकवाक्यत्वेन सच्छब्दानुसारेणासच्छब्दो  
नीतो नैवमत्र किञ्चिन्नियामकं जगद्वाचित्वेन कर्मशब्दस्येति प्रत्युदा-  
हरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—जगदिति । पुरुषाणां कर्ता परमेश्वरः । यस्य

(अ० १००) स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत  
आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति' [को० ब्रा ०४।२०] इति । अपमर्थः—श्रेष्ठी  
प्रधानः पुरुषः स्वैर्भूत्वैरुपकरणैर्भुङ्क्ते भूत्वा अप्यक्षणाच्छादनादिना प्रधा-  
नमुपजीवन्ति एवं जीवोऽप्यादित्यादिभिः प्रकाशादिना भोगोपकरणैर्भुङ्क्ते  
भूत्वाऽप्यादित्यादयोऽपि देवा जीर्णं हविर्ग्रहणाद्रुपजीवन्तीति प्राणभूत्वा-  
जीवत्यैव भोग उपपन्नः । तस्माज्जीविसुख्यभाणान्यतरसमन्वितमिदं  
वाक्यमिति प्राप्ते ह्यमः—अत्र वेदितव्यः पुरुषाणां कर्ता परमात्मैव ।  
तथा हि ब्रह्म ते ज्ञवाणीत्युपक्रम्य बालाकिनाऽऽदित्याद्यमुख्यात्मसूक्तेषु  
सस्तु तममुखात्मबादितयाऽयोद्याजातज्ञानाणां वेदितव्यतयोपदिष्टः पुरुष-  
कर्ता जीर्णो मुख्यमाणो वा न हि भवितुमर्हति । तथात्वे गार्ग्यपि-  
क्षयाऽजातज्ञानोरविशेषप्रसङ्गात् । पुरुषकर्तृत्वं च परमात्मनोऽन्यत्रा-  
ञ्जसा न संभवत्येव । न च कर्मज्ञानुपपत्तिः । क्रियत इति  
श्रुत्यस्या कर्मज्ञानस्य जगद्वाचित्वात् । प्रत्यक्षाद्युपस्थितं जगदेत-  
दिति सर्वनाम्ना परामृशति । न च जगदन्तर्भूतपुरुषकर्तृत्वं पृथ-  
ङ्गन वक्तव्यमिति युक्तम् । गार्ग्येण ब्रह्मत्वेनोक्तपुरुषाणामनङ्गत्वद्यो-  
तनाय गोबलीवर्द्धन्यायेन पृथगुक्तिसंभवादिति ॥ १६ ॥

जीविसुख्यप्राणलिङ्गाश्लेति चेच्चव्याख्यातम् ॥ १७ ॥

ननु जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च न ब्रह्मपरत्वावधारणमिति चेत्-  
द्याख्यातम् । प्रतर्दनाधिकरणे ' नोपासाञ्जैविष्यादिह तद्योगात् ' [ ब०  
सू० १ । १ । ३१ ] इत्यत्राविकृद्धतया जीविसुख्यप्राणलिङ्गं ब्रह्मपरं  
व्याख्यातमित्यर्थः । जीवप्राणपरत्वेऽभ्युपगम्यमाने ब्रह्मपरत्वस्याप्यावश्य-  
कत्वाद्वाक्यश्लेषविव्यं स्यादित्यक्षेपदोषस्तत्रोक्तः प्रकृतेऽपि समान इति  
भावः । प्रतर्दनविचारे कर्मपदस्याविचाराद्गतार्थता द्रष्टव्या ॥ १७ ॥

(श्री०) वैतकर्मैति कर्मशब्दस्य जगद्वाचित्वात् । जगद्वाचीति जगद्वाची  
तस्य भावस्तस्मात् ॥ १६ ॥

जीवेति । जीवस्य ' तद्यथा श्रेष्ठी ' इत्यादि । प्राणस्य च ' अथास्मि-  
न्प्राण एवैकधा भवति ' इत्यादि । लिङ्गं गमकं जीविसुख्यप्राणलिङ्गं  
तस्मान्न परमात्मैवेति चेदेवं यदि । तद्योद्यं नोपासाञ्जैविष्यादिति  
सुजावपदेन वाक्यभेदेन दोषेण व्याख्यातं निराकृतम् ॥ १७ ॥



अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्या-  
नाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

(ब० व०) जैमिनिराचार्योऽस्मिन्प्रकरणे जीवपरामर्शमन्यार्थं ब्रह्मप्रति-  
पत्त्यर्थं यतो मन्यतेऽतो ब्रह्मपरमेवेवं वाक्यम् । कुतो मन्यते । प्रश्नव्याख्या-  
नाभ्याम् । आत्मनि जिज्ञासुं बालाकिमादायाजातशत्रुः सुप्तपुरुषसमीपं  
गत्वा हे सोमराजन्निति सुप्तमाहूयाऽऽह्वानशब्दाश्रवणात्प्राणादीनाम-  
भोक्तृत्वं प्रतिपाद्य घट्टिघातोत्थापनेन प्राणादिव्यतिरिक्ते जीवे प्रतिबो-  
धिते पुनर्जीवातिरिक्ताधिकरणमवनापादानविषयान्प्रश्नान्स्वयमेव चकार  
'कैष एतद्बालाके पुरुषोऽज्ञविष्टः क्व वैतव्मूक्त एतदागात्' [ कौ०  
भा० ४।१९ ] इति । अयमर्थः—हे बालाके ज्ञयनमेतद्यथा तथैव पुरुषः  
कस्मिंश्चधिकरणे स्वापे ज्ञयनं कृतवानित्यधिकरणप्रश्नार्थः । एतद्भवन-  
मेकीमावो यथा स्वात्तया क्वाऽऽश्रये सुप्तोऽभूदिति मवनावतनप्रश्नार्थः ।  
ज्ञयनमवनयोराधारं पृष्ठोत्थानावस्थायामागमनापादानं वृच्छति—कुत  
इति । एतदागमनं यथा स्वात्तया कस्मानुद्बोधवस्थायामागानुत्थानं  
कृतवानित्यर्थः । एतत्प्रश्नोत्तरदानासमर्थं बालाकिं गत्वा स्वयमेवोत्तर-  
माह—'यदा सुप्तः स्वप्नं न किञ्चन पश्यत्वथास्मिन्माण एवैकधा  
भवति' [ कौ० भा० ४।१९ ] इत्यादिज्ञयनमवनयोराधार उत्थाना-  
पादानं च प्राणशब्दवाच्यः परमाश्लेष्युत्तरार्थः । तस्माद्यस्मिन्श्रीषस्य  
भोक्तुः ज्ञयनमवने यस्माच्चोत्थानमेकीमावन्नंशरूपं सोऽत्र परमात्मा  
वेदितव्यतयोपदिष्टः पुरुषकर्ता 'अपि चैके' वाजसनेयिनो बालाक्य-  
जातशत्रुसंवाद् एवं स्पष्टं विज्ञानमयं जीवं तद्यतिरिक्तं परमात्मानमाम-  
नन्ति 'य एष विज्ञानमयः पुरुषः कैष तदाऽमूक्त एतदागात्'  
[ बृ० २।१।१६ ] इति प्रश्ने 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्जोते

(श्री०) ननु प्राणलिङ्गानां तदभोक्तृत्वप्रतिपादनेनापि कथंचिदुपयोगः स्यान्न  
जीवपरामर्शस्य विना तज्ज्ञानमित्यत आह—अन्यार्थमिति । अन्योऽर्थः  
प्रयोजनं ब्रह्मनिर्धारणं यस्य परामर्शस्य सोऽयमन्यार्थस्तमन्यार्थम् ।  
तुशब्द एवकारार्थः । ब्रह्मनिर्धारणार्थमेव परामर्शः 'तद्यथा श्रेष्ठी'  
इत्यादिर्न जीवस्य लिङ्गमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः । प्रश्नव्या-  
ख्यानाभ्याम् । 'कैष एतद्बालाके' इत्यादिप्रश्नः । व्याख्यानं प्रतिषेधनम् ।

(स०१०।) [ वृ० २।१।१६ ] इत्युत्तरे चाऽऽकाशः परमात्मेति बहुराधिकरणे निर्णीतम् । तस्मात्पुरुषकर्तारि वेदितव्ये परमात्मनि कौपीतकिब्राह्मण-  
याकथं समन्वितमिति सिद्धम् ॥ १८ ॥

( संशयितजीवपरमात्मनोर्मध्ये परमात्मन एव श्रवणमननादिविषय-  
त्वम् । अधि० ६ )

वाक्यान्ययान् ॥ १९ ॥

पूर्वं ब्रह्मोपक्रमसामर्थ्याद्ब्रह्मपरत्वमुक्तं तर्हि तद्देव मैत्रेयीब्राह्मणवा-  
क्यस्य जीवोपक्रमसामर्थ्याज्जीवपरत्वमस्त्विति वृष्टान्तसंगतिः । कर्तुं  
पूर्ववत् । बृहदारण्यके श्रूयते—‘स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय  
पतिः पितो भवत्परमात्मनस्तु कामाय पतिः पितो भवति ’ [ वृ० २।१।५ ]  
इत्युपक्रम्य पतिजायापुत्रपशुविद्यादिप्रपञ्चस्याऽऽमार्थत्वेन विपत्त्वमु-  
क्त्वाऽनन्वयार्थतया निरुपाधिपितृत्वेनानतिशयानन्दात्मनो ज्ञातव्यतामाह  
पाज्ञवत्त्वयः—‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदि-  
ध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्प्रा विज्ञा-  
नेनेदं सर्वं विदितम् ’ [ वृ० २।४।५ ] इति । अत्र संशयः—किं  
जीवोऽत्र द्रष्टव्यत्वातिरूपेणोपदिश्यते किं वा परमात्मेति । तत्र जीव  
इति प्राप्तम् । कुतः । पतिजायाद्विमोग्यजातवता भोक्त्रोपक्रमाद् ।  
मध्येऽपि ‘ हृदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः  
समुत्थाय तान्धेयानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति ’ [ वृ० २।४।  
१२ ] इति प्रकृतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं जीवत्वरूपेण वद-  
न्तीत्यस्य द्रष्टव्यत्वं दर्शयति । श्रुत्यर्थस्तु—हृदं प्रत्यशूपं महद्वनवच्छिन्नं  
भूतं सत्यमनन्तं नित्यमपारं सर्वगतं विज्ञानघनो ज्ञानैकतानः । जात्य-

(दी०१) ‘अथास्मिन्मात्र एवैकधा भवति’ इत्यादि प्रश्नश्च व्याख्यानं च प्रश्न-  
व्याख्यानं ताभ्याम् । अपि चैवमेके । अपि चैके वाजसनेयिन एव-  
मनेन प्रकारेण प्रश्ने ‘ य एष विज्ञानमयः पुरुषः केषु तदाऽभूदिति प्रति-  
वचनेऽपि ‘ य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः ’ इति परमार्थविज्ञानार्थं जीवं  
परामुञ्चन्ति ॥ १८ ॥

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मोपक्रमोत्तरत्वं यथा तद्दिहापि जीवोपक्रमान्जी-  
वपरत्वमिति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाचक्षे—वाक्येति । ‘ आत्मा वा अरे

(अ० ५०) न्तरासंभ्रत्वमेवकारार्थः । स चैतेभ्यः कार्यकरणाकारेण परिण-  
 तेभ्योऽविद्याभूतेभ्यः साभ्येनोत्थाय जीवत्वमनुभूय तान्येव भूतानि ज्ञाना-  
 द्विनश्यन्ति सन्त्यनु पश्चाद्विनश्यति जीवत्वं त्यजति । न हि तत्प्रागा-  
 नन्तरमस्य रूपादिविशेषज्ञानमस्तीति । तस्माच्चैव इति प्राप्ते भूयः—  
 परमात्मैवात्र द्रष्टव्यतयोपदिष्ट आत्मा । कुतः । वाक्यान्वयात् । उपक्रम-  
 दिपर्यालोचनया वाक्यस्य ब्रह्मण्येवान्वयादित्यर्थः । तथा हि 'अमृत-  
 त्वस्य तु नाऽऽज्ञाऽस्ति चित्तेन' [ वृ० २ । ४ । २ ] इति चित्तसा-  
 धनेन कर्मणा मोक्षं प्रत्याज्ञा नास्तीति याज्ञवल्क्यादुपश्रुत्य मैत्रेयी  
 मोक्षमाज्ञासना तत्साधनं पृच्छति—'येनाहं मासृता स्थां किमहं  
 तेन कुर्वां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि' [ वृ० २ । ४ । ३ ]  
 इति । यद्ब्रूतत्वसाधनं त्वं वेत्थ तदेव मे ब्रूहीत्यर्थः । एवं पृष्टो  
 याज्ञवल्क्य इदमात्मज्ञानमुपदिशति—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'  
 [ वृ० २ । ४ । ५ ] इत्यादिना । न हि जीवज्ञानान्मोक्ष इति  
 कश्चिदभ्युपैति अतो द्रष्टव्यः परमात्मा । तथा 'आत्मनो वा अरे  
 दर्शनेन' [ वृ० २ । ४ । ५ ] इति यदात्मज्ञानात्सर्वज्ञानं प्रतिज्ञातं तद्दु-  
 न्दुभ्याद्विद्वष्टान्तेः साधयन्नस्य परमात्मत्वं गमयति—'स यथा दुन्दुभे-  
 हंन्यमानस्य न बाह्याऽशब्दाऽऽशब्दनुयात्' [ वृ० २ । ४ । ७ ] इत्या-  
 दिना । दुन्दुभिसङ्गवीणाशब्दाद्विद्वष्टान्तत्वेनोक्तस्तस्यायमर्थः—दुन्दु-  
 भिसङ्गवीणापदैस्तज्जन्यसामान्यशब्दा लक्ष्यन्ते । तथा च यथा दुन्दु-  
 भ्याद्विशब्दसामान्याद्दुन्दुभ्याद्विशब्दविशेषा भेदेनागृह्यमाणाः शुक्ति-  
 ग्रहग्राह्यरजतवत्तत्र कल्पितास्तद्ब्रह्मणे गृहीता भवन्ति तथा चिद्रूपस्फु-  
 रणं विना स्थितिकाले स्फुरणशून्यं जगत्तत्र कल्पितं तद्ब्रह्मणेन गृहीतं  
 भवति ततो नातिरिच्यत इति । तथा 'एतावदरे खल्वमृतत्वम् ।'  
 [ वृ० ४ । ५ । १५ ] इत्युपसंहारदर्शनाच्चात्र द्रष्टव्य आत्मा परमा-  
 त्मैवेति ॥ १९ ॥

(श्री०) द्रष्टव्यः' इत्यादिनोक्तः परमात्मैव । कुतः । वाक्यस्य 'अमृतत्वस्य तु  
 नाऽऽज्ञाऽस्ति चित्तेन' इत्यादेरस्मिन्नेव परमात्मनि अन्वयः पर्ववसानं  
 तात्पर्येण तस्मात् ॥ १९ ॥

[अ० १ पा० ४  
सू० २९-३१]

ब्रह्मादृतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि ।

१३९

(अ० ५०) ननु प्रतिज्ञावादिभोग्यजातेन लिङ्गेन जीवोपक्रमः प्रतीपतं स कथमित्यत आह—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्रयः ॥ २० ॥

जीवब्रह्मणोर्हि कार्यकारणयोर्भेदाभेदौ वर्तेते । अत्यन्तभेद एकविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधमसङ्कात् । तथा च तत्प्रतिज्ञासिद्धेरिदमभेदाशमादाय जीवोपक्रमणं लिङ्गमित्याश्रय आचार्यो मन्यते ॥ २० ॥

जीवस्य कार्यत्वमभेदसमानसत्ताकभेदवत्त्वं चासहमानः समाधानान्तरमाह—

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौहुलोमिः ॥ २१ ॥

संसारदशायामत्यन्तभिन्नस्य जीवस्य ब्रह्मात्मत्वसाक्षात्कारात्कार्यकारणसंघाताहुत्कमिष्यत एवंभावात्परमात्मनैकीभावाद्भ्रविष्यदभेदमादाय जीवोपक्रम इत्यौहुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ २१ ॥

नन्विदमप्यसंगतम् । सत्यकार्यकारणसंघातवतः संसारिणोऽत्यन्तभिन्नस्य मुक्तिदशायामभेदाद्योगादित्यरुच्या परमं समाधानमाह—

अवस्थितेरिति काशक्तस्नः ॥ २२ ॥

ब्रह्मण एवाविद्याकल्पितभेदेन जीवरूपेणावस्थितेर्जीवोपक्रमाविरोधं काशक्तस्न आचार्यः श्रुतेस्तात्पर्यज्ञो मन्यते । अत एव विज्ञाना-

(टी० १) 'आत्मनस्तु कामाद्य सर्वं त्रियं भवति' इति त्रियैसंयुचितस्य विज्ञानात्मनः प्रतीतेः का गतिरित्यत आह—प्रतिज्ञेति । 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन' इत्यादिप्रतिज्ञा तस्मिन्निस्तस्या लिङ्गं विज्ञानात्मनो द्रष्टव्यत्वाविसंकीर्तनं न तु वस्तुभिर्मायमित्याश्रय आचार्यो मन्यते । कार्यकारणभावेन जीवपरमात्मनोरिषन्देदस्य विद्यमानत्वात् ॥ २० ॥

भेदेनावस्थितस्य नामरूपाभ्याम् 'तथा विद्वान्' इत्यादिश्रुत्योत्क्रमिष्यत उत्क्रमणं करिष्यतस्तस्य नामरूपाद्भिमुक्तस्यैवमभेदस्य भावाद्भिज्ञानात्मनो द्रष्टव्यत्वाभिधानमित्यौहुलोमिराचार्यो मन्यते । जीवब्रह्मणोर्भेदस्य विद्यमानत्वात् ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति । 'अनेन जीवेनाऽऽमना' इति श्रुत्या परमात्मन

१ अ. ग. 'वैकरण' । २ अ. ग. 'वै करण' । ३ अ. 'वैकरुणित' । ४ अ. 'सप्तविमि' । ५ अ. 'प्राप्ति' । ६ अ. 'भेदाभेदस्य' ।

(न०५०)त्मभावेन ब्रह्मणो भूतेभ्यः समुत्थानं जीवलिङ्गत्वेन प्रागुपन्यस्तं न विकल्पते । अभेदादेव । तस्माद्ब्रह्मव्ये ब्रह्मणि भेदेयीवाह्यणवाक्यं समन्वितमिति सिद्धम् ॥ २२ ॥

( ब्रह्मणो निमित्तोपादानोभयकारणत्वम् । अधि० ७ )

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

जन्माद्यस्येति सूत्रे यद्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमुक्तं तदत्र विचार्यते । यद्यपि जन्मादिनयानन्तर्यभेदस्य युक्तं तथाऽपि निर्णीततात्पर्यैर्वेदान्तैर्निमित्तत्वमात्रं साधकानुमितेर्धिरोधोक्तिः मुकरोति समन्वयावसाने लिखितमिदमधिकरणमिति बोध्यम् । न च जन्माधिकरणवैवश्वं निर्विषयसमन्वयसाधनासंभवेन जगत्कारणात्मकविषयमात्रस्य तत्रोक्तत्वात् । उपादानत्वं त्वेतदधिकरणमित्यत्रोक्तमिति न कश्चिद्दोषः । जन्मादिनयस्याध्यायादिसंगतत्वाद्स्यापि तद्विचारात्मकरूपास्यध्यायादिसंगतिः । पूर्वपक्ष एकविज्ञानात्मवैज्ञानप्रतिज्ञामीणत्वं सिद्धान्ते तन्मुक्तत्वमिति फलभेदः । अत्र संशयः—किं ब्रह्मणो जगन्निमित्तत्वमात्रमुतोपादानत्वमपीति । तत्रेदम्—‘ तवैक्षत बहु स्यां प्रजायेय ’ [ छा० ६ । २ । ३ ] इत्यादिना सर्वत्रेक्षापूर्वक + कर्तृत्वभयणात्कुलालपत्रिमिसत्वमात्रमिति प्राप्ते ब्रूमः—‘ प्रकृतिश्च ’ ब्रह्म चकारान्निमित्तमपि । ‘ प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ’ प्रतिज्ञादृष्टान्तयोः सामञ्जस्यादित्यर्थः । प्रतिज्ञा हि—‘ येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् ’ [ छा० ६ । १ । ३ ] इति । अस्यां च प्रतिज्ञापामात्मज्ञानेन सर्वविज्ञानमुरूपयानमात्मन उपादानत्वं गमयति । निमित्तत्वे तदसंभवात् । न

(श्री०) एव जीवरूपेणावस्थानमवस्थितिस्तस्या विज्ञानात्मनो ब्रह्मत्वत्वाभिधानमिति काशकृष्ण आचार्यौ मन्यते ॥ २२ ॥

जीवब्रह्मणोर्वस्तुतो भेदाभावात् ‘ एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय ’ इत्यादिना कुतो जीवस्याभिधानमित्यत आह—प्रतिज्ञेत्यादिसूत्रम् ।

✽ ईश्वरस्य निमित्तत्वेन कर्तृत्वमात्रसाधकमतेऽप्य विरोधोक्तिर्निरासः मुकुर इत्यर्थः । मम च यस्य ब्रह्मरूपविषयं विना साधनासंभवात्समत्कारणव्यभिचयस्य अन्त्यादिसूत्र उक्तत्वादिभिः भावः । + ईसापूर्वकेति । ईसापूर्वकं कर्तृत्वं निमित्तकारणत्वेव कुलालादियुद्धमेतेत्यर्थः ।

(न०५०) हि कुलाले ज्ञाते षटादिकं ज्ञातमिति शक्यते वक्तुम् । उपादानत्वे तु तपोरुपादानोपादेशयोरप्यतिरेकाद्युक्तं तज्ज्ञाने तज्ज्ञानम् । दृष्टान्तोऽपि 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाहाचारम्मणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' [ छा० ६ । १ । ४ ] इत्युपादान-विषय एव दृश्यते । विकारो वागालम्बनमात्रं वस्तुतोऽसन्निति यावत् । तदेव साधयति—नामधेयमिति । शून्यशेषं निषेधति—मृत्तिकेति । निमि-त्तत्वमपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेव बोध्यम् । निमित्तस्पोपादानाद्भेदे प्रतिज्ञादृष्टान्तयोरसामञ्जस्यं स्यात् । तथा बृहदारण्यकेऽपि प्रतिज्ञादृ-ष्टान्तौ दृश्येते । 'आत्मनि सत्परं दृष्टे ध्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदि-तम्' [ वृ० ४ । ५ । ६ ] इति प्रतिज्ञाय 'स यथा द्रुन्दुमेहं न्यमानस्य न बाह्याच्छब्दाच्छब्दानुपाद्ब्रह्मणाय द्रुन्दुमेस्तु ग्रहणेन द्रुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' [ वृ० ४ । ५ । ८ ] इति दृष्टान्तः । षटाद्यधिष्ठा-न्तत्वाऽनुगतौ यः प्रकाशः स उपादानमित्यत्र दृष्टान्तो यथा तथोच्यते बाह्यान्द्रुन्दुमिश्रब्दसामान्यवह्निर्भूतान्द्रुन्दुमेस्तच्छब्दसामान्यस्येत्यर्थः । तथा च हन्यमानद्रुन्दुमिनन्यस्य शब्दसामान्यवह्निर्भूतशब्दविशेषानुग्र-हणाय ग्रहीतुं न शक्नुयादिति व्यतिरेकः । अन्यस्यापि द्रुन्दुमिश्रब्दसा-मान्यस्य ग्रहणेन तु द्रुन्दुभ्याघातसंज्ञको विशेषशब्दो गृहीतो भवति । द्रुन्दुभ्याघातस्य वीररसामिव्यञ्जकस्य विशेषशब्दस्य ग्रहणेन वा तदवा-न्तरशब्दविशेषो गृहीतो भवतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

अभिधोपदेशाच्च ॥ २४ ॥

इतश्चाऽऽत्मनः कर्तृत्वप्रकृतिर्वे । कुतः । अभिधोपदेशात् । ध्यानोपदे-

(श्री०) पूर्वाधिकरणे प्रतिज्ञां मुख्यामाभित्व जीवपरत्वं वाक्यस्य निरस्तमिह निमित्तोपादानभेदात्सा गौधीत्याक्षिप्य समाधत्ते-प्रकृतिरिति । प्रकृति-रुपादानं ब्रह्म । चकारेण निमित्तकारणमपि । कुतः । 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादिप्रतिज्ञा । 'यथा शोभ्य' इत्यादिदृष्टान्तः । प्रतिज्ञा च दृष्टान्तश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तौ तपोरुपरोधः धीढनं संकोचमादि तद्विपरीतोऽनुपरोधस्तस्मात् ॥ २३ ॥

प्रकृतिर्निमित्तं चैवमचेतनं प्रधानमेव कुतो न स्यादित्यत आह—

(४०५०)शादिष्यर्थः । 'सोऽकामयत' इति ध्यानोपदेशात्कर्तृत्वं 'बहु-  
स्पाम्' इति ध्यानोपदेशात्प्रकृतित्वमिति ॥ २४ ॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

प्रकृतित्वे हेत्वन्तरमिदम् 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव  
समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' [ छा० १ । ९ । १ ] इत्याका-  
शाशब्देन साक्षाद्ब्रह्म गृहीत्वा जगदुत्पत्तिप्रलययोरुभयोराम्नानाद्ब्रह्म  
प्रकृतिरित्यर्थः । यस्मिन्नूत्पत्तिलयी यस्य कार्यस्य तत्कार्यं प्रति तदुपा-  
दानं यथा घटस्य घटदिति व्याप्तेरिति भावः ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

लोके हि कृतिमान्कर्ता कृतिविषयो मृदादिरुपादानमिति व्यवस्था ।  
प्रकृते चाऽऽत्मनः कृतिमत्त्वं कृतिविषयत्वं च श्रूयते । 'तदात्मानम् स्वय-  
मकुरुत' [ तै० २ । ७ ] इति आत्मानमिति द्वितीयया कृतिविषयत्वम् ।  
स्वयमित्यनेन कृतिमत्त्वम् । तथा च ब्रह्म निमित्तमुपादानं च । कुतः ।  
आत्मकृतेः । आत्मसंबन्धिनी कृतिरात्मकृतिः । संबन्धो विषयविषयि-  
भावः । आधाराधारिभावश्च । ततो हेतोरित्यर्थः । नन्वात्मनः कर्तृ-

(दी०) अभीति सोऽकामयत' इत्यादिना कारणस्य चैतन्यमभिध्यानम-  
भिध्या तस्या उपदेशस्तस्मात् । पुरुषाणां प्रधानाद्भिन्नत्वात्प्रतिज्ञाद्युप-  
रोधोऽपि चकारेण समुचीयते ॥ २४ ॥

ननु श्रौतार्थापत्तिलभ्योभयकारणत्वस्य ब्रह्मणि प्रलयाश्रयणोदर्या-  
पत्त्या प्रतिरोध इत्यत आह—साक्षादिति । न प्रलयाश्रयणलिङ्गमस्ति ।  
कस्मात् । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इत्यादौ साक्षाद्भयस्यो-  
त्पत्तिप्रलयस्याऽऽज्ञानात्पाठाद्भेदेन ॥ २५ ॥

उभयकारणत्वे कर्तृकर्मणोरैक्यं कुत्र तदुपलब्धमित्यत आह—  
आत्मेति । आत्मनः कर्मत्वेन कर्तृत्वेन च कारणं कृतिः 'तदात्मानम्'  
इति श्रुतौ कर्मत्वम् 'स्वयमकुरुत' इति श्रुतौ कर्तृत्वं तस्याः । सिद्धस्य  
कथं कार्यत्वमित्यत आह—परिणामात् । क्षीरस्थेव दधिकूपेण । अथ  
वा परिणामादिति सूत्रान्तरम् । आत्मानमिति श्रुत्या निमित्तत्वमेव

[म० भा० ४  
सू० २७-२८]

ब्रह्मासूतवर्षिणीदापिकाभ्यां समेतानि ।

१४३

(ब्र० १०१) त्वेन पूर्वसिद्धस्य कथं कृतिकर्मत्वमत आह—परिणामादिति । परिणामो विधत्तः । सिद्धस्यापि विधत्तात्मना साध्यत्वात्कर्मत्वोपपत्तिरित्यर्थः । मृद्घट इति प्रकृतिविकारयोः सामानाधिकरण्यं वृष्टमिति भावः ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

‘यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः’ [मुण्ड० १।१।६] ‘कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्’ [मु० ३।१।३] इति च प्रकृतिवाचकयो-  
निशब्देनाऽऽहमा गीयते एतोऽतश्च प्रकृतिर्महोवैत्यर्थः । तस्माद्ब्रह्मणः  
प्रकृतित्वं कर्तृत्वं चेति सिद्धम् ॥ २७ ॥

(परमाणुञ्ज्यादीनां श्रुत्युक्तानामपि जगत्कारणत्वमपहाय ब्रह्मण एव प्रतिनियतजगत्कारणत्वम् । अधि० ८ )

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

एतावता ग्रन्थेन ‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’ [ब्र० सू० १।१।५] इत्यादिनाऽशब्दत्वादिभिः प्रधानकारणवाद्गो निराकृतौ न पुनरणुस्व-  
भावासत्कारणवादाः । तेषामपि कारणत्वबोधकश्रुतयो वृश्यन्ते । तथा हि च्छान्दोग्ये श्वेतकेतुं प्रत्युहालकः सूक्ष्मवस्तुनि स्थूलस्यान्तर्भावं प्रतिपिपादयिषुराह—‘न्यबोधफलमंत आहरेतीदं भगव इति भिन्धीति मिश्रं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किंचन भगव इति । [छा० ६।१२।१]

(छि०) कृत उपादानत्वमपीत्यत आह—परिणामात् । ‘सच त्यच्च’ इति श्रुत्याऽन्यस्यान्याकारप्रतीतिः । परिणामो रज्ज्वा इव सर्पाकारस्त-  
स्मात् ॥ २६ ॥

नन्वस्त्वन्यरूपभयनं न चोपादानत्वमित्यत आह—योनिरिति । हि यस्माद्योनिश्रोपादानमपि ‘यद्भूतयोनिम्’ इत्यादिना गीयते पठ्यते ॥ २७ ॥

पूर्वाधिकरणे मुक्तिकादिदृष्टान्तात्प्रकृतिर्महोत्सुकम् । इहापि प्रधानां  
भेदादिनिदर्शनाज्ञानाविवादा इत्याक्षिप्यातिदेशेन समाचचे—एतेनेति ।



( अ०५०। ) 'एतस्य वै लौक्यैषोऽणिन्न एव महाकृपशोऽस्तिइति' [ छा०  
 ६।१२।२ ] इति जगतः प्रागवस्थायां दृष्टान्तः श्रूयते । तत्र न किञ्चना-  
 गुशब्दु श्वथथाच्छून्यस्वभावाणुकारणवादा दार्ष्टान्तिकत्वेन प्रतीयन्ते ।  
 तथा ' असदेवेदमग्र आसीत् ' [ छा०३।१९।१ ] ' तन्नामरूपाभ्यामेव  
 व्याक्रियत ' [ बृ० १ । ४ । ७ ] इत्यादा असत्स्वभाववादी प्रतीयन्ते ।  
 तासां श्रुतीनां तेषु वादेषु तात्पर्यमस्ति न वेति संक्षेपेऽस्तीति प्राप्तेऽति-  
 विशति—एतेनेति । प्रधाननिराकरणेन ये हेतवो शब्दत्वाच्चेतनत्वैकवि-  
 ज्ञानप्रतिज्ञानुपपत्त्यादवस्तेषामण्वादिपक्षेऽपि साम्येन सर्वेऽण्वादिकारण-  
 वादा निराकृतत्वेन व्याख्याताः । न च न किञ्चनादिशब्दविरोधः ।  
 अनभिध्यक्तनामरूपत्वेनाविरोधात् । सूक्ष्मत्वाच्चाऽऽत्मन्यणुशब्दो गौणः।  
 स्वभाववाद्बन्तु पूर्वं समाहितः । अभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ।  
 तस्माज्जगत्कारणे सर्वज्ञे जिज्ञास्ये वेदान्तानां समन्वयो नान्यत्रेति  
 सिद्धम् ।

' समन्वये स्पष्टलिङ्गमस्पष्टत्वेऽप्युपास्यगम् ।  
 ज्ञेयगं पदमात्रं च चिन्त्यं पादेऽनुक्रमात् ' ॥

इति ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिवाजकाचार्यश्रीमन्मुकुन्दगोविन्दश्रीचरण-  
 शिक्षितश्रीरामकिंकरधर्मकृतौ ब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्मासूतवर्षिण्यां  
 प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥

( शी०। ) एतेन प्रधाननिराकरणेनाण्वादिवादा व्याख्याता निराकृताः ।  
 पदान्यासोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिवाजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादुशिष्यस्य  
 श्रीशंकरानन्दभगवतः कृतौ ब्रह्मसूत्रवृत्तौ वर्षिण्यां प्रथमा-  
 ध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

संपूर्णश्च प्रथमोऽध्यायः ॥

[अ०२७०५५०३] ब्रह्मसूत्रवर्षिणीटीपिकाम्यां समेतानि । १४५

समाप्तश्च व्यासप्रणीतब्रह्मसूत्राणां समन्वयाख्यः प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अस्मिन्नध्याये—पादाः—अधिकरणानि—सूत्राणि

|           |    |    |     |
|-----------|----|----|-----|
| प्रथमः—   | ११ | —  | ३१  |
| द्वितीयः— | ७  | —  | ३२  |
| तृतीयः—   | १४ | —  | ४३  |
| चतुर्थः—  | ८  | —  | २८  |
|           | ४  | ४० | १३४ |

(अ०५०) अतिदेशाधिकरणे प्रधानवद्देशवत्त्वं परमाप्त्वादीनामपीत्यु-  
क्तम् । संप्रति प्रधानस्य वैदिकशब्दवाच्यत्वाभावेऽपि स्मृतिरूपशब्द-  
व्यवसायपरिहरति—

(सांख्यस्मृत्या वेदसंकोचस्यायुक्तत्वम् । अधि० १ )

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्य-

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

प्रथमाध्याये सर्वज्ञे सर्वशक्ती जगज्जन्मादिकारणे सर्वेषां वेदान्तानां  
समन्वयः प्रतिपादितः । अशब्दत्वादिहेतुभिः प्रधानादिकारणवादाश्च  
निराकृताः । इदानीं द्वितीयेऽध्याये प्रथमपादे सांख्यदिस्मृतितर्काम्यां  
स्वप्ने विरोधः परिह्रियते । द्वितीयपादे सांख्यदिमतानां दृष्टत्वं प्रति-  
पाद्यते । तृतीयाद् आद्यभागेन पञ्चमहाभूतश्रुतीनां परस्परं विरोधः  
परिह्रियते । द्वितीयभागेन जीवश्रुतीनां चतुर्थपादे लिङ्गशरीरश्रुतीनां  
विरोधपरिहारः । इत्येतदर्थमध्याय आरभ्यते । तदुक्तम्—

द्वितीये स्मृतितर्काम्यामविरोधोऽन्यद्दृष्टता ।

भूतभोक्तृश्रुतेर्लिङ्गश्रुतेरप्यविरुद्धता ॥ इति ।

प्रथमाध्याये सूत्राणि ॥ १३४ ॥

अधिकरणानि ॥ ४० ॥

(अ०१) पूर्वाध्याये सर्वोपनिषदां जगत्कारणे ब्रह्मणि समन्वय उक्तः ।  
तस्मिन्विरोधाशङ्कायामयमध्यायः । तत्र प्रथमे पादे त्रयोदशाधिकर-

(अ० १००) उक्तसमन्वयस्य स्मृत्यादिविरोधे तस्मिन्सममनेन क्रियत इत्य-  
नधोरध्याययोर्धिषयविषयिभावः संबन्धः । निर्धिषयकविरोधपरिहारा-  
योगाद्द्विषयसूत्रसमन्वयस्याऽऽद्यौ विचारः कृतोविषयिभूतविरोधपरिहार  
इदानीं क्रियत इति युक्तमेतस्याध्यायस्य पूर्वाध्यायानन्तर्यम् । श्रौतसम-  
न्वयविरोधपरिहारस्यावस्य पादस्व श्रुत्यध्यायसंगतिः । सर्वत्र पूर्वोत्तर-  
पक्षयोर्विरोधाविरोधौ फलमिति विवेकः । तत्र प्रथमं स्मृतिविरोधपरि-  
हारः । अत्र संज्ञापः—उक्तसमन्वयः किं सांख्यादिस्मृत्या विरुध्यते न  
वेति । विरुध्यत इति प्राप्तम् । कुतः । सर्वज्ञकपिलादिप्रणीतत्वेन प्रामा-  
ण्यात् । श्रुतिरपि कपिलमुनिमप्रतिहतज्ञानं दर्शयति—‘ ऋषिं प्रसूतं  
कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ’ [ श्वेता० ५ । २ ]  
इति । यस्तावदग्रे सर्गादौ जायमानं कपिलनामानसृषिं स्थितिकाले च  
प्रसूतं भूतमविध्यद्वर्तमानविषयकज्ञानैर्बिभर्ति पुष्पाति तमीश्वरं पश्ये-  
दिति योजना । तस्मान्न ब्रह्माणि कारणे समन्वयो महर्धिप्रणीतप्रधान-  
कारणवाद्स्मृतीनामनवकाशरूपदोषप्रसङ्गात् । न च जगत्कारणे सिद्धे  
वस्तुनि विकल्पो युज्यते । तस्मात्प्रधानगुणतया श्रुतयो नेया इति  
चेदित्यन्तं सूत्रावयवार्थः । परिहरति—नेति । कुतः । अन्यस्मृत्यनव-  
काशदोषप्रसङ्गात् । तथाहि चेतनं प्रकृत्य ‘ तस्माद्द्व्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं  
द्विजसत्तम [ महाभा० १२ । ३३६ । ३० ] इति स्मृतिरव्याकृतनाम-  
रूपप्रपञ्चस्य ब्रह्मजन्यत्वमाह । तथा भगवद्गीतास्वपि ‘ अहं सर्वस्य  
जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ’ [ अ० गी० ७ । ६ ] इति चेतनकारणत्वं  
स्मर्यते । तथा च प्रधानकारणवाद् एतत्स्मृतीनामनवकाशो दोषः प्रस-

(दी०)णानि तत्रेदं द्विसूत्रं प्रथममधिकरणम् । तत्रापि श्रुतिवत्स्मृतेरासौक-  
त्वाच्च तद्विरोधाशङ्कां स्मृतिकारणामपि कपिलस्य प्राधान्यात्प्रथमं  
तत्स्मृत्या विरोधमाशङ्क्य परिहरति—स्मृतीति । स्मृतेर्मूलप्रकृतिरित्याद्याया  
नावकाशोऽनवकाशः कर्मस्तुत्याद्यभावे प्रधानप्रतिपादकत्वमपि चेन्न  
स्थांत्तद्वर्थाभावः स चासौ दोषश्च स्मृत्यनवकाशदोषस्तस्य प्रसङ्गः  
प्राप्तिस्तस्मादिति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । अन्यासाम् । तस्माद्द्व्यक्त-

(स०३०।) ज्येष्ठ । अतः स्मृतिद्वयविरोधे श्रुत्यधिकृद्धा स्मृतिः प्रमाणमित्य-  
प्रमाणसांख्यस्मृत्या न विरोधः । श्रुतिक्षैतदन्वकपिलविषया कपिलैक्ये  
प्रमाणामावाधिति ॥ १ ॥

इतश्च सांख्यस्मृतेरनवकाशो न दोष इत्याह—

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

सांख्यस्मृतिप्रसिद्धानां प्रधानादितरेषां महत्पूर्वकारादीनां तत्त्वानां  
लोकैः वेदे चानुपलब्धेश्च सांख्यस्मृतेरप्रामाण्यं न दोषः । तथा च तदे-  
कदेशप्रधानस्मृतेरप्यप्रामाण्यमिति भावः ॥ २ ॥

(योगस्मृत्याऽपि वेदसंकोचस्याप्युक्तत्वम् । अधि० २ )

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

अतिदेशत्वाद्गृथक्सङ्गत्याद्यपेक्षा योगास्तावत्सेम्बरा हत्येतावान्का-  
पिलमताद्विशेषः । प्रधानाद्विक्रिया समैव । तथा च कापिलमत-  
निरासैव पातञ्जलमतं निरस्तं भवतीत्यर्थः । न चातिदेशवैयर्थ्यम् ।  
ज्ञानसाधनत्वेन श्रुतिसिद्धयोगप्रतिपादकत्वेन प्रामाण्याशङ्कायामतिदेश-  
सार्थक्यात् । तर्ह्यप्रामाण्ये कथं तस्माद्योगप्रमेति चेत् । उच्यते—तात्पर्यवि-  
षयमूलेऽर्थेऽप्रामाण्यं हि ज्ञास्त्रस्याप्रामाण्यमाशङ्कति यथा कापिलस्मृतेः ।  
न हि योगस्मृतेः प्रधानादी तात्पर्यं येनाप्रामाण्यं भवेत् । किं तु योग  
एव स चाबाधितः श्रुतिसिद्धत्वात् । किंचिद्बालम्य योगः प्रतिपादनीय

(दी०) मुरपन्नम्' इत्यादीनां स्मृतीनामनवकाशोऽर्थाभावः स चासौ  
दोषश्चान्वस्मृत्यनवकाशदोषस्तस्य प्रसङ्गस्तस्मात् ॥ १ ॥

इन्द्रियाणां सर्वसिद्धत्वात्तत्सहपठितानामण्यकादीनां मन्वादिस्मृति-  
विशेषेऽपि ग्रहणमित्यत आह—इतरेषामिति । प्रधानादितराणि मह-  
दादीनि तेषामनुपलम्बनमनुपलब्धिस्तस्याः । लोके वेदे चेति शेषः ।  
चकारो व्याप्यस्यानुपलब्धावव्यापकस्योपलब्ध्यभावसमुच्चयार्थः ॥ २ ॥

पूर्वाधिकरणेऽपौरुषेयवेदानुसारिस्मृतिविरोधोत्कापिलस्मृतेरप्रामाण्या-  
द्विरोधः समन्वयस्येत्युक्तम् । नन्वेवं योगस्मृतिर्वेदविरोधिनी सा च  
प्रधानादीभ्यतिपादयति तया समन्वयस्य विरोध इति प्रत्युदाहरणे-

१ अ. 'वेदवि' । २ अ. 'वेदवि' । ३ अ. 'विरोधे' । ४ अ. 'लोकापेक्षेति' । ५ अ. 'शाक-  
वि' । ६ अ. 'विपिरो' । ७ अ. 'तथा च' ।

(ब०५)इति परप्रसिद्धप्रधानादिकुमालम्बनत्वेन गृहीतं तत्रापि प्रामाण्या-  
शङ्कायामतिदेश इत्यविरोधः। एवं चदंशे सांख्यस्मृतेरविरोधस्तदंशे प्रामा-  
ण्यमित्यधिकरणद्वयस्य तात्पर्यम्। योगस्य कथं श्रौतत्वमिति चेत्तद्व-  
क्ष्यामः। श्वेताश्वतरोपनिषदि 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' [ श्वे०  
२।८ ] इत्यादिना योगपपञ्चः कृतः। त्रीणि कायग्रीवाशिरांसि  
उन्नतानि यस्मिस्तच्छरीरं समं संस्थाप्य युञ्जीतेति योजना। तथा  
काठकेऽपि 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' [ का०  
२।६।११ ] इति। 'विद्यामेतां योगविधिं च क्लृप्तम्' [ का० २।  
६।१८ ] इति। इन्द्रियाणां स्थिरामैकाग्र्यलक्षणां धारणां योगविदो  
योगं मन्यन्ते। यथोक्तमैकाग्र्यमेव परमं तप इति वक्तुमिति शब्दः। एतां  
ब्रह्मविद्यां योगप्रकारं च सर्वं मृत्योः सकाशात्तद्विकेता लब्ध्वा ब्रह्ममा-  
तोऽमूर्दित्यर्थः ॥ ३ ॥

(वैलक्षण्यारूपयुक्तिद्वाराऽपि वेदान्तवाक्यानामबाध्यत्वम्। अधि०३)

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥ ४ ॥

स्मृतिविरोधः परिहृतः। इदानीं न्यायविरोधः परिह्वियते। यद्यपि  
सापेक्षतर्केण निरपेक्षश्रुतिसमन्वयस्य न विरोधस्तथाऽपि साक्षात्कारस्य  
मोक्षसाधनत्वेन प्राधान्यात्तर्कस्य दृष्टानुसारेणार्थसमर्पकत्वेनापरोक्षार्थ-  
विषयकत्वात्प्रधानसाक्षात्कारस्य विषयतोऽन्तरङ्गस्तर्कः। शब्दस्तु परो-  
क्षार्थैकबोधनस्वभावो बहिरङ्ग इति बलवत्तर्केण विरुध्यत इत्याक्षेपो  
युक्तः। पूर्वं वेदविरुद्धस्मृतेर्मूलाभावादप्रामाण्ययुक्तं तर्हि तर्कस्य  
व्याप्तिपक्षधर्मतयोर्मूलत्वेन लोकसिद्धत्वात्तेन विरोध इति प्रत्युदाहर-  
णसंगत्याऽयमाक्षेपः। आकाशादिकं न चेतनप्रकृतिकं द्रव्यत्वाद्घट-  
वदिति तर्केण समन्वयो विरुध्यते न वेति सदेहे विरुध्यत इत्याह—न

(सं०)नाऽऽशङ्क्यातिदेशेन समाधत्ते—एतेनेति। एतेनान्यस्मृत्यनवकाश-  
दोषप्रसङ्गेन योगो योगशास्त्रं प्रत्युक्तो निराकृतः ॥ ३ ॥

पूर्वाधिकरणे वेदविरुद्धार्थस्मृतेर्वेदवैलक्षण्यादतन्मूलत्ववद्ब्रह्मवैलक्ष-  
ण्याजगदप्यतन्मूलमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिपति—नेति। न ब्रह्म चेतनं जगतः

१ अ. ग. तर्कत्वान्तरत्वाद्बलवत्तरात्। शब्दस्य बहिरङ्गत्वाभिप्रेतम्। इसधिकं  
ररपे ।

(अ० १००) विलक्षणत्वादिति । जगद्येतन्नप्रकृतिकामिति यदुक्तं तन्न । कुतः । विलक्षणत्वात् । अस्य जगतश्चेतनाद्विलक्षणत्वाद्येतन्नं ब्रह्म सुखं जगदचेतनं परिच्छिन्नमस्तु इति विलक्षणम् । यद्यद्विलक्षणं न तत्त्वकृतिकम् । तन्मुखिलक्षणो घटो न तन्मुखकृतिक इति । ननु ब्रह्मजगतोर्विलक्षणं कुत इत्यत आह—तथार्थं च शब्दादिति । तथार्थं वैलक्षण्यम् । 'विज्ञानं चाविज्ञानं चामवत्' [ तै० २ । ६ ] इत्यादिश्रुतितोऽवगतमित्यर्थः । अत्र श्रुताविविज्ञानशब्देन जडमुच्यते ॥ ४ ॥

ननु ब्रह्मवज्जगदपि चेतनं ध्रुपते—'ते हेमे प्राणा अहंशेषसे विवदमानाः' [ वृ० ६ । १ । ७ ] 'मृदववीत्' 'आपोऽब्रुवन्' [ श० ब्रा० ६ । १ । ३ । २ ] 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उवाच' [ वृ० १ । ३ । २ ] इत्यादिश्रुतिभिरित्यत आह—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुमतिभ्याम् ॥ ५ ॥

उक्तशङ्कानिरासार्थस्तुशब्दः । उक्तश्रुतिभिर्न जगतश्चेतनत्वं प्रत्येकव्यम् । यतो मृदाद्यभिमानिनीनां देवतानां तन्न व्यपदेशो भवति न मृदादिमात्रस्य । इदं कुतः । विशेषानुमतिभ्याम् । कौपीतकिब्राह्मणे 'एता ह वै देवता अहंशेषसे विवदमानाः' [ कौ० २ । १४ ] इति बृहदारण्यके प्राणसंवादे श्रुतप्राणानां देवताशब्देन विशेषितत्वात् प्राणा इन्द्रियाणि किंतु तदधिष्ठात्र्यो देवता इति नेन्द्रियाद्विजगतश्चेतनत्वम् । 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' [ ऐ० आ० २ । ४ ] इत्यादिमन्त्रार्थवादादिषु सर्वत्र तदभिमानिदेवतानामनुगतेः श्रवणाच्च न चेतनं जगत् । 'ते ह वाचमूचुः' [ वृ० १ । ३ । २ ] इत्यत्रापि ते

(सी०) कारणम् । कुतः । जगतो विलक्षणत्वाज्जटत्वात् । 'तथार्थं च' जडत्वमपि अस्य जगतः 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इत्यस्माच्छब्दाद्वाक्यात्सिद्धमित्यतो न जगतश्चेतन्यं कल्पमित्यर्थः ॥ ४ ॥

न कल्पयामि चैतन्यं किंतु 'ता आपोऽब्रुवन्' इत्यादिनोपलभ्यत इत्यत आह—अमीति । तुशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः । अभिमानिनीनां देवतानां व्यपदेशोऽभिमानिव्यपदेशः । सावादीनाम् । कुतः । मोक्ष-मोक्षरूपो विशेषः । अथ वा 'एता ह वै देवताः' इति देवताशब्द-

(प्र०व०।) ह देवा वागमिमानिनीं देवतामूयुः । किमिति त्वं न उद्गायेति ।  
भोगमस्मभ्यं संपादयेत्यर्थो बोधवः ॥ ५ ॥

तस्माद्चेतनस्य जगतो वैलक्षण्यात् चेतनप्रकृतिकत्वमिति प्राप्ते  
राज्ञान्तसूत्रम्—

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

पूर्वपक्षनिरासार्थंस्तुशब्दः । यदुक्तं चेतनविलक्षणं जगत् तत्प्रकृति-  
कमिति तन्न । चेतनात्पुरुषाद्विलक्षणानां नखलोमादीनामचेतनानाम-  
चेतनाच्च गोमयाचेतनवृश्चिकस्योत्पत्तिर्यतो दृश्यतेऽत दृश्यार्थः । प्रकृति-  
विकारयोरत्यन्तसादृश्ये प्रकृतिविकारभावानुपपत्त्या यत्किंचित्सादृश्यं  
वाच्यं तच्च प्रकृतेऽपि जगति स्फुरणाद्यनुवृत्त्या समानमिति भावः ।  
किं च ब्रह्मण्युपनिषद्यतिरिक्ततर्कादेः प्रमाणस्य प्रवेशनामावाञ्छ तेन  
विरोधः समन्वयस्य । तथा च श्रुतिः—‘ नैषा तर्केण मतिरापनेया  
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय श्रेष्ठ ’ [ का० १ । २ । ९ ] इति । को अन्धा  
वेदु क इह प्रवोचत् । इयं विसृष्टिर्यत आबभूव ’ [ ऋ० सं० १०।१२९।  
६ ] इति । ब्रह्मविषया मतिरेषा तर्केण नाऽऽपनेया न प्रापणीयेत्यर्थः ।  
यद्वा कुतर्केणाऽऽपनेया निरस्या न भवति । किं त्वभ्येनेवाऽऽचार्येण  
वेदविद्या प्रोक्ता सा सुज्ञानाय फलावसायिसाक्षात्काराय भवति हे  
श्रेष्ठ श्रियतमेति नचिकेतसं प्रति श्रुत्योर्बचनम् । को हि ब्रह्मव्यवहारभूमा  
अन्धा साक्षाद्देवु को वा तत्प्रबोचत्प्रबोचदित्यर्थः । छान्दसो दीर्घलोपः  
एत आत्मनः सकाशाद्विधं विविधा सृष्टिर्बभूव स एव स्थं रूपं वेद  
नान्य इति मन्त्रप्रतीकयोरर्थः ॥ ६ ॥

(श्ल०)विशेषः । ‘ अग्निर्वाग्भूत्वा ’ इत्यादिनाऽनुगमनमनुगतिः । विशेष-  
ब्रह्मानुगतित्त्वं विशेषानुगती ताभ्याम् ॥ ५ ॥

सिंद्धान्तमाह—दृश्यत इति । तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । दृश्यते  
लौके चेतनात्पुरुषात्केशादि अचेतनाद्गोमयादेवृश्चिकादि वेदेऽपि ‘ यथा  
सतः ’ इत्यादिदृष्टान्ताच्चेतनस्याचेतनकारणत्वम् ॥ ६ ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

(स०२०१)ननु चेतनस्य मामादिहीनस्याचेतनमामादिमज्जगद्धेतुत्व उत्पत्तेः पूर्वं जगदसदेव स्यादिति चेन्न । कुतः । प्रतिषेधमात्रत्वात् । असत्स्यादिति योऽर्थं प्रतिषेधस्तत्प्रतिषेधमात्रं न तु तस्य प्रतिषेध्यमस्तीत्यर्थः । अयं भावः—न हि कार्यसत्ता कारणाद्भिद्यते किं तु कारणमेव स्थितिदशापामपि जगत्ता वद्वेय । तथा च ब्रह्मात्मकजगतः सत्त्वमुत्पत्तेः पूर्वमभ्यवविशिष्टमिति नासज्जगदिति ॥ ७ ॥

आक्षिपति—

अपीती तद्द्वयसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

ननु ह्युद्धृष्टादिगुणकं ब्रह्म जगदुपादानमित्यसमञ्जसम् । कुतः । अपीती तद्द्वयसङ्गात् । अपीती प्रलयसमये जाठ्याह्युद्धृष्टादिगुणकं जगद्ब्रह्मणि लीयमानं स्वनिष्ठजात्यादिभिर्धर्मैर्ब्रह्म रूपयेत् । यथा शाकादी लीयमानं हिरण्युद्धृष्टादिकं स्वनिष्ठगन्धादिभिः शाकादिकं रूपयति तद्वत् । तथा च तद्भूतकारणस्यापि ब्रह्मणोऽह्युद्धृष्टादिः प्रसज्येतेत्याक्षेप-  
मूत्रार्थः ॥ ८ ॥

परिहरति—

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

तुरेवार्थः । पूर्वोक्तमसमञ्जसं नास्त्येवेत्यर्थः । कुतः । दृष्टान्तभावात् । कार्यं

(स०१)असदिति । निर्गुणे ब्रह्मणि प्रागुत्पत्तेर्जगतोऽभावादसत्कार्यमिति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । प्रतिषेधमात्रत्वात् । कारणात्मना कार्यस्य विद्यमानत्वात्प्रतिषेध्याभावेन प्रतिषेधमात्रत्वादसत्कार्यमिति शब्दस्याऽऽ

अपीताविति । स्थूलादिगुणकस्य कार्यस्य ब्रह्मणोऽभेदेऽपीती प्रलये ब्रह्मणोऽपि तद्द्वयसङ्गः स्थूलादिमत्त्वप्रसङ्गस्तस्मात् । अथ वा तद्द्वयसङ्गादभेदप्रसङ्गाद्भौतमोग्वाद्यमार्वात्यसङ्गेन । अथ वा तदभिन्नानां पुनरुत्पादमुक्तानामपि तद्द्वयसङ्गात्पुनरेत्पादप्रसङ्गात् । अथ वा भेदसङ्गादे तद्द्वयसङ्गोऽस्तिवतीतरकालवत्प्रलयाभावप्रसङ्गादसमञ्जसमसमीचीनमपिनिषदं दर्शनम् ॥ ८ ॥

नत्विति । तुशब्द एवकारार्थः । त्वदुक्तं नैव । कुतः । दृष्टान्त-

१ ग. 'अकारणम्' । २ स. 'हेतुतो' । ३ स. 'वा उत्पत्तेः' । ४ स. 'भावतो' । ५ स. 'सत्त्व-  
स्यादि' । ६ स. 'ब्रह्मकारणकसत्' ।



(अ०५०)कारणे लीपमानं स्वधर्मेण कारणं न रूपयतीत्यस्मिन्नर्थे शतशो ह्यटान्तानां सत्त्वादित्यर्थः । यथा घटशराबादिकं कार्यं बुद्धिं लीपमानं बुद्धं स्वनिष्ठधर्मैर्न रूपयति । यथा वा स्वप्नप्रपञ्चो न स्वधर्मैः कारणमात्मानं रूपयति तथा मायिकं जगदुत्पत्तिस्थितिलयाख्यावस्थात्रयसाक्षिणं परमात्मानं न स्वनिष्ठजात्यादिभिर्धर्मैर्न रूपयेत् । परमात्मनोऽवस्थात्रयासंबन्धे वृद्धसंमतिरापि—

‘अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।  
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा’ ॥

[ गौ० का० १ । १६ ] इति । माययाऽऽवृत्तस्वरूपो जीवो यदाऽऽचार्यप्रतिपादनावस्थायां स्वरूपज्ञानभागमधति तदाऽद्वैतं बुध्यत इति योजना । अजमित्युत्पत्त्यवस्थायाः संबन्धाभाव उक्तः । अनिद्रमिति लयावस्थाया अस्वप्नमिति स्थित्यवस्थाया इति भेदः । किं च कार्यस्य कारणात्मकत्वेऽपि न कारणं कार्यात्मकमिति न कार्यधर्मरूपणं कारणस्येति समञ्जसं वेदान्तशास्त्रमिति ॥ ९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥

ये दोषा विलक्षणत्वात्मकृतिविकारभावानुपपत्तिरत्वक्षेः प्राग्गतोऽसत्त्वप्रसङ्गोऽपीतौ तद्वत्प्रसङ्ग इति सांख्येनोद्भावितास्ते सांख्यपक्षेऽपि समानाः । शब्दादिहीनप्रधानसकाशाच्छब्दादिमतो विलक्षणस्य अगत उत्पत्त्यङ्गीकारादित्यर्थः । वस्तुतः प्रपञ्चसत्यत्ववादिनः सांख्यस्यैव ते दोषा न ममानिर्वचनीयवादिन इति भावः ॥ १० ॥

(दी०)स्वाऽऽद्ये स्थूलस्य घटादेःपृथिव्यादिकं प्रविज्ञातो द्वितीयेऽविभक्तस्य तेन सुषुप्तादुत्थितस्य सुतीये तदज्ञानदाहे तदनुत्पादेन च शैल्यादेःश्रुतार्थे घटाद्यवस्थानस्याभावेन भावात्सत्त्वात् । अथ वा त्वत्वक्षे ह्यटान्तस्याभावादेव ॥ ९ ॥

स्वपक्षेति । स्वस्य प्रतिवादिनः पक्षः स्वपक्षस्तस्मिन्विलक्षणत्वादेर्दोषभावात् । चकारोऽन्यत्र दोषभावेऽसमुच्चयार्थः ॥ १० ॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदे-  
धमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥ ११ ॥

(ब०ब०) केवलस्य तर्कस्याप्रतिष्ठानादप्यप्रतिष्ठितत्वाच्च न तेन समन्वयवि-  
रोधाशङ्केत्यर्थः । एकेन तार्किकेण यत्नेनानुमितोऽप्यर्थोऽन्येन श्रेष्ठतरेणा-  
न्यथा नीचत एवमन्येन श्रेष्ठतमेनान्यथा नयनमिति तर्कस्याप्रतिष्ठानं  
बोधयम् । ननु तर्कमात्रस्याप्रतिष्ठितत्वे धूमज्ञानानन्तरं बल्लुचार्थिप्रवृत्त्यनु-  
पपत्तिः । वाक्यार्थसंदेहे तर्केणानिर्णयप्रसङ्गश्च, किं च तर्काप्रतिष्ठाना-  
दित्ययमपि तर्कोऽप्रतिष्ठित एवेति न तेन परमतनिराकरणं स्यात्तस्मा-  
त्कस्यचित्तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वेऽपि कस्यचित्प्रतिष्ठानसंभवात्तेन समन्वय-  
विरोधाशङ्का युक्तेत्याक्षिपति—अन्यथाऽनुमेयमिति चेदित्यन्तेन ।  
अप्रतिष्ठिततर्कान्वयेन प्रकारेण प्रतिष्ठिततर्केण समन्वयविरोधादिकम-  
नुमेयमिति शङ्कार्थः । तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमङ्गीकृत्य समाधत्ते—एवमपीति ।  
अन्यत्र तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वेऽपि प्रकृते लिङ्गादिहीने ब्रह्माणि वेदनिर्पे-  
क्षतर्कस्याप्रतिष्ठितत्वदोषादनिर्णयप्रसङ्ग एवेति समाधानार्थः । यद्वा  
महतां कपिलकणाद्वीनां परस्परविप्रतिपक्षैरागमनिरपेक्षैस्तर्कैस्तत्त्वनि-  
र्णयाभावादनिर्योक्षप्रसङ्ग इत्यर्थः । तस्मादागमविरोधी तर्कोऽप्रमाण-  
मिति न तेन विरोध इति सिद्धम् ॥ ११ ॥

( काणाद्वीनाद्वीनां स्मृतियुक्तिभ्वामपि वेदवाक्यानामवाध्य-  
त्वम् । अचि० ४ )

(दी०) तर्कतस्तावत्स्वपक्षे दोषं परिहरिष्याम इत्यत आह—तर्कंति । तर्कस्य  
युक्तेरकेनोक्तायाः परेण द्रुपणादप्रतिष्ठानजननवस्थितिस्तस्मात् । अन्यथा  
प्रतिष्ठितत्वेन कस्यचित्तर्कस्य स्वरूपमेतदनुमानादवगम्यत्वमिति चेदेवं  
यदि एवमपि कस्यचित्तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वेऽप्यवैदिकप्रधानप्रतिपादकतर्क-  
स्याप्रतिष्ठितत्वाद्विमोक्षप्रसङ्गः । अप्रतिष्ठितत्वस्यापरित्यागप्राप्तिः ।  
अथ वा कपिलस्य स्वर्णत्वात्तदीयतर्कस्यान्यथाप्रतिष्ठितत्वमिति चेदे-  
धमपि सर्वज्ञानां बहुत्वात्सर्वभावितत्वेऽपि अप्रतिष्ठितत्वमेवातो विना  
वेदं तर्कतस्तत्त्वज्ञानाभावात्संसारद्विमोक्षो मोक्षाभावस्तस्य प्रसङ्गः  
॥ ११ ॥

१ ग. 'वेगवृत्तवैतव' । २ ग. 'दोषाभितरकाभि' । ३ क. 'केरुकेनो' । ४ क. 'ते कस्य' ।  
५ क. 'क' । प्रठि । ६ क. 'वैतव' ।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

(म०५०) अतिदेशत्वाद्गृह्यत्संगत्याद्यपेक्षा । ब्रह्म न जगदुपादानं विशुद्धत्वाद्भोग्यवित्पनेन वैशेषिकाद्यनुमानेन ब्रह्मकारणबोधकसमन्वयो विरुध्यते न वेति संदेहे विरुध्यत इति प्राप्तम् । कुतः । अवाचितत्वात् । तस्माद्ब्रह्मवद् एवोपादानमिति प्राप्तेऽतिदिशति । एतेन मन्वादिभिः शिष्टैः केनचित्सत्कार्यवादाद्यंशेन परिगृहीतप्रधानकारणवादनिराकरणप्रकारेण शिष्टापरिग्रहाः शिष्टैः केनचिद्व्यंशेनापरिगृहीता अण्वादिकारणवादा व्याख्याता निरस्ता ब्रह्मव्या इत्यर्थः । तर्कस्य वेदवाचितत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

( भोक्तृभोग्यभेदवतोऽपि परब्रह्मणोऽद्वैतत्वस्याबाध्यत्वम् । अधि०५ )

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याहोक्वत् ॥ १३ ॥

अद्वितीयाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं नृवन्समन्वयः प्रत्यक्षादिना विरुध्यते न वेति संदेहे ब्रह्मणि तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वाद्विरुध्यत एवेति प्रत्युदाहरणेनापमाक्षेपः—भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेदिति । अद्वितीयब्रह्मणो जगदुपादानत्वे भोक्तृभोग्यप्रपञ्चस्य सर्वस्य ब्रह्मानन्वयेन भोग्यज्ञवादेर्भोक्त्रात्मकत्वापत्तेर्भोक्तृत्वा भोग्यात्मकत्वापत्तेः प्रत्यक्षसिद्धः परस्परविभागो न स्यादिति प्रत्यक्षविरोधः समन्वयस्य भोक्तृभोग्यप्रपञ्चो नाद्वितीयवस्त्वभिन्नः परस्परं भिन्नत्वाद्यातिरेकेण ब्रह्मवदित्यादितर्कविरोधश्च विपक्षे हेतुच्छित्तिर्बाधिकेति शङ्कार्थः । समाधत्ते—स्याहोक्वदिति । एकब्रह्मोपादानकत्वेऽपि भोक्तृभोग्यप्रपञ्चस्य परस्परं विभागः स्वाहोक्वत् । यथा स्रुदात्मनाऽभिन्नानां घटशरावादीनां परस्परं भेदोऽस्ति यथा

(क्षी०) पूर्वाधिकरणेऽत्यन्तसालक्षणे कार्यकारणभावानुपपत्तिवर्तमानधिकपरिमाणत्वे कारणस्य तदनुपपत्तिरिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्यातिदेशेन समाधत्ते—एतेनेति । एतेन प्रधाननिराकरणेन शिष्टैर्न परिगृह्यन्त इति शिष्टापरिग्रहा अण्वादिकारणवादा अपि व्याख्याता निराकृताः ॥ १२ ॥

पूर्वाधिकरणे जगत्कारणे तर्कोऽप्रतिष्ठित इत्युक्तं तर्हि जगद्वेदे तर्कः प्रतिष्ठित इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—भोक्त्रेति । चेद्यदि ब्रह्म सर्वेषामिन्नं भोग्यस्य भोक्तृस्वरूपापत्तिर्जावामिन्नेन ब्रह्मणा भोग्यस्याभेदाद्भोक्त्रापत्तिस्तस्या इति शङ्कसे । नासी दोषः स्यात् ।

(अ०४०) विकरञ्जुपादानकानां दण्डसर्पादीनां परस्परं भेदस्तद्वदित्यर्थः । कल्पितभेदसत्त्वान्न प्रत्यक्षविरोधः । दण्डादौ व्यभिचारान्न तर्कः प्रमाणमिति मन्तव्यम् ॥ १३ ॥

ननु ब्रह्मभेदं जगतोऽङ्गीकृत्य लोकदृष्टान्तेन विरोधः परिहृतः । तस्य ब्रह्मभेद एव कुतो न स्यादित्पाशाङ्गुथ जगतोऽनिर्वचनीयत्वान्न ब्रह्मातिरेकेण सत्तेत्याह—

( ब्रह्मणि भेदाभेदयोर्ध्यावहारिकत्वमद्वितीयत्वस्य च तात्त्विकत्वम् । अधि० ६ )

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

पूर्वं परिणामवाद्मालम्ब्याऽऽपाततः ' स्याल्लोकवत् ' इति समाधानमुक्तम् । इदानीं विवर्तवाद्माभित्य परमं समाधानमुच्यत इत्येकफलकत्वसंगतिः । संदेहः पूर्ववत् । तस्माद्ब्रह्मणः प्रपञ्चस्थानन्यत्वं वृथक्सत्काराहित्यम् । कुतः । आरम्भणशब्दादिभ्यः । एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं दृष्टान्त उपन्यस्तः ' यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मुग्धमं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ' [ छा० ६ । १ । ४ ] इति । तत्र मृत्पिण्डे ज्ञाते कथं घटाविज्ञानमित्याशाङ्गुथ विकारो घटादिर्वागालम्बनमात्रं यतो नामधेयं विकारः । ननु नामातिरेकेण विकारोऽस्तीत्युक्त्या मृत्तिकामात्रमेव विकारस्य पारमार्थिकं स्वरूपमिति तस्मिञ्ज्ञाते वस्तुतो घटादिज्ञातो भवतीत्युक्त्या विकारो मिथ्या कारणं तु सत्यमित्ययमर्थो दृष्टान्तवाक्ये सिद्धस्तथा द्वाष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण प्रपञ्चसत्ता नास्तीति तदनन्यत्वम् । सूत्रस्थादिशब्देन ' ब्रह्मभेदं सर्वम् ' [ मु० २ । २ । ११ ] इत्यादि तदनन्यत्वप्रतिपादकं गृह्यते ॥ १४ ॥

(दी०)अभेदेऽपि ब्रह्मणो भोक्तृभोग्ययोर्भेदः । लोकवत् । समुद्रादमिन्नतरङ्गद्वन्द्वुदयोरिव ॥ १३ ॥

पूर्वाधिकरणे भेदाभेदसमाश्रयेण यद्विरोधसमाधानं कृतमेकदेशिना तेनैव विरोधेमात्रमाशाङ्गुथ परिहरति—तदनन्येति । तस्मात्कारणादनन्यत्वमभिन्नत्वं कार्यस्य । कुतः । आरम्भणशब्दादिभ्यः । आरम्भणशब्दः ' वाचाऽऽरम्भणम् ' इति । आदिशब्देन ' ऐतदात्म्यम् ' इत्यादयः । स च तदादृषश्च तेभ्यः ॥ १४ ॥

(अ० १०१) तदनन्यत्वे हेत्वन्तरमाह—

भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

भावपदं कारणसत्त्ववाचकं तदुपलब्धुपलक्षणार्थमेवमुपलब्धिपदं कार्योपलब्धिवाचकं कार्यसत्त्वोपलक्षणार्थम् । तथा चायं प्रयोगः । विकारः कारणादनन्यः कारणसत्त्वोपलम्भानुविधायिसत्त्वोपलम्भकत्वात् । यो यस्मान्निष्पन्नो न स तत्सत्त्वोपलम्भानुविधायिसत्त्वोपलम्भवान् । यथा घटात्पट इति । हेतानुपलम्भपदद्वयत्यागे बह्विसत्त्वानुविधायिभूमे व्यभिचारः स्यात्तद्वारणाय तद्ब्रह्मणम्\* । सत्त्वपदद्वयत्यागे यथाश्रुतसूत्रे चाऽऽलोकासत्त्वोपलम्भानुविधायिज्ञानवति रूपे व्यभिचारः । अतस्तदर्थं तद्ब्रह्मण+मिति । यद्वा भावाच्चोपलब्धेरिति सूत्रम् । न केवलं श्रुत्या कार्यकारणयोरनन्यत्वं किं तु प्रत्यक्षोपलब्धेरभावाच्चानन्यत्वमित्यर्थः । न हि तन्नुपलब्धिरिकेण पटो नाम कश्चिदुपलब्धते किं तु संगोगविशेषावच्छिन्नास्तन्तव एव पटव्यवहारविषयाः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्तेऽतोऽनन्यत्वं विकारस्य ॥ १५ ॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

अवरस्य कार्यस्योत्पत्तेः प्राक्कारणानन्यत्वेन सत्त्वात्सत्त्वश्रवणादुत्पत्त्यनन्तरमनन्यत्वं सिद्धमित्यर्थः । 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' [ छा० ३ । ११ । १ ] इत्यादौ प्रपञ्चोपस्थापकेदुपपदस्य ब्रह्मसामानाधिकरण्यात्सदनन्यत्वं द्रष्टव्यम् । अन्यथा ब्रह्मात्मना पूर्वं प्रपञ्चस्यासत्त्वे तत् उत्प-

(श्री०) तथैर्विनाभावामावाँन्न भेद इत्यत आह—कारणस्य भावे च सत्त्व एव नासत्त्वे कार्यस्योपलम्भनमुपलब्धिस्तस्याः । अतोऽविनाभावादनन्यत्वमित्यर्थः ॥ १५ ॥

उत्पत्तेः प्रागूर्ध्वं च कार्यस्यासत्त्वाच्च कारणेनानन्यत्वमित्यत आह—सत्त्वादिति । अवरस्य कार्यस्य सत्त्वाच्च विद्यमानत्वादेव प्रागूर्ध्वं च वर्त-

\* तद्ब्रह्मणमिति । तेन सूत्रस्याग्निमायानुविधायिभावत्वेऽपि न तद्भूतानुविधायिमानन्यमग्निमानस्य भूममानाद्योक्त्यादित्यर्थः । + तद्ब्रह्मणमिति । आलोकभावत्वेऽपि भयदिरूपत्वात् व्यभिचार इत्यर्थः ।

(म०१०) स्वमुपपत्तेः । न हि सिक्तात्मनाऽधिद्यमानं तैलं ताम्बो जाये-  
तेति ॥ १६ ॥

असद्वचपदेशाच्चेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

ननु 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादिना प्रागुत्पत्तेरसत्त्वव्यपदेशात्  
कार्यस्य कारणात्मना पूर्वं सत्त्वमिति चेन्न । नह्यत्यन्तासत्त्वाभिप्राये-  
णायमसत्त्वव्यपदेशः किं तु व्याकृतत्वरूपधर्मापेक्षयाऽव्याकृतत्वं धर्मान्तरं  
तेन धर्मान्तरेणाद्यं सत्त्वव्यपदेशः । कुतः । वाक्यशेषात् । 'तत्सदासीत्'  
[ छा० ३ । १९ । १ ] इति वाक्यशेषः पूर्वमत्यन्तासतो ग्रहणे बाध्यते ।

तस्माद्याकृतं सदित्युच्यतेऽव्याकृतं चासदिति सिद्धं कारणानन्वयत्वं  
कार्यस्य ॥ १७ ॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

कारणानन्वयत्वमुपपत्तेः प्राक्सत्त्वं चेति शेषः । युक्तिरेवम्—घटो  
जायत इति प्रतीत्या घटस्य तावदुत्पत्तिकर्तृत्वं प्रतिभाति । न ह्युत्पत्तेः  
प्रागत्यन्तं घटस्यासत्त्वं तत्कर्तृत्वं युक्तम् । तस्मात्कारणात्मना सन्नेव घट  
उत्पत्तिकर्ता । किं च मुदात्मना पूर्वं घटस्यासत्त्वे मूदेव घटार्थिना  
नोपादीयितासत्त्वाधिशेषाद्यत्किंचिद्देवोपादीयितेत्येवमादियुक्तिरुह्या । पूर्व-  
सूत्र उदाहृतसच्छब्दाच्छब्दान्तरं 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' [ छा०  
६।२ । १ ] इत्यादीं विद्यमानसच्छब्दस्तस्मादपि कारणादनन्वयत्वं पूर्वमु-  
त्पत्तेः सत्त्वं चेत्यर्थः ॥ १८ ॥

(दी०) मानवत् । अतो न त्वदुक्तम् ॥ १६ ॥

असदिति असत्त्वस्य व्यपदेशोऽसद्वचपदेशः 'असदेव' इत्यादिस्त-  
स्मान्न सत्कार्यमिति चेन्न । कुतः । धर्मान्तरेणव्यपदेशरूपेणास्तित्वं  
तद्वचपदिश्यते । कुतः । वाक्यशेषात् । वाक्यस्य शेषो वाक्यशेषः 'तत्स-  
दासीत्' इत्यादिस्तस्मात् ॥ १७ ॥

उपक्रमानुसारी वाक्यशेषोऽपि स्यादित्यत आह—युक्तेरिति । घटादि-  
कार्याधिभिर्नियतं मुदाद्युपादानं युक्तिस्तस्या असदेवेत्युक्ताच्छब्दात्सदे-  
वेत्याद्युक्तं तदिति शब्दान्तरं तस्मात् । चकारः सत एवोपक्रम-  
सूचनार्थः ॥ १८ ॥

(अ० ५०) युक्तेरित्येतत्प्रपञ्चयति—

पटवच्च ॥ १९ ॥

ननु सूक्ष्मघटौ भिन्नौ विलक्षणप्रतीतिविषयत्वाद्घटपटवदित्युक्ते तस्य हेतोर्व्यभिचारमाह—पटवञ्चेति । यथा संवेष्टितप्रसारितपटस्य विलक्षणप्रतीतिविषयत्वेऽपि न भेद एव सूक्ष्मघटयोरित्यर्थः ॥ १९ ॥

न विलक्षणकार्यकारित्वमपि हेतुर्व्यभिचारादित्याह—

यथा च प्राणादिः ॥ २० ॥

यथा प्राणायामादिना निरुद्धः प्राणायानादिर्जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्तयति अनिरुद्धस्वाकुञ्चनवसारणादिकं कार्यं करोति नैतावता तस्य प्राणस्य भेदोऽस्ति । तस्मात्कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिद्धम् । तदनन्यत्वात्वेकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा सिद्धा भवति ॥ २० ॥

( सर्वज्ञत्वेन जीवसंसारमिष्टयात्वं स्वनिर्लेपत्वं च पश्यतः परमश्वरस्य हिताहितभाक्त्वदोषाभावः । अधि० ७ )

इतरूपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

पूर्वं कार्यस्य कारणादनन्यत्वमेकविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धये समर्थितं तर्हि तेनैव न्यायेन जीवब्रह्मणोरप्यभेदाज्जीवधर्मा हिताकरणादयो ब्रह्मणि

(दी०)अभेदे कथं कार्यकारणभावइत्यत आह—पटवदिति । यथैकस्य पटस्य संकोचप्रसारणाद्यवस्थास्वभेद एवमत्रापि कार्यकारणभावः । चकारो गोमह्वियोरिव भेदे कार्यकारणभावसमुच्चयार्थः ॥ १९ ॥

पूर्वाधिकरणे कार्यकारणयोरनन्यत्ववज्जीवपरयोरपि तत् । अस्त्येकस्य कार्यकारणवत्त्वं तथाऽपि कारणावस्थायां कार्यकृतार्थक्रिया किमिति न स्वादित्यत आह—यथा चेति । प्राणोऽपान इत्यादिः प्राणादिः स यथैक एव तत्सद्द्वारं प्राप्य तां तां प्राणाद्यर्थक्रियां करोति न पुनर्द्वयव-रुद्धः । चकारः पटस्यापि वेष्टितस्यैव प्राणचरणाद्यर्थक्रियाकारित्वं समुचिनोति ॥ २० ॥

पूर्वाधिकरणे कार्यकारणयोरनन्यत्ववज्जीवपरयोरपि तत्सिद्धम् । इदानीं तेनैव विरोधमाह—इतरेति । इतरस्य शारीरस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वं

(ब०१०१) प्रसज्येरन्नित्याक्षेपात्संगतिः । जीवामिदं ब्रह्म जगदुपादानमिति ब्रुवन्समन्वयो विषयः स किं यदि तादृग्ब्रह्म जगज्जनयेन्न तर्हि स्वानिष्टं जनयेदिति तर्केण विरुध्यते न वेति संदेहे पूर्वपक्षमाह—इतरव्यपदेशादिति । इतरस्य जीवस्य 'तत्त्वमसि' [ छा० ६ । ८ । ७ ] इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वव्यपदेशादितरस्य ब्रह्मणो वा 'अनेन जीविनाऽऽत्मनाऽनुभवित्व्य' [ छा० ६ । १ । २ ] इत्यादिना शारीरत्वव्यपदेशाद्ब्रह्मणः सद्गुणैर्व्यपदेश्यैव सद्गुणैर्व्यपदेश्यैव स्वात् । तथा च हिताकरणादिकूपदोषप्रसक्तिर्ब्रह्मणः । नऽव्यपदेशेनाहितजराभ्रणादिविद्युविधानार्थकरणादिकूपदोषस्य प्रसक्तिरित्यर्थः । आदिपदेन जीवजरादिकं यथा सृष्टमिति ज्ञानं स्यात्तत्संहर्तृत्वं च स्यादित्यादिदोषो गृह्यते । तस्माज्जीवामिन्नब्रह्मणो नानिष्टप्रपञ्चजनकत्वमभ्रान्तश्चेतनत्वादिति न चेतनोपादानकं जगदित्याक्षेपसु-  
त्रार्थः ॥ २१ ॥

समाधत्ते—

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

तुः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । यतः शारीरादधिकं सर्वज्ञं सर्वेश्वरं सर्वशक्ति ब्रह्म जगदुपादानं सद्गुणैर्व्यपदेश्यैव स्वात् । न हि ब्रह्मणो नित्यमुक्तस्य हित-  
महितं वा किंचिदस्तीति न हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः । कल्पितभेद-  
मादावैव सर्वासां कार्योंपपत्तेरिति तात्पर्यम् ॥ २२ ॥

(श्री०१) 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुपाविशत्' इत्याभ्यां ब्रह्मशारीराभ्यां व्यपदेशस्तस्मात् । हितस्याकरणं हिताकरणम् । आदिशब्देन विपरीतकरणादिः । हिताकरणादेर्दोषस्य प्रसक्तिः प्रसक्तो ब्रह्मणः कारणत्वे । तत्र सूत्रस्य पूर्वावयवो हेतुः ॥ २१ ॥

अधिकमिति तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । अधिकं जीवादन्यद्ब्रह्म । कुतः । भेदनिर्देशात् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिना कर्मकर्तृत्वादेर्भेदस्य निर्देशस्तस्मात् ॥ २२ ॥

\* एतेन भ्रान्त्याऽप्यनिष्टं न स्वी कुर्यादिति भयः ।

१ अ. द. 'क्षम' । २ गवेताह । भयव्यमुदित्तुस्तके ।



(अ० १००) नन्वेककण्वब्रह्मणो जगत्कारणत्वे कार्यवैचित्र्यं न स्यादिति दोषं दृष्टान्तेन परिहरति—

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

यथैकपृथिवीजन्यानामस्मनां वज्रवैकृत्येन्द्रनीलपद्मरागादिभेदेन वैचित्र्यमेवं ब्रह्मकार्याणां स्वरूपवैचित्र्यं युज्यते । नन्वेकब्रह्माशितकार्येषु कथं धर्मवैचित्र्यं कथं वाऽर्थक्रियावैचित्र्यमित्याशङ्कानिरासार्थमादिवच्चेत्युक्तम् । तस्यार्थः—यथैकपृथिव्याशितानां बीजानां बहुविधं पद्मपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्यं यथैकस्यान्नस्य केशनखादिविचित्रार्थक्रियाकारित्वं तत्सर्वमुपपद्यत इति । तदनुपपत्तिरुक्तदोषानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

( अद्वितीयादपि ब्रह्मणः क्रमेण नानाकार्याणां सृष्टिसंभवात् । अधि० ८ )

उपसंहारदर्शनाच्चेति चेन्न क्षीरवद्भिः ॥ २४ ॥

असहायाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ह्यवन्समन्वयो विषयः स किं ब्रह्म नोपादानं कर्तुं वाऽसहायत्वात्समतवदिति न्यायेन विरुध्यते न वेति संशये पूर्वमौपाधिकजीवभेदाद्भिताकरणादिदोषो नास्तीत्युक्तं संप्रत्युपाधितोऽपि विभक्तं ब्रह्मणः शेरकादिकं नास्ति ब्रह्मनानात्वाभावादिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—उपसंहारेति । लोके कुलालस्य कर्तुर्दण्डचक्राद्युपसंहारदर्शान्मुदो शोपादानस्य स्वभिन्नकुलालादिसहापदर्शनात्तदुभयविलक्षणस्य ब्रह्मणो न जगत्कर्तृत्वमुपादानत्वं वा संभवतीति चेदिति शङ्कार्थः । समाधत्ते—क्षीरवद्भिति । शिक्षाद्यो हेत्वर्थः । यथा लोके क्षीरं बाह्यसाधनान्यपेक्ष्य दध्याकारेण परिणमते तद्ब्रह्मज्ञापीत्यर्थः ।

(दी०) एकस्मिन्नपि भेदोऽनुपपन्न इत्यत आह—अश्मादीति । यथैकस्या भूमेर्निरर्थका अश्मानो महार्हा मणवश्चाऽऽदिशब्देन श्रीह्यादपक्ष परस्परं भिद्यमाना न तस्या भिद्यन्ते तद्द्विजा मित्राश्चापि न ब्रह्मणो भिद्यन्तेऽतस्तस्य हिताकरणादेर्दोषस्यानुपपत्तिरप्रसङ्गः । चकारो भेदाभेदाभावे कार्यसत्त्वं उक्तश्रुत्यादिसद्भावसुचनार्थः ॥ २३ ॥

पूर्वाधिकरण औपाधिकनानात्वेन समाधानं कृतम् । ईश्वरे तु तदपि नास्तीति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—उपसंहारेति । उपादानकारणस्य मुदादेरन्यस्य निमित्तस्य दण्डादेरसमवायिनश्च संबोधादेरुपसंहार-

(म०५०।) न चौण्यसापेक्षत्वं क्षीरस्यास्तीति वाच्यम् । औण्यस्य दधि-  
भावे श्वरामात्रनिमित्तत्वाविति । श्रुतिरण्यसहायस्य ब्रह्मणः कार्यका-  
रित्वं दर्शयति—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ।

न तत्समश्वाभ्यधिकश्च हृद्यते ॥

पराऽस्य शक्तिर्विचिधा च श्रूयते

स्वामाधिकी ज्ञानबलक्रिया च<sup>१</sup> ॥ [ श्वे० ६ । ८ ]

इति ॥ २४ ॥

मनु चेतनत्वे सत्यसहायत्वं हेतुरतो न क्षीरे व्यभिचार इत्याशङ्क्य  
चेतनवृद्धान्ते तस्य व्यभिचारमाह—

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

लोक्यतेऽनेनेति लोकः शब्दो मन्वार्थवादेतिहासादिस्तस्मिन्पथा  
देवाः पितर आर्य इत्येवमादयश्चेतनाः स्वतःसिद्धसामर्थ्याः साध-  
नान्तरं बाह्यमनपेक्ष्य संकल्पमात्रेणैव नानाविधकार्यकर्तार उपलभ्यन्ते  
तद्ब्रह्मापीत्यर्थः । अयं भावः—कुलालस्तावद्वाह्यमान्तरं च संकल्प-  
द्विकमपेक्ष्य कार्यकर्ता भवति देवादयस्तान्तरसंकल्पमात्रमपेक्ष्य कार्येषु  
समर्थाः । तथा च यथैकस्य कार्यजनने सामर्थ्यं तथैवान्यस्येति निय-  
मामावाप्तं हृद्धान्तेन प्रत्यवस्थानमिति ॥ २५ ॥

मनु निरवयवाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ह्रवन्समन्वयः सावयवस्यैव नाना-  
कारेण परिणाम इति न्यायेन विरुध्यते न वेति क्षीरादिकहृद्धान्तकथ-  
नेन ब्रह्मणः परिणामित्वभ्रमोत्पत्त्या संदेहे कार्यकारणभावसंगत्या पूर्व-  
पक्षयति—

(श्री०) मनुपसंहारः संनिपातस्तस्य दर्शनाद्ब्रह्मणोऽन्यस्याविद्यमानत्वान्नो-  
पादानं ब्रह्मेति चेत्तन्न । हि यस्मात्क्षीरवत् । यथा क्षीरं बाह्यसाधनाद्यन-  
पेक्षं परिणमते तद्ब्रह्मापि ॥ २४ ॥

अस्त्वचेतनस्यैवं न तु चेतनस्येत्यत आह—देवादीति । आदिशब्देन  
ऋग्वेदाद्यः । यथा चेतना अपि देवादयो लोके बाह्यसाधनानपेक्षास्त-  
द्ब्रह्मापि ॥ २५ ॥

(अ० १०१) (ईश्वरस्योपादानरूपपरिणामिकारणत्वव्यवस्थापनम्) अधि० ९)

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

पूर्वाधिकरणस्य भ्रमोत्पादकत्वेन कारणत्वमेतस्य कार्यत्वमिति बोध्यम् । ननु ब्रह्म निरवयवं वा परिणमते सावयवं वा । आद्ये कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्याकारेण परिणामप्रसक्तिः । ततश्च कार्यातिरिक्तं ब्रह्म न स्याद्दुर्ज्ञानित्वश्रुतिविरोधश्च । कार्यस्य प्रत्यक्षत्वात् । द्वितीये कृत्स्नप्रसक्तिर्नास्त्येकांशपरिणामेऽप्यपरांशस्थितिसंभवात् । तथाऽपि 'निष्कलम्' [ ग्वे० ६ । १९ ] इत्यादिनिरवयवत्वशब्दकोपः । उभयस्मिन्पक्षेऽप्यानित्यत्वप्रसङ्ग इति ब्रह्मणः परिणामित्वभ्रममूलकः पूर्वपक्षः ॥ २६ ॥

सिद्धान्तपति—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

तुराक्षेपनिरासं कृते । न तावत्कृत्स्नप्रसक्तिरिति । कुतः । श्रुतेः । यथा जगदुपादानत्वं ब्रह्मणः श्रूयत एवं कार्यव्यतिरेकेण ब्रह्मणः सत्त्वं श्रूयते 'एतावानस्य महिमा' [ छा० ३ । १२ । ७ ] इत्यादी । तथा च श्रुतेषु चिद्वर्तवाद् स्फुटीकृतः । न हि परिणामवादे कार्यव्यतिरेकेण सत्त्वं संभवति । तस्मात्कार्यातिरेकेण ब्रह्मणोऽवस्थानश्रुतेर्नाप्यदोष इत्यर्थः । ननु श्रुतिर्वा कथं कार्यातिरेकेण ब्रह्मणः सत्त्वं बोधयेदुक्तयुक्तिबाधितत्वादिपत आह—शब्दमूलत्वादिति । ब्रह्मणः शब्दे-

(श्रुः) पूर्वाधिकरणोक्तं परिणामित्वमाक्षिपति—कृत्स्नेति । ब्रह्म धेतनं चेर-  
रिणमते सर्वात्मनैकदेशेन वा । आद्ये कृत्स्नस्य ब्रह्मणः परिणामप्रस-  
क्तिस्ततोऽनित्यत्वम् । द्वितीये निरवयवस्याभिधायकः शब्दो निरवयव-  
त्वशब्दस्तस्य कोपो विरोधो निरवयवत्वं न स्यादित्यर्थः ॥ २६ ॥

श्रुतेरिति । तुराब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । न कृत्स्नप्रसक्तिदोषः । कुतः ।  
'हन्ताहमिमाः' इत्यादिना कार्याब्रह्मणो व्यतिरेकश्रुतेः । न निरवयव-  
त्वशब्दकोपः । 'यतो वा इमानि' 'निष्कियम्' इत्यादिना कारण-  
त्वस्य निरवयवत्वस्य च शब्दित्वात्कृत्स्नमूलत्वाच्च ब्रह्मवात्स्य ।

[अ०२३०७५० ॥ ब्रह्मासृत्ववर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । १६३  
२०-२१ ]

(अ०५००) कृत्प्रमाणकत्वाद्यथाशब्दं-कार्योपादानत्वं तदतिरेकेण सत्त्वं चावि-  
रुद्धमित्यर्थः ॥ २७ ॥

जगतो ब्रह्मविवर्तत्वेन स्वप्नप्रपञ्चवन्मायिकत्वात्तदुपादानत्वेऽपि  
ब्रह्मण्ये न कृत्स्नप्रसक्तपादिदोषः स्वप्नसत्ताक्षेयादित्याह—

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

आत्मनि स्वप्नहृदयेवं ब्रह्मणीयं हि यस्माद्धेतोरेकस्मिन्नात्मनि स्वप्न-  
हृदि निरवयवे विचित्राः सृष्टयः श्रूयन्ते, न तत्र रथा न रथयोगा  
न पन्यानो भवन्त्यथ रथाजययोगान्पथः सृजते [ वृ० ४ । ३ । १० ]  
इत्यादी । स्वप्ने रथादीनामभावे कथं तदुपलब्धिरित्याशङ्क्योक्तं कृता-  
वधेत्त्यादि । सूत्रे च शब्देन मायाविद्वहान्तं समुचिनोति । यथा लोके  
शास्त्रविस्वरूपानुपमर्दनैव विचित्रा हस्त्यश्व्यादिमृष्टयो हृश्यन्ते तथा  
ब्रह्मण्यपि विविधमृष्टिरित्यर्थः ॥ २८ ॥

'यत्रोमयोः समो दोषः' इति न्यायेन कृत्स्नप्रसक्तपादीनामनुद्गा-  
रत्वं दर्शयति—

स्वप्नदोषाच्च ॥ २९ ॥

सोऽरुपाद्वयोऽपि निरवयवं प्रधानं जगत्परिणादीत्यङ्गी चक्रुः । तथा  
च कृत्स्नप्रसक्तपादिदोषाः सर्वे समानाः । अणुवादिनोऽपि परमाणु-  
हृदयसंयोगेन दण्डिकादिसृष्टिमङ्गी चक्रुः । दण्डयोगः किं \* व्याप्यवृत्तिरव्या-  
+ प्यवृत्तिर्वा, आद्ये × वृष्टविरोधः ○ कार्यप्रथिमानुपपत्तिश्च । द्वितीये  
(दी० ।) शब्दो मूलं प्रमाणं यस्य सोऽर्थं शब्दमूलस्तस्य भावस्तत्त्वं  
तस्मात् ॥ २७ ॥

ननु शब्दोऽपि कथं विरुद्धे ब्रूत इत्यत आह—आत्मनीति । आत्मनि  
स्वप्नदृशिनि एवं स्वरूपानुपमर्दनं हि यस्माद्विचित्राः सृष्टयः 'न तत्र  
रथाः' इत्यादिभ्रुत्या स्वानुभवेन च वृष्टाः । आद्यश्रकारो मायाव्यादि-  
निदर्शनसमुच्चयार्थः । द्वितीयोऽनुपपत्तेरलंकारत्वार्थः ॥ २८ ॥

स्वप्नक्षेति । स्वस्य प्रतिवादिनः पक्षः स्वपक्षस्तस्य दोषः कृत्स्नप्रस-

\* एकांशं वृत्तित्वाभावः । + एकांशं वृत्तित्वात् । × वृष्ट विरोध इति ।  
संशब्दस्ये संयोगस्यैकशब्दवृत्तित्वं वृष्टं तद्विरोध इति भावः ○ कार्यप्रथिमानुपपत्तेरिति ।  
संयोगस्य व्याप्यवृत्तित्वे एकस्मिन्निवृत्तत्वात्तन्मायाकार्यस्य वृद्धप्रसक्तयोगात्सर्वं कार्यं परमा-  
णुमात्रं स्वादिति भावः ।

१ य. 'प्रसक्त' । २ य. 'मायवृत्ति' । ३ य. 'वृष्टयः' ।

(ब०५०) सावयवत्वं विनाऽध्याप्यवृत्तिसंयोगानुपपत्तिरिरवयवत्वव्या-  
कोप इत्याद्यो दोषाः समाना ब्रह्मवादे ते दोषा न सन्ति च । तस्मादत्य-  
न्तमुपपन्नः परमात्मकारणतावादः ॥ २९ ॥

एकस्यापि ब्रह्मणो विशिन्नकार्यशक्तिमत्त्वमुक्तं तत्समर्थयति—  
( ईश्वरस्याशरीरत्वेऽपि मायावित्त्वम् । अधि० १० )

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

मायाशक्तिमतो ब्रह्मणो जगत्सर्गं ह्रुवन्समन्वयोऽशरीरस्य न मायेति  
न्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे पूर्वोक्तशक्तिमत्त्वविषयकशङ्कानिरासेन  
तत्समर्थनात्मकत्वाद्विषयविषयिभावसंगत्या विरुध्यत इति पूर्वपक्षे  
राज्जन्तः । सर्वोपेता सर्वशक्तिपुक्ता परा देवता । कुतः । तद्दर्शनात् ।  
तस्याः सर्वशक्तियोगस्य श्रुतौ दर्शनादित्यर्थः । 'सर्वकर्मा सर्वकाम-  
सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यासः' [ छा० ३।१।४।२ ] इत्यादिश्रुतिः  
दंष्टव्या ॥ ३० ॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

सर्वशक्तिपुक्तानामपि देवादीनां चक्षुरादिकरणवतामेव विशिन्नकार्य-  
कर्तृत्वमवगम्यते । 'अचक्षुष्कमश्नोन्नम्' [ घृ० ३।८।८ ] इत्यादिना  
ब्रह्मणो विकरणत्वावगमात् कर्तृत्वमिति चेद्यदन्नोत्तरं वक्तव्यं तत्पूर्वमेव  
विलक्षणत्वात् 'देवादिवदपि लोके' [ ब० सू० २।१।२५ ] इत्या-  
दायुक्तम् । श्रुत्येकसमाधिगम्यत्वान्न तर्केण विरोधाशङ्का यथैकस्य तथा  
वाऽन्यस्येति निषयान्मायादित्यादिकमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

(दी०) किञ्चमृतिस्तस्मात् । चकारो ब्रह्मवादिनस्तद्वमावसमुच्चयार्थः ॥ २९ ॥

पूर्वाधिकरणे स्वप्नब्रह्मणो मायावित्वादीश्वरस्य कारणत्वमुक्तम् ।  
इदानीं अशरीरस्य न मायेत्याक्षिप्य समाधत्ते—सर्वेति । अशरीराऽपि  
देवता मायाया आश्रयः । कुतः । सर्वोपेता च । सा यतः सर्वाभिः  
शक्तिभिरेपेता सर्वोपेताऽपि अशरीरेव । तदपि कुत इत्यत आह—तद्दर्श-  
नात् । तस्य सर्वोपेतत्वस्य सर्वकर्मत्वादिना दर्शनात् ॥ ३० ॥

विकरणेति । करणरहितत्वं विकरणत्वं तस्मात् । परस्वा देवताया  
हस्तादिशून्यत्वेन न सर्वकर्मत्वादिकमिति चेदेवं यदि चोदयसि तच्चोयं  
शब्दसूत्रत्वादित्यत्रोक्तं निराकृतम् ॥ ३१ ॥

(अ०५०) ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं हेतुवन्तरेणाऽऽक्षिपति—  
 ( नित्यनृत्तस्येश्वरस्यापि प्रयोजनं विनाऽक्षेपजगदुत्पादकत्वम् ।  
 अधि० ११ )

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

अवाप्तसकलकामाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन्समन्वयो ब्रह्म विना फलेन  
 न सृजति अत्रान्तचेतनत्वात्संमतवदिति न्यायेन विरुध्यते न वेति संवेहे  
 पूर्वाक्तकर्तृत्वाक्षेपसंगत्या पूर्वपक्षः । ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं न संभवति  
 नित्यनृत्तत्वेन प्रयोजनाभिसंधिविरहितत्वात्प्रेक्षावत्त्वृत्तेः प्रयोजनवत्त्वा-  
 वगमादिति ॥ ३२ ॥

अत्र रा-द्वान्तः—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

तुरुक्ताद्गुणनिरासकः । यथा लोके राजतद्मात्यादीनां फलं विनैव  
 केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयो ब्रुवन्ते यथा चोच्छ्वासादवः स्वभावादेवो-  
 त्यद्यन्त एवं ब्रह्मणोऽपि विचित्रकार्यरचना लीलाकैवल्यं केवललीला-  
 मात्रं न फलसापेक्षम् । कर्धचिद्राजादीनां लीलायां फलसंभवेऽपि  
 नित्यनृत्तस्य ब्रह्मणो लीलामात्रमेतदित्यभिप्रायः ॥ ३३ ॥

विधान्तरेण ब्रह्मणः कारणत्वमाक्षिप्य समाधत्ते—

( जीवानां कर्मानुरोधेन सृष्टुःखनिमित्तमात्रस्येश्वरस्य  
 वैषम्यनैर्घृण्यदोषामावः । अधि० १२ )

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३४ ॥

निरवद्याद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन्समन्वयो विषमसृष्टिकर्ता स सावद्य

(दी०) पूर्वाधिकरणे प्रामाणिकत्वेनाक्षरीरस्यापि भाषावित्त्वं जगत्कारण-  
 त्वाय कथितम् । इदानीं जगत्कारणत्वमीश्वरस्यानुपपन्नं प्रयोजनाभा-  
 वादित्याक्षिपति—नेति । न चेतनः स्रष्टा । कुतः । चेतनसमीक्षायाः  
 प्रयोजनवत्त्वात् । आप्तकामत्वाच्चेश्वरस्य न प्रयोजनं किञ्चित्सृष्टौ ॥ ३२ ॥

लोकवदिति । तुल्यम् । पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । लोकवत् । यथा लोके  
 राजादीनामाप्तकामानां विना प्रयोजनं लीलायाः केवलाया भावः  
 केवल्यं लीलैव केवल्यं तत्प्रवर्तनं तद्वत् ॥ ३३ ॥

पूर्वाधिकरणे लीलाया जगत्कारणत्वमुक्तम् । इदानीं कुर्वतो वैषम्यादि

(अ० १०) इति न्यायेन विरुध्यते न धेति विशेषे पूर्व मायामत्या लीलया ब्रह्मणो यत्सद्ब्रह्ममुक्तं तस्यात्राऽऽक्षेपात्संपत्तिरिति पूर्वपक्षः—ब्रह्म किं प्राणिकर्मसापेक्षं जगत्कर्तृ निरपेक्षं वा । नाऽऽद्यः । अनीश्वरत्वप्रसङ्गात् । द्वितीये वैषम्यनैर्घुण्ये प्रसज्येयाताम् । काश्चित्किर्मगादीनत्यन्तदुःखिनः सृजतिः काश्चित्मनुष्यादीन्सुखदुःखसाधारणान्काश्चिद्देवानत्यन्तसुखिन इति वैषम्यं सर्वसंहर्तृत्वाच्च नैर्घुण्यम् । ततश्च सावद्यत्वं प्रसज्येतेति शङ्ककं निराहरति—वैषम्यनैर्घुण्ये न स्याताम् । कस्मात् । सापेक्षत्वात् । प्राणिकर्मसापेक्षत्वात् । कर्मानपेक्षत्वे हि वैषम्यादिः स्यान्न सापेक्षत्व इत्यर्थः । न च सापेक्षत्वेऽनीश्वरत्वम् । भूत्यादिसेवानुसारेण फलदानुराजोऽराजत्वादर्शनात् । ईश्वरस्तु पर्जन्यवद्ब्रह्मण्यः । यथा तत्सद्बीजे सत्यपि पर्जन्यं विनाऽङ्कुरानुपपत्तिस्तद्ब्रह्मिदिति कर्मणोत्पत्तौ किमर्थमीश्वरस्य स्वीकार इति चोच्यते—भ्रुत्या पराकृतमिति भाष्ये द्रष्टव्यम् । नन्वीश्वरस्य कर्मसापेक्षत्वं कुत इत्यत्राऽऽह—तथा हि दर्शयति । श्रुतिः स्मृतिश्चेत्यर्थः । 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमभ्यो लोकेभ्य उज्जिनीपत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीपते' [ की० वा० ३ । ८ ] इति । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' [ बृह० ३ । २ । १३ ] इत्याद्या श्रुतिः । यमुज्जिनीपत ऊर्ध्वं नेतुमिच्छतीश्वरस्तं साधु कर्म कारयति पूर्वजन्मकृतसुकृतवशादिति योजना । पुण्यः सुखी पापो दुःखी । स्मृतिस्तु—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।' (म० गी० ४ । ११ ) इत्याद्या द्रष्टव्या ॥ ३४ ॥

न कर्म विभागाच्चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदिकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिना सृष्टेः प्राग-

(की०) स्यादित्याक्षिप्य समाधत्ते—वैषम्येति विषमस्य भावो वैषम्यं केषांचित्सुखं केषांचिद्दुःखं केषांचिद्दुःखे अपि । निर्घुणस्य भावो नैर्घुण्यं जगतः संहर्तृत्वादि वैषम्यं च नैर्घुण्यं च वैषम्यनैर्घुण्ये नेश्वरस्य । कुतः । धर्मसापेक्षः सुखमधर्मसापेक्षो दुःखमुमयसापेक्ष उभयादि च करोति यतः । सापेक्षस्य भावः सापेक्षत्वम् । हि यस्मादयथा भवति तथा दर्शयति श्रुतिः—'एष ह्येव' इत्यादिना । स्मृतिरपि 'ये यथा' इत्यादिना ॥ ३४ ॥

न कर्मेति प्रथमतो जगद्ब्रह्मणो नेश्वरस्य कर्मसापेक्षता । कुतः । यत

(अ०५०) विमावावधारणात् तदानीं कर्मास्ति ततः कमपिक्षया विपमा  
सृष्टिरित्यसंगतमिति चेन्न । अनादित्वात् । संसारस्य बीजाङ्कुरवद्भेद-  
हेतुमद्भावावोपपत्तेरित्यर्थः । पूर्वसृष्टौ संपादितधर्माधर्मप्रपञ्चस्याऽऽत्यन्तिक-  
नाशाभावात्तदपेक्षोत्तरसृष्टौ न किञ्चिद्भाधकमिति भावः ॥ ३५ ॥

ननु संसारस्यानादित्वं कुत इत्यत आह—

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

संसारस्यानादित्वमुपपद्यते च । अन्यथाऽकस्मादेव सृष्टवद्भूतिकारे  
भुक्तस्यापि पुनर्जन्मप्रसङ्गात्पूर्वसृष्टिसाहचर्यानुपपत्तेश्च । स्मृतिस्मृत्योः  
संसारस्यानादित्वमुपलभ्यते च । 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुपविश्य  
नामरूपे व्याकरवाणि' [ छा० ६ । ३ । २ ] इति प्राणधारणनिमित्तेन  
जीवशाब्देन सृष्ट्यादौ शारीरमभिलषन्प्राणधारणादिसंसारस्यानादित्वं  
दर्शयति । 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' इत्यादिभ्युत्तिरपि पूर्वकल्पस-  
द्भार्यं दर्शयति । स्मृतिरपि संसारस्यानादित्वमाह—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते

नान्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा [म० गी० १५ । ३] ॥ इति ।

स्मृत्यर्थस्तु—अस्य संसारवृक्षस्य कल्पितस्य रूपं पारमार्थिकं  
स्वरूपं ब्रह्म तथा घटादिवदिह संसारस्य प्राकृतैर्व्यवहारभूमौ नोपल-  
भ्यते । न चान्तोऽवधिरस्य विना ब्रह्मविद्यामुपलभ्यते नाप्यादिः ।  
अनिर्वचनीयत्वादेव नापि संप्रतिष्ठा मध्यमिति ॥ ३६ ॥

( निर्गुणस्यापि ब्रह्मणो विचरुक्त्वेण प्रकृतित्वसिद्धिः । अधि० १९ )

( क०१ ) उत्पत्तेः प्राग् कर्म सुकृतं दुष्कृतं च । तदेव कुतः 'सदेव'  
इत्यादिनोत्पत्तेः प्रागविभागादिति चेदेवं यदि तन्न । प्राथम्यानुपपत्तेः ।  
अनादित्वात्संसारस्य । न विद्यत आदिरित्यस्य सोऽयमनादित्यस्य  
भावस्तत्त्वं तस्मात् ॥ ३५ ॥

तदेव कथमित्यत आह—उपपद्यत इति । संसारस्यानादित्वमुप-  
पद्यते । अन्यथा कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । उपलभ्यतेऽपि स्था-  
चन्द्रमसावित्यादौ, स्मृतौ च नान्तो न चाऽऽदिरित्यादौ । आद्यश्चकारो  
विपर्ययप्रमाणमावार्थः । द्वितीयश्चकारः पत्तिविरोधार्थः ॥ ३६ ॥



(अ० १००) इदानीं परपक्षप्रतिषेधमधानपादमारम्भुकामः स्वपक्षे निर्दुष्टतामु-  
पसंहरति—

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

पूर्वाधिकरणे कर्मवशादीश्वरस्य विषमसृष्टिहेतुत्वमुक्तं तद्वस्तु ।  
विषमसृष्टिप्रयोजककर्मणः सत्त्वात्तद्ब्रह्मपादानत्वप्रयोजकसगुणत्वस्याभा-  
वान्नोपादानत्वमिति प्रत्युदाहरणसंगत्याऽऽयाऽऽरम्भः । निर्गुणाद्ब्रह्मणो  
जगत्सर्गं वदन्समन्वयो यन्निर्युणं तन्नोपादानं यथा गन्ध इति न्यायेन  
विरुध्यते न वेति संदेहे विरुध्यत इति प्राप्ते ब्रूमः—सर्वधर्मोपपत्तेश्चेति ।  
सर्वे जगत्कारणत्वसर्वज्ञत्वाद्यः कारणधर्मा ये विद्यन्ते तेषां पूर्वोक्तप्र-  
कारेण ब्रह्मण्युपपत्तेर्ब्रह्मैव जगत्कारणमित्यौपनिषद्ं शास्त्रं निर्दोषमि-  
त्यर्थः । अयं भावः । यन्निर्युणं तन्नोपादानमिति व्याप्तौ किं परिणामि-  
त्वाभावो व्यापक उत विधर्तोपादानत्वाभावः । नाऽऽद्यः । इष्टत्वाद् । न  
द्वितीयः । आरोपितानित्यत्वोपादाने ज्ञानजात्यादौ व्यभिचारात् ।  
तस्मान्निर्युणत्वे ब्रह्मणो विवर्तजगद्ब्रह्मपादानत्वमविरुद्धमिति तस्मान्न  
कथमपि समन्वयस्य विरोध इति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्राजकाचार्यश्रीमन्मुकुन्दगोविन्द्वीचरण-  
शिक्षितश्रीरामकिंकरधर्मकृतौ ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीया-  
यस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

इयता प्रबन्धेन मुमुक्षुणां सम्पन्नानोत्पत्तये वाक्यानां समन्वयः  
प्रतिपादितस्तस्मिन्समन्वये परपरिकल्पितदृषणानिरासेन स्वपक्षः स्था-

(क्ष० १) पूर्वाधिकरणे विषमसृष्टत्वस्यानेकान्ततोक्ता तेनैव निर्गुणस्यानुपा-  
दानत्वमिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—सर्वेति । सर्वे धर्माः  
सर्वधर्मास्तथासुपपत्तिस्तस्याः । निर्गुणस्यापि जगत्कारणत्वं ब्रह्मवि-  
द्यात्वेनै सत्त्वादेरिव सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादक्षिप्यस्य  
श्रीशंकरानन्दभगवतः कृतौ ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीया-  
ध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

(अ०१०)पितः । इदानीं मुमुक्षुणामहैतशास्त्रे निर्विचिकित्सप्रवृत्तिसिद्धये परमतदुपपन्नप्रधानः पाद आरभ्यते—

( सांख्यानमतप्रधानस्य जगद्धेतुत्वसङ्गठनम् । अधि० १ )

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

सांख्यमतस्य शिष्टपरिगृहीतत्वेनाभ्यर्हितत्वात्तदादौ निराक्रियते । पूर्वम् ' ईक्षतेर्नाशब्दम् ' [ अ० सू० १ । १ । ५ ] इत्यादिना प्रधानपरत्वेन वेदान्तानां व्याख्यानं निरस्तमिह तु प्रधानसाधकैश्चनिरपेक्षयुक्तीनामानासत्वमुच्यते इति न पौनरुक्त्यम् । अत्र सांख्यादिमतनिरासेन समन्वयस्य तन्मतवैरुद्धनिरासद्वारा दृढीकरणोदस्य पादस्य श्रुत्यध्यापसंगती बोध्ये । समन्वये विरोधनिरासेन स्वपक्षस्थापनपरप्रथमपादेनास्य पादस्योपजीव्योपजीवकभावसंगतिः । स्वपक्षस्थापनं विना परमतनिरासायोगात्स्वसिद्धान्तज्ञानहेतुत्वाद्वा पूर्वपादस्योपजीव्यत्वं बोध्यम् । परमतनिरासपरत्वादेव सर्वेषामधिकरणानां पादसंगतिः । सर्वधर्मोपपत्तेश्चेत्यनेन ब्रह्मणि कारणधर्माणामुपपत्तिरित्युक्ते तेषां प्रधान एवोपपत्तेः किं न स्यादिति आक्षेपस्यात्र निरासादनयोराधिकरणयोराक्षेपलक्षणावान्तरसंगतिः । फलं तु पादसमाप्तिपर्यन्तं परमतयुक्तिविरोधाविरोधाभ्यां समन्वयासिद्धितस्तिद्धी इति विधेकः । तत्र प्रधानमचेतनं जगदुपादानमिति सांख्यसिद्धान्तो विषयः । संदिह्यमानस्यैवाधिकरणविषयत्वात्स च सिद्धान्तः संदिह्यते किं प्रमाणमूलो भ्रममूलो वेति । तत्र प्रमाणमूल एवेति युक्तम् । तथा हि बाह्याध्यात्मिकं जगत्सुखदुःखमोहात्मकसामान्योपादानकं भवितुमर्हति तदन्वितत्वात् । बह्यदन्वितं तच्चदुपादानकं यथा मृदन्वितं घटादिकं मृदुपादानकमिति । तथा च यदेव सुखदुःखमोहात्मकं किञ्चित्सिद्धं तदेव सस्वरजस्तमोगुणात्मकं प्रधानमिति प्रामाणिकः सांख्यसिद्धान्त इति प्राप्ते ब्रूमः । उक्तानुमानसिद्धं प्रधानं न जगदुपा-

(श्री०)पूर्वस्मिन्पादे वेदान्तानुग्राहकाः सांख्यादितर्का निरस्ताः । इदानीं तेषामेव वेदान्तनिरपेक्षा ये तैः समन्वयस्य विरोधमाशङ्क्य तेषां दृष्टत्वप्रदर्शनेनाविरोधमाह द्वितीयेन पादेन । अत्रापि सांख्यस्मृतिवचकंप्राधान्यमङ्गीकृत्य तन्निरस्यति—रचनेति । अनुमीयत इत्यनुमानं प्रधानं तन्न

(अ० १०)दानम् । कृतः । रचनानुपपत्तेः । चेतनापेरितात्प्रत्यक्षज्ञानज्ञान्या-  
द्यधानादनेकविधविचित्रजगद्रचनानुपपत्तेरित्यर्थः । लोके विचित्रमा-  
सादादिरचनायां बुद्धिकुशलशिल्पादिकार्यस्वदर्शनादिति भावः । सूत्रे  
चक्षब्देन हेतोः स्वरूपासिद्धिं समुच्चिनोति । सुखादीनामान्तरत्वप्रतीते-  
स्तद्वन्वितत्वं जगतोऽसिद्धं तस्मादभाषिकः सांख्यसिद्धान्त इति ॥ १ ॥

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

साम्यावस्थापज्ञो गुणा हि प्रधानम् । साम्यावस्थायां च न किञ्चि-  
त्कार्यं जायते किं तु साम्यावस्थाप्रचयेन गुणानामङ्गाङ्गिभावे जाते  
कार्यस्योदय इति, प्रक्षिपा सा न युक्ता लोकेऽचेतनरथादिप्रवृत्तेश्चेत-  
नाधीनत्वदर्शनात् । प्रधानस्य साम्यावस्थाप्रच्युतिरूपप्रवृत्तेश्चेतनप्रेरणं  
विनाऽनुपपत्तेरित्यर्थः ॥ २ ॥

पयोम्बुवच्चेत्त्रापि ॥ ३ ॥

नन्वचेतनस्य स्वयं प्रवृत्तिरपि दृश्यते । यथा क्षीरं वत्सविवृद्धये  
स्वयमेव प्रवर्तते यथा वा जलं स्वयमेव स्यन्दते तथा पयोम्बुवत्प्रधानं  
स्वयमेव प्रवर्तते इति चेन्न । यतस्तत्रापि परमात्मा प्रेरकः भूयते 'योऽप्सु  
तिष्ठन्' [ वृ० ३ । ७ । ४ ] इत्यादिना । तथा च पक्षत्वान्न व्यभि-  
चारः पयोम्बुनोरिति भावः ॥ ३ ॥

(क्षी०)अपत्कारणम् । कृतः । तस्याचेतनत्वेन जगतो गिरिनीहीसमुद्रादे रच-  
नायाः संनिवेशकरणस्वानुपपत्तेः । चकारोऽन्वयाद्यनुपपत्तिं समुच्चि-  
नोति ॥ १ ॥

प्रवृत्तेरिति । आस्तां तावदियं रचना । तत्सिद्धयर्थं या प्रवृत्तिः  
साम्यावस्थातः प्रच्युतिस्तस्या अप्यचेतनस्य प्रधानस्य चेतनानधिष्ठित-  
स्यानुपपत्तेः ॥ २ ॥

पय इति । पयो यथाऽचेतनं वत्सविवृद्ध्या अम्बु वा तावद्वृत्ति-  
देशगमनाय प्रवर्तते तद्वत्प्रधानमपि प्रवर्तिष्यत इति चेत्त्रापि पयसि  
वत्सस्याम्बुनिं सेतुमेदकस्येश्वरस्य वा समाश्रयणं यतः ॥ ३ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्वानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

(अ०ब०।) (संस्त्वानां) उभो गुण्याः साम्येनायतिष्ठमानाः प्रधानं न तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किञ्चिद्ब्रह्मपेक्षयमवस्थितमस्ति । पुरुषस्तूदात्तानो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानमनपेक्षत्वाच्च कदाचित्प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्न परिणमत इति एतदुक्तम् । ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वान्महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्यते ।) अपि च न स्वतन्त्रं प्रधानं जगदुपादानम् । कुतः । व्यतिरेकानवस्थितेः । स्वतन्त्रस्य तस्य कारणत्वे सर्वदा कार्यप्रसक्तौ कदाचिदपि कार्यव्यतिरेकस्यावस्थित्यभावप्रसङ्गादित्यर्थः । तदपि कुतः । अनपेक्षत्वात् । स्वतन्त्रस्य प्रधानस्य चेतनादिसहकार्यन्तरानपेक्षत्वाभ्युपगमात्स्वयैत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

ननु तुष्णोदकादिकं निमित्तान्तरनिरपेक्षमेव क्षीराकारेण परिणमते तद्वत्प्रधानमपीति चेन्न । कुतः । अन्यत्राभावात् । धेन्यादेरन्यत्र बलीवर्दादी तृणादेः क्षीरीभावस्याभावादित्यर्थः । तथा च धेन्यादिसापेक्षमेव तृणादिकं क्षीरी भवति । निरपेक्षत्वे बलीवर्दादावपि क्षीरीभावप्रसङ्ग इति भावः ॥ ५ ॥

(दी०।) अस्तु प्रधानेऽपि सत्त्वांशः प्रवर्तक इत्यत आह—व्यतीति । सत्त्वप्रधानव्यतिरेकेष्वानवस्थितेरनवस्थानाद्ब्रह्मस्यानपेक्षत्वात्सातत्त्वेन महदादीनामुत्पादः स्वादिति शेषः । चकारोऽसिद्धान्तमाह ॥ ४ ॥

तृणादेः क्षीरस्याऽऽकारेण परिणामवन्न सातत्यमित्यत आह—अन्येति । नाथं तृणपल्लवादिबृष्टागतोऽप्यचेतनं प्रधानं जगत्कारणं साधयति । यतोऽचेतनस्य तृणपल्लवादेः स्वतन्त्रस्य न क्षीराद्विपरिणामोऽपि । कुतः । अन्यत्र बलीवर्दादिमक्षिते परित्यक्ते वा क्षीरपरिणामस्याभावात् । चकारः प्रधानस्य स्वरूपासत्त्वसमुच्चयार्थः ॥ ५ ॥

## अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

(ब० व०) प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्त्यभ्युपगमे पुरुषार्थस्यापेक्षानावयमसङ्गादित्यर्थः । न चेष्टापत्तिः । प्रधानमचेतनं चेतनस्य पुरुषार्थं साधयितुमेव प्रवृत्तं इति स्वाभ्युपगमविरोधादिति भावः । यद्वाऽर्थाभावात्प्रयोजनाभावादित्यर्थः । तथा हि न तावत्प्रधानप्रवृत्तिः पुरुषस्य भोगापवर्गार्थां भोग्यानामानन्तवाङ्निर्मोक्षप्रसङ्गाज्ञाप्यपवर्गार्थां भोगाभावप्रसङ्गात्प्रधानस्याप्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च । पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थितिलक्षणस्य मोक्षस्य प्रधानाप्रवृत्तैव सिद्धेः । तस्मात्प्रयोजनाभावाच्च प्रधानस्य जगद्धेतुत्वम् ॥ ६ ॥

## पुरुषाश्रयवदिति चेत्तथाऽपि ॥ ७ ॥

ननु पुरुष एव प्रधानस्य प्रवर्तकः । ननु स्वयमप्रवर्तमानः कथं परं प्रवर्तयति चेत्पुरुषाश्रयवदिति ह्यमः । लोके यथा पशुः पुरुषः स्वयमप्रवर्तमानोऽन्धं प्रवृत्तिशक्तिमन्तं प्रवर्तयति यथा चाऽयस्कान्तोऽस्मात्संनिधिमात्रेणायः प्रवर्तयति एवं पुरुषः प्रवर्तक इति चेन्न । यतस्तथाऽपि दोषाणामनिर्मुक्षः । तथा हि प्रधानस्य पुरुषपर्यन्ते प्रधानं स्वतन्त्रमिति स्वाभ्युपगमविरोधः । पुरुषस्य प्रवर्तकत्वे कूटस्थत्वहानिः । स्वस्य ध्यापारं विना प्रवर्तकत्वायोगात्पङ्कोरपि वाग्ध्यापारस्य सत्त्वाद्यस्कान्तस्य त्वनित्यसंनिधिरेव ध्यापारः । प्रधानपुरुषसंनिधेर्नित्यत्वेन ध्यापारत्वायोगः । नित्यस्यापि ध्यापारत्वे प्रधानप्रवृत्त्यपिच्छेदप्रसङ्ग इत्यादयो दोषा ब्रह्मव्याः । ब्रह्मणस्त्वाविद्यकं प्रवर्तकत्वमिति न कौटस्थ्यहानिः ॥ ७ ॥

(श्री०) अस्तीति । पूर्वं प्रधानस्य प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इति स्थितम् । इदानीं तत्प्रवृत्तेरभ्युपगमेऽपि अर्थस्य प्रयोजनस्य निमित्तान्तराभाववद्दुर्भणत्वेन चाभावात् ॥ ६ ॥

पुरुषेति । पुरुषावन्धपङ्गुं तज्जान्धमधिष्ठाय प्रवर्तयति पङ्गुप्रवर्तकोऽयस्कान्तो वा स्वयमप्रवृत्तस्तद्द्वयप्रवृत्तोऽपि पुरुषः प्रवर्तयिष्यतीति चेत्तत्रापि तस्मिन्नापि वृष्टान्ते सिद्धान्तविरोधादयो नित्यसंनिध्यादयश्च दोषाः प्रसज्येरन् ॥ ७ ॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

(ब०४०१) अपि च गुणत्रयसाम्बावस्था प्रकृतिः । साम्बावस्थाप्रच्युत्या गुणानामङ्गाङ्गिभाषे महदाद्युत्पत्तिरिति वदता सांस्थेभेदं वक्तव्यं प्रकृतिः किं कूटस्थोत विकारिणी । आद्ये परस्परानपेक्षाणां गुणानां साम्बावस्थाप्रच्युत्याऽङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः कार्यानुदयप्रसङ्गः । प्रच्युत्यङ्गीकारे स्वरूपहान्यापत्तेः । द्वितीये किं स्वतः प्रच्युतिरुक्तान्यतः । नाऽऽद्यः । सदा कार्यप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । पुरुषस्योदासीनत्वाभ्युपगमहानेश्च । अतः प्रच्युत्यभावेनाङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः कार्याभावप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥

मन्वनपेक्षस्वभावाः कूटस्थाश्च गुणा नानुभीवन्तेऽस्माभिः किं स्वल्पया प्रकारान्तरेणैव यथा कार्योत्पत्तिर्संभवस्तथाऽनुमीयन्ते\* । कार्यानुमेयत्वात्प्रधानस्येत्यङ्गाङ्गिभावसंभवात्कार्योत्पादः संभवतीति चेन्न । ज्ञशक्तिवियोगाद्गुणानां ज्ञानशक्तिरहितत्वादित्यर्थः । अयं भावः । अचेतनानां गुणानां साम्बावस्थाप्रच्युत्यादियोग्यत्वेऽपि प्रच्युतेर्निमित्तत्वासंभवात्किञ्चिन्निमित्तं वक्तव्यं तथा चान्यस्य निमित्तरयासंभवेन स्वतो वैषम्ये सर्वदा वैषम्यं स्यात् । स्वतोऽप्यवैषम्ये सदा साम्प्रसङ्ग इत्यङ्गाङ्गित्वानुपपत्तिस्तदवस्थेति कार्यानुत्पादोऽपि तदवस्थ इति ॥ ९ ॥

(ही०१) अङ्गिगुणः प्रवर्तकोऽस्त्वित्यत आह—अङ्गीति । सत्त्वादीनां साम्प्रेऽङ्गित्वस्यानुपपत्तेः । चकारो जडत्वप्रयुक्तं सामान्यदृष्टपथं समुच्चिनोति ॥ ८ ॥

साम्बावस्थायामपि वैषम्ययोग्या एव गुणास्तेनैकवाक्यतावशाद्-ङ्गित्वमपि स्यादित्यत आह—अन्यथेति । अन्यथाऽनुमितौ कार्यवशेनाङ्गित्वाद्यनुमितिं तस्य चैतन्यमपि स्यात् । न त्वेतदस्मिन्संभवति । कुतः । ज्ञशक्तैर्वियोगोऽभावस्तस्मात् । पुरुषपरवैव वेतनात्वादित्यर्थः । न चानुमानमपि सिध्यतीत्यर्थश्चकारस्य ॥ ९ ॥

\* दश दया कार्योत्पत्तिस्तथा तथा स्वभावो गुणानामनुमीयत इत्यर्थः ।

## विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

(अ० ५०) सांख्ये हि क्वचिन्महत्तः पञ्चतन्मात्रसर्गं वदन्ति क्वचिदहंकारा-  
त्क्वचिदेकादशेन्द्रियाणि क्वचिद्वाह्येन्द्रियाणि त्वानिन्द्रियेऽन्तर्भाष्ये असत्ते-  
न्द्रियाणीति स्थापयन्ति । तथा च परस्परविप्रतिषेधादसमञ्जसं सांख्य-  
मतमित्यर्थः । तस्मात्सांख्यमतस्य भ्रान्तिमूलत्वाच्चदीपयुक्तिविरोधः  
समन्वयस्य नास्तीति सिद्धम् ॥ १० ॥

ननु प्रपञ्चस्य ब्रह्मोपादानकत्वे ब्रह्मवचैतन्यं स्यात्कारणगुणस्य  
कार्येऽवस्थावादादित्याशङ्क्येन नियमं तदीयप्रक्रियया व्यभिचारयति—

( असदृशोद्भवे काणाद्वृष्टान्तस्वारितत्वम् । अधि० २ )

महर्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥

प्रपञ्चस्य प्रधाननिष्ठाशब्दत्वादिगुणानन्वयात् + प्रधानानुपादानकत्व-  
वद्ब्रह्मगुणचेतनत्वानन्वयाद्ब्रह्मोपादानकत्वं न स्यादिति वृष्टान्तसंगत्याऽ-  
स्वाऽऽरम्भः । यद्यपि स्वपक्षे दोषनिरासतात्मकस्यास्थाधिकरणस्य मात्र  
संबन्धः किं तु स्फूर्तिपाद एव तथाऽप्युक्तावान्तरसंगतिलोभादिह  
लिखितमिति मन्तव्यम् । अत्र चेतनाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ह्रवन्तमन्वयो  
विषयः स किं कारणगुणाः कार्यं स्वसमानजातीयगुणारम्भका इति  
न्यायेन विरुध्यते न चेति संदेहे विरुध्यत इति प्राप्ते व्यभिचारात्  
विरोध इति राऽह्वान्तः । सूत्रे वाशब्दश्चार्थोऽनुक्ताणुसमुच्चयं\* इति ।  
तथा च ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां चाणुकपरमाणुभ्यां महर्दीर्घाणुवचैतनाद्ब्र-  
ह्मणोऽचेतनं जगद्भवतीति योजना । वैशेषिका हि ह्रस्वादणुश्च

(शे०) सत्त्वगुणत्वाज्ज्ञानस्य तच्छक्तिरप्यविरुद्धेत्यत आह—विप्रतीति ।  
जडं ज्ञासक्ति च । एवं ग्रन्थेष्वपि क्वचित्सत्तेन्द्रियाणि क्वचिदेकादशे-  
त्वादिविप्रतिषेधस्तस्मादिदं सांख्यदर्शनमत्रयञ्जसम् । चकारान्महाज-  
नापरिग्रहादेव्यासमञ्जसम् ॥ १० ॥

पूर्वाधिकरणे प्रधानगुणानन्वयाज्जगत् तत्प्रकृतिकमित्युक्तम् । इहापि  
चैतन्यानन्वयाद् चेतनप्रकृतिकमित्याक्षिप्य समाधत्ते—महर्दीर्घात् ।

\* तत्क्षर्येन्द्रियाणि मनश्चेति । + अदृश्यात्सर्गोपादिगुणान्त्वयादिति तेषां गति  
वृष्ट्यादिति भावः । × चतुरणुकादिसमुच्चय इत्यर्थः ।

(स०१०।) द्यगुक्तान्महद्दीर्घं च इषणुके जायते द्यगुक्तगतह्रस्वत्वाणुत्वे तु इषणुके स्वसमानजातीयह्रस्वत्वाणुत्वे नाऽऽरभेते किं तु द्यगुक्तगतत्रि-  
स्वसंख्या इषणुके महत्स्वादिकमारभत इति वदन्ति । एवं परिमण्डला-  
त्परमाणोरणुद्यगुक्तं जायते । परमाणुगतपारिमाणुत्वं तु द्यगुके पारिमा-  
णुत्वं \* न + जनयति किं तु परमाणुगतद्विस्वसंख्या द्यगुकेऽणुत्वादिक-  
मारभत इति प्रदिपां दर्शयन्ति । एवं दर्शयतां वैशेषिकाणां कारणमुपा-  
कार्यं स्वसमानजातीयगुणारम्भका इति निश्चयमाप्तं षड्गतां कथं लज्जा  
न मवेद्यमिचारस्य × स्फुटत्वादिति तात्पर्यम् । 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि  
व्याख्याताः ' [ब०सू०२।१।१२] इत्यस्यार्थं प्रपञ्च इति न तेन बीनरुक्त्यं  
शङ्कनीयमिति ॥ ११ ॥

इदानीं प्रकृतं परमतनिरासमुपक्रमते—

( परमाणूनां संपोषेन जगद्रूपचेयुंक्तिविरुद्धत्वम् । अधि० ३ )

उभयथाऽपि न कर्मादित्तद्भावः ॥ १२ ॥

प्रासङ्गिकाध्यवहिते + नास्य संगतिनापेक्षितेति व्यवहितेनोच्यते ।  
ननु प्रधानस्य चेतनानधिष्ठितस्वात्कारणत्वाभावे तर्हि चेतनाधि-  
ष्ठिताः परमाणवः कारणं जगत इति प्रत्युदाहरणेनस्याऽऽरम्भः ।

(सं०।) यथा परमाणोः परिमण्डलाद्गुह्यत्वं च द्यगुक्तम् । अणोर्ह्रस्वाच्च  
द्यगुक्तान्महद्दीर्घं च इषणुकादि तद्ब्रह्मचतनमपि ब्रह्माचेतनस्याऽऽरम्भक-  
मस्तु ॥ ११ ॥

पूर्वाधिकरणे प्रधानस्य स्वातन्त्र्यान्न जगतां कारणत्वमिह त्वणुना-  
मीश्वरस्याधिष्ठानुः सत्वात्कारणत्वमिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समा-  
धत्ते—उभयथेति । उभयथाऽपि आद्यस्य कर्मणो निमित्तस्य भावोऽभा-  
वेऽपि हृद्यस्याहृद्यस्य वा बृहत्स्यापि प्रबलत्वाभिघाताद्देर्धाऽनुब्रह्मस्याप्या-  
त्मसमवायिनो वाऽनुब्रह्मदात्मसंघन्धस्यापि सद्वातनत्वेऽसद्वातनत्वे वा

\* परिमण्डलः परमाणुसदृशं परिमाणं पारिमण्डल्यमिति । + द्यगुक्तस्य परिमाणान्त-  
राम्बुण्यमिदं । × म्यनिचारेति । अगुह्यत्वेभ्यो द्यगुक्तेभ्योऽगु इत्थं न जायते  
ह्रस्वपि न नाथा इत्यन्यपिचारादिति भावः । ÷ पूर्वाधिकरणेनेत्यर्थः ।



( ३०६० । ) अत्र परमाणुवक्रियया जगदुत्पत्तिरिति वैशेषिकसिद्धान्तो विषयः स किं मानमूलो भ्रान्तिमूलो वेति विशये मानमूल इति प्राप्ते ब्रूमः—वैशेषिकाः खलु कर्मणा सृष्टेः पूर्वं निश्चलयोः परमाण्वोः संयोगे द्यणुकाद्युत्पत्तिरिति वदन्ति । तस्य कर्मणः किञ्चिन्नमित्तमभ्युपगम्यते न वा । आद्ये कर्मनिमित्तत्वेन प्रसिद्धं जीवप्रपत्त्याद्यभिघातादिकमङ्गीकर्तव्यं \*न हि तत्संभवति सुदुत्तरकालीनत्वात्तस्य । द्वितीये कर्मानुत्पत्तिः । अत उभयथाऽपि न कर्मातः कर्माभावात्तद्भावो द्यणुकादिकमेण सृष्ट्युत्पादाभाव इत्यर्थः । यद्वा जीवाद्दृष्टवशादाद्यं कर्म परमाणुत्विति तत्सिद्धान्तस्तथा च तद्दृष्टं किं जीवनिष्ठं वा परमाणुनिष्ठं वा । उभयथाऽपि न कर्माद्दृष्टस्याचेतनस्य कर्माभिमुखथायोगात् । तथात्वे सर्वथा सृष्टिप्रसङ्गात् । च च जीवोऽदृष्टस्य प्रेरकस्तदानीं तस्य ज्ञानवत्त्वाभावात् । न च वैशेषिकाभिमत ईश्वरः प्रेरक इति वक्ष्यते । अतः सर्गाभाव इत्यर्थः । यद्वा परमाण्वोः संयोगोत्पत्तौ सृष्टिर्विभागोत्पत्तौ च प्रलयस्तथोश्च संयोगविभागयोः कर्मैव हेतुरिति तत्सिद्धान्तस्तथा च संयोगहेतुः कर्म नास्तीत्युक्तम् । एवं विभागहेतुः कर्म नास्तीत्याह—निमित्तस्यादृष्टस्य नोदनादेरभावाद्दृष्टं च भोगार्थमेव न प्रलयार्थमित्युभयथाऽपि न कर्मातः संयोगविभागहेतुकर्माभावात्तद्भावस्तयोः सृष्टिप्रलययोरभाव इत्यर्थः । तस्मादनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १२ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥

तद्भाव इत्यनुबन्धः । तस्य परमाणुकारणवादस्यासंभव इत्यर्थः । कुतः । परमाणुव्यणुकयोः समवायाभ्युपगमात् । अभ्युपगमे को दोषस्तत्राऽऽह—साम्यादनवस्थितेरिति । यथा व्यणुकं परमाणुभ्यामत्यन्तं भिन्नं तत्समवायमपेक्षत एवं समवायोऽपि समवाविन्पामत्यन्तं भिन्नः सन्नत्वेन समवायेन समवाविभ्यां संबन्धेन भिन्नत्वसाम्यादुसंबन्धस्य

( ३१० ) प्रलयाद्यभावदोषान्नाऽऽद्यं कर्माणुषु । अत आद्यस्य कर्मणोऽभावात्तज्जनकस्यापि तस्य संयोगस्याभावाच्च संयोगसचिवाः परमाणवो न द्यणुकादिकमेण जगदारमन्त इत्यर्थः ॥ १२ ॥

समवायेति । पूर्वं संयोगस्य निमित्ताभाव उक्तः । इदानीं संबन्धाभावः समवायस्याभ्युपगमोऽङ्गीकारस्तस्मात् । संयोगस्य यथा समवाय एवं

[५०२ता०२  
सू०१००-१५]

ब्रह्माभूतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि ।

१७७

(अ०५०) संबन्धवादर्शनात्तथा च तस्यापि भिन्नत्वसाम्यात्समवायान्तर-  
मित्यनवस्था स्यादित्यर्थः । स्वरूपस्य संबन्धत्वे समवायलोपप्रसङ्ग  
इति बोध्यम् । तथा च समवायासिद्धी समवेतण्डणुकादिमृष्टपसिद्धिः  
स्यादिति भावः ॥ १३ ॥

नित्यमेव च ज्ञात्वात् ॥ १४ ॥

परमाणूनां प्रवृत्तिस्वभावत्वे प्रवृत्तेर्मित्यमेव भावात्प्रलयामावप्र-  
सङ्गः । निवृत्तिस्वभावत्वे निवृत्तेर्मित्यमेव भावात्प्रलयामावप्रसङ्ग इति  
भावः ॥ १४ ॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥

अतुर्विधाः परमाणवो रूपरूपज्ञादिमन्तो नित्या अणवश्चेति वैदोषि-  
कसिद्धान्तः स नोपपद्यते । तथा हि परमाणवोऽनित्याः स्थूलाश्च भवि-  
तुमर्हन्ति रूपादिमत्त्वात्पटादिवत् । पटो हि रूपादिमत्त्वात्स्वकारणत-  
न्वपेक्षया स्थूलोऽनित्यश्च तद्गुणकारणत्वात्पटादिमत्त्वात्स्वकारणत-  
न्वपेक्षया स्थूलत्वं स्यादिति न जगत्कारणस्य रूपादिमत्त्व-  
मिति तात्पर्यम् । सूत्रार्थस्तु—मन्मते जगत्कारणस्य रूपादिमत्त्वात्पटु-  
त्वनित्यत्वाविपर्ययस्थूलत्वमनित्यत्वं च प्रसज्येत लोको रूपादिमतः पटा-  
देस्तथा दर्शनादिति ॥ १५ ॥

(श्री०)समवायेऽपि समवायः समानत्वात्संबन्धत्वस्य भेदस्य बाऽतः सम-  
वायेऽपि समवाय इत्यनवस्थानमनवस्थितिस्तस्याः । अकारः संयोगस्य  
समवायानङ्गीकारे राऽन्तविरोधादि समुच्चिनोति ॥ १३ ॥

अस्तु तर्हि परमाणव एवाऽऽद्यस्य कर्मणो निमित्तमित्यत आह—  
नित्येति । अणूनां प्रवृत्तिस्वभावत्वे सर्गस्य निवृत्तिस्वभावत्वे प्रलय-  
स्योभयस्वभावत्वे कार्यस्य पूर्वापरकालवैकल्पस्यानुभयस्वभावत्वे निमि-  
त्तस्य नित्यं सर्वदा भावात्प्रलयाद्यभावदोषः । अकारः पूर्वसूत्रवत् ॥ १४ ॥

अस्त्वामन्तुकं निमित्तं निरवानामणूनामित्यत आह—रूपादीति ।  
नित्यत्वस्य विपर्ययोऽनित्यत्वमणूनाम् । कुतः । रूपादिमत्त्वात् । रूपा-  
दिमतां पटादीनामनित्यत्वदर्शनात् । अकारः कर्मव्यतिरिक्तस्य निमि-  
त्तस्य दुर्लभत्वं समुच्चिनोति ॥ १५ ॥

॥ परमाणुद्वयसंयोगस्य स्वरूपसंयोगोपपत्तेर्न समवाय इति ।

उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

(अ० १०१) रुग्णरसगन्धस्पर्शात्मिका पृथिवी स्थूला इत्येते रूपरसस्पर्शात्मिका आपः सूक्ष्मा रूपस्पर्शात्मकं तेजः सूक्ष्मतरं स्पर्शात्मको वायुः सूक्ष्म-  
तम इत्यनुमवागमसिद्धा प्रक्रिया । तत्र पृथिव्यादिवत्परमाण्वोऽप्युप-  
चितापचितगुणात्मकाः कल्पन्ते न वा । आद्योऽणुत्वव्याघातः+ । उपचि-  
तापचितगुणात्मकपृथिव्यादेः स्वरूपोपचयापचयदर्शनाद्गुणानां द्रव्याद-  
तिरिक्तत्वेऽपि तादृशगुणवत्त्वेन पृथिव्यादीनामुपचयदर्शनादणुत्वव्याघात-  
एव । न वा गुणगुणिनोर्भेदः संभवति । भेदे गवाश्ववहृणगुणिमावानु-  
पपत्तेः । द्वितीये तत्कार्यपृथिव्यादियु रूपाद्यनुपलम्भप्रसङ्ग इत्युभयथापि  
दोषादनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १६ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

प्रधानवादी हि सत्कार्यत्वाद्यंशेन मन्वादिभिः शिष्टैः परिगृहीतः ।  
परमाणुकारणवादस्तु केनचिदंशेन कैश्चिदपि शिष्टैरपरिगृहीत इति  
शिष्टापरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा परमाणुकारणवादे कर्तव्या वेदविद्भिरि-  
त्यर्थः । सूत्रे चशब्देन वैशेषिकामिमत्तत्पदार्थासंभवः सूचितः । सचा-  
संभवः प्रतिपादितो भगवता भाष्यकृता । तस्मान्द्धान्त्येकमूलवैशेषिका-  
दिमतेन न समन्वयस्य विरोध इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

(श्री०) रूपादिमतां च घटादीनां परिमाणतारतम्यादस्त्वनित्यत्वम् । अणूनां  
समानपरिमाणत्वादात्मादिवन्नित्यत्वमित्यत आह—उभयथेति समान-  
परिमाणत्वे धायवीयादीनामपि रुग्णरसगन्धस्पर्शसद्भावो दोषोऽसमानप-  
रिमाणत्वे हेतोरसिद्धिर्दोषः । चकारस्त्वनैकान्तिकत्वस्य समुच्चये ॥ १६ ॥

ननु काश्यपीयत्वादिदं मतमङ्गीकरणीयमित्यत आह—अपरिग्रहेति ।  
न परिग्रहोऽपरिग्रहः सार्वथादिवादस्य सत्कार्याद्यंशे परिग्रहः सोऽप्यस्य  
न । तस्मादत्यन्तमनपेक्षा शिष्टैः परिग्रहोऽणुमात्रमपि न कृत इत्यर्थः ।  
चकारस्त्वप्रयुक्तसमुच्चयार्थः ॥ १७ ॥

\* उपचितेति । पार्थिवः परमाणुरधिकमुभक्त एतैकन्यूनगुणा मलादिपरमाणव इति ।  
+ न्याघात इति । स्पृश्यादिति तथा हि शक्तिवोऽणुमात्रात्सूक्ष्मोऽकिरगुणत्वात्पृथक् ।

( ३०५० । ) ईश्वराद्भिन्नानां बाह्यवस्त्वस्तित्ववादेवोद्भूतविशेषसंमतानां परमाणूनां शब्दस्पर्शादीनां च जगदुत्पादकत्वमतखण्डनम्, अधि० ४ )

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तद्गाविः ॥ १८ ॥

वैशेषिकस्तावत्परिमाणभेदेन देहादेरासूत्ररविनाशित्वाङ्गीकारादात्मनः स्थापित्वाङ्गीकाराच्चाधैनाशिकः । सर्वक्षणिकत्वधादिभिरतु पूर्णवैनाशिका इत्यधैनाशिकमतनिराकरणान्तरं पूर्णवैनाशिकमतं वृद्धिस्थमिदानीं निराक्रियत इत्यवान्तरसंगतिर्दृष्टव्या । तत्र तावद्वृद्धमुनिनाऽऽगम उवादिद्वः स चाऽऽगमो वैभाषिकसौत्रान्तिकविज्ञानवादि-सर्वशून्यवाद्यास्त्वचतुर्विधशिष्यप्रतिपत्तिवैचित्र्याश्चतुर्विधो भवति । तत्र वैभाषिकसौत्रान्तिकचोर्ज्ञानं तदतिरिक्तपदार्थाश्च सर्वे क्षणिकाः सत्यभूताः सन्तीवान्परं भेदो वैभाषिकस्व घटादिपदार्थाः प्रत्यक्षाः सौत्रान्तिकस्व तु ज्ञाने घटाद्याकार उत्पन्ने तेनाऽऽकारेण प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षा घटादयोऽसृभीयन्त इति । तत्राऽऽदी वैभाषिकसौत्रान्तिकचोर्वाह्याधारितत्वाऽविशेषात्तयोर्मतमेकीकृत्य तन्मतं प्रमाणमूलं भ्रान्तिमूलं वेति संदेहे प्रमाणमूलमिति प्राप्तम् । तथा हि पृथिव्यतेजोवायवश्चत्वारि मृतानि चतुर्विधपरमाणुपुञ्जस्वरूपाणि एवं भौतिकानि रूपादिविषयेन्द्रियाणि परमाणुपुञ्जस्वरूपाणि । न हि परमाणुरुमह्यतिरेकेणावयवविभूतं किञ्चित्कायमस्तीति । परमाणुहेतुक एव पृथिव्यादिसमुदायो बाह्यः । आध्यात्मिकश्च समुदायः स्कन्धहेतुकः । तथा हि रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्काराश्च पञ्चैते स्कन्धाः । तत्र रूपस्कन्धः सविषयेन्द्रियाणि । विषयाणां रूपादीनामाध्यात्मिकत्वमाध्यात्मिकेन्द्रियसंबन्धाद्गृह्यम् । अहमित्यालयविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः । सुखादिप्रत्ययो वेदनास्कन्धः । गौरम्ब इत्यादिशब्दाद्विविशिष्टवस्तुविषयकसाविकल्पकमरुपः संज्ञास्कन्धः । रागद्वेषमोहधर्माधर्माः संस्कारस्कन्धः । तत्र विज्ञानस्कन्धश्चैतमित्यामेति च गीयते । इतरे स्कन्धाश्चैत्याः । एतेषां विचर्चयानां

(टी०) पूर्वाधिकरणेऽधैनाशिका निरस्ताः । अस्तु, तेषां निरास उभय-  
अदवात् । न बाह्यार्थवादिनो वैनाशिकास्तथेवाक्षिप्य समाधत्ते—  
समुदायेति । चतुर्विधोऽणुहेतुकश्च भूतभौतिकसंहतिरूपः समुदायो  
रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारहेतुकश्च पञ्चस्कन्धरूपपरतस्मिन्नुभयहेतुकेऽ-

(अ० १००) स्कन्धानां समुदायः सर्वव्ययहारास्पदम् । आध्यात्मिकश्च स्कन्धहेतुक इति सर्वक्षणिकत्ववादिनां वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मतं तन्निराकरोति-समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिरिति । उभयहेतुकेऽपि समुदाये परमाणुहेतुके वाह्यसमुदाये स्कन्धहेतुक आध्यात्मिकसमुदाये च तदप्राप्तिस्तस्य समुदायस्थाप्राप्तिरित्यर्थः । अचेतनानां परमाणूनां स्कन्धानां च स्वतः समुदायायोगाद्व्यपस्य च स्थिरस्य चेतनस्य समुदायकर्तुरनभ्युपगमादिति सूत्रवाक्यशेषः ॥ १८ ॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोऽपचिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

मनु संहन्नुश्चेतनस्याभावेऽपि संघात उपपद्यते । तथा हि अविद्या संस्कारो विज्ञानं नाम रूपं षड्भाषतनं स्पर्शां भेदनेत्येवंजातीयकानामविद्यादीनामितरेतरप्रत्ययत्वादितरेतरकारणत्वाद्घटीयम्ब्रवद्दिशमावर्तमानेष्वविद्यादिव्यथाक्षितः संघात उपपद्यत इति शङ्करार्थः । कार्यप्रत्ययते जनकत्वेन गच्छतीति ध्युत्पत्त्या प्रत्ययशब्दः कारणवचनः । अविद्यादीनामपमर्थः । क्षणिकेषु स्थिरत्वमित्यत्वादिभ्रान्तिरविद्या । सा च विषयेषु रागाद्यात्मकसंस्कारहेतुः । स च संस्कारो भर्मस्याऽऽद्यं विज्ञानं जनयति । तस्माच्चऽऽस्तवविज्ञानात्पृथिव्यादिवत्तुष्टयं शरीरस्य समुदायस्य कारणभूतं जायते । तदेव नामाश्रयत्वाज्ञामेत्युच्यते । तत्र नाम सितासितादिरूपं तच्छरीरं जनयति । गर्भभूतस्य देहस्य कललबुद्बुदाद्यवस्था नामरूपशब्दार्थ इति पर्थवसश्रं पृथिव्यादिवत्तुष्टयं नाम रूपं च शरीरं विज्ञानघातुश्चेति षड्भाषतनानि यस्येन्द्रियजातस्य तत्षड्भाषतनम् । नामरूपेन्द्रियवाणां मिथः संबन्धः स्पर्शः । ततः सुखादिकायेदना । ततः पुनरविद्यादय इति । निराकरोति-नेति । कुतः । उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् । अचमर्थः-द्विविधो हि कार्पोत्याद्वस्तवामिमतो हेत्वधीनः कारणसमुदायाधीनश्चेति । तत्र हेत्वधीनो यथा-बीजवद्बुद्धोऽ-

(दी० १) समुदायेऽभिप्रेयमाणे तदप्राप्तिस्तस्य समुदायस्थाप्राप्तिरिति सिद्धिरचेतनत्वात्समुदायिनां समुदायस्य च वस्तुत्वाव्यपस्य स्थिरस्य चेतनसंज्ञान्तरसत्त्वात् ॥ १८ ॥

इतरेति । अविद्यासंस्कारविज्ञानादीनां स्थिरस्य चेतनस्यासत्त्वेऽपीतरेतरप्रत्ययत्वमितरेतरकारणत्वं तस्मादिति चेन्न । उत्पत्तिमात्रनिमित्त-

( न०५० ) कुर्यात्पत्रं पत्रात्काण्डमित्यादी । कारणसमुदायाधीनो यथा—  
पृथिव्यसेजोवाय्वाकाशकालविशेषाणां मेलने सति तेभ्य उपकृताही-  
जाहुरो जायते । आभ्याशिकः कार्योत्पादोऽपि पूर्ववह्निविद्यस्तत्राऽऽद्यो  
हेत्वधीनकार्योत्पादोऽविद्यादीनां द्वितीयस्तु पृथिव्यसेजो वाय्वाकाशाल-  
यविज्ञानानां समवायात्कार्यस्योत्पाद् इति । कार्येऽहुरादीं कश्चिन्प्रेहपा-  
कादीनां दर्शनात्पृथिव्यादीनां कारणत्वसूत्रम् । उभयविधेऽपि कार्योत्पादे  
न चेतनापेक्षेति । तत्राऽऽद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं कार्योत्पाद् हेतुसमुदायाधीनं  
दूषयति—उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वादिति । अविद्यादीनामितरेतरकारणत्वेऽ-  
प्युत्पत्तिमात्रे निमित्तत्वात् हेतुसंघाताधीनः कार्योत्पादः संभवति संहन्तुः  
स्थिरस्य चेतनस्यानङ्गीकारादित्यर्थः ॥ १९ ॥

सर्वक्षणिकववादिनां हेत्वधीनोऽपि कार्योत्पादो न संभवतीत्याह—  
उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

कार्यकाले विद्यमानस्यैव मृदाद्यैः कारणत्वं दृश्यते न तु नष्टस्य ।  
भवन्मते उत्तरस्य कार्यक्षणस्योत्पादे पूर्वस्य कारणक्षणस्य निरोधात्ता-  
शाङ्गीकारात् हेत्वधीनोऽपि कार्योत्पादः संभवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

ननु निर्हेतुक एव कार्योत्पादोऽहो तथा च नोद्यदोप इत्या-  
शाङ्क्याऽऽह—

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥

असति हेतौ कार्योत्पत्त्यङ्गीकारे पूर्वज्ञानवशुरालोकविषयेषु चतुर्षु  
हेतुषु सत्तु कार्यं नीलादिज्ञानं जायते इत्यस्याः प्रतिज्ञाया उपरोधः

(दी०) सत्त्वात् । उत्पत्तौ केवलं निमित्तवधिर्घोषीतरवन्नतु संघातोत्पत्ता-  
विति मात्रशब्दार्थः ॥ १९ ॥

उत्तरेति । उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमुक्तं तद्व्यसंभवि उत्तरस्य कार्य-  
स्योत्पाद् उत्पत्तवसरे पूर्वस्य कारणस्य निरोधादसत्त्वात् । चकार  
उत्पत्त्यसंभवसमुच्चयार्थः ॥ २० ॥

असत्येव कारणे कार्यस्योत्पादोऽस्त्वित्यत आह—असतीति ।  
असति कारणे कार्यस्योत्पादे प्रतिज्ञायाश्चतुर्विधानधिपत्त्यादीन्हेतुन्वतीत्य

(श्र०१०) स्यात् । अन्यथा कार्यं सहेतुकमित्यङ्गीकृत्य कार्यपर्यन्तं हेतोः स्थित्यङ्गीकारे हेतुफलपौर्णमपद्यमेकस्मिन्काले स्थितिः स्यादित्यर्थः । तथा च क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिरिति भावः ॥ २१ ॥

प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्रतिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥

वैनाशिकाः खलु बुद्धिपूर्वकनाशो भावानामबुद्धिपूर्वकनाश आकाशं चेति त्रयमप्यवस्तु संनिरुपाख्यं निर्हेतुकं तुच्छमिति वदन्ति । तत्राऽऽ-  
काशस्य निरुपाख्यत्वमुत्तरसूत्रे निरसिष्यते । अत्र तु बुद्धिपूर्वकनाशा-  
बुद्धिपूर्वकनाशरूपनिरोधद्वयं निराक्रियते । प्रतीया प्रतिकूला सन्तं घट-  
मसन्तं करोमीत्येवमाकारिका संख्या बुद्धिः प्रतिसंख्या तत्पूर्वको निरोधो-  
नाशः प्रतिसंख्यानिरोधोऽतत्पूर्वको नाशोऽप्रतिसंख्यानिरोधस्तयोर्निरो-  
धयोः संतानिषु संताने वाऽप्राप्तिरसंभव इत्यर्थः । कुतः । अविच्छेदात् ।  
न तावन्निरोधद्वयस्य संतानगोचरत्वम् । संतानस्याविच्छेदात् । संतान-  
विच्छेदो हि चरमसंतानि विच्छेदाद्गच्छत्यः स न युक्तः । चरमसंता-  
निनोः कार्यान्तरजनकत्वे संतानस्याविच्छेद एव । अजनकत्वे चरमसंता-  
निनोऽर्थक्रियाकारित्वरूपसत्त्वाभावेनात्पन्तासत्त्वात्पूर्वसंतानिनां सर्वेषां  
शून्यतापरिशेषापत्तिरर्थक्रियाया अभावात् । नापि संतानिप्रतियोगिकत्वं  
निरोधद्वयस्य संतानिनां घटादीनां क्षणिकत्वेन बुद्धिपूर्वकनाशायो-  
गात् । नाप्यबुद्धिपूर्वकसमूलनाशस्त्वद्वम्बुपगतः संभवति मूलस्य मुदादे-  
प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । तस्मान्निरोधद्वयस्यानुपपत्तिः ॥ २२ ॥

(श्र०११) चित्तचैत्ता उत्पद्यन्त इत्येसोपरोधो बाधः । अन्यथा कार्यस्य क्षणे  
कारणस्य सत्त्वे कार्यकारणयोर्वैगम्यं तथाऽत्रापि क्षणिकाः सर्वे  
संस्कारा इति प्रतिज्ञोपरोधः ॥ २१ ॥

मा भूद्वैनाशिकानां सन्पदार्थोऽसंस्तु स्यादित्यत आह—बुद्धिपूर्वको  
निरोधः प्रतिसंख्या निरोधस्तद्विपरीतोऽप्रतिसंख्यानिरोधः । निरोधक-  
पदार्थः सुगतानामभिमतस्तस्य निरोधस्य संतानस्य नित्यत्वासंतानि-  
र्निनो निरवयवविनाशस्य कर्तृमशक्यत्वाद्भावेनास्यैवासत्त्वम् । प्रतिसं-  
ख्यानिरोधश्चाप्रतिसंख्यानिरोधश्च तयोरप्राप्तिर्विरोधाभावात् । स एव  
कथमित्यत आह—अविच्छेदात् । संतानसंतानिनोः ॥ २२ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

(ब्र० ५०) स्थिरत्वादिभ्रान्तिरूपाविद्यायाः किं सम्यग्ज्ञानाद्भिनाश उत स्वतो वा । नाऽऽद्यः । निर्हेतुकनाशाभ्युपगमहानिपसङ्गात् । द्वितीये सम्यग्ज्ञानोपदेशानर्थक्यमित्युभयथाऽपि दोषावुसंगतं मतमित्यर्थः ॥ २३ ॥

आकाशस्य निरुपास्यत्वं दूषयति—

आकाशे चाविरोषात् ॥ २४ ॥

'आत्मन आकाशः संभूतः' [ तै० २ । १ ] इति ध्रुत्वा शब्दगुण-  
कत्वेन चाऽऽकाशेऽपि पृथिव्यादिवद्भ्रस्तृत्वमतिपत्तेरविशेषात् निरुपा-  
स्यत्वमित्यर्थः ॥ २४ ॥

आत्मनः क्षणिकत्वं दूषयति—

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

अनुमथमन्वन्तरमुत्पद्यमाना स्मृतिरनुस्मृतिस्तद्दृष्टात्मानोऽनुभवितुर्न  
क्षणिकत्वमित्यर्थः । अन्यानुभूतेऽप्यस्य स्मरणायोगादिति भावः ॥ २५ ॥

(टी०) न केवलं निरोध्याभावोऽविद्यादीनां प्रतिसंख्यानिरोधे निमित्तमपि  
नास्तीत्यत आह—उभयेति । उभयथा यदि ज्ञानेन निर्हेतुकविनाशा-  
भ्युपगमो दोषश्चेद्विनैव ज्ञानेन ज्ञानतत्साधनोपदेशवैषम्यदोषस्तस्मात् ।  
चकारस्यप्रतिसंख्यानिरोधसंकरसमुच्चयार्थः ॥ २३ ॥

आवरणाभावस्याऽऽकाशस्य यथा सतोऽप्यङ्गीकारस्तद्वाङ्मिरोधयो-  
रप्यङ्गीकारः किं न स्यादित्यत आह—आकाश इति आकाशेऽप्यसत्त्व-  
मनुपपन्नं निरोधयोरिव । यथा शब्दादयो गुणाः पृथिव्यादयो भावा-  
स्तथा शब्दगुणोऽप्याकाशो भावोऽविशेषात् । चकार एकानेकावरणा-  
भावानुपपत्त्यादि समुच्चिनोति ॥ २४ ॥

विज्ञानस्य क्षणिकत्वात्तद्दृष्टान्तेनै सर्वस्य क्षणिकत्वात्तद्वर्णादि-  
कचाऽसत्त्वं सेत्स्यतीत्यत आह—अन्विति । अनुमथमनु जायमाना  
स्मृतिस्तस्याः कर्तुः स्थायित्वम् । अनुमथस्मृत्योरेकाधिकरणत्वात् ।  
दृष्टान्तेनान्धेषामपि । चकारो ज्ञानस्यापि क्षणित्वाभावसमुच्च-  
यार्थः ॥ २५ ॥

१ अ. 'रोक्षमा' । २ अ. 'एते' । ३ अ. 'नेनास्यत्वं' । ४ अ. 'तुः स्वतु' । ५ अ.  
'विषयम्' ।



नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

(ब० व०) क्षणिकारकार्योत्पत्तिमिच्छताऽर्थादभावाश्लिरुपास्पादेव कार्योत्पत्तिरङ्गीकृतेति प्रतिभाति । पूर्वंक्षणनाशं विना कार्यक्षणोत्पत्त्ययोगात्साक्षाद्भावाद्भाषोत्पत्तिः स्वग्रन्थे दर्शिता च । तथा चासतोऽभावाश्लिःस्वरूपात्कार्योत्पत्तिर्न युक्ता । कुतः । अवृष्टत्वात् । निरुपास्याश्लर-विषाणादेः कार्योत्पत्तेरदृष्टत्वादित्यर्थः । दृष्टत्वादिति वा पदच्छेदः । सत एव सृदादेः काथोत्पत्तेर्दृष्टत्वादित्यर्थः ॥ २६ ॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

किं चैवमभावाद्भाषोत्पत्त्यङ्गीकार उदासीनानां तत्तत्कार्यसाधनेषु कृष्पादिष्वप्रथमंनानां स्वगृहे तूःगीमुपविष्टानामपि पुंसां स्वस्वामिमतस्य कार्यस्य सिद्धिः स्यादित्यर्थः । तस्मान्दान्धेकमूलेन वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्बाह्यार्थवादिनोर्मतेन समन्वयस्य न विरोध इति सिद्धम् ॥ २७ ॥

(विज्ञानवादिबौद्धसंगतविज्ञानस्य अपत्कर्तृत्वादिसण्डनम् । अधि० ५)

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

एवं क्षणिकबाह्यार्थवादनिराकरणं कृतं तन्निराकरणमुपजीव्य क्षणिकविज्ञानमात्रसत्यत्ववादी प्रत्यवतिष्ठत इत्यनधोरुपजीव्योपजीवकभावः संगतिः । विज्ञानवादिनो बौद्धस्य योऽयं सिद्धान्तो विज्ञानातिरिक्तस्य

(श्री०) कार्यमेवासन्तं पदार्थं साधयिष्यति नानुपसृष्टं प्रादुर्भावादिति न्यायेनाऽऽह—नासत इति । असतोऽविद्यमानान्मुदादेवघटादिकं न जायते । कुतः । सृदादेरसत्त्वे घटादेरवृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

पिण्डादेरुपमद्वेष घटादिकार्यस्योत्पाद् इत्यत आह—उदासीनेति । एवमभावाद्भाषोत्पत्तौ कुसूलनिहितकुल्माषाणां कृपीवलानामुदासीनानां कृषिमकुर्थतामपि सिद्धिः कृतकृत्यता शाल्यादिकं संपन्नं स्यादित्यर्थः । चकारः पिण्डादीनामकारणत्वसमुच्चयार्थः ॥ २७ ॥

पूर्वाधिकरणे समुद्रवानुपपत्त्यादिभिर्बाह्यार्थवादी निराकृतः । इदानीं विज्ञानवादी तामिहे प्रत्यवतिष्ठमानो निराक्रियते । अथ वा तामिरेष

(अ०३०१) बाह्यप्रदार्थस्याभावे इति सोऽस्पाधिकरणस्य विषयः । स किं मान-  
मूलो भ्रान्तिमूलो वेति संवेहे मानमूल इति प्राप्तम् । तथा हि नीलादिविज्ञा-  
नस्य स्वरूपतः सर्वाथान्मत्यविशिष्टत्वाद्बाह्यार्थेवादिनाऽपि तस्य नीला-  
दिविज्ञानत्वसिद्धये नीलाद्याकारत्वमङ्गीकरणीयम् । तथा च तेनैवाऽऽका-  
रेण सर्वव्यवहारोपपत्ती किं बाह्येन नीलादिना बन्ध्यावमानेन । तथा च  
स्वप्रकाशनीलादिविज्ञानस्य क्षणिकत्वात्साकारत्वाच्च स्थायिनिराकार-  
विज्ञानाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन्समन्वयो न सिध्यतीति प्राप्ते ब्रूमः ।  
विज्ञानव्यतिरिक्तानामर्थानामभावो न संभवति । कुतः । उपलब्धेः ।  
विज्ञानातिरिक्तानामर्थानां धटः पट इत्याद्यनुभवसिद्धत्वादित्यर्थः । न च  
विज्ञानाकारेणानुभवस्यान्यथा सिद्धिः । बाह्यार्थं विना तत्साकृष्यात्म-  
काकारस्य ज्ञानेऽप्यसिद्धेः । एवं च प्रतीयमानो बाह्यार्थ एवेति न  
ज्ञानस्य साकारत्वं नापि क्षणिकत्वं मानाभावात् । अनुमानस्य पक्षा-  
द्यनेकज्ञानसाध्यतया स्थायिनमनुमातारं विनाऽनुद्वादिति स्थायिनिरा-  
कारब्रह्मणि समन्वयो न विरुध्यत इति ॥ २८ ॥

ननु जाग्रदवस्थायामुत्पन्नाः सर्वे प्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्स्व-  
द्रगन्धर्वनगरमायाविनिर्मितमावादिषादिस्पाशकूप हटान्ते बाधितविषयि-  
त्वमुपाधिरित्याह—

वैधर्म्याच्च न स्वमादिवत् ॥ २९ ॥

स्वप्नादिप्रत्ययस्य जाग्रत्प्रत्ययस्य चान्योन्यं बाधितविषयत्वाबाधित-  
विषयत्वरूपवैधर्म्याच्च स्वप्नादिहटान्तेन निरालम्बनत्वं जाग्रत्प्रत्ययस्ये-  
त्यर्थः । चक्षुर्वेन हटान्ते साध्यवैकल्यं सूचितम् । स्वप्नादावपि प्राति-  
मासिकविषयाणां सत्त्वादिति ॥ २९ ॥

(श्लो०) युक्तिभिः सर्वज्ञानवादी प्रत्यवतिष्ठमानो निराक्रियते—नाभाव इति ।  
बाह्यानामर्थानां नामावोऽसत्त्वं न । कुतः । स्वप्नकुम्भादीनां तत्तत्प्र-  
त्यय उपलम्बनमुपलब्धिस्तस्याः ॥ २८ ॥

ज्ञानाकाराणामेव तेषां स्वप्नद्रुपलम्बः स्यादित्यत आह—वैधर्म्येति ।  
विरुद्धयोर्धर्मयोर्भावो वैधर्म्यं बाध्यत्वाच्चाध्यत्वे । तस्मान्नाप्यं स्वप्नादि-  
ब्रह्मार्थो ज्ञानाकारः । आदिशब्देन मायारजतादिकम् । चकारः  
श्रुतेरप्रामाण्यं समुच्चिनोति ॥ २९ ॥

(ब० व०) किं च बाह्यार्थानामभावे घटज्ञानं पटज्ञानमित्यादिवैचित्र्यं ज्ञानेन स्यात् । न च पूर्वपूर्वानादिविचित्रवासनावलक्षित्विचित्र्यं स्यादिति वाच्यम् । बाह्यार्थभावे वासनानामप्यभावादित्वाह—

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

वासनानां न भावो न संभव इत्यर्थः । कस्मादनुपलब्धेः । त्वत्पक्षे बाह्यार्थानामनुपलब्धेरित्यर्थः । वासनानां बाह्यार्थानुभवव्याप्यत्वाप्यापकामावे व्याप्याभाव इति बाह्यार्थानुभवस्य वासनां प्रति कारणत्वात्कारणभावे कार्याभाव इति वा तात्पर्यम् । किं च वासनानां संस्कारामिधानानां त्वत्पक्ष आश्रयासंभवादनुपपत्तिः ॥ ३० ॥

नन्वहमित्यालपप्रत्यय एवाऽऽश्रय इत्यत आह—

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

आलपविज्ञानस्य क्षणिकत्वाङ्गीकाराज्ञाश्रयत्वं संस्काराश्रयत्वे वा न क्षणिकत्वं संस्कारसमानकालीनस्य वा संस्कारकालेऽस्तौ वाऽऽश्रयत्वाद्योगादिति भावः ॥ ३१ ॥

सर्वथाऽनुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

पश्यनेतिष्ठनेत्याद्यपशब्दप्रयोगाद्ब्रह्मन्थतोऽनुपपन्नमिदं वेदबाह्यानां मत-मुक्तपकारणार्थतोऽप्यनुपपन्नमिति सर्वथाऽनुपपत्तेर्नाऽऽश्रयीयं श्रेयो-र्थिभिः सौगतं मतमित्यर्थः । दर्शनमिति वक्तव्ये पश्यनेत्यपशब्दः । स्थान-मिति वक्तव्ये तिष्ठनेत्यपशब्दः । हृशोस्तिष्ठतेश्च धातोः शिति प्रत्यये पश्यति-

(श्री०) अवाप्तत्वं विचित्रार्थोपलम्भाद्विचित्रार्थो वासनानविलास इत्यत आह—न भावेति । वासनानां विचित्राणां न भावो न सत्त्वम् । कुतः । अनुपलब्धेः । बाह्यार्थानामर्थानामभावात् ॥ ३० ॥

मा भूद्बाह्यार्थं आलपविज्ञानवशादेव वासनानां विचित्राणां सत्त्व-नित्यत आह—क्षणिकेति । आलपविज्ञानसंस्थायित्वेऽपसिद्धान्तः क्षणिक-कैव आश्रयाभाव इत्यर्थः । चकारो बाह्यार्थस्यासत्त्व आलपविज्ञान-स्याप्यसामर्थ्यमाह ॥ ३१ ॥

केनाप्यंशेन विज्ञानवादोत्पत्तौ तद्दुष्टान्नेन सौगतं मतमङ्गीकरणीय-मित्यत आह—सर्वथेति सर्वथा सर्वं क्षणिकमित्याद्यर्थतस्तिष्ठता पर-

(अ० ५०१) षावादेशौ भवतो न पुत्रप्रत्यये तस्याशिवादिति बोध्यम् । ननु  
वाद्यार्थवादस्य केवलविज्ञानमात्रवादस्य षोक्तरीत्याऽसंभवाच्छून्यं निः-  
स्वरूपमेव प्रपञ्चतत्त्वं किं न स्यादिति शङ्कायां पुनः 'नामाव उपलब्धेः'  
[ ब्र० सू० २ । २ । २८ ] इत्यादीनि सूत्राणि शून्यमतनिरासपरत्वेन  
योजयन्ते । प्रपञ्चशून्यत्वस्य सर्वप्रमाणबाधितत्वेन तन्निरासाय पृथक्पथ-  
त्वानपेक्षणात् । तथा हि ज्ञानार्थयोर्नामावः प्रमाणीरूपलब्धेत्यर्थः ।  
वैधर्म्याच्चेति सूत्रं पूर्ववदास्पेयम् । प्रपञ्चस्य बाधत्वे बाधाधिष्ठानं  
किञ्चित्सत्त्वं शक्यं निराधिष्ठानवाधायोगात् । तस्य चाधिष्ठानस्य  
त्वन्मते न भावो न सत्त्वं प्रमाणातस्तदनुपलब्धेरिति न भावोऽनुपलब्धे-  
रिति सूत्रार्थः । क्षणिकत्वाच्चेति सूत्रे विभक्तेः पूर्वमुपदेशेत्वध्वाहारः  
तथा च क्वचित्पदार्थानङ्गीकृत्य तेषां क्षणिकत्वोपदेशाच्छून्योपदेशश्च  
व्याहृतार्थबोधकः सुगत इत्यर्थः । अन्वयसूत्रं कुतव्याख्यानम् । तस्मा-  
च्छून्यत्वैकशरणवौद्धमतेन न समन्वयस्य धिरोध इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

( जीवादिस्तपदार्थवादिनां वौद्धान्तराणां मतखण्डनम्, अधि० ६ )  
नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ३३ ॥

एवं मुक्तकण्ठानां वौद्धानां मते निरस्ते विवसनानां जैनानां मते  
बुद्धिस्थं बुद्धिसंनिधिलक्षणसंगत्या निराक्रियते । तत्र संशयः । किं  
दिगम्बरमतं मानमूलं भ्रान्तिमूलमिति । मानमूलमिति प्राप्तम् । तथा  
हि—स्यादस्ति स्यान्नस्ति स्यादस्ति नास्ति च स्याद्वक्तव्यः  
स्यादस्ति चावक्तव्यः स्यान्नस्ति चावक्तव्यः स्यादस्ति नास्ति चावक्त-  
व्यभेदपेक्षकपसप्तभङ्गीनयमास्तित्वनास्तित्वादिविषय-<sup>१</sup>धर्महूपमादाय सर्वेषु  
पदार्थेषु योजयन्तो विवसनाः पदार्थमात्रस्यानेकरूपत्वमाचक्षत उपा-

(क्षि०) स्यापिनेत्यादिशब्दतोऽनुपपत्तेः । चकारो वेदविरोधसमुच्चयार्थः ।  
बाह्यार्थपदस्थाने ज्ञानैक्यपदप्रक्षेपेण शून्यवौदनिराकरणमपि नामाव  
इत्यादिसूत्रे करणीयम् ॥ ३२ ॥

पूर्वाधिकरण उपलब्ध्याद्विभिर्विज्ञानवादशून्यवादी निराकृतौ नैवं  
विवसनानां सर्वयोऽनेकत्वाभवादिति प्रत्युदाहरणेन तद्विरोधमाशङ्क्य  
परिहरति—नैकेति । जीवाजीवी तथोराश्रव संवरनिर्जरबन्धमोक्षणां

(ब०१०)दानाद्विषयवहारसिद्धये। अन्यथा वस्तुन एकरूपत्वेन सर्वात्मनाऽ-  
स्तित्वं नास्तित्वं वा वक्तव्यमिति प्राध्यात्मनाऽपि सत्त्वाद्बस्तुप्राप्त्यर्थमु-  
पादानाद्विषयहारो \* न स्यात् । अतः केनचिद्वटादिरूपेणास्ति केन-  
चित्प्राध्यादिरूपेण नास्तीत्येकरूपत्वमेव वस्तुनः । सप्तममङ्गो नाम  
सप्तस्वस्तित्वाद्विषु वस्तुन्येकत्र विरोधमङ्गस्तत्र यो नयो युक्तिः स  
इत्यर्थः । स्यादस्तीत्यादेरपमर्थः—स्यात्पदं कथंचिदित्यर्थकम् । वस्तु-  
नोऽस्तित्वविशेषायां मङ्गः । असत्त्वविषयायां द्वितीयो मङ्गः ।  
क्रमेणोभयवाञ्छायां तृतीयो मङ्गः । युगपदुभयवाञ्छायां नास्तित्व-  
नास्तित्वयोर्पुंगपद्वाचा वक्तुमशक्यत्वात्पक्षकत्वत्वं वस्तुन इति चतुर्थो  
मङ्गः । आद्यचतुर्थयोर्मङ्गयोः क्रमेण वाञ्छायां पञ्चमो मङ्गः ।  
द्वितीयचतुर्थयोर्विषयायां षष्ठो मङ्गः । आद्यद्वितीयचतुर्थानां  
वाञ्छायां सप्तमो मङ्गः । इत्येवमेकत्वानेकत्वानित्यत्वानित्यत्वाविवि-  
द्धधर्मद्वयमादाशोक्तनयो योजनीय इति । तस्माद्बस्तुमात्रस्य सत्त्वम-  
सत्त्वं येत्येवमादिविरुद्धानेकधर्मवस्त्वमेवेत्येकरूपमङ्गसमन्वयो न सिध्य-  
तीति प्राप्ते ब्रूमः—नैकस्मिन्नसंभवाविति । एकस्मिन्परमार्थरूपे वस्तुनि  
विरुद्धधर्माणामसंभवाद्बस्तुनोऽनेकरूपत्वं नास्तीत्यर्थः । यदस्ति तद-  
स्येव न नास्ति यन्नित्यं तन्नित्यमेव नानित्यम् । यथा प्रत्यगात्मा  
वस्तुभूत एवं प्रपञ्चस्यापि त्वन्मते वस्तुभूतत्वानेकरूपत्वसंभवोऽस्मन्मते  
तु प्रपञ्चो न सन्न्याप्यसन्नित्वनिर्बचनीय एव । तेन सधैव्यवहारसंभव  
इति भावः ॥ ३३ ॥

(दी०)पञ्चास्तिकायानां जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां स्वसमयकल्पितानां  
भेदमिन्नानां संक्षेपतो द्वावेव पदार्थाः । तद्यवस्थार्थं स्यादस्ति स्यान्नास्ति  
स्यादस्ति च नास्ति च स्याद्व्यक्तव्यः स्यादस्ति चावक्तव्यः स्यान्नास्ति  
चावक्तव्यः स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्चेतीमं सप्तमङ्गीनयमवतार-  
यन्ति । एकत्वाद्वा स्याद्वैव व्यवस्थापकत्वं मन्वन्ते । तद्विदं नोपपद्यते ।  
कस्माद् । एकस्मिन्धर्मिणि सत्सत्त्वादीनां युगपद्वाऽयुगपद्वाऽसंभ-  
वात् ॥ ३३ ॥

\* प्राप्तिपरित्यागरूपो नन्दानन्दन्यवहारः ।

[म० २ पा० २ सू० ३४-३०] ब्रह्मासृतवर्षिणीदीपिकाम्यां समेतानि । १८३

(न० १०) एतेषामार्हतानां देहपरिमाण एवाऽऽमेति मतं तद्द्रूपपति—  
एवं चाऽऽत्माऽकात्स्न्यम् ॥ ३४ ॥

यथैकत्र विरुद्धधर्मासंभयो दोषस्तेषामार्हतानां मत एवमात्मनोऽ-  
कात्स्न्यं परिच्छिन्नत्वं दोषान्तरं स्याज्जीवस्य देहपरिमाणत्वाङ्गीकारा-  
दित्यर्थः । तथा च परिच्छिन्नत्वादात्मनो घटादिवदन्वित्यत्वं स्यादिति  
भावः । किंचाऽऽत्मनो देहपरिमाणत्वे मनुष्यात्मनः कर्मवशाद्द्रव्यशरीरे  
कुत्स्ने प्रवेशो न स्यात्पुंसिकाशरीरे वा कुत्स्नस्याऽऽत्मनः प्रवेशो न  
स्यात् ॥ ३४ ॥

ननु जीवस्य सावयवत्वाङ्गीकारात्पर्यायेण गजादिशरीरप्राप्तौ केचि-  
द्वयवदा आगच्छन्ति सूक्ष्मपुंसिकाशरीरप्राप्तौ च केवद्वयगच्छन्तीति  
न मनुष्यात्मनः । स्थूलसूक्ष्मशरीरप्राप्तिविरोध इत्याहुक्य निरा-  
करोति—

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

पर्यायादप्यवयवमनागमनाभ्यामपि तत्तत्स्थूलसूक्ष्मशरीरपरिमाण-  
त्वस्याऽऽत्मन्यविरोध इति न चेत्यर्थः । कुतः । विकारादिभ्यः ।  
आत्मनः सावयवत्वेन तत्तच्छरीरप्राप्त्या वृद्धिह्रासवत्त्वाङ्गीकारे विकार-  
वत्त्वप्रसक्तौ प्रदीपादिवदन्वित्यत्वं स्यादन्वित्यत्वं च बन्धमोक्षाम्बुपगमो  
बाधेत जलानुम्बिकान्वायेन संसारसागरे मग्नस्य बन्धविच्छेदात्संततो-  
र्ध्वगमनं मुक्तिर्भवतीति त्वयाऽम्बुपगमादिति । यद्वा पूर्वमूत्रे परिच्छि-  
न्नत्वादात्मनोऽन्वित्यत्वं स्यादिति उक्तमप्युक्तमन्वित्यत्वेऽपि बौद्धवत्सं-

(श्री०) एवमिति यथा सप्तभङ्गीनपादिकमनुपपन्नमेवमात्मनोऽकात्स्न्यं-  
मसंबर्गतपरिमाणमपि देहपरिमाणत्वे देहवदन्वित्यत्वात् स्यादित्यर्थः ॥३४॥

नियतपरिमाणस्यापि जीवस्यावयवभागमनिर्गमनाभ्यां देहपरिमाणत्व-  
मित्यत्र आह—न चेति । पर्यायोऽवयवभागमनिर्गमने । तस्मादपि नैवा-  
न्वित्यत्वाभावेऽविरोधः । कुतः । विकारादिभ्यः । विकारो विक्रिया  
आदिशब्देनावयवानामात्मत्वं उत्पत्तिश्लवस्थानां निरूपणत्वानिरूपण-  
त्वाद्युचो दोषास्तेभ्यः । अथ वा परिमाणागमनिर्गमनचोरपि जीवस्य

१ अ. 'वत्स्यादि' । २ अ. 'वैमाभ्य' । ३ अ. 'न च पर्यायदाग' । ४ अ. 'पगमेक्षोव' ।  
५ २ अ. 'रेवायमि' ।

(अ०१००)ताननित्यत्वोपपत्तेरित्याहङ्क्याऽऽह—न चेत्यादिसूत्रम् । पर्यायादपि संतानरूपेण नित्यत्वस्याऽऽत्मन्यविरोध इति न चेत्यर्थः । कुतो विकारादिभ्यः । संतानस्य संतानिव्यतिरिक्तस्य सत्त्वे तस्य च संतानिजन्यत्वाद्धिकारवत्त्वं स्यादेवासत्त्वे नैरात्म्यवाद्भवसङ्ग इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

किंच—

अन्यादस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

मुक्तात्मनो यत्परिमाणं तदन्त्यं तच्च नित्यमप्यणुत्वाद्यन्यतमपरिमाणत्वेन व्यवस्थितं चेति जैनसिद्धान्तः । तथा चान्त्यस्य परिमाणस्य नित्यत्वेनावस्थितेस्तद्दृष्टान्तेनाऽऽत्मपरिमाणत्वेन हेतुनोभयोरद्वयमध्यमपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गाच्चयाणामाद्यमध्यमान्त्यपरिमाणानामविक्षेपः साम्यं स्यादित्यर्थः । नित्यपरिमाणानां त्रयाणामेकत्र संभवाच्चित्तित्वमापाद्य तेन साम्यमापादितमिति द्रष्टव्यम् । परिमाणसाम्ये रथलक्ष्मणशरीरभाती परिमाणवैषम्यं न स्वादिति भावः । यद्वा सर्वदैकमेव परिमाणं स्यादित्यापाद्यम् । तथा ह्यन्यपरिमाणस्य जन्वत्वे नित्यत्वविरोधादाद्यमध्यमकालावस्थानं वक्तव्यमिति यदन्त्यपरिमाणमणुमहत्त्वादि तदेवैकं सर्वदा स्यान्नान्यत्तथा चान्त्यपरिमाणस्यावस्थितेरणुत्वाद्यन्यतमत्वेन नियतत्वादाद्यमध्यमकालयोरुभयोस्तस्य परिमाणस्य नित्यत्वादेकत्वादविशेषः । जीवोऽणुश्चेदणुरेव महोश्चेन्महानेव

(क्षी०)प्रवाहरूपेण नित्यत्वान्नायं दोष इत्यत आह—न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः । पर्यायात्परिमाणानिर्गमनरूपात् । अत्र चकारः सौगतमतोक्तदोषसमुच्चयार्थः । शेषं समानम् ॥ ३५ ॥

ननुक्तः सर्वो दोषो न जीवस्यानित्यभाववृत्तिं किंतु तत्परिमाणस्यानित्यत्वमित्यत आह—अन्त्येति । अन्त्यस्य मोक्षावस्थस्य परिमाणस्य नित्यत्वाद्बन्धस्थानमवस्थितिस्तस्याः । उभयस्याऽऽक्षिप्तध्यावस्थस्य परिमाणस्य तद्बन्धित्वं तस्मात् । अविक्षेपः । एकशरीरपरिमाणमेव स्यान्न चैतद्विदं तस्माज्जीवस्याप्यनित्यत्वम् । अथ वाऽन्त्यस्य जीवपरिमाणावस्थितत्वात्पूर्वयोरप्यवस्थयोरवस्थितपरिमाण एव जीवः स्यात् । ततश्चा-

(म०५०) स्यादित्यर्थः । तथा च न शरीरपरिमाणनियम इति भावः । तस्माद्बुद्धविषयसमनन्तेन न समन्वयस्य विरोध इति सिद्धम् ॥ ३६ ॥

इदानीं केवलं निमित्तकारणमेवेश्वरो नोपादानमिति येषां शंभ्वर-  
सांख्यपा[ प ]तञ्जलिशैवकणभुगादीनां मते तदीयं दूषयति—

( तदस्येश्वरवादस्यायुक्तत्वम्, अधि० ७ )

पत्पुरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

पूर्वं सत्त्वासत्त्वयोरैकत्र विरोधादसंभव इत्युक्तं तद्दृष्टवादानकर्तृत्व-  
योरैकत्र विरोधादसंभव इति दृष्टान्तसंगत्या निमित्तोपादानोभयात्मक-  
व्यङ्गसमन्वयासंभवाक्षेपे सिद्धान्तः— पत्पुरीश्वरस्य जगदुपादानाधा-  
नादिभेदकत्वेन जगत्सिद्धिमित्तत्वमात्रं न संभवति । कुतः । असामञ्जस्यात् ।  
ईश्वरस्य जगत्सर्जने प्रकृतौ रागद्वेषादिप्रसङ्गादसामञ्जस्यं स्यात् । प्रकृते  
रागद्वेषादिपूर्वकत्वेन लोके दृष्टत्वाद्दृष्टानुसारित्वात्कल्पनायाः । अस्माकं  
तु ज्ञानानुसारित्वादिनिर्धेयनीयवादित्वाच्च न दोष इति भावः ॥ ३७ ॥

संपन्थानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

प्रेरप्रधानादिभिः प्रेरकस्येश्वरसंबन्धो धात्वोऽसंबद्धस्य प्रेरकत्वा-  
योगाच्च च संबन्धः संभवति निरवयवत्वाद्भुतसिद्धत्वाच्च संयोगसमवा-  
ययोरनुपपत्तेरित्यर्थः । सिद्धान्ते त्वविद्यादिभेदकत्वं कल्पिततादात्म्येनो-  
पपद्यत इति भावः ॥ ३८ ॥

(शे०) विशेषेण सर्वदेवाणामुर्महान्वा जीवः स्यात् । चकारो जीवस्य रूप-  
त्वादिप्रसङ्गसमुच्चार्थः ॥ ३६ ॥

पूर्वाधिकरणे यथा सत्त्वासत्त्वयोरैकत्र विरोध उक्त एवमाधिष्ठानतृत्वो-  
पादानत्वयोरैकत्र विरोध इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य केवलनिमित्तत्वदूषणेन  
समाधत्ते—पत्पुरिति । पत्पुरीश्वरस्य न प्रधानपुरुषाद्यधिष्ठानत्वम् ।  
कुतः । असामञ्जस्यात् । सामञ्जसस्य भावः सामञ्जस्यं न सामञ्जस्य-  
मसामञ्जस्यम् । वैषम्यनैवृण्यकर्मेश्वरान्योन्याश्रयान्पपरस्परसङ्गतत्वाभा-  
वादि तस्मात् ॥ ३७ ॥

राजादिवदस्तु अधिष्ठानत्वमित्यत आह—संबन्धेति । नात्र स्वस्वा-  
मिभावलक्षणाः संबन्धस्तत्रैव विद्यन्तिपत्तेः । न च संयोगो निरवयवत्वा-  
दीश्वरादीनाम् । न च समवायस्तस्य कार्यकारणब्रह्मसंबन्धत्वात् । एव  
मन्वस्थापि संबन्धस्यानुपपत्तिः । चकारः संबन्धस्याऽऽगन्तुकत्वाद्यनुपप-  
त्तिसमुच्चयार्थः ॥ ३८ ॥



(ब०व०) किंच कुम्भकारस्य मुदादिपेरकत्वदृष्टान्तेनेश्वरस्य प्रधानादिपेर-  
कत्वं कल्पनीयं न हि तत्संभवति प्रधानस्य रूपादिहीनत्वेन दृष्टमुदादि-  
दौलक्षण्यात् । प्रधानादिविषयकप्रेरणाया ईश्वरस्यानुपपत्तेरित्याह—

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

अधिष्ठानं प्रेरणा । सिद्धान्ते तु न दृष्टापेक्षा श्रुत्येकाशरणादिति  
भावः ॥ ३९ ॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

ननु करणानीन्द्रिण्यप्रत्यक्षाण्यपि यथा जीवेन प्रेषन्त एव प्रधानादि-  
कमप्रत्यक्षमपीश्वरेण प्रेषत इति चेन्न । कुतः । भोगादिभ्यो दोषेभ्यः ।  
जीवो हीन्द्रियग्रामं भोगार्थं प्रेरयति तद्दृष्टान्तेनेश्वरस्य प्रेरकत्वे तद्द्वन्द्वो-  
गाद्यः प्रसज्येरन्नित्यर्थः । यद्वा शरीरस्यैव प्रेरकत्ववर्णनादीश्वरस्य  
च शरीरानुपपत्तेर्न प्रेरकत्वमित्याह—अधिष्ठानानुपपत्तेश्च । भोगादि-  
ष्ठानं शरीरमधिष्ठानशब्दार्थः । करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः । करणवदिन्द्रि-  
याधिष्ठानं शरीरमित्यर्थः । तदीश्वरेऽङ्गी कियत एवेति चेन्न । शरीर-  
वत्त्वे भोगादिप्रसङ्गादीश्वरत्वमेव न स्यादित्यर्थः ॥ ४० ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

किंच प्रधानजीवेश्वराणां वा संस्था यच्च परिमाणं तदुभयमीश्वरेण  
परिच्छिद्यते न वा । आद्ये परिच्छिन्नसंस्थावत्त्वात्परिच्छिन्नपरिमाण-

(द्वी०) अधिष्ठानमेव संबन्धमाश्लेष्यतीत्यत आह—अधीति । अधिष्ठातुः  
क्रियाऽधिष्ठानं तच्च नाधिष्ठयमन्तरेण । न च स्वरूपेण संदिग्धस्य  
रूपादिहीनस्य प्रधानादिरधिष्ठेयत्वमतोऽधिष्ठेयाभावादधिष्ठानस्यानुपप-  
त्तिराधिष्ठानानुपपत्तिस्तस्याः । चकारोऽधिष्ठात्रधिष्ठानयोरपि स्वरूपानु-  
पपत्तिं समुच्चिनोति ॥ ३९ ॥

करणेति । मा भूत्कुम्भकुलालादिवदधिष्ठेयाधिष्ठातृत्वं करणवच्चीवे-  
न्द्रियवद्भविष्यतीति चेन्न । कुतः । भोगादिभ्यः । भोगः सुखदुःखान्य-  
तरसाक्षात्कारः । आदिज्ञानेन जनिमरणाद्यस्तेभ्यो हेतुभ्यः । अथवाऽ-  
धिष्ठानस्य शरीरस्यानुपपत्तेरिति पूर्वसूत्रार्थः । द्वितीयसूत्रार्थस्तु करण-  
मिन्द्रियं तदस्यास्तीति करणवच्छरीरं कल्प्यमिति चेत् । शेषं  
पूर्ववत् ॥ ४० ॥

ननु मैतानि सर्वगते सर्वज्ञ ईश्वरे चोद्यानीत्यत आह—अन्तेति ।

[सं०२७०२७० मङ्गलामृतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । १९३  
२२-२३]

(सं०२७०)वच्च प्रपाणां प्रधानजीवेश्वराणां घटादिवदन्तवत्त्वं विनाशित्वं  
स्यात् । द्वितीय ईश्वरस्यसंभङ्गत्वं स्यादित्यर्थः । तस्मादसंगतेन  
तार्किकपरिहृत्यैश्वरकारणवादेन न निमित्तोपादानब्रह्मसमन्वय  
विरोध इति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

( जीवोत्पत्त्यादेरप्युक्तवत्, अधि०८ ) ।

उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ४२ ॥

एवं केवलाधिष्ठितेश्वर इति वेदासंगतमते निरस्ते निमित्तं प्रकृति-  
श्वेश्वर इति भागवतमतस्य वेदसंगतार्थत्वात्तद्वृत्तिकृतजीवोत्पत्त्येऽपि  
प्रमाणमूलत्वं स्यादिति प्रत्युदाहरणसंगत्वाऽऽरम्भः । तद्भागवतमतं  
प्रमाणमूलं भ्रान्तिमूलं वेति संदेहे प्रमाणमूलमिति प्राप्तम् । तथा हि  
वासुदेवः सत्त्वं परमात्मा परमार्थतत्त्वं जगदुपादानं निमित्तं च तस्मा-  
द्वासुदेवात्संकर्षणारूपो जीव उत्पद्यते ततो जीवात्प्रद्युम्नाख्यं मनो  
जायते मनसश्चानिरुद्धारूपोऽहंकार इति । तथा च जीवाभिन्नाद्ब्रह्मणो  
जगत्सर्गं ब्रुवतः समन्वयस्यासंभव इति प्राप्ते वेदाविरुद्धांशमङ्गीकृत्य  
वेदविरुद्धजीवाद्ब्रह्मसंभवं ब्रुवति—उत्पत्त्यसंभवादिति, परमात्मनो  
वासुदेवात्जीवस्योत्पत्त्यसंभवान्न तन्मतं साधित्यर्थः । अन्यथा जीव-  
स्योत्पत्त्यङ्गीकारे घटादिवदन्तित्वात्पत्त्या भगवत्प्राप्तिरूपमोक्षस्त्वद्भ्यु-  
पगतः कस्य स्यादित्यर्थः ॥ ४२ ॥

न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

लोके कर्तुर्देवत्वादेः सफाशात्करणस्य कुठारादेरुत्पत्त्यदर्शनाज्जीवा-  
त्कर्तुः करणं मनो जन्व(जाय)त इत्येतन्न युक्तमित्यत्र तन्मतमसंग-

(सं०)ईश्वरस्येति शेषः । यदीश्वरः प्रधानादीनामात्मनश्चेवत्तां परिच्छि-  
नन्ति अन्तवान्स्यान्न चेदसंबन्ध इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

पूर्वाधिकरणे केवलनिमित्तत्वं निराकृतम् । अस्तु तर्ह्युपादानत्वमेपि  
निरङ्कुशं जीवस्य प्रपञ्चं इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—उत्प-  
त्तीति । वासुदेवात्परस्मात्प्रकृतेः संकर्षणजीवस्योत्पत्तेर्जन्मनो जातस्य  
मरणाद्विदोपस्तत्र च जीवस्य कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गादिः । अतोऽ-  
संभवान्न संभवोऽसंभवस्तस्मान्न भागवतमतं सम्यक् ॥ ४२ ॥

यथा संकर्षणाज्जीवात्प्रद्युम्नस्य मनसो यथा वा प्रद्युम्नात्मनसोऽनि-

१ अ. 'निति' । २ अ. 'वत्येति' ।

(अ०१०।) तमित्यर्थः । अयं भावः—किं जीवो मनः करणान्तरमासाद्य जनयति अनासाद्य वा । आद्ये तत्करणान्तरं जीवजन्यं न वा \* आद्येऽनवस्थाऽऽद्यविकल्पावतारासंभवात् । द्वितीये तदेव मनोऽस्त्विति न मनसो जीवजन्यत्वम् । आद्यद्वितीये करणरहितस्यैव जीवस्य कार्यजननसामर्थ्याङ्गीकारे किं मनःकल्पनयेति ॥ ४३ ॥

ननु संकर्षणादयच्छयो न जीवादिरूपाः किं नु वासुदेववद्विज्ञानस्वरूपा ईश्वरा एवेत्याज्ञानाऽऽह—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

संकर्षणादीनां त्रयाणां वासुदेववद्विज्ञानादिभावे वा विज्ञानैश्वर्यबलवन्निर्वोचनिरवद्यस्वरूपत्वेऽपि तदप्रतिषेधस्तथोत्पत्त्यसंभयरूपदोषस्य प्रकारान्तरेणाप्रतिषेध इत्यर्थः । तथा हि न तावच्चतुर्णां वासुदेवादीनामीश्वराणां किंचित्प्रयोजनमस्ति एकैनैव सिद्धेः । भगवानेवैके वासुदेवः परमार्थतत्त्वमिति त्वस्तिद्धान्तहानिश्च । नन्वीश्वराणां संकर्षणादीनां त्रयाणां वासुदेवमुत्पानामेव वासुदेवानुत्पात्तिरभ्युपगम्यत इति नोक्तदोष इति चेत्सर्वागत उत्पत्त्यसंभवो दोषः । संकर्षणादीनामीश्वरत्वाविशेषे वासुदेवस्य ततोऽतिशयाभावेन त्रयाणां वासुदेवेन जन्यत्वाजन्यत्वानुपपत्तेरिति ॥ ४४ ॥

( वी० । ) रुद्धस्याहंकृतेर्जनैवं वासुदेवादपि संकर्षणोत्पत्तिरेस्तीत्यत आह—न चेति । कतुः संकर्षणात्करणं प्रद्युम्नो न आपते संकर्षणस्यैव कर्तृत्वस्य विप्रतिपत्तेरित्यर्थः । चकारः प्रद्युम्नादप्यनिरुद्धोत्पत्त्यभावसूचनार्थः ॥ ४३ ॥

न च सर्वज्ञत्वादिगुणानां संकर्षणादीनामुत्पत्तावपि नोत्पत्तिप्रसङ्गो दोष इत्यत आह—विज्ञानेति वाशब्दश्वेदर्थः । यदि सर्वे सर्वज्ञाः सर्वगता अनन्तगुणाश्च वासुदेवाद्यस्तदा वासुदेवाद्युत्पत्त्यसंभवो दोषस्तदवस्यः । अतस्तस्याप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

\* आसाद्य ननयतीति विकल्प आद्यः ।

विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

(म०५०) क्वचिद्गज्ञानैश्वर्यशक्तिचलधीयतेजांसि वासुदेवगुणा इति प्रति-  
पादयन्ति क्वचिद्योक्तगुणा एवाऽऽमानो वासुदेवा भगवन्त इत्यमेदं गुण-  
गुणिनोर्बर्णयन्ति तथा च परस्परं विप्रतिषेधाच्चासमश्वासमिदं भागवतं  
मतमित्यर्थः । तस्मान्निरवष्टे ब्रह्माणि वेदान्तानां समन्वय इति  
सिद्धम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

( वेदान्तवादिमत आकाशस्वामित्वत्वकथनम्, अधि० १ )

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

पूर्वमिन्द्रपादे श्रुतिविरुद्धत्वात्परपक्षानामप्रामाण्यमुक्तं तर्हि श्रुती-  
नामप्यन्योन्यविरोधाद्ब्रह्मकारणत्वाद्स्याप्यनपेक्षत्वं स्यादिति शङ्कानि-  
रासार्थं परं पादद्वयमारम्भते । पादद्वयस्यापि श्रुतीनामप्यन्योन्यविरोध-  
निरासेन समन्वयवृद्धीकरणच्छ्रुत्यध्यायसंगतिः । पूर्वपादेनास्य प्राप्तद्वि-  
कीसंगतिः शङ्काव्याजेन दर्शिता । तत्र तावदादौ सृष्टिवाक्यानामवि-

(३०)तेषु संकर्षणादिषु वासुदेववद्विज्ञानादिगुणानां भावेऽस्मच्छास्त्रवि-  
रोधं वेदविरोधं विना [ नैन्पविरोधं ] मन्यामह इत्यत आह-विप्रैति ।  
अस्मिन्नेव शास्त्रे ज्ञानादीनां गुणत्वं त एव भगवन्तो वासुदेवा इत्या-  
दिविप्रतिषिद्धं विरुद्धम् । 'चतुर्षु भेदेषु परं भेदोऽलब्ध्या शाब्दिकस्य  
इदं शास्त्रमधीतवान्' इत्यादिवेदमिन्द्रादर्शनाद्देदविरुद्धश्च सोऽयं विप्र-  
तिषेधस्तस्मात् । 'चकारोऽन्वद्रूपणानामपि बलात्पतनाभ्युच्चयार्थः ॥४५॥

इति ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

द्वितीयपादे स्वतन्त्रतर्काणां परस्परविरोधान्न तैर्विरोधः समन्वयस्ये-  
च्छुक्तम् । तृतीयेन तु पादेन भूतश्रुतीनां भोक्तृश्रुतीनां च परस्परविरोधः  
परिहियते । तत्रापि भोक्तृत्वस्यैवाधिकतयादुपाधिषु चाऽऽकाशस्य

(अ०१०)रोधं प्रतिपादयितुमाकाशमात्रित्य विचार्यत आकाशस्य किमुत्प-  
त्तिरस्त्युत नास्तीति । यद्यस्ति तर्हि विरोधः । तथा हि च्छान्दोग्य आका-  
शवायू विना 'तत्तेजोऽस्त्युजत' [ छा० ६ । २ । ३ ] इति तेजआदिका  
सृष्टिः भूयते । तैत्तिरीयके तु 'आत्मन आकाशः संभूतः, [ तै० २ । १ । १  
इत्याकाशादिका । तथा चानयोर्वाक्ययोर्विरोध इति पूर्वपक्षः । आऽ-  
ध्यावात्पृथ्वक्षे शुक्तीनां मिथो विरोधाद्प्रामाण्यं फलं सिद्धान्ते विरो-  
धाभावात्प्रामाण्यमिति बोध्यम् । एवं प्राप्त एकदेशिभेदेन समाधत्ते—  
'न विषदुश्रुतेः' । विषन्नोत्पद्यते । कुतः । अश्रुतेः । विषत उत्पत्तिप्रति-  
पादकवाक्यस्याववणादित्यर्थः ॥ १ ॥

यद्यप्यात्मन आकाशः संभूत इति श्रुतिरस्ति तथाऽपि सा गौणीति  
गूढोऽभिसंधिः । तथा चाऽऽकाशस्योत्पत्तेरनभ्युपगमादेव न विरोध इति  
गूढाभिसंधिमजानानः शङ्कते—

अस्ति तु ॥ २ ॥

तुशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे । छान्दोग्य आकाशोत्पत्तिश्रुत्याप्येऽपि सा  
श्रुतिस्तैत्तिरीयकेऽस्तीत्यर्थः । तथा च विरोधरतदवस्थ इति शङ्कितुर-  
भिप्रायः ॥ २ ॥

एकदेशी स्वाभिप्रायं प्रकटयति—

गौण्यसंभवात् ॥ ३ ॥

न ह्याकाशस्योत्पत्तिश्रुतिर्मुस्या किंतु गौणी । कुतः । 'असंभवात्' ।  
आकाशोत्पत्तौ समवायिकारणादिसामग्र्यभावाद्भिन्नश्रुत्येन निरपत्यानु-  
मानाच्चाऽऽकाशस्योत्पत्तेरसंभवादिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

(श्ल०१) पूर्वोत्पत्तिश्रवणात्प्रथमं तद्विषयाणां विरोधपरिहाराथमाक्षिप्यन्ते-  
नेति । विषदाकाशं न जन्मद्यच्छान्दोग्ये तस्य जन्मनोऽश्रुतेः ॥ १ ॥

अस्तीति तु शब्दो विषयोऽस्त्युत्पत्तिवारणार्थः । कुतः । अस्ति तैत्तिरी-  
यके 'आत्मन आकाशः संभूतः' [ इति ] श्रुतिर्वैतः ॥ २ ॥

आकाशोत्पत्तिश्रुतिर्गौणी । कुतः । तस्य समवाय्यसमवायिकारण-  
स्याऽऽकाशस्यमाश्रुतसंयोगानामसंभवात् ॥ ३ ॥

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

( ब०५०१ ) ' बायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम् ' [ पृ०२।३३ ] इत्याधेरमुतश-  
ब्दाज्ञाऽऽकाशास्यात्पत्तिरित्यर्थः ॥ ४ ॥

' ननु आत्मन आकाशः संभूतः ' [ तै० २।१।१ ] इत्यादि-  
वाक्ये संभूतशब्दस्याऽऽकाशे गौणत्वं तेजआर्दी तु मुख्यत्वमित्येतद्विक-  
मेकस्मिन्वाक्य एकस्य शब्दस्य गौणमुख्यत्वादर्शनादित्यत आह—

स्याथैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

चयैतस्मिन्नेव प्रकरणे ' अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् ' [ तै० ३।२।१ ]  
इत्याद्याद्यन्नादिषु ब्रह्मशब्दो गौणः ' आनन्दो ब्रह्म ' [ तै० ३।६।  
१ ] इत्यत्र मुख्यो विषयभेदात् । एवं प्रकृतोऽपि विषयभेदादेकस्य संभू-  
तशब्दस्य गौणत्वं मुख्यत्वं च स्यादित्यर्थः ॥ ५ ॥

इदमेकदेशिमत्तं दृषयन्सिद्धान्तएति—

प्रतिज्ञाहानिरन्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

विज्ञेयाङ्गहणः कृतस्तस्य वस्तुजातस्याव्यतिरेकादात्मैकत्वविज्ञाना-  
स्तत्त्वविज्ञानप्रतिज्ञायाम् अहानिर्भयति ब्रह्मभिन्नसत्ताकस्य नित्यस्याऽऽ-  
काशास्याभ्युपगमे तु प्रतिज्ञा बाधेत । तस्मादाकाशस्योत्पत्तिमङ्गी-  
कृत्य ब्रह्माधीनसत्ताकत्वाङ्गहणं ज्ञाते सर्वमाकाशादिकं ज्ञानं भवतीति  
सा प्रतिज्ञा समर्थनीयेत्यस्याकाशोत्पत्तिरित्यर्थः । किंच प्रतिज्ञायाः  
समर्थनं कार्यकारणभेदपरेभ्यः शब्देभ्यो भयति । तथा हि कार्यकार-  
णभेदप्रतिपादनपरिभृदादिदृष्टान्तेः प्रतिज्ञां संसाध्य तत्साधनाथैव

(६०)शब्दगम्येऽर्थे किमसंभवेनेत्यत आह—'शब्देति । अन्तरिक्षं चैतद-  
मृतम् ' इत्यादेः । चकारो वेदेऽपि युक्तिसमुच्चयार्थः ॥ ४ ॥

एकस्य संभवपदस्यैकस्मिन्वाक्ये कथं गौणत्वं मुख्यत्वं चेत्यत आह—  
स्यादिति । एकस्यापि संभवपदस्य गौणार्थताऽऽकाशेऽन्येषु मुख्यता  
ब्रह्मशब्दवद्यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य तयोन्नमभृतिषु गौणार्थता परस्मि-  
न्ब्रह्मणि मुख्यार्थत्वं स्याज्जवेत् ॥ ५ ॥

सिद्धान्तमाह—प्रतिज्ञेति । न विषयद्वयच्छ्रुतिर्गौणी । कुतः ।  
कार्यकारण गोरव्यतिरेकादभेदात् । आकाशस्योत्पत्तौ ब्रह्मणस्तथोरभेदः

\* स. अश्लेषाः ।

१ क. ग. 'या ६' ।

(अ०५०) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' [ छा०६।२।१ ] तदैक्षत तत्तेजोऽमृजत [ छा० ६ । २ । ३ ] 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' [ छा० ६ । ८ । ७ ] इत्यादिशब्दाः कार्यजातं प्रदर्श्य तस्य ब्रह्माध्य-  
तिरेकं दर्शयन्ति । इदं सर्वमाकाशस्याकार्यत्वे वाचितं स्यादिति नन्वे-  
वमृत्वान्तिमस्ये सिद्धे पूर्वोक्तविरोधपरिहारः कथमिति चेदुच्यते ।  
छान्दोग्ये हि तेजस उत्पत्तिमोत्रं \*श्रूपतेऽनाद्यत्वमपि । तैत्तिरीयके तु  
'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' [ तै० २ । १ ] इति तेजसस्तृतीपरत्वं  
श्रूपते । तथा च तयोर्वाक्ययोरेकवाक्यत्वादनवकाशतैत्तिरीकश्रुत्वमुसा-  
रेणाऽऽकाशं वायुं च सूक्ष्मा तद्ब्रह्म तेजोऽमृजतेति च्छान्दोग्यश्रुतिः परि-  
णम्यत इति नानयोर्वाक्ययोर्विरोध इति ॥ ६ ॥

यदुक्तं तैत्तिरीयके विषयवृत्तिश्रुतिर्गौणी सामग्र्यभावाद्भिमुत्वेन  
निस्पृत्वानुमानाच्चेति तन्न । भीतस्य ब्रह्मण एव विद्यत्सामग्रीत्वादित्य-  
भिधेत्य तदीवानुमानमनुमानेनैव द्रूपयति—

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

तुशब्द आकाशोत्पत्त्यसंभवाद्वाक्यान्वयः । यतो [यत्र कार्यत्वं  
तत्र भेदो यत्र भेदस्तत्र कार्यत्वं लोकवत् । यथा लोके पटादीनां भेदो  
न कार्यत्वमन्तरेणास्ति कालादिभ्योऽभेद आकाशस्य त्रमादृषटादिवत्]  
यावद्विकारजातं विभागो दृश्यते न त्वविकारे ब्रह्मणि विभागादर्शनालो-  
कस्य घटादेर्विकारस्यैव विभक्तत्वदर्शनादित्यर्थः । तथा चायं प्रयोगः ।  
आकाशाद्विज्ञातमनःपरमाणवः पराधीनसत्ताकाः सर्वसमानसत्ताकवि-

(टी०) स्यात् । तथा प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञाया येनाश्रुतमित्यादेरहानिरप-  
रित्पागः कार्यकारणभेदेन । प्रतिज्ञाया अहानिरेव कृतो विवक्षितेत्यत  
आह—शब्देभ्यः । येनाश्रुतमित्यारभ्य 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्य-  
न्ताच्छान्दोग्ये शब्दाः । एवं सर्वत्र । तेभ्यः ॥ ६ ॥

तथाऽपि तर्कविरोध इत्यत आह—यावद्विक्ति । तुशब्द्वस्तर्कविरोध-  
परिहारार्थः । विभागो भेदो यावद्विकारं यावत्कार्यम् । भेदो हि न  
कार्याङ्गपूनवृत्तिर्नाप्यधिकवृत्तिः किंतु यत्र कार्यत्वं लोकवत् । यथा

\* स. प्रथमं श्वाहेति । षुश्रुत्विहान्तर्गतो ग्रन्थो ग. पुस्तके कर्तते ।

(म० १० ।) भागवत्त्वाद्चदशराधादिषुदित्वाकाशोत्पत्तिवादिनां प्रति विभुत्वे हेतोः परोक्तस्यासिद्धिरपि बोध्या । आकाशेऽसूतशब्दप्रयोगस्त्वा-  
पेक्षिकः 'अमृता देवाः' इतिवदिति सिद्धं ब्रह्मकार्यं विपदिति ॥ ७ ॥

ननु च्छान्दोग्ये वापोरुपत्तिर्न श्रूयते तैत्तिरीयके तु श्रूयते तथा च  
पूर्वद्वन्द्वनपोर्वाक्ययोर्विरोधपरिहाराय वायुत्पत्तिर्गौणीति वाच्यम् । किंच  
'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' [ वृ० १ । ५ । २२ ] इति वापो-  
र्लघप्रतिषेधाच्च नित्यत्वमित्वाङ्गाङ्गामतिदेशेन निराकरोति—

( स्वरूपवतो ब्रह्मणो वापोरुत्पत्तिकथनम्, अधि० २ )

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

एतेन वियत उत्पत्तिमन्वत्वाख्यानेन वायुरपि विषयवच्छिन्नब्रह्मज-  
न्वत्वेन व्याख्यात इत्यर्थः । वापोर्नित्यत्व एकविज्ञानप्रतिज्ञाह्याम्पादेः  
समानत्वादिति भावः । वापोर्लघप्रतिषेधश्चाऽऽपेक्षिकः । अतिदेशत्वाच्च  
पृथक्संगत्यपेक्षेति मन्तव्यम् ॥ ८ ॥

( सद्रूपस्य ब्रह्मणोऽजन्मत्वं जगज्जनकत्वं च, अधि० ३ )

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

पूर्वमसंभावितोत्पत्तिकथोरपि विषयपवनधोरुत्पत्तिरस्ति भ्रुतिषला-  
दित्युक्तं तद्देव ब्रह्मापि ब्रह्मान्तरकार्यमस्तु कार्यकारित्वाद्भिपदादिव-  
दित्यनमानानुगृहीतया 'जातो भवसि विश्वतोमुक्तः' [ श्वे० ४ । ३ ]  
इत्यादिब्रह्मजन्मश्रुत्या ब्रह्मणोऽप्युत्पत्तिरस्तिवति वृष्टान्तसंगत्येदमार-  
म्यते । तत्र ब्रह्मणो नित्यत्वप्रतिषेधकश्रुतीनामुक्तादुमानानुगृहीतश्रुत्या  
विरोधोऽस्ति न चेति संदेह अग्रेर्विस्फुलिङ्गोत्पत्तिवद्ब्रह्मान्तराङ्गो-

(शे०) लोके घटादीनां भेदो न कार्यत्वमन्तरेणास्ति च कालादिभ्यो भेद  
आकाशस्य तस्मात् । घटादिवत्कार्यम् ॥ ७ ॥

पूर्वाधिकरणे यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा न गौणीत्युक्तं तद्वत्  
सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' इत्यादिका वापोर्नित्यत्वादिप्रतिषेध-  
ादिका भ्रुतिर्न गौणीति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्यातिदेशेन समाधत्त एतेनेति ।  
एतेनाऽऽकाशोत्पत्तिकथनेन मातरिश्वा वायुरुत्पन्नो व्याख्यातः ॥ ८ ॥

पूर्वाधिकरणे यथा कारणस्याप्याकाशस्य कार्यत्वमुक्तं तद्विहापि  
कारणस्यापि ब्रह्मणः कार्यत्वमिति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—  
तुशब्दो ब्रह्मण उत्पत्तिशङ्कानिराकरणार्थः । सतो ब्रह्मण उत्पत्तेरसंभवः ।



(स०१०)त्पत्तिरुक्तश्रुतिबलादस्त्वेषेति विरोध इति प्राप्ते द्रूमः। सतः सदा-  
त्मकस्य ब्रह्मण उत्पत्त्यसंभवः। कुतः। अणुपपत्तेः। सत्सामान्या-  
त्सत्सामान्यस्योत्पत्तेरनुपपत्तिर्विशेषस्यैव घटादेः सामान्यजन्यत्वदर्श-  
नाद्ब्रह्मणश्च विशेषत्वेन जन्यत्वे यत्तज्जनकं सामान्यं तदेव नो ब्रह्म  
ब्रह्मणः कार्यत्वेऽध्यस्तत्वेन जगदधिष्ठानत्वानुपपत्तेश्चेत्यर्थः। जन्मश्रुति-  
श्रीपाथिकविषया 'न चास्य कश्चिज्जनिता' [श्वे० ६।९] इत्या-  
दिबहुश्रुतिविरोधादित्यविरोधः ॥ ९ ॥

(कार्यकारणयोरभेदेन वायुभूतस्य ब्रह्मणस्तेजः सृष्टिः, अधि० ४)

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥

'तेजोऽसृजत' [छा० ६।२।३] इति छान्दोग्ये ब्रह्मजत्वं  
तेजसः श्रूयते तैत्तिरीयके तु 'वायोरग्निः' [तै० २।१] इति वायु-  
जत्वमित्यनयोर्वाक्ययोर्विरोधोऽस्ति न वेति संदेहे सामान्यात्सामान्य-  
स्योत्पत्तिर्मा भूत्सामान्याद्वायोर्विशेषस्य तेजस उत्पत्तिः संभवति, एवं  
श्रुतिबलात्सर्वापादानब्रह्मजत्वमपीत्यस्ति विरोध इति प्रत्युदाहरणसङ्कत्या  
पुर्वपक्षे पूर्व ब्रह्मणः कार्यत्वेन जगदुपादानत्वं न संभवतीत्युक्तं तद्ब्रह्म-  
योरपि कार्यत्वात्तेजः प्रत्युपादानत्वं नास्त्वेषेति ब्रह्ममात्रजत्वं तेजस  
इत्यविरोधः, वायोरग्निरिति पञ्चमी क्रमार्था न तु हेत्वर्था, इत्येकदे-  
शिना सिद्धान्तः कुतस्तं द्रूपयति—'तेजोऽतस्तथा ह्याह' इति। अतो  
मातरिश्वनः सकाशात्तेजो जायत एव हि यतस्तथा वायुजत्वं वायोरग्नि-  
रिति श्रुतिराह। न चेयं पञ्चमी क्रमार्था वाय्वनन्तरं तेज इति पदान्त-  
रकल्पनाप्रसङ्गात्। किंच आत्मन 'आकाशः संभूतः' इत्यादौ  
'पृथिव्या ओपधवः' [तै० २।१।१] इत्यन्ते च हेतुपञ्चम्या  
दर्शान्मध्येऽकस्मात्क्रमार्था पञ्चमीत्यसङ्गतमेव। न चैवं कश्चिद्ब्रह्मज-  
न्यत्वं कश्चिद्वायुजन्यत्वमिति विरोधः। वायोर्ब्रह्मानन्पत्वेन वायुभावा-

(शे०) कुतः। 'न चास्य कश्चिज्जनिता' इत्यादिश्रुतेर्युक्तिश्च तत्कारण-  
स्यानुपपत्तेः ॥ ९ ॥

पूर्वाधिकरणे कारणस्थानव्यस्तत्वमुक्तं, तेनैव न्यायेन वायुस्तेजसः  
कारणमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तेजोऽग्निरतोऽस्माद्वायुरुपा-

[अ० १५००१५० ब्रह्मसूत्रवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २०१  
११-१३]

( अ० १० । ) पञ्चजङ्गमन्यत्वस्य छान्दोग्यवाक्यार्थस्वीयं वापोरग्निरिति वाक्यस्याप्यर्थत्वेनाविरोधादिति ॥ १० ॥

( वेदोक्ततेजोरूपब्रह्मणो जलौत्पत्तिसिद्धिः, अधि० ५ )

आपः ॥ ११ ॥

अतस्तथा ह्याहेत्यनुवर्तते । तेजोऽनन्तरमादित्वाद्पृथिव्योरिति तेजसो वायुजन्मत्वकथनानन्तरं तयोरेतद्वृथिव्योः क्रमेण बुद्धिस्थत्वाद्बुद्धि-संनिधिलक्षणसंगत्या क्रमेणाधिकरणद्वयमारभ्यते । 'तदपोऽसृजत' [छा० ६।२।३] इत्यादिवाक्यस्यापि ब्रह्मजन्मत्वप्रतिपादकस्य 'अग्नेरापः' इति [ तै० २।१ ] वाक्येन विरोधोऽस्ति न वेति संदिहे पूर्ववद्विरोधोऽस्तीति पूर्वपक्षेऽपामग्निदाह्यत्वात्तज्जन्मत्वत्वं नास्त्येवेत्यविरोध इत्येकदेशिसिद्धान्तं दृश्यति—'आपः' इति । आपोऽनस्तेजसो जायन्ते हि यस्मात्तथा तेजोऽन्यत्वमग्नेराप इति श्रुतिराहेत्यर्थः । त्रिवृत्कृतपोरतेजसोर्दाहदाहकभावेऽप्यत्रिवृत्कृतयोर्न विरोधः । छान्दोग्ये तेजोवच्छिन्नं ब्रह्म तच्छब्दार्थ इति पूर्ववद्विरोधपरिहारो बोद्धव्यः ॥ ११ ॥

अचनन्तरमादि पृथिवीमाश्रित्य विचारयति ।

( छान्दोग्योपनिषत्पुस्तकजलौत्वब्राह्मणशब्दस्य पृथिव्यर्थकत्वम्, अधि० ६ )

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

' ता आप ऐकन्त ब्रह्मचः स्याम प्रजापेमहीति ता अन्नममृजन्त ' [छा० ६।२।४] इति श्रुपते तत्र संशयः । किमन्नशब्देनोदनादिकमुच्यते किं वा पृथिवीति । तत्रान्नशब्दस्वीदनादौ प्रसिद्धत्वाद्दोदना-

(श्री०) देव । कुतः । हि यस्मात्तथाऽऽह श्रुतिः—'वापोरग्निः' इति ॥१०॥

पूर्वाधिकरणे तेजसो वायुथानित्यमुक्तमविरोधात् । इह तु तेजसो ब्रह्मणानित्वे विरोधः प्रत्यक्ष इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्यातिदेशेन समा-धत्ते—आप इति । आपोऽग्नीजायन्ते । हेतुः पूर्वसूचीकः ' अग्नेरापः ' इति श्रुतेः ॥ ११ ॥

पूर्वाधिकरणे वापोरिति पञ्चम्यो उपादाने मुस्यार्थता स्वीकृता तद्ब्रह्मश्रुतेरपि मापादिषु मुस्यार्थत्वात्तेषामेव स्वीकार इति दृष्टान्ते-

(ब०१०) विक्रमेवाज्ञशब्देनोच्यते । तथा च ब्रीहियवाद्देशतज्जन्यवौदनस्य च योगेन कृष्णा चान्नशब्दवाच्यस्य क्वचिद्व्यजन्यत्वं क्वचित्तु 'पृथिव्या ओषधय ओषधीभ्योऽन्नम्' [ तै० २ । १ ] इत्यन्न पृथिव्यादिजन्यत्वमित्यनयोः भृत्योर्विरोध इति प्राप्ते ब्रूमः । पृथिव्येवात्राज्ञशब्देनोच्यते न ब्रीह्यादिकम् । कुतः । अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । 'तत्तेजोऽसृजत' इति महामूतोत्पत्त्यधिकारात् । 'वत्कृष्णं तदन्नस्य' [ छा० ६ । ४ । १ ] इति कृष्णरूपस्यान्नशब्दवाच्यस्य पृथिवीत्वज्ञापकस्य श्ववणाच्च । समानप्रकरणे 'अन्नचः पृथिवी' [ तै० २ । १ ] इति च 'तद्यद्वां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्' [ बृ० १ । २ । २ ] इति च पृथिव्या एवाज्जन्यत्वप्रतिपादकशब्दान्तरसत्त्वाच्चेत्यर्थः । तत्र सृष्टिकाले यद्वां शरो घनीमाव आसीत्तत्समहन्यत स घनीमावः संघातात्मना परिणत आसीत्सैवापां कठिनाकारपरिणामरूपा पृथिव्यभवदिति ध्रुत्यर्थः । तथा च ब्रीह्याद्यन्नस्य नाबुपादानकत्वं किंतु पृथिव्युपादानकत्वमेवेत्यविरोध इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

(पूर्वपूर्वकार्योपाधिकाद्ब्रह्मण उत्तरोत्तरकार्योत्पत्तिसिद्धिः, अधि०७)  
तदधिध्यानादेव तु तल्लिङ्गान्तः ॥ १३ ॥

एवं तावत्सृष्टिक्रमे महामूतक्षुतीनामविरोधः प्रतिपादितः । इदानीं तानि भूतान्याधित्वाऽऽश्रयाधियमावसंगत्याऽन्यद्विचार्यते । किं महामूताभिमानिन्यो देवताः स्वतन्त्रा एव मौक्तिकोत्पादने प्रवर्तन्त उते-  
श्वराधिष्ठिता इति विशेषे 'आकाशाद्वायुः' [ तै० २ । १ ] इत्या-

(श्री०)नाऽऽक्षिप्य समाधत्ते-पृथिवीति । 'ता अन्नमसृजन्त' इत्यन्नशब्दाभिधेया पृथिवी । कुतः । अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । अधिकारो महामूताधिकारः । रूपम् । 'वत्कृष्णं तदन्नस्य' इति कृष्णं रूपम् । 'अन्नः पृथिवी' इति शब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

पूर्वाधिकरणेऽधिकाराद्विभ्यः कार्यशब्दः कारणे नीतः । इह तु भूताविहात्रीणां देवतानां पारतन्त्र्ये न हेतुरिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते तदिति । तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । स परमात्मैवाऽऽकाशादिरूपं तत्तद्विकारजातं सृजति । कुतः । तदधिध्यानात् । तस्य

( ३०५० । ) दिना स्वस्वकार्योत्पत्तौ स्वातन्त्र्यवशयत्वात्स्वतन्त्रा एवेति ब्रह्मणः सर्वसृष्टिकर्तृत्वमतिवाद्कमुत्पा भूतसृष्टिभ्रूतीनां विरोध इति प्राप्ते ब्रूमः । स परमात्मा तत्तत्कार्यगोचरक्षणालाभकामिध्यानादेवेक्षिता तत्कारणाधिष्ठाता सर्वं कार्यं सृजति । कस्माद् । तद्विज्ञाद् । तस्य परमात्मनः सर्वानिपन्नतृवरूपलिङ्गस्य ' यः पृथिव्यां तिष्ठन् ' [ बृ० ३ । ७ । ३ ] इत्यादिना भुतत्वादित्यर्थः । पृथिव्यां तदभिमानिदेवतायाम् । अयं भावः । आकाशादिपदानां भूतभावे रूढत्वाद्देवतापरत्वे लक्षणापत्तेर्न भूताभिमानिदेवतानां स्वातन्त्र्यमाकाशाद्वापुर्विवादी भुतम् । न च ' ता आप ऐक्षन्त [ छा० ६ । २ । ४ ] इत्येतद्व्याधिपदानां देवतापरत्वे लिङ्गम् । तदीयेक्षणस्य तद्वच्छिन्नब्रह्मनिष्ठत्वादिति न देवतानां स्वातन्त्र्ये किञ्चिन्मानमिति ॥ १५ ॥

( प्रलयकाले पृथिव्यादीनां विपरीतक्रमकल्पनम्, अधि० ८ )

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ १५ ॥

एवं भूतानामुत्पत्तिक्रमे चिन्तिते लयक्रमो बुद्धिस्यः प्रसङ्गसंगत्या विचार्यते । एतस्य विचारस्य प्रयोजनमद्वैतब्रह्मामिध्यानम् । प्राप्त-  
त्तिकत्वाद्देव नास्मिन्प्रादेऽसंवाविराशङ्कनीया । तत्र किं भूतानां भ्रूतो-  
त्पत्तिक्रमेणैव लयक्रम उत सोपानपरम्पराकडस्य व्युत्क्रमेणावरोहव-  
व्युत्क्रमेणैव लयक्रम इति संदेहे भ्रूतोत्पत्तिक्रमेणैवेति प्राप्ते ब्रूमः । अत  
उत्पत्तिक्रमाद्विपर्ययेणैव लयक्रमः स्वस्वकारणे कार्याणां लयस्य पुर्ण-  
नादाकाशादीनां चोत्तरोत्तरभूतं प्रति कारणत्वस्योक्तत्वात् । किं च

( ३०५० ) विकारस्यामिध्यानं पर्यालोचनं तस्मात् । अमिध्यानमपि भूतानामेव कुतो न स्वादित्यत आह—तद्विज्ञाद् । तस्य परमात्मनः ' यः पृथिवीम-  
न्तरो यमप्रति ' इत्यादिनाऽध्यक्षालिङ्गात् । तस्मान्नामिध्यानं भूतानां केवलानामित्यर्थः ॥ १३ ॥

पूर्वाधिकरणे पारतन्त्र्यं देवतानां तद्विज्ञादित्युक्तं न तथा प्रलय-  
क्रमे किञ्चिन्नियामकमिति प्रत्युदाहृत्त्वेनाऽऽक्षिप्य समापत्ते—तुशब्दः  
प्रलय उत्पत्तिक्रमनिवारणार्थः । किंतु अतोऽस्मादुत्पत्तिक्रमाद्विपर्ययेण  
पृथिव्यग्निवत्यादिक्रम उक्त उपपद्यते । यतः कार्यस्य घटादेः कारणे

(न० ५०) ध्युत्क्रमेणैव लघुक्रम उपपद्यते । अन्यथोत्पत्तिक्रमेण च लघाङ्गी-  
कारे सति कार्यं कारणस्य नाश इति स्वात्तन्त्रायुक्तमित्यर्थः ॥ १४ ॥

भूतोत्पत्तिलयविचारस्य यत्प्रयोजनमहैतमब्रह्मध्यानं \* तत्प्रयोजनकं  
करणोत्पत्तिक्रममेकप्रयोजनकत्वसङ्गत्या विचारयति—

(प्राणादीनां भूतेष्वन्तर्भावान्न तेषां सृष्टिक्रममङ्गलः, अथि० ९)

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तद्वि-  
ज्ञादिति चेन्नाविशेषात् ॥ १५ ॥

पूर्वोक्तभूतोत्पत्तिलयक्रमं इन्द्रियोत्पत्तिक्रमेण विरुध्यते न वेति  
संदेहे विरुध्यत इत्याह—अन्तरेति ।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

सं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।

[सु० २ । १ । १]

इति वाक्यं तद्विज्ञानाद्येनोच्यते । विज्ञायतेऽनेनेति ध्युत्पत्त्या विज्ञा-  
नशब्देन बुद्धिरिन्द्रियाणि च गृह्यन्ते । निश्चयात्मकमन्तःकरणं बुद्धिः  
संज्ञयात्मकं च मन इति भेदः । तानीन्द्रियबुद्धिमनांसि भूतानामात्मन-  
श्चान्तराले तद्विज्ञातस्याः स्पृष्टेर्यामकाद्वाक्यादनुक्रम्यन्ते । तथा चाऽऽत्मन-  
इन्द्रियबुद्धिमनांसि तेभ्यश्च भूतानीत्यनेन क्रमेणाऽऽत्मन आकाशाः  
संभूतः इत्यादिक्रमस्य वाच इत्यनयोर्वाक्ययोर्धरोप इति चेन्न ।

(श्री०) भृदादौ प्रलयस्य दृष्टत्वात् । चकारः 'जगत्प्रतिष्ठा-देवर्षे' इत्यादि-  
स्मृतिसमुच्चयार्थः ॥ १४ ॥

पूर्वाधिकरणे दृष्टानुसारेणोत्पत्तेर्विपरीतः प्रलये क्रम इत्युक्तम् । इवा-  
नीमुत्पत्तिक्रममेवाऽऽक्षिप्य समाचक्ष अन्तरेति । विज्ञानं बुद्धिमनं इन्द्रियं  
संकल्पविकल्पात्मकं विवक्षितम् । विज्ञानं च मनश्च विज्ञानमनसी केन-  
क्रमेण जायमान आत्माकाशयोरन्तराले जायते । कुतः । तद्विज्ञात् ।  
तस्य ह्यन्तरालजन्मनो लिङ्गं भूतेभ्यः पूर्वमोक्षांतम् । एतस्माज्जायते  
प्राणः, इत्यादिना । स्वरूपकीर्तनं बुद्धेः 'बुद्धिं तु सारार्थं विद्धि' इत्यने-

\* अ. ध्यानप्रयोजनशब्दम् ।

(म०१०)अविशेषात् । इन्द्रियमनोबुद्धीनां भौतिकत्वेन भूतोत्पत्तिक्रमादि-  
न्द्रियाद्युत्पत्तिक्रमस्याविशेषाद्येन क्रमेण भूतोत्पत्तिस्तेनैव क्रमेण भौति-  
कोत्पत्तिरित्यविरोध इत्यर्थः । 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिभ्युत्तिश्च  
सर्वेषामात्मनः सकाशादुत्पत्तिमात्रं सूते न क्रममिति भावः । अतो न  
केनापि वाक्येन भूतसृष्टिवाक्यानां विरोध इति सिद्धम् ॥ १५ ॥

एवं तत्पदार्थसर्वोपादानब्रह्मासिद्धयोपादेयभूतकरणश्रुतिविरोधो नि-  
रस्तः । इदानीं त्वंपदार्थसिद्धयै जीवविषयश्रुतिविरोधो निरस्यते  
पादसमाप्तिपर्यन्तम् । तत्र जीवोत्पत्तिनाशनिमित्तकजातेष्टपादिशा-  
स्त्राणां जीवनिस्त्यक्त्वादिशास्त्रस्य च विरोधोऽस्ति न धेति संदेहे देव-  
दत्तो जातो भूतश्चेति लौकिकव्यपदेशानुगृहीतजातकर्मादिशास्त्रविरो-  
धोऽस्त्येव । यथा करणोत्पत्तिश्रुत्या भूतश्रुतेर्न विरोधस्तथा जीवोत्पत्ता-  
वपि भूतश्रुतिविरोधस्याभावो वाच्यः । स न संभवति । उक्तदुक्त्या  
जीवोत्पत्तादुक्तभूतोत्पत्तिक्रममङ्गस्याऽऽवश्यकत्वादिति प्रत्युदाहरणेन  
पूर्वपक्षे राह्यान्तः ।

(यद्युपो जन्ममरणयोर्मुंसयत्वेन जीवस्यैतयोर्माकत्वम्, अधि०, १०)

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तव्यपदेशो

शाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥

योऽपि लौकिकस्तयोर्जन्ममरणयोर्न्यपदेशो देवदत्तो जातो भूतश्चेति  
स चराचरव्यपाश्रयः स्यात्तव्यपदेशोऽपि स्यात् । जीवे तु माको  
गौणः स्यात् । कुतः । जन्ममरणव्यपदेशस्य तद्भावभावित्वात् । देहो-

(दी०)नेति चेन्नैतत् । कुतः । अविशेषात् । न हि परमेश्वराज्जनिरिति क्रमो  
नियन्तुं शक्यः किंतु भौतिकत्वादिना विशेषेण । नचासावस्ती-  
त्यर्थः ॥ १५ ॥

पूर्वाधिकरण्येन विशेषश्रवणेन क्रममङ्गो निवारितः । इदानीं विशेषा-  
श्रवणेनैवोदाहरणेन त्वंपदार्थस्योत्पत्तिरित्याक्षिप्य समाधत्ते चरेति ।  
जातो देवदत्तो भूतो देवदत्त इत्यादिव्यपदेशो जातकर्मसंस्कारश्च नाऽऽ-  
त्मन इति तुशब्द आह । तर्हि किमात्मकोऽयमित्यत आह—माकः ।

(अ० १०) त्यक्त्विनाशानुविधाधित्वादित्यर्थः । देहप्रादुर्भावाद्यपेक्षयैव जात-  
कर्मादिविधानमिति न तेन शास्त्रेण जीवनित्यत्वशास्त्रस्य विरोध इति  
भावः ॥ १६ ॥

एवं देहोत्पत्तिविनाशयोजनमनाशौ मा भूतां कल्पाद्यन्तयोर्जीवस्य  
जन्मनाशौ किं न स्यातां स्वर्गादिफलकर्मशास्त्रविरोधाभावादिति  
प्रत्युदाहरणेन विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेनैतस्मादात्मनः 'सर्व एत आत्मानो  
व्युच्चरन्ति' [ वृ० माध्य० २ । १ । २३ ] इत्यादेर्जीवात्मनः परस्माद्ब्र-  
ह्मण उत्पत्तिवाक्यस्याविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवभावेन प्रवेशवाक्यस्य च  
विरोधसंवेहे विरोधोऽस्तीति याते ब्रूमः—

( जीवजन्मन औपाधिकत्वेन तस्य वस्तुतो नित्यत्वम्, अधि० ११ )

नाऽऽत्माभ्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

आत्मा जीवो नोत्पद्यते । कुतः । अभ्रुतेः । उत्पत्तिप्रकरणेषु जीवो-  
त्पत्तेरभ्रुतेस्ताभ्यः भ्रुतिभ्यो जीवस्य नित्यत्वावगमात् । 'न च जीवो  
म्रियते' [ छा० ६ । ११ । ३ ] 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽ-  
मरोऽमृतः' [ वृ० ४ । ४ । २५ ] इत्यादिभ्रुतयो जीवनित्यत्ववादिभ्यो  
द्रष्टव्याः । यत्तु क्वचिद्विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेन परस्माद्ब्रह्मणो जीवोत्पत्ति-  
श्रवणं, तत्कार्यकारणसंघातोपाधिनिमित्तमिति भ्रुत्यैव स्फुटीकृतम् ।  
विज्ञान एवायं जीव एतेभ्यः कार्यकारणसंघातापन्नमूतेभ्य उत्पत्तिमभ्यः  
साम्बन्धेनोत्थाय तानि भूतानि नश्यन्ति सन्ति स्वयमनुसृत्य विनश्यति  
विनाशानन्तरं संज्ञा नास्तीति याज्ञवल्क्येनोक्ते मैत्रेयी पप्रच्छ—'अत्रैव  
मा भगवन्नोहान्तमारीपक्ष्म वा अहमिदं विजानामि न मेत्य संज्ञाऽस्ति

(श्री०) भक्तिर्गुणयोग उपचार इति यावत् । तद्दशात्मवर्तत इति भाक्कः ।  
क तर्हि मुख्य इत्यत आह—चराचरव्यपाश्रयः । स्थावरजङ्गमशरीराश्रय-  
स्तस्य जन्मादेर्व्यपदेशः स्याद्भवेत् । कुतः । तद्भावभावित्वात् । तस्य  
शरीरस्य भावे भावो यस्यास्ति जन्मादिव्यपदेशस्य संस्कारस्यापि  
सोऽयं तद्भावभावी तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । अतः संस्कारोऽपि तदा-  
श्रयः ॥ १६ ॥

पूर्वाधिकरणे कृतनाशाद्विप्रसङ्गेन जन्मादिशब्दा देहविषया उक्ता  
नैवं कल्पादी परमेश्वरादुत्पद्यमानस्य जीवस्य कश्चन विरोध इति प्रत्यु-  
दाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—नाऽऽमेति । नैवायमात्मा परस्मादात्मन

(न०६०) [ वृ० माध्य० ४।५।१४ ] इति । अद्य मां प्रति मोहान्तं मोहमापी-  
पद्दापादितथानसि मेल्य नाक्षानन्तरं संज्ञा नास्तीति । इदमहं न  
विजानामि त्वं तु प्रेत्य संज्ञा नास्तीति वदन्मां मोहयसीति प्रक्षार्थः ।  
तत्रोत्तरम्—<sup>१</sup> न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीन्पविनाशी वा अरेऽप्यमात्माऽनु-  
च्छित्तिधर्मा<sup>१</sup> [ वृ० माध्य० ४।५।१५ ] इति । अविनाशित्वमप-  
रिणामित्वं तत्र हेतुरुच्छितीति । मोहं मोहकरं वाक्यम् । संज्ञा घटा-  
दिविशेषविज्ञानं नास्तीति मयोक्तं न स्वरूपाभाव इति नाहं मोहवादी ।  
भूतमात्रप्रयुक्तमेवास्योत्तरपादिकं न स्वाभाविकमिति तात्पर्यम् ॥ १७ ॥

( जीवस्याचिद्रूपत्वसम्बन्धनपूर्विका तच्चिद्रूपत्वसिद्धिः, अधि० १२ )

ज्ञोऽत एव ॥ १८ ॥

<sup>१</sup> अत्रार्थं पुरुषः स्वयं ज्योतिः<sup>१</sup> [ वृ० ४।३।११ ] इत्यादिवस्व-  
प्रकाशत्वबोधकश्रुतेः ' पश्यञ्छुः शृण्वञ्छ्रोत्रम् ' [ वृ० १।४।७ ]  
इत्याद्यागन्तुकज्ञानवस्वयादिश्रुतिभिर्विरोधोऽस्ति न वेति संदेहेऽस्तीति  
पूर्वपक्षे पूर्वाधिकरणसिद्धजीवानुत्पत्तिमुपजीव्य सिद्धान्तवति—ज्ञोऽत  
एवेति । जीवो ज्ञः स्वयंप्रकाशस्वरूपः । अत एवानुत्पत्तिमत्त्वादेवे-  
त्यर्थः । अनुत्पत्तौ हि स्वयंप्रकाशं ब्रह्मैवोपहितं जीव इत्यापाति । तथा  
च ब्रह्माभिन्नजीवोऽपि स्वयंप्रकाश इति भावः । पश्यञ्छुरित्यादि-  
श्रुतय आगन्तुकवृत्त्यभिभाषेण स्वप्रकाशत्वाऽविरोधेन नेतव्या इत्यवि-  
रोध इति सिद्धम् । चक्षुर्देहा ॥ १८ ॥

(श्री०) आकाशादिवज्जायते । कुतः । तद्वदस्योत्पत्तेरश्रुतेः । बुद्ध्याऽष्टुत्पत्तिव-  
दस्वप्नुमेवमित्यत आह—नित्यत्वात् । चक्षुर्देहादजन्मत्वादिभ्यश्च । नित्य-  
त्वादिकमेव कुत इत्यत आह—ताभ्यः । ताः श्रुतयः 'न जीवो म्रियते स  
वा एव महानज आत्मा' इत्याद्याः ॥ १७ ॥

पूर्वाधिकरणे जीवपरमात्मनोरैक्यादनुत्पत्तिर्जीवस्थोक्ता । इदानीमा-  
गन्तुकज्ञानत्वेन जीवस्यैक्यमेवानुपपन्नमित्याक्षिप्यातिदेशेन समाधत्ते—  
ज्ञ इति । ज्ञो नित्यश्चैतन्यरूपोऽप्यमात्मा । अत एवोत्पत्त्यसंभवादेव पर-  
मात्मवत्त्वं ॥ १८ ॥



( ब्र० ब० १ ) ( जीवस्याणुत्वसण्डनपूर्वकं तत्सर्वगतत्वप्रतिपादनम्,  
अधि० १३ )

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

आत्मनो ब्रह्माभेदयोग्यत्वाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं चोक्त्वेदानीं  
स्वप्रकाशात्वादीपद्राहिठमनवाच्छिन्नस्वरूपत्वमणुत्वनिरासेन साधयती-  
त्यान्तर्याह्निर्मांसङ्गतिः । एतदन्तरमाव्यधिकरणत्रयेणानवाच्छिन्नत्वा-  
दपि बहिर्षं कर्तृत्वमध्यस्तमात्मनीति प्रतिपाद्यते । ततो ब्रह्माभेदयो-  
ग्यस्य जीवस्यांश इत्यधिकरणे ब्रह्मीक्यं विवक्ष्यत इत्यापादमवान्तरस-  
ङ्गतयः । अत्रानवाच्छिन्नत्वश्रुतीनाम् । ' एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः '  
[ मु० ३ । १ । ९ ] इत्याद्यणुत्वश्रुतिभिर्विरोधोऽस्ति न वेति संदेहेऽस्ती-  
त्याह—उत्क्रान्तीति । जीवस्योत्क्रान्तिगत्यागतीनां भवणादणुर्जीवः ।  
स यदाऽऽत्माऽऽत्माच्छरीराद्भुक्त्वामति स तदा वागादिभिः प्राणैः सहोत्क्रा-  
मतीति मरणसमय उत्क्रान्तिः श्रूयते । ' एके चास्माह्लोकात्वयमि चन्द्र-  
मसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ' [ को० १ । २ ] इति ' तस्माह्लोकात्पुनरे-  
त्यस्मै लोकाय कर्मणे ' [ बृ० ४ । ४ । ६ ] इति गत्यागती श्रूयते ।  
इदं चाऽऽत्मनो विभुत्वे न संभवतीत्यणुत्वं परिशिष्यते । शरीरपरि-  
माणस्याऽऽत्मनो नित्यत्वविरुद्धत्वेनासंभवादिति ॥ १९ ॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २० ॥

यद्यप्युत्क्रान्तिर्देहस्वाम्पनिष्ठास्तिरूपा विभुत्वेऽपि संभवति तथाऽप्यु-  
त्तरयोग्यत्यागतयोः स्वात्मना जीवात्मना संबन्धत्वाद्गुणत्वमित्यर्थः ॥ २० ॥

(टी०) पूर्वाधिकरणे स्वयंप्रकाशत्वं जीवस्योक्तं तन्मनोबद्गुणपरिमाणस्यो-  
पपन्नमिति तदर्थमणुत्वं समर्थयते—उत्क्रान्तीति । उत्क्रान्तिः ' अस्मा-  
च्छरीराद्भुक्त्वामति ' इति श्रुतेः । गतिः ' चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति '  
इति श्रुतेः । आगतिः ' तस्माह्लोकात्पुनरैति ' इति श्रुतेः । तासां भवणा-  
दणुपरिमाणो जीवः ॥ १९ ॥

ग्रामस्वाम्पनिवृत्तिवदस्लूत्क्रान्तिस्तास्मिदर्शनेन गत्यागती अपि तथे-  
त्यत आह—स्वात्मेति । उत्तरयोग्यत्यागतयोः स्वात्मनैव परिस्पन्दाधारे-  
णैव निष्पत्तेः । चकारेणोत्क्रान्तेरपि मुख्यायास्तेनैव निष्पत्तेर्न तद्बु-  
द्धान्तः ॥ २० ॥

नाणुरत्तच्छ्रुतेरिति चेन्नैतराधिकारात् ॥ २१ ॥

(प्र० ४०) मनु नार्यं जीवोऽणुः । अतच्छ्रुतेरनुत्वप्रुतेः । 'स वा एष महानज  
आत्मा' [ वृ० ४ । ४ । २२ ] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [ तै० २ ।  
१ । १ ] इत्यादिना महत्त्वप्रुतेरिति चेन्न । इतराधिकारात् । इतरस्य  
ब्रह्मणः सर्वेषु वेदान्तेषु प्रधानतया ज्ञेयत्वेन प्रकृतत्वात्तस्यैव महत्त्व-  
प्रुतिरित्यर्थः ॥ २१ ॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २२ ॥

'एपोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' [ मुं० ३ । १ । ९ ] इति  
स्वस्याणुत्वस्य वाचकशब्दात्जीवोऽणुः ।

'वाटाग्रशतभागस्य द्वातपाकल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः' [ श्वे० ५ । ९ । ]

इत्युन्मानाच्च । सर्वेभ्यः स्थूलपरिमाणेभ्य उन्मूल्य मानमुन्मानम् ।  
अत्यन्तापकृष्टपरिमाणमिति यावत् । तस्मादित्यर्थः ॥ २२ ॥

नन्वात्मनोऽणुत्वे जाह्नवीतोपनिमग्नस्य देहव्यापिशैतोपलम्बिविरोधं  
इत्यत आह—

अविरोपश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

यथा चन्दनबिन्दुः शरीरकदेशस्य सर्वशरीरव्यापि सुखं जनयति  
तथा जीवोऽपि देहव्यापिनं शैत्याद्युपलम्भं करिष्यतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

(क्षी०) नाणुरिति जीवोऽणुर्न । कुतः । अतच्छ्रुतेः । तस्याणुत्वस्य प्रति-  
पादिका श्रुतिस्तच्छ्रुतिस्तद्विषयीतायां 'स वा एष महान् ।' इति ।  
श्रुतिरतच्छ्रुतिस्तस्या इति चेन्न । कुतः । इतरस्य परमात्मनोऽधिकारात्-  
करणात् ॥ २१ ॥

महानिति वदणुत्वस्याश्वघाशाणाणुर्जीव इत्यत आह—स्वभाव्येति ।  
स्वस्याणुत्वस्य वाचकः शब्द एपोऽणुरिति स्वशब्दः । उन्मानं च वाटाग्रे-  
त्यादिनाऽभिहितम् । चकारो हृदयावस्थानसमुच्चयार्थः ॥ २२ ॥

अणुश्चेत्जीवः पदोरगस्य मस्तके चन्दनस्य स्वशोपलम्भनस्य युगप-  
द्विरोध इत्यत आह—अविरोधेति । अपं न विरोधोऽविरोधः किं शक्ति-  
त्यत आह—चन्दनवत् । यथा हरिचन्दनबिन्दुरेकत्र त्वया संबद्धः  
सर्वशरीरसुखापैवमणुरात्माऽपि ॥ २३ ॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्ब्रूहि हि ॥ २४ ॥

(न० १०) ननु नात्र चन्दनवृष्टान्तः 'अवस्थितिवैशेष्यात्' प्रत्यक्षेण चन्दन-  
बिन्दोरैकदेशेऽवस्थितिज्ञायते जीवस्य तु नैवमिति । अनुत्पन्नादित्यर्थः ।  
तथा च व्यापिशैत्याद्युपलम्भरूपकार्येण महत्त्वकल्पनं युक्तमिति ब्रह्मा-  
भिप्रायः । निराकरोति नेति । कुतः । 'अभ्युपगमात्' जीवाणुत्वस्य ।  
कथमभ्युपगम्यते तत्राऽऽह—हृदि हीति । हिं पतोऽल्पपरिमाणे हृदि  
जीवः पठ्यते 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु ह्यद्यन्तर्भवतिः पुरुषः'  
[ वृ० ४ । ३ । ७ ] इत्यादौ । तस्माज्जीवस्याणुत्वं श्रुत्याऽभ्युपगम्यत  
इत्यर्थः । अतो न वृष्टान्तवैषम्यमिति भावः ॥ २४ ॥

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥

आत्मनोऽणुत्वेऽपि तन्निष्ठस्य ज्ञानस्य गुणस्य व्यापकत्वाङ्गीकारा-  
द्यापकगुणाद्वा व्यापिकार्यं भविष्यति लोकवत् । व्यापिप्रमाणगुणकप्रदी-  
पादिषत् । गृहनिष्ठदीपस्वाल्पत्वेऽपि प्रभात्मकगुणवशाद्यथा गृहव्यापि  
प्रकाशादिकार्यं जायते तद्वदित्यर्थः ॥ २५ ॥

ननु ज्ञानस्य व्यापकत्वेऽणुजीवव्यतिरेकेणावस्थानं वक्तव्यं तद्व्युक्तं  
गुणिव्यतिरिक्तदेशे गुणस्यावस्थानादर्शनात् । न च दीपप्रमान्यायः

(श्री०) अवस्थितेरिति । चन्दनबिन्दोरवस्थानं मस्तकादाववस्थितस्तस्या  
विशेषः प्रत्यक्षं तद्विषयम् । विशेषस्य भावो वैशेष्यम् । तस्माद्विषयमश्व-  
न्दनवृष्टान्त इति चेन्न । कुतः । जीवस्य वैशेष्येऽवस्थानस्याभ्युपग-  
मात् । तदेव कुतः—हृदि हीति श्रुतेः ॥ २४ ॥

न निरवयव आत्मनि सावयवश्चन्दनबिन्दुर्वृष्टान्तः । न च चन्दन-  
स्यापि सर्वशरीरव्यापित्वमेकदेशस्थस्येत्यत आह—गुणाद्वेति । नानु-  
भवापलापो युक्त इति वाशब्दः प्रौढौ । अणोरपि जीवस्य स्वचैतन्या-  
द्गुणात्करणात्सर्वशरीरव्यापिता किंवदित्यत आह—लोकवत् । यथा  
लौके घटाद्येकदेशस्थानां मण्यादीनामणूनां गुणानां स्वयमवया घटादि-  
व्यापित्वं तद्वत् ॥ २५ ॥

(स०२४०३५० • महामृतवर्षिणीदीपिकान्यां समेतानि । २११  
२६-२८)

( प्र०५० ) प्रमाया दीपसंयुक्तद्रव्यान्तरत्वादित्यत आह  
व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥

यथा गुणस्यापि गन्धस्य गुणिव्यतिरेकेण वृत्तिः पुष्पपुटिकातो दूरतः  
स्थितस्य पुंसो गन्धोपलम्बदर्शनात्तद्गुणिव्यतिरेको ज्ञानस्थेत्यर्थः ॥२६॥  
तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

इह प्रविष्टः ' आ नखाग्नेभ्यः ' [ छा० ८ । १ । १ ] इति श्रुतिरपि  
चैतन्यगुणेनाऽऽत्मनो देहव्याप्तिं दर्शयतीत्यर्थः ॥ २७ ॥  
पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

' प्रज्ञया शरीरं समाकृष्ट ' [ कौ० ३ । ६ ] इत्यात्मज्ञानयोः कर्तृ-  
करणभावेन पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

व्यापिगुणद्वाराऽस्य जीवस्य शरीरे व्याप्तिर्गम्यते तथा च व्यापकं  
ज्ञानं जीवस्त्वणुरिति महस्वप्नस्तीर्णां बाध इति प्राप्ते जीवाणुत्वस्वीयाधि-  
कत्वात्त वास्तथापरिच्छिन्नत्वश्रुतिबाध इति सिद्धान्तयति—

(श्री०) ननु गुणस्याऽऽमयाव्यातिरेकोऽनुवृत्त इत्यत आह—व्यतीति-  
गुणिनं जीवं परित्यज्य गुणस्य चैतन्यस्य वृत्तिव्यतिरेको मानुषः किं-  
दित्यत आह—गन्धवत् । यथा केतव्यादेवैव्यस्यातिदूरस्याऽपि तद्गुण-  
स्यामयं वृत्तिस्तद्वत् ॥ २६ ॥

अणोर्जीवस्यापि चैतन्यं प्रमाणज्ञानमित्यत आह—तथेति । हृदया-  
यतनत्वमणुष्यपरिमाणत्वं चाऽऽत्मनो विधाप तस्यैवाऽऽलोमभ्य आ  
नखाग्नेभ्य इति चैतन्येन गुणेन समस्तशरीरव्याप्तिं दर्शयति । यथाऽ-  
स्माभिरङ्गीकृतं तथा । चकारो जीवस्य व्याप्तौ भोगसंकरसमुच्च-  
यार्थः ॥ २७ ॥

आ लोमभ्य इत्याद्या श्रुतिर्जीवस्य चैतन्यगुणेन व्याप्तिं शरीरस्य  
प्रकारान्तरेण वा भूत इति न शक्यं ज्ञानमित्यत आह—पृथगिति ।  
अणोरात्मनः कर्तृचैतन्यस्य गुणस्य शरीरव्याप्तौ प्रज्ञया शरीरं समाकृष्ट  
इति पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

सिद्धान्तस्तु—

तद्गुणसारत्वाच्च तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

(न०५०)तुशब्दः कृतपूर्वपक्षनिरासवाचकः । अणुर्जीवः किं ब्रह्मणस्तत्स्वान्तरमुत विकार आहो विश्वब्रह्माभिन्नः । नाऽऽद्यः । एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञावाधात् । न द्वितीय इत्युक्तं विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेनाविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवमाने 'स वा एष महान्' [ बृ० ४ । ४ । २२ ] इति । तस्मात्सर्वश्रुत्यनुसारी तृतीयः पक्षः परिशिष्यते । तथा च ब्रह्मणोऽनवधिकमहत्त्वावगमाज्जीवोऽप्यनवधिकमहत्त्ववान् 'स एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः' [ बृ० ४ । ४ । २२ ] इति विज्ञानमयस्य जीवस्य स्वतो महत्त्वावगमाच्च । 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' [ मु० ३ । १ । ९ ] इत्येतन्न जीवविषयं वेदितव्यत्वश्रवणात्, किं तु चक्षुराद्यगोचरत्वेन दुर्धिक्षेपब्रह्मविषयम् । बालाद्यशतभागस्येति वाक्यं तु जीवस्वीयाधिकमणुत्वमनूद्य 'स चानन्याय कल्पते' [ श्वे० ५ । ९ ] इति वाक्यक्षेपेणाऽऽनन्त्यमपरिच्छिन्नत्वं घोषयति । किं चाऽऽमनोऽणुत्वे वेदुव्याप्युत्पलम्भो न स्यात् । न च चन्दनबिन्दुदृष्टान्तस्तस्य सावयवत्वेनावयवद्वारा वेदुव्यापित्वसंभवात् । नापि व्यापिज्ञानाद्यापिकार्यं संभवः । गुणिव्यतिरेकेण गुणस्यावस्थानायोगेन व्यापिज्ञानस्वासंभवात् । न च गन्धन्यायेन गुणस्य ज्ञानस्य गुणिव्यतिरेकसंभवः । गन्धस्यापि गुणत्वेन साश्रयस्वैयाऽऽममनाङ्गीकारादन्वया गुणत्वव्याहृतेर्गन्धस्य द्रव्यत्वे न तद्दृष्टान्तो भवेत् । 'प्रज्ञया शरीरं समाकृत्वा' [ कौ० ३ । ६ ] इत्येतदपि प्रज्ञया बुद्ध्याख्यान्तः करणेनेति व्याख्येयम् । कथं तर्हि जीवोऽणुत्वव्यपदेशः । तद्गुणसारत्वादिति ब्रूमः । तस्या बुद्धेर्गुणा अणुत्वोक्तान्तिगत्यागतिमुक्तदुःखादपरते गुणाः सारः प्रधानं यस्य जीवस्य स तथा तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । तद्यप्यदेशोऽणुत्वादिव्यपदेशो न स्वाभाविकः प्राज्ञवत् । प्राज्ञस्य परमात्मनः सगुणेषूपसा-

(टी०)तद्गुणेति । तुशब्दो जीवस्य स्वाभाविकाणुत्वनिरासार्थः । कथं तर्ह्यणुत्वमित्यत आह—तद्गुणसारत्वात् । तस्योपाधेरन्तःकरणस्य गुणा अणुत्वोक्तान्त्यादयः सारः प्रधानं यस्य सोऽयं तद्गुणसारस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । तत्तेषामणुत्वोक्तान्त्यादीनां श्रुत्या व्यपदेश उपाधिगुणे-

(३०५०)नेषु 'द्वहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' [छा०८।१।१] 'अणीयान्नीहे-  
र्यवाद्वा' [छा० ३।१४।३] इत्यादिपुषाधिवशाच्छ्रयाऽणुत्वादिकं  
व्यपदिश्यते तद्वदित्यर्थः ॥ २९ ॥

मन्वात्मन्यणुत्वादिंसंसारस्य बुद्ध्युषाधिकत्वे कदाचिदात्मने बुद्ध्या  
विद्योने संसारो न स्यादित्यत आह—

\*यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्वर्णनात् ॥ ३० ॥

बुद्धिसंयोगस्य यावत्संसायात्मभावित्वाच्च पूर्वोक्तदोषः । संयोगस्य  
यावदात्मभावित्वं कुत इत्यत आह—तद्वर्णनादिति । देहविद्योनेऽपि  
बुद्धिसंयोगस्य भ्रूती दर्शनाद्यावदात्मभावित्वमित्यर्थः । 'योऽयं  
विज्ञानमयः माणेषु ह्यद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः ससूमी लोकाव-  
नुसंशरति ध्यायतीव ललायतीव' [बृ० ४।३।७] इत्यादिका  
श्रुतिः । विज्ञानमयो बुद्धिप्रधानो जीवो बुद्ध्या समानः सन्निसमं च  
लोकमनुसंशरति । तदेवाऽऽह—ध्यायतीवेति । बुद्धी ध्यायन्वां सार्वा  
स्वरं ध्यायतीव चलन्त्यां चलतीव न वस्तुतो ध्यानादिरस्तीत्यर्थः ।  
अममूलकस्य बुद्धिसंयोगस्य तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तमवस्थानाद्यावदात्म-  
भावित्वमित्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ३० ॥

(दी०)नोपहितस्य व्यपदेशः किंवदित्यत आह—प्राज्ञवत् । यथा प्राज्ञः  
परमात्मोपाधेर्द्वयाकाशद्वहरादेर्धर्मोपहितो द्वहरादिना व्यपदिश्यते  
द्वहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति श्रुतेस्तद्वत् ॥ २९ ॥

यथात्मा बुद्धिगुणसारस्तस्य कार्यत्वेन विनाशस्वावश्यंभावात्कृतं  
महानानेन कृतार्थंभ्रासत्यवादिनोऽनुपहितस्याऽऽमनोऽपतीतेरित्यत  
आह—यावदिति । यावदात्मनो जीवस्य भावः 'अहं ब्रह्मास्मि इति  
बोधानुत्पत्तिः स' यस्यान्तःकरणसंबन्धस्यास्ति सोऽयं यावदात्ममावी  
तस्य भावस्तत्त्वं तस्मान्नान्तःकरणसंबन्धस्यानित्यत्वदोषः । कुतस्तद्वर्ण-  
नात् । तस्यान्तःकरणस्य य आत्मना संबन्धोऽविनाशी तस्य 'योऽयं  
विज्ञानमयः' इत्युपक्रम्य ध्यायतीवेत्यादिना दर्शनात् । अकारो वस्तु-  
तोऽपतीतिरसत्त्वस्याहेतुत्वं समुच्चिनोति ॥ ३० ॥

\* अ. यावदात्मनो जीवस्य ज्योतिर्हं ब्रह्मस्येति बोधानुत्पत्तिः ।

१ अ. 'एवापिदि' । २ ग. 'के' । यावदात्मनो जीवस्यैहं ब्रह्मस्येति केचन । 'नो' ।  
३ अ. स वत्वेनादिगुचिनीतीकण्यो मन्वः पुरुषके तापित ।

(ब०५०)ननु सुषुप्तौ ब्रह्मसंपत्तिकार्यं कनाशचोरभ्युपगमात् बुद्धिसंयोगस्य यावदात्मभावित्वमित्यत आह—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

यथा बाल्ये पुंस्त्वादेः सत एव यौवनेऽभिव्यक्तिरेवं बुद्धिसंयोगादेः सुषुप्तौ सूक्ष्मात्मना सत एवामिव्यक्तिसंभवाद्यावदात्मभावित्वं न विरुद्धमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

ननु बुद्ध्यपरपर्यायान्तःकरणे किं प्रमाणं यत्प्रयुक्तः संसारः स्यादित्यत आह—

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतर-

नियमो वाऽन्यथा ॥ ३२ ॥

इदमन्तःकरणसंबन्धमभ्युपगन्तव्यमन्यथा मनसोऽनभ्युपगमे सर्वेषामिन्द्रियाणां स्वस्वविषयसंनिधानदृशायां नित्योपलब्धिप्रसङ्गो युगपत्सर्वविषयोपलब्धिप्रसङ्गो मनोव्यतिरिक्तज्ञानसामर्थ्याः सत्त्वात् । यदि सत्यामपि सामर्थ्यां फलाभावस्तदा नित्यानुपलब्धिप्रसङ्गः । एकस्या-

(दी०)ननु सुषुप्तिप्रलययोर्भावस्य बुद्ध्याऽसंबन्धः सता सोऽप्येयाविवचनात्तदभावप्रसङ्गाच्चेत्यत आह—पुंस्त्वेति । नृशब्दोऽसंबन्धं वारयति । यस्यान्तःकरणस्य संबन्धः सुषुप्तिप्रलययोः सत एवामिव्यक्तिः प्रकटीभावस्तस्य योगाद्युक्तत्वात् । किंवदित्यत आह—पुंस्त्वादिवत् । यथा विद्यमानमेव पुंस्त्वं धालस्य यौवनेऽभिव्यज्यते । आदिशब्देन स्त्रीत्वशुक्त्वादि स्त्रीबीजादी तत्काले । तद्वद्विद्यमान एव संबन्धे जागरणादावभिव्यज्यते ॥ ३१ ॥

अत्राऽह कश्चित्सत्यन्तःकरणे चोद्यं परिहारश्च तदेव नास्तीत्यत आह—नित्येति । अन्यथाऽन्तःकरणाभावे स्फीतालोकमध्यवर्तिनश्चक्षुरादिसंनिवृत्तस्य घटादेर्नित्यं सर्वदोषलम्भस्य प्रसङ्गः स्यात् । नित्यमुपलब्धिभ्रानुपलब्धिश्च नित्योपलब्ध्यनुपलब्धी तयोः प्रसङ्गः । न पुनः कदाचिदुपलम्भः । अथायमप्यास्ति अस्तु तर्ह्यन्यतरनियमः । अन्यतर-

(जन्म०) न्युपलब्धिर्न स्वादित्यर्थः । अथ वैकस्योपलब्धिमितरेषामनुप-  
लब्धिमिच्छतां ज्ञानज्ञानश्रीमध्येऽन्धतरस्याऽऽत्मन इन्द्रियस्य वा नियमः  
शक्तिप्रतिबन्धोऽङ्गीकर्तव्यः स न संभवति निर्धर्मक आत्मनि शक्तिर-  
भावाद् । नापीन्द्रियस्य शक्तिप्रतिबन्धः प्रतिबन्धकामावाह । तस्मा-  
द्यासन्नस्थल इच्छेय निवामिकेति वक्तव्यम् । इच्छा च नाऽऽत्मनो  
निर्गुणब्रह्माभिसत्त्वस्य भूतिशतेभ्यः प्रतिपादनात् । 'कामः संकल्पः'  
[ सू० १ । ५ । ३ ] इत्यादिभ्रूत्या मनोधर्मत्वस्येच्छावाच्यगतत्वाच्च ।  
तस्माद्यासन्ननियामकेच्छान्धथाऽनुपपत्त्या भ्रूत्या च सिद्धमन्तःकरणं  
तत्प्रयुक्तञ्चाऽऽत्मनि संसार इति ॥ ३२ ॥

तद्व्यासारात्ममेवाऽऽत्मनः कर्तृत्वसाधनेन प्रपञ्चयति—

(जीवस्याकर्तृत्वनिरसनपूर्वकं तत्कर्तृत्वप्रतिपादनम्, अधि० १४)

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

अत्राऽऽत्मनोऽसंगत्वभ्रूतीनां कर्तुरित्यसाधनबोधकपिधिवाक्यैर्विरो-  
धसंदेहे संस्योक्तबुद्धिकर्तृत्वव्यावर्तनेनाऽऽत्मन एव कर्तृत्वमत्र साध्यते ।  
तद्य कर्तृत्वमौषाधिकमित्युत्तराधिकरणे वक्ष्यत इति न विरोध इत्यभि-  
प्रायेण सिद्धान्तयति—कर्तेति । आत्मैव कर्ता न बुद्धिः कर्तुरपेक्षितो-  
पावपिधिशास्त्रस्यार्थवत्त्वाद् । आत्मनः कर्तृत्वे विधिशास्त्रमर्थवद्भवति ।  
अन्वया बुद्धिः कर्त्री, आत्मा फलभोक्तेति कर्तुरपेक्षितोपायबोधकं  
शास्त्रमनर्थकमेव स्यात् । तस्मान्न फलवद्बुद्धेः कर्तृत्वं किं स्यात्मन  
इति ॥ ३३ ॥

(श्री०) स्याऽऽत्मनोऽविक्रियस्य यावुक्त्वात्केरिन्द्रियस्य वा पूर्वोत्तरक्षये  
समानकस्य नियमनं नियमः प्रतिबन्धः कल्पेत नैतन्नयमपि युक्तम् ।  
वाशब्दः प्रत्यक्षानुपलम्भप्रोक्ष्यर्थः ॥ ३२ ॥

पूर्वाधिकरणे बुद्ध्युपापिनिसिद्धं विरुद्धधर्मत्वमित्युक्तं तर्ह्युपाधेरेव  
कर्तृत्वमित्याक्षिप्य समापत्ते—कर्तेति अयं जीवः कर्ता । कुतः । यजे-  
त्यादिशास्त्रस्यार्थः प्रयोजनं यस्यास्ति स शास्त्रार्थवास्तस्य भावस्तस्यं  
तस्मात् ॥ ३३ ॥

\* अ. जीवस्य + अ. ग. तस्मात्तस्याव्यापनरथाभ्यान्नुपलब्धुत्वेऽपी नरुत्तरन्वयः ।  
x अ. मनो विरा ।



विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

(अ० व०) 'स ईषतेऽमृतो यत्र कामम्' [ वृ० ४।३।१२ ] इति 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' [ वृ० २।१।१८ ] इति च जीवप्रकरणे स्वप्ना-  
वस्थायां विहारस्य संचरणस्योपदेशात् । जीवस्य कर्तृत्वमित्यर्थः ।  
अकर्तुः संचरणायोगादिति भावः । यत्र स्वप्नेऽमृतः स जीवः कामं  
विषया नीयते गच्छतीत्यर्थः । परिवर्तते विहरति ॥ ३४ ॥

किं च—

उपादानात् ॥ ३५ ॥

'प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' [ वृ० २।१।१७ ] इत्या-  
त्मनो ग्रहणशक्त्युपादानभवणादकर्तृरुपादानायोगादात्मनः कर्तृत्वमि-  
त्यर्थः । प्राणानामिन्द्रियाणां विज्ञानेन मनसा तज्जन्मबुध्या विज्ञानं  
ग्रहणशक्तिमादाय स्वापे हृदयं गच्छतीति योजना ॥ ३५ ॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥ ३६ ॥

'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' [ तै० २।५।१ ]  
इति लौकिकवैदिकक्रियायां विज्ञानशब्दाच्चस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वव्य-  
पदेशाच्चाऽऽत्मनः कर्तृत्वमित्यर्थः । यज्ञं संकल्पम् । ननु विज्ञानशब्दो  
बुद्धिपरो न जीवपर इत्यत आह—न चेदिति । विज्ञानशब्दो जीव-  
परो न चेत्तर्हि निर्देशविपर्ययः स्याद्बुद्धेः कारणत्वेन कर्तृत्वव्यपदेशो  
विज्ञानं यज्ञं तनुत इति न स्यात्किंतु विज्ञानेनेति स्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

(श्री०) रचनाभावेनै तर्कमात्रं साधकमित्यत आह—विहरति । विहरणं  
विहारः क्रिया तस्याः 'स ईषते' इत्यादिनोपदेशात् ॥ ३४ ॥

अद्यापि नोपनिषत्सु कर्तृत्वे तर्क इत्यत आह—उपेति ।  
विज्ञानेन विज्ञानमादायेत्यादिना प्राणानामुपादानात्स्वीकारात्तर्कान्कर्तृ-  
त्वस्य ॥ ३५ ॥

दैकस्याः क्रियाया उपचारादपि कर्तृत्वं स्यादित्यत आह—व्यपदे-  
शेति । क्रियायां लौकिक्यां वैदिक्यां च 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' कर्माणि  
तनुतेऽपि च इत्यनेन कर्तृत्वव्यपदेशाच्चैद्यपि विज्ञानशब्देन कर्तो वाऽभि-  
मतः किंतु कारणं बुद्धिस्तदा निर्देशस्य विज्ञानमित्यस्य विज्ञानेनेति  
विपर्ययः स्यात् ॥ ३६ ॥

१ अ. 'न च प्रयोजनात्' । २ अ. 'नेन च' । ३ अ. 'लिनस्य' । ४ अ. 'उत्सर्ग' ।  
५ अ. 'गोनाभि' ।

[३०२ अ० ३३०० मङ्गासुतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २१७  
३५-३६]

(३०५०) ननु स्वतन्त्रस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वेऽनिष्टं न कुपात् । किं तु स्वस्ये-  
ष्टमेव कुपादित्यत आह—

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

एथोपलब्धौ स्वतन्त्रोऽप्यात्मेष्टमनिष्टं षोपलभते तद्विष्टमनिष्टं च  
संपादयिष्यतीत्यनियम इत्यर्थः । अयं भावः । स्वातिरिक्तकारणानपे-  
क्षत्वरूपं स्वातन्त्र्यं तावन्न संभवतीश्वररूपापि तद्भावात्किंतु सकलका-  
रत्वेरकात्वम् । तथा च तेषु कारकेष्वनिष्टसाधनेष्वपीष्टसाधनत्वब्रह्माद्-  
निष्टमपि प्राप्नोतीति ॥ ३७ ॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

इतश्च बुद्धिव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता न बुद्धिरन्यथा बुद्धेः कर्तृत्वे  
करणशक्तिविपर्ययात् । करणशक्तिर्हीयतेति यावत् । न चेष्टापत्तिः । कर-  
णसहितस्यैव कर्तृत्वात्के कारिकास्त्वदर्शनाद्बुद्धेरपि करणान्तरं कल्पनीयं  
स्यात् । तथा च नाममात्रे-विवादे न वस्तुनि करणव्यतिरिक्तस्यैव  
त्वयाऽपि कर्तृत्वाभ्युपगमादिति ॥ ३८ ॥

समाध्यज्ञाराच्च ॥ ३९ ॥

\* आत्माकारबुद्धिर्बिद्यमानाऽप्यसतीव यत्र भवति स समाधिज्ञाने-

(शी०) कर्तृत्वं नाम स्वातन्त्र्यम् । तथा च कथमयं बुद्धिमानस्वस्यानिष्टं  
कुपादित्यत आह—उपलब्धीति । एथोपलब्धिः स्वतन्त्रोऽप्यनिष्टं  
करोति तद्भूत् । अत एव नायनपि नियमः स्वतन्त्रो नानिष्टं  
करोतीति ॥ ३७ ॥

‘विज्ञानं यज्ञं तनुते’ इति विज्ञानस्यैव कर्तृत्वं वेदः भावयति  
सांख्याश्च तथैव विज्ञानशब्दाच्चायाः केवलायां बुद्धेः कर्तृत्वमङ्गी-  
कुर्वन्ति तस्याश्च सर्वार्थकारित्वाच्छास्त्रार्थस्थादिकं सर्वं पुरुषं उपच-  
रितं कर्तृत्वमापादयतीत्यत आह—शक्तीति । बुद्धेः कर्तृत्वे वर्णितन्या-  
येन करणान्तरापेक्षाया अवश्यभावेन करणशक्तेर्बुद्धेः कर्तृत्वशक्तिरिति  
ज्ञानविपर्ययो दोषस्तस्मान्न बुद्धिः कर्त्री ॥ ३८ ॥

नायं शक्तिविपर्ययोपः पुरुषस्यासङ्गोदासीनत्वाद्बुद्धेरैव बन्धमो-

\* स. जीवाकारबुद्धिर्बुद्धिः ।

(न० ४०)नोच्यते । तस्य समाधेरात्मनोऽकर्तृकत्वेऽभायप्रसङ्गात्समाध्यन्-  
थाऽनुपपत्त्याऽप्यात्मनः कर्तृत्वमित्यर्थः । समाधिग्रहणं श्रवणमनननिदि-  
ध्यासनानामुपलक्षणम् ॥ ३९ ॥

एवं बुद्धिद्वयतिरिक्तात्मनः सिद्धं कर्तृत्वं तच्च न स्वामाविकं किंत्वै-  
पाधिकमित्याह—

( जीवकर्तृत्वस्याध्यस्तत्वेनावास्तविकत्वम्, अधि० १५ )

यथा च तक्षोद्यथा ॥ ४० ॥

पूर्वं सांख्याभिमतबुद्धिकर्तृत्वनिरासेनाऽऽत्मनः कर्तृत्वं समर्थितं  
तत्किं स्वामाविकमौपाधिकं वेति संदेहे पूर्वोक्तशास्त्रार्थवस्वादिभिरेव  
हेतुभिः स्वामाविकमित्यस्यसङ्गत्यश्रुतिविधिशाल्यपोषिरोध इत्यस्वा-  
धिकरणस्य पूर्वपक्षः । नन्वेतस्य पूर्वपक्षस्यैतदधिकरणनिरस्यत्वे पूर्वा-  
धिकरणं व्यर्थमिति चेन्न । तस्य बुद्धिकर्तृत्वनिरासेनेतदधिकरणविषयक-  
र्तृत्वप्रतिपादकत्वान्न व्यर्थमिति । अत्रेदमुत्तरम् । न तावत्कर्तृत्वं स्वामा-  
विकं श्रुतावौपाधिकत्वेन कर्तृत्वस्य स्फुटीकृतत्वात् । तथा ह्याकाशे  
विपरिपततः श्वेनस्येवाऽऽत्मन उपाधिकृतं भ्रमं स्वप्नजागरितयोः भाव-  
यित्वा सुषुप्तौ लीनोपाधिकस्य तस्याऽऽत्मनः परमात्मानन्देन संपरिष्व-  
क्तस्य भ्रमामावं आवयति ' तद्वा अस्पेतदात्तकाममात्मकाममकामं रूपं  
शोकान्तरम् ' [ बृ० ४ । ३ । २१ ] इत्यारभ्य ' एषाऽस्य परमा गति-  
रेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः ' [ बृ० ४ । ३ । ३२ ] इत्यन्तेन । तदेतत्वात् ब्रह्मास्य जीवस्याऽऽत्मकामं

(दी०)क्षावित्यत आह—समाधेः ' आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ' इत्यादिनो-  
क्तस्य पुरुषे विधिकृतस्यापि कर्तृत्वस्याभावेऽभावावो वैषम्यं तस्मात् ।  
चशब्दादनुभवविरोधादिकं समुचिनोति ॥ ३९ ॥

पूर्वाधिकरणे शास्त्रार्थवत्त्वेन कर्तृत्वमुक्तम् । इदानीं न तन्मिथया  
किंतु तत्स्वरूपमित्यादिष्वप्य समाधत्ते—यथा चेति । तथा सूत्रधारो  
वास्यादिव्यापारे हस्तादिकरणापेक्षः कर्ता यद्यपि तथाऽपि वास्वा-

\* स. 'अप्ततो ह्यप्रमात्मा' [ नृसिंहोत्ततापिनी ९ ]

१ अ. 'ति । तथे' । २ अ. 'वि विवाङ्' । ३ अ. 'वाहेपथ' ।

(म०२००) कामशब्दः कामचितव्यपरः सर्वत्र सर्वत्रयेण कामचितव्यमित्यर्थः । तत्र हेतुराप्तकाममिति । आप्तकामत्वे हेतुरकाममिति । यतः परं काम्यं नास्ति तदकामम् । अशेषशोकसंसर्गशून्यत्वाद्युपाप्तकामत्वमित्याह—  
शोकान्तरमिति । शोकादन्तरं भिन्नमित्यर्थः । शोकं दुःखमन्तरयति निवारयतीति वा । उक्तस्य सुषुप्तात्मस्वरूपस्य परमपुरुषार्थत्वमाह—एषे-  
त्वादिना । एतदेवाभिसंधाय भगवान्सुत्रकारो ब्रह्मान्तेनौपाधिकं कर्तृत्व-  
मित्याह—‘ यथा च तक्षोभयथा ’ इति । यथा तक्षोभयथा वास्थादि-  
करणान्यपेक्ष्य कर्ता दुःखी भवत्यनपेक्ष्य तु स्वरूपेणाकर्ता सुखी भवति  
तथाऽऽत्माऽपि बुद्ध्यादीनि करणान्यपेक्ष्य कर्ता संसरत्यनपेक्ष्य तु  
स्वभावतोऽकर्ता परमानन्दः । चाम्दस्यर्थः स्वामाधिककर्तृत्वनिरासं-  
भूते । शास्त्रार्थवत्त्वादित्वादिहेतवश्च कर्तृत्वं विनाऽनुपपन्नास्तत्साधयन्ति  
न तु कर्तृत्वस्य स्वामाधिकत्वमपि तद्विनाऽनुपपत्तरभावात् । यदुक्तं  
‘ विज्ञानं यज्ञं तनुते ’ [ तै० २ । ५ । १ ] इति बुद्ध्यातिरिक्तात्मनः  
कर्तृत्वव्यपदेश इति तन्न । विज्ञानशब्दस्य चिद्व्यस्तबुद्धौ कृत्वत्वात् ।  
‘ स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः ’ इति श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य  
वाग्बुद्धिजन्यत्वावगमात् । अत्रापि यज्ञसाधनं विज्ञानं बुद्धिरेवेत्यव-  
धारणाच्च । चित्तेन ध्यात्वा वाचा मन्त्रोक्त्या यज्ञे जायते तेन चित्तस्य  
वाचश्च पूर्वोत्तरभावो यज्ञ इति श्रुत्यर्थः । तस्मादीयाधिकमात्मनः कर्तृ-  
त्वमिति सिद्धम् ॥ ४० ॥

( जीवस्येश्वरप्रवृत्तत्वेन न रागप्रवृत्तत्वम् , अधि० १६ )

परान्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥

यत्पुनरौपाधिकं जीवस्य कर्तृत्वमुक्तं तत्किमीश्वरापत्ते न वेति संदेहे  
जीवस्य करणाधिपत्वादेव कर्तृत्वासिद्धेस्तस्येश्वराप्रसङ्गं नेति प्राप्तम् ।

(श्री०) दिव्यापारत्वागे हस्तादिमानपि तद्यापरस्याकर्ता यथैवमात्मोऽन्त-  
र्बहिः करणापेक्षः कर्ता तदभावे स्वरूपचैतन्येनाकर्तृत्वमयथा भवति ।  
चस्यर्थः । एतावत्स्थे निवर्तनमित्यवधारणार्थः ॥ ४० ॥

पूर्वाधिकरणे कर्तृत्वं मिथ्याभूतमित्युक्तं तस्मिन्तस्य स्वातन्त्र्यात्  
तन्निश्चयेत्याक्षिप्य समाधत्ते—वरादिति । हुनाब्द ईश्वरानपेक्षां वारयति ।

(प्र००१) न च 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्नि-  
नीयते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीयते' [कौ०३१८]  
इति श्रुत्येश्वरायतत्वं कर्तृत्वस्येति वाच्यम् । तथात्वे विधिनिषेधस्थान  
ईश्वर एवामिषिक्त इति विधिनिषेधशास्त्रवैयर्थ्यं स्यादिति प्राते तुशब्देन  
पूर्वपक्षं निरस्य प्रतिजानीते—परादिति । परमेश्वरादेव जीवस्य कर्तृत्वा-  
दिसंसारस्य मोक्षस्य च सिद्धिर्मवितु मर्हति । कुतः । तच्छ्रुतेः । कर्तृ-  
त्वादेरीश्वरायतत्त्वश्रुतेः । ' एष ह्येव साधु कर्म कारयति ' [कौ०३१८]  
' य आत्मनि निष्ठस्त्वात्मानमन्तरो यमयति ' [ वृ० माध्य० ३ । ७ ।  
१० ] इत्याद्याया इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

नन्वीश्वरस्य कारयितृत्वे धर्ममेव कारयेत्ताधर्ममन्यथा केनचित्सुसा  
धर्म केन चिदधर्म कारयतो वैषम्यनिर्दयत्वे स्यातामित्यत आह—

कृतप्रयत्नापेक्षत्तु विहितप्रतिषिद्धवैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४२ ॥

तुक्तशङ्कान्तिरासार्थः । जीवेन कृतो यः प्रयत्नो धर्माधर्मलक्षण-  
स्तदपेक्ष एवेश्वरोऽन्यस्मिन्नापि जन्मनि धर्मादिकं कारयति तद्वैयर्थ्य  
मुक्तादिकलं द्वाति-तेन वैषम्यनैर्घुण्ये न प्रसज्येते अनादित्वात्संसारस्य  
पूर्वजन्मकृतधर्माद्यपेक्षा युक्तैव । नन्वीश्वरस्य कृतप्रयत्नापेक्षत्वं कुत  
इत्यत आह—' विहितप्रतिषिद्धवैयर्थ्यादिभ्यः ' इति ईश्वरस्य कर्म-  
सापेक्षत्वे सत्तु ' ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत ' ' ब्राह्मणेन न हन्त-  
व्यः ' इत्याद्ययोर्विहितप्रतिषिद्धयोरवैयर्थ्यं भवत्यन्यथा विधिनिषेधशास्त्र-  
मनर्थकमेव स्यात् । धर्मकृतो दुःखप्रधर्मकृतश्च सुखं संपादयेदित्यादि-  
वोषा आदिशब्दार्थः । तस्मादीश्वर एव पूर्वकृतसुकृताद्यनुसारेण धर्मादि  
कारयति तदनुसारेण फलदाता चेति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

(टी०) परात्परस्मात्कर्तृत्वमुक्ते जीवस्य । कुतः । तच्छ्रुतेः । तस्य सापेक्ष-  
त्वस्य ' एष ह्येव साधु कर्म कारयति ' इति श्रुतेः ॥ ४१ ॥

एवं चेदीश्वरः कारयति विषमो निर्घुणश्च स्यादित्यत आह—कृतेति  
तुशब्दो वैषम्यनैर्घुण्यधारणार्थः । तन्निवारणं कुत इत्यत आह—कृतप्र-  
यत्नापेक्षः । कृतो जन्मान्तरे प्रयत्नस्तस्यापेक्षा यस्य सोऽयं कृतप्रयत्ना-  
पेक्षः । तद्वैव कुत इत्यत आह—विहितप्रतिषिद्धवैयर्थ्यादिभ्यः ।  
विहितम् । ' यावज्जीवमाग्निहोत्रं जुहोति ' इत्यादि प्रतिषिद्धं च ' न  
सुरां पिबेत् । इत्यादि तयोरवैयर्थ्यम् । आदिशब्दात्तुषकारादीनामपि ।  
तेभ्यः ॥ ४२ ॥

(म० २०) ( औपाधिककल्पनेर्जविश्वपोर्जिवानां च परस्परं व्यवहार-  
व्यवस्था, अधि० १७ )

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि

दाशकितवादित्वमधीयत एके॥४३॥

एवं तावन्नित्यः स्वयकाशोऽकर्ताऽऽभ्येत्युक्तं तस्ये शक्तिर्ब्रह्माभेद-  
योग्यत्वस्यात्र ब्रह्माभेदः साध्यते । अत्र य आत्मनि तिष्ठन्नित्या-  
दिभेदश्रुतिजातस्य तत्त्वमसीत्याद्यभेदश्रुतिजातस्य च विरोधसंदेहे  
समबलत्वावृत्ति विरोध इति प्राप्तम् । भेदं विना पूर्वाक्तस्य जीव-  
ेश्वरयोरुपकार्योपकारकभावस्य स्वामिभूत्ववत्संबन्धसापेक्षस्यानुपपत्तेः,  
अभेदं विना तत्त्वमसीत्यादेरनुपपत्तेरित्यनयोः समबलत्वम् । न चो-  
भयविषयश्रुतिभ्यामंशाशिभावाङ्गीकारात्त विरोध इति वाच्यम् ।  
ईश्वरस्य निरंशात्वादित्यसि विरोध इति प्राप्ते ब्रूमः—' अंशः '  
इत्यादि । जीव ईश्वरस्यांश इवांशो न तु स्वाभाविकोऽंश ईश्व-  
रस्य निष्कलमित्यादिनिरंशत्वश्रुतिविरोधात् । अत ईश्वरस्य कल्पि-  
तांशो जीवः । कुतः पुनर्जीवेश्वरयोर्शांशिभावो भेदाभेदश्रुति-  
भ्यामित्याह नानेत्यादिनैक इत्यन्तेन सूत्रेण । य आत्मनि तिष्ठ-  
न्नित्यादिना जीवेश्वरयोर्नानाव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशात् । अन्यथा चापि ।  
अनानात्वस्यापि व्यपदेशादित्यर्थः । तथा हि ' एके ' शास्त्रिन  
आथर्वणिकाः ' ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः ' इत्यादिना  
ब्रह्मणो दाशादासकितवादिसावमानन्ति । तस्मादनानात्वस्वामेदस्यं  
व्यपदेश इत्यर्थः । दाशाः कैषतां दासा भृत्याः कितवा द्यूतकृतो नटाः ।

(टी०) पूर्वाधिकरण ईश्वरैर्वात्कर्तृत्वमुक्तमिदानीमीश्वरो जीवाभेदादिनां  
दुर्मग इति स एव नास्तीत्यादिष्यं तदंशस्य जीवस्य सत्त्वेनांशिनमीश्वरं  
साधयति—अंश इति । जीवो ब्रह्मणोऽंश इवांशः । कुतः । नाना  
' कोऽन्वेष्टव्यः ' इत्यादिनोको द्रव्यत्वादिभेदस्तस्य व्यपदेशस्तस्मात् ।  
ननु चायं नानाव्यपदेशः सुतरां स्वामिभूत्वसाक्ष्ये युज्यत इत्यत  
आह—अन्यथा चापीति । अन्यथा व्यपदेशो भवति । प्रकृतादन्यथात्व-  
मनानात्वं तस्य तत्त्वमसीत्यादिनैकं आथर्वणिको ब्रह्म दाशा इत्युप-

१ क. ग. 'एव शि' । २ क. 'भिरुपेया' । ३ क. 'धित्व' । ४ क. 'एक' । ५ क.  
'मुक्ति'

(न०४०) तस्मात्पक्षसिद्धमेदानुवादेन श्रुतीनामभेदपरत्वात्कल्पितभेद-  
वानंशो जीव इति ॥ ४३ ॥

मन्त्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥

‘ पादोऽस्य विश्वा भूतानि ’ ( छा० ३।१२।६ ) इति मन्त्र-  
वर्णावपि जीवोऽज्ञ इत्यर्थः । भूतानि स्थावरावयो जीवाः पादोऽज्ञ  
इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ४५ ॥

किंचेश्वरांशत्वं भगवद्गीताह—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

[ गी० १५।७ ] इति स्मर्यते । तस्मादीश्वरांशो जीवः ॥ ४५ ॥

ननु जीवस्येश्वरांशत्वे जीवगतदुःखेनेश्वरस्य दुःखित्वं स्यात् ।  
पादादिगतदुःखेनाङ्गिनो देवदत्तस्य दुःखित्वदर्शनावित्यत आह—

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४६ ॥

यथा जीवो दुःखी नैवं परमात्मा दुःखी प्रकाशादिवत् । यथा  
सौरश्वान्द्रमसो वा प्रकाशो नमो ध्याप्य वर्तमानो वक्रकाठाद्युपाधिं

(श्री०) क्रम्य ब्रह्ममे कितवा इत्यधीयते । चकारः पक्षान्तरेऽनुपपत्तिसमु-  
च्चयार्थः ॥ ४६ ॥

अन्यत्र मन्त्राद्यमावादिदमध्यपनमतात्पर्यवदित्यत आह—मन्त्रेति ।

‘ एतावानस्य महिमा ’ इत्यस्मात् ॥ ४४ ॥

अस्य मन्त्रस्वार्थः क्वचित्समुत्थो न प्रतीयतेऽतोऽवमुपेक्षणीय इत्यत  
आह—अपीति । गीताह च ‘ ममैवांशः ’ इत्यादिना स्मर्यते । अपि-  
शब्दो मन्त्रार्थास्मरणमयोजकमपीत्याह ॥ ४५ ॥

यदि जीवपरमात्मनोरंशांशिशिवस्तर्हि जीवदुःखित्वादिना परमा-  
त्मनोऽपि दुःखित्वादित्यत आह—प्रकाशेति । यथा जीवो दुःखित्वादि-  
गुणे नैवं परः । परमात्मान एकत्वे किंचत्तद्गुणभाव इत्यत आह—  
प्रकाशादिवत् । यथा सौरादिप्रकाशोऽङ्गुल्यादिप्रदेश एव क्रेज्जुवक्रादि-  
मान् । आदिशब्देन घटादिप्रदेश आकाशो धूमादिमान्न पुनः प्रकाशदेश  
आकाशदेशे च तद्वत् ॥ ४६ ॥

[म०२८०१२० ब्रह्मासृतवर्षिणीदीपिकान्धां समेतानि । २२३  
५०-५८ ]

(म०६०) कृतवक्रमावमापन्नोऽपि न वस्तुतो वक्रमावं प्रतिपद्यते । यथा  
थाऽऽकाशो घटादिषु गच्छन्तु गच्छन्नेव न वस्तुतो गच्छति तद्वदि-  
त्यर्थः । विम्बप्रतिबिम्बयोरीश्वरजीवयोर्भेदस्य सत्यान्न जीवदुःखेनेश्वरस्य  
दुःखित्वम् । उपाधेरुपहित\*पक्षपातित्वादिति भावः ॥ ४६ ॥

जीवदुःखेनेश्वरस्य दुःखित्वाभावे स्मृतिमप्याह—

स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

तत्र यः परमात्माऽसौ स सत्यो निर्गुणः स्मृतः ।

न लिप्यते फलेऽपि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धः स गुरुयते [ महामा० १२ ।  
३५३ । १४-१६ ] इत्यादिना व्यासादयो जीवदुःखेनादुःखित्वमीश्व-  
रस्य स्मरन्तीत्यर्थः । चञ्चलेन ' तपोरन्यः पिप्लवं स्वाहृत्प-  
मश्रन्नयो अभिचाकशीति ' [ श्वे० ४ । ६ ] इत्याद्या श्रुतिः  
सूचिता ॥ ४७ ॥

ननु ' नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा [ बृ० ३ । ७ । २३ ] ' सृत्योः स  
सृष्टुमाप्नोति य इह मानेव पश्यति ' [ बृ० ४ । ४ । १९ ] इत्यादिना  
जीवेश्वरभेदमात्रप्रतिषेधात्संभूतेषु चेतमस्यास्रण्डस्यैकरसत्वात्कथं मित्रं  
सेवितव्यं शत्रुः परिहर्तव्य इत्यादिलौकिकानुज्ञापरिहारौ स्यातां  
कथं वा ' अती भार्यामुपेयात् ' ' गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत् ' इत्यादिवै-  
दिकानुज्ञापरिहारौ संगच्छेते ग्राह्यत्याज्यभेदाभावादित्यत आह—

अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ४८ ॥

उक्तौ लौकिकौ वैदिकौ चानुज्ञापरिहारौ सर्वत्राऽऽमन एकत्वेऽपि  
शरीरसंबन्धात्संगच्छेते । देहसंबन्धस्तादात्म्यम् । तच्चदेहविशिष्टत्वे-

(दी०) न युक्तिमात्रेण अद्भुतं शक्यमित्यत आह—स्मरन्ति चेति ।  
व्यासादयः । ' तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ' इत्युप-  
क्रम्य कर्मात्मा त्वपरो योऽसावित्यादिना । चञ्चलात्सामानन्ति ।  
द्वा सुपर्णेत्यादिना ॥ ४७ ॥

मा भूद्दुःखित्वादि परमात्मनस्तथाऽपि न जीवस्यापि परमात्मत्वा-  
द्विधिसंभेदादित्यत आह—अनुज्ञेति । अनुज्ञा ' अती भार्यामुपे-



(म०व०) नाऽऽसंभेदादस्ति ग्राह्यत्वाज्यमेदो ज्योतिरादिवत् । यथा ज्योतिषो बह्वेरेकत्वेऽपि इमशानसंबन्धी बह्विः परिहार्यो नेतेरो यथा वा सौरः प्रकाश एकोऽप्यमेध्यादित्युक्तः परिहार्यो नेतेर एवमात्माऽपीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

ननु तथाऽपि सर्वशरीरेषु कर्मकर्तृश्वेतनस्पैकत्वादेकदेवदत्तशरीरावच्छेदेन कर्मकरणे धर्मादिकं यज्ञदत्तशरीरावच्छेदेनापि जायतेत्यत आह—

असंततेश्वव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

परिच्छिन्नान्तःकरणोपाधिकस्य कर्तुः परिच्छिन्नस्य देवदत्तात्मनो यज्ञदत्तशरीरेणासंततेरसंबन्धाद्भर्मादिकं व्यतिकरः । देवदत्तस्य यज्ञदत्तस्य शरीरावच्छेदेनापि धर्मादिप्रसङ्गो नास्तीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

आभास एव च ॥ ५० ॥

यथाऽनेकघटजलप्रतिचिम्बितानां सूर्याभासानां मध्य एकस्मिन्सूर्याभासे कल्पमाने सूर्याभासान्तरं न कल्पत एवभीश्वराभास एवायं जीव इति नैकस्मिन्जीवे धर्मादिसंचन्धिनि जीवान्तरस्य धर्मादिसंबन्ध इत्यर्थः । किंच येषां सांख्यवादीनां बहवो विभवश्चात्मानः सर्वशरीरसंब-

(श्री०) यात् इत्यादिका । परिहारः ' न गुरुदारेषु गच्छेत् ' इत्यादिः । तावेतावनुज्ञापरिहारी । देहस्य संबन्धो देहसंबन्धः । अहं मनुष्य इत्याद्यभिमानस्तस्मात् । स्वभावेन यो यस्य न धर्मः सोऽन्वसंबन्धाद्भवतीत्यस्य को ह्यन्त इत्यत आह—ज्योतिरादिवत् । यथा ज्योतिरादि स्वभावतः प्रशस्तं मूत्रादिगतमप्रशस्तम् । आदिशब्देन भूमिर्बहुर्पादिकृपा प्रशस्ता प्रेतशरीरादिकृपाऽप्रशस्ता । एवं परमात्माऽप्युपाधिविशेषसंबन्धाद्विधिविधिवेषमागपि भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

तथा स्वामिन एकत्वात्फलस्य दुःखादेः सर्वशरीरेष्वेकत्वं स्यादित्यत आह—असन्ततेरिति । न संततिरसंततिः । अन्तःकरणोपाधिकस्य कर्तुर्भोक्तुरनेकत्वाच्च सुखदुःखादेः सर्वशरीरेषु व्यतिकरः संकरः । चकारो घटाकाशादिनिर्दर्शनादि समुच्चिनोति ॥ ४९ ॥

एवं वेद्देहापत्तिरित्यत आह—आभास इति । जलसूर्यकादिवदामास एव जीवो न वस्त्वन्तरं परमात्मनः । चकारस्तस्यासस्वमपि वारयति ॥ ५० ॥

[म०२७०-१५० मङ्गलमृतवर्षिणीदीपिकान्यां समेतानि । २२५  
५१-५३]

(त्र०७०) निन्दनस्तेषामेव धर्मादिसाकर्म प्राप्नोति । तथा हि सांख्यमते ताव-  
द्भोगसाधनप्रधानसंनिधानस्य सर्वात्मनामवशिष्टत्वादेकस्याऽऽत्मनः  
सुखादिसंबन्धे सर्वात्मनां सुखादिसंबन्धः स्यादेव । न्यायमतेऽपि द्वेष-  
द्वेषात्मनः सुखादिहेतुमनःसंपोगस्य सर्वात्मनामविशिष्टत्वात्कलानियमः  
स्यादेव ॥ ५० ॥

नन्वदृष्टनियमात्कलानियम इति चेन्नऽऽह—

अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥

सांख्यमते प्रधानसमवेतमदृष्टं तदत्र प्रधानस्य सर्वसाधारणत्वाद्दृ-  
ष्टस्याप्यनियमात्कलानियमस्तद्व्यस्यः । न्यायमतेऽप्यदृष्टहेतुमनःसंपो-  
गस्य सर्वात्माविशेषादिदमस्यादृष्टमस्य नेत्येवं रूपस्यादृष्टनियमस्यामा-  
यात्कलानियम इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

नन्वहमिदं फलं प्राप्नुवामीदं परिहरिष्यामीदं करिष्ये नेदं करिष्य इत्येवं-  
रूपाभिसंध्यादप्यः प्रत्यात्मनियताः सन्तः \* स्वप्रबोन्पादृष्टनियमहेतवो  
भविष्यन्तीत्यत आह—

अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५२ ॥

अभिसंध्यादिष्वपि साधारणमनःसंपोगसाध्येष्वदृष्टवदृष्टनियम इ-  
त्यर्थः ॥ ५२ ॥

प्रदेशादिति चेन्नान्त्रावात् ॥ ५३ ॥

नन्वात्मनां विमुक्तेऽपि स्वस्वज्ञरीरावच्छिन्न एवाऽऽत्मप्रदेशोऽभि-

(श्री०) एवं कल्पनातो बहव आत्मानः सर्वगताः संभवन्ति तेषु च सुखदुः-  
खादनियमोऽदृष्टवशादित्यत आह—अदृष्टेति । बहूनामात्मनां मनःसं-  
योगे साधारणे सति अस्यैवादृष्टमित्यस्यादृष्टस्य न नियमोऽनियमस्त-  
स्माद्ब्रह्मात्मस्वीकारो न साधुः ॥ ५१ ॥

तत्र ज्ञानेच्छादीनां नियामकत्वमित्यत आह—अमीति । अभिसंधि-  
रभिर्षोषो ज्ञानम् । आदिज्ञानेच्छादृष्टवस्तेष्वप्येवमनियमो यथाऽदृ-  
ष्टस्य । चकारोऽस्याः कल्पनायाः श्रुतिविरोधं समुच्चिनोति ॥ ५२ ॥

प्रदेशादिति सर्वगतानामपि सर्वेषामात्मनां तत्तद्देशस्य प्रदेशापरिच्छे-

\* य. स्वजाय ।

१ क. 'याः श्रुति रो' । २ क. 'प्रदेशे ज्ञा' ।

(अ०५०)संध्यादिहेतुमनःसंयोग इति भवत्यभिसंध्यादिनियम इति चेन्नः । सर्वात्मनां सर्षशरीरेष्वन्तर्भावाद्स्याऽऽत्मन इदं शरीरमित्यत्र निया-  
मकामावाद्स्याऽऽत्मनोऽस्मिन्शरीरे प्रवेश इति प्रवेशकल्पना न संभ-  
वतीत्यर्थः । तस्माद्दस्मत्पक्ष एव सकलदोषामाव इति सिद्धम् ॥५३॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्माभूतवर्षिण्यां द्वितीयाध्यायस्य  
तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

एवं महाभूतजीवश्रुतिविरोधं परिहृत्य लिङ्गशरीरविषयश्रुतिविरोधं  
परिहर्तुं पादान्तरं करिष्यमाणः पूर्वाधिकरणे कर्तृस्वरूपावधारणेन  
बुद्धिस्थानां कर्तृपकरणानामिन्द्रियाणामुत्पत्तिं साधयति—

( इन्द्रियाणामनादित्वनिराकरणपूर्वकं तेषामात्मसमु-

त्पन्नत्वम्, अधि० १ )

तथा प्राणाः ॥ १ ॥

अस्मिन्नपि पादे पूर्वपक्षे श्रुतीनां मिथो विरोधेनाप्रामाण्याद्ब्रह्मसम-  
न्ववासिद्धिः कलं सिद्धान्ते तासामविरोधेन प्रामाण्यात्समन्वयसिद्धि-  
रिति बोध्यम् । तत्र तावत् ' आत्मन आकाशः संभूतः ' [ तैत्ति० २ ।  
१ । १ ] इत्याद्युत्पत्तिप्रकरणेष्विन्द्रियाणामुत्पत्तिर्न श्रूयते । क्वचिच्च  
' ऋषयो वाव एते अग्रे सदासीक्तमे ऋषय इति प्राणा वा ऋषयः '  
[ शत० ब्रा० ६ । १ । १ । १ ] इत्यत्र सृष्टेः प्राग्निन्द्रियाणां सद्भावश्च-

(दी०) वाञ्छानादीनामुत्पाद् इति चेन्न । कुतः । सर्वेषामप्येकस्मिन्वेहेऽन्त-  
र्भावात्समयत्वात् ॥ ५३ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

तृतीयपादे भूतश्रुतीनां भोक्तृश्रुतीनां च परस्परविरोधाभावाच्च तत्कृ-  
तसमन्वयविरोध इत्युक्तम् । इदानीं भौतिकश्रुतीनां परस्परविरोधापाक-  
रणेन तत्कृतं विरोधं समन्वये वारयति चतुर्थेन पादेन । तत्रापि भोगो-  
करणानां भौतिकानां प्राणप्राधान्यात्प्रथमं प्राणोत्पत्तिमाह—तथा प्राणा

( ब० ५० ) घणाद्भूतत्पत्तिरिति भाति । काचित् ' एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी ' [मु० २।१ । ३ ] इत्यादावुत्पत्तिरिन्द्रियाणां भूयते । एतासां भ्रुतीनां मिथो विरोधोऽस्ति न वेति संदेहे विनिगमकामावावृत्ति विरोध इति प्राप्ते सृष्टेः पूर्वमिन्द्रियसद्भावभ्रवणाद्भूतत्पत्तिभ्रुतिर्गोपीत्यविरोध इत्येकदेशिना सिद्धान्तितं तद्ब्रूयति—' तथा प्राणाः ' इति तथा ' एतस्माज्जायते प्राणः ' इत्याद्युदाहृतवाक्यस्थाकाशादिब्रह्माणा इन्द्रियाणि जायन्त उत्पत्तिभ्रुतेरविशेषादित्यर्थः ॥ १ ॥

यदुक्तं सृष्टेः प्राग्निन्द्रियसद्भावभ्रवणाद्भूतत्पत्तिभ्रुतिर्गोपीति तत्राऽऽह—  
गौण्यसंभवात् ॥ २ ॥

गौण्या उत्पत्तिभ्रुतेरसंभवो गौण्यसंभवस्तस्मादेकदेश्युक्तमयुक्तमित्यर्थः । प्राणानां नित्यत्व एकविज्ञानप्रतिज्ञा बाध्यतेति भावः । सद्भावभ्रुतिस्तु हिरण्यगर्भात्मकान्तरप्रकृतिरूपप्राणानां नित्यस्वविकारापेक्षया प्राक्सद्भावं बोधयति, अवान्तरप्रलये हिरण्यगर्भेन्द्रियाणां लयामावादिति बोध्यम् ॥ २ ॥

इन्द्रियाणां मुरुपं जन्मेत्यत्र हेत्वन्तरमाह—  
तत्राकृश्रुतेष्व ॥ ३ ॥

तत्र ' एतस्माज्जायते प्राणः ' [ मु० २ । १ । ३ ] इत्यादिवाक्ये जायत इति जन्मवाचिपदस्य स्यात्त्वादिषु मुरुपस्य साध्यपेक्षया प्राची-

(क्षी०) इति । पूर्ववादाद्यधिकरणे यथाऽऽकाश उत्पन्नः परस्मादित्युक्तं तथा प्राणा अप्युत्पद्यन्ते । अथवा यथा लोकादयः परस्माद्भूतानाः भूयन्ते तथा प्राणाः ॥ १ ॥

अपथो वाच तेऽग्रेऽसदासीत्' इत्यनया भ्रुत्या प्राणानामनुत्पत्तेस्तद्भूतत्पत्तिभ्रुतिर्गोपी स्यादित्यत आह—गौणीति । गौण्या असंभवो गौण्यसंभवस्तस्मात् । अत्र च प्रतिज्ञाहान्यादयः प्रागुक्ता एव हेतवः ॥ २ ॥

तथाऽपि जनेरुपचारनिवारणं किमुक्तमित्यत आह—तदिति । तेभ्य

(ब्र० ५०)नेषु प्राणेन्द्रियादिषु क्षुतेऽनेन्द्रियाणां मुख्यं जन्मेत्यर्थः । एकस्मिन्वाक्य एकस्य पदस्य कचिद्दौर्गतत्वं कचिन्मुख्यत्वमित्यस्वासांभवादित्यर्थः ॥ ३ ॥

उत्पत्तिप्रकरणेष्विन्द्रियाणामुत्पत्तिर्न श्रूयत इति यदुक्तं तन्न छान्दोग्य उत्पत्तेः क्षुतत्वादित्याह—

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

ब्रह्मप्रकृतिकानि तेजोबलानि तच्छब्देनोच्यन्ते तथा च प्राणेन मनसा च सहिताया वाचः 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपो मयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' [ छा० ६ । ५ । ४ ] इत्यनेन तेजोबलजन्यत्वामिधानादस्त्युत्पत्तिश्रुतिरित्यर्थः । तस्मादुत्पत्तिश्रुतिसद्भावात्कृतेः प्राक्सद्भावश्रुतेश्चान्यविषयत्वादस्ति श्रुतीनामविरोध इति सिद्धं ब्रह्मविकारत्वमिन्द्रियाणामिति ॥ ४ ॥

एवमिन्द्रियाणामुत्पत्तिं प्रसाध्य तेष्वो जीवस्य विवेकार्थं \* तदाश्रितसंख्यां निर्णेतुकाम आश्रयाश्रयिभावसंगत्या पूर्वपक्षयति—

( इन्द्रियाणामेकादशसंख्याकत्वस्य वेदान्तसंमतत्वम्, अधि० २ )

सप्तमतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' [ मु० २ । १ । ८ ] इति सप्तेन्द्रियाणि श्रूयन्ते । कचिद् 'अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः' [ वृ० ३ । २ । १ ] इत्यत्रोष्टौ ग्रहाः पुरुषपशुबन्धका इन्द्रियाणि, रागाद्युत्पादन-

(दी०)आकाशादिभ्यः प्राक्पूर्वं जायत इति पदं यथा तेषु नोपचरितं तथा प्राणेष्वपीत्यर्थः ॥ ३ ॥

तथाऽपि च्छान्दोग्येन तेषामुत्पत्तिः श्रूयत इत्यत आह—तत्पूर्वेति । ब्रह्मप्रकृतिकं तेजस्तत्पूर्वकत्वात्कारणत्वाद्वाचो वागास्येन्द्रियस्य प्राणस्यातोऽर्थात्तत्रापि श्रवणमित्यर्थः ॥ ४ ॥

पूर्वाधिकरणे क्षुतिप्रमाणात्वाणोत्पत्तिर्विनिर्गता तद्वत् । 'सप्त वै क्षीरण्याः प्राणाः' इत्यस्याः प्रामाण्यात्सप्त वै प्राणा इत्याक्षिपति (अर्थं वा न्यायानुसारात्प्राणानामुत्पत्तिरुक्ता । अत्रापि 'प्राणमुत्कामन्तं सर्वे' इति

\* स. ग. "विवेकचित्तं" ।

१ क. इतीदं यः । २ स. "तिश्रयन्" । ३ क. "याः इत्यायाः प्राणायाः वी" य धनुषिहान्तरीतो ग्रन्थः स. पुस्तकस्यः ।

(ब० ५०) द्वारेणेन्द्रियाकर्षका विषया अतिग्रहा इत्यर्थः । 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा ह्राववाञ्ची' [ तै० सं० ५ । ३ । २।५ ] इत्यत्र नव । अवाञ्ची पायूपस्थौ । 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' [ तै० सं० ५ । ३ । २ । ३ ] इत्यत्र दश । 'दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' [ बृ० ३ । ९ । ४ ] इत्यत्रैकादश । आत्मा मनः । एवं कचिद्वादश कचिद्वयोदशेन्द्रियाणि भ्रूयन्ते । तासां धूर्तानां विरोधसंदेहे विरोधोऽस्तीति प्राप्त एकदेशिमत्तं सत्तैवेन्द्रियाणि । कुतः । गतेः । ध्रुत्या सप्तत्वा-वगतेरित्यर्थः ॥ ५ ॥

किंच 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इतीन्द्रियाणां शीर्षण्यत्वेन विशेषितत्वात्सत्तैन्द्रियाणि । ये शीर्षण्याः सप्त द्वे चक्षुषी द्वे श्रोत्रे द्वे नासिके एका वागिति ते प्राणा इति सप्तानामेवेन्द्रियत्वावगमाददृश्या-दिंसंख्याभ्रवणं त्वेकस्यैवान्तःकरणस्य संज्ञापनिश्चयगर्वस्मरणरूपवृत्तिभे-देन मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानीति चतुष्टयवत्सप्तानामेव वृत्तिभेदेनोपपद्यत इत्यविरोधः श्रुतीनामिति प्राप्तं तद्द्रूपयति—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥

तुशब्देन प्राणानां सप्तत्वनिरासः । यतो 'हस्तौ वै ब्रह्मः' [ बृ० ३ । २ । ८ ] इत्यादिना हस्तादयो व्यतिरिक्ताः प्राणाः भ्रूयन्ते । सप्तत्वसं-ख्यायामसंभावितान्तमपि सप्तत्वान्तरेके स्थिते सप्तत्वसंख्येन्द्रियनिष्ठै-कादशत्वसंख्यायामन्तर्भावितुं शक्यते न्यूनसंख्याया अधिकसंख्याया-मन्तर्भावसंभवात्, अतो नैवं मन्तव्यं सप्तैव प्राणा इति सूत्रार्थः । यद्यपि ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं मनश्चेत्येकादशेन्द्रियाणि विहाय हृदपाहंकारी प्राणानां द्वादशत्वत्रयोदशत्वसंख्यापादकौ भ्रूयेते तथाऽपि तयोरन्तःकरणभेदत्वान्नाधिकसंख्यापादकत्वमित्येकादशेन्द्रि-

(श्री०) छाषवन्वायास्तस्य प्राणा इत्याक्षिपति]—सत्तेति सप्तसंख्यानामव-गतिः सप्तगतिः । सप्त प्राणाः प्रमवन्तीत्यस्मात् । सामान्यवचनमिदं विशेषादधिका मविष्यन्तीत्यत आह—विशेषितत्वादपि ( वेति ) तेषां 'सप्त वै शीर्षण्याः' इत्यनेन ॥ ५ ॥

हस्तादय इति । तुशब्दः सप्तभ्यो व्यतिरेकमाह । हस्तादयो हस्त आदिर्षेर्षां ते त्वगादयो हस्तादयः 'हस्तौ वै ब्रह्मः' इत्यादिनोक्ताः । स्थिते सप्तभ्योऽतिरेकेऽतोऽस्मादतिरेकान्नैवं सत्तेति किं त्वेकादश । कुतः

(ब०००)याणीति निरवद्यम् । 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' [ तै०सं०५।३।२।५ ] इत्यत्र न सप्तोद्देशेन प्राणत्वविधानं किंतु प्राणोद्देशेन स्थानभेदमात्रेण चतुष्पामिवेन्द्रियाणां सप्तत्वमिति न तद्दिरोधः । 'नव वै पुरुषे प्राणा नामिर्दशमी' [ तै० सं०५।३।२।३ ] इति वाक्यं पुरुषाकारवेहे छिद्राभिप्रायं न प्राणामिप्रायमित्यविरोध इति सिद्धम् । नन्विदं सूत्रद्वयपठ्यास्थानमसङ्गतं 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति' [ मु० २।१।८ ] इति प्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वह्मनोषाचां सप्तत्वावगतिशीर्षण्यानां विशेषितत्वमिति हेतुद्वयवैयधिकरण्येन सूत्रे चकारानुपपत्तेः । ये शीर्षण्याः सप्त ते प्राणा नेतर इत्यत्र परिसंख्यापत्तेश्च । अत एव तदुत्तरं द्वितीयसूत्रे व्याख्यानमप्यसङ्गतमिति चेत्तद्व्यन्यथा सूत्रद्वयं व्याख्यास्थामः । मरणसमये येषां सहगमनं तेषामेव भोगसाधनत्वादिन्द्रियत्वम् । तथा च मुख्यं 'प्राणमनूत्क्रामन्तः सर्वे प्राणा अतूत्क्रामन्ति' [ वृ० ४।४।२ ] इति प्राणादीनां सप्तानामेव गतेः सहगमनस्य श्रवणात्सप्तैवेन्द्रियाणि । ननु सर्वशब्दश्रवणात्कथं सप्तानामेव गतिश्रवणं तत्राऽऽह—विशेषितत्वाच्चेति । स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्मुखः वर्ततेऽथारूपज्ञो भवति' [ वृ० ४।४।१ ] 'एकी भवति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न वदति न शृणोति न मनुते न स्पृशतीत्याहुः' [ वृ० ४।४।२ ] इति चक्षुरादीनां सप्तानामेव प्रकृतानां विशेषितत्वात् । सर्वशब्दः प्रकृतगामी सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र सर्वशब्दो यथा निमन्त्रितप्रकृतवाङ्मणपरस्तद्ददिति शङ्कासूत्रार्थः । यत्रोत्क्रान्तव्यस्थायां चक्षुरधिष्ठातृदेवः स एष चाक्षुषशब्दवाच्यः पुरुषो रूपादिविषयव्याप्तिं विहाय वर्तते तदानीमयमरूपज्ञो भवति हृदये चक्षुरेकी भवति पार्श्वस्यांश्च नायं पश्यतीत्याहुरिति भ्रुत्यर्थः । सिद्धान्तसूत्रार्थस्तु सतेम्पोऽतिरिक्ता हस्तादधोऽपि बन्धकत्वेन श्रूयन्ते 'हस्तौ वै ग्रहः' इत्यादिना । ग्रहत्वं बन्धकत्वं हस्तादीनां सहगमनं विना न संभवति । सर्वे प्राणा अतूत्क्रामन्तीत्यविशेषेण सर्वेन्द्रियाणामुत्क्रान्तिश्रवणाच्च भवन्त्येकादशोत्क्रान्तिमन्तः प्राणाः । न च सर्वशब्दस्य प्रकृत-

(दी०) 'दशमे पुरुषे प्राणाः' इत्यादिभ्रुतेः । अथ वा सप्तैव प्राणा अवगम्यन्ते । तमुत्क्रामन्तमित्यादिवचनात् । ननु सर्वशब्दभवणे कथं सप्तैवेत्यत

[अ०शा००सू०५-८] ब्रह्मासुतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २३१

(अ०५०) विशेषितसप्तप्राणपरत्वं प्रकरणाच्छ्रुतेर्बलीयस्वात् । सर्वे ब्राह्मणा  
भोजयितव्या इत्यत्र त्वनन्यगत्या प्रकृतपरत्वं सर्वशब्दश्रुतेरिति  
शिष्टसूत्राक्षरार्थः पूर्ववदिति । तस्मादेकादशैवोक्तान्तिमन्तः प्राणा इति  
सिद्धम् ॥ ६ ॥

मन्दिन्द्रियाणामुक्तान्तिर्न संभवति तेषामपरिच्छिन्नाहंकारजन्यत्वेन  
विमुत्पादित्वाक्षेपसङ्गत्या साङ्ख्यमतं दूषयति—

(साङ्ख्यसंमतेन्द्रियसर्वगतवनिराकरणपूर्वकं तेषां परिच्छिन्नत्वकथ-  
नम्, अचि० ३ )

अणवश्च ॥ ७ ॥

इमे प्राणा अणवः परिच्छिन्ना इन्द्रियाग्राह्यत्वेन सूक्ष्माश्लेष्यः । न  
तु परमाणव इति सूत्रार्थः । तथात्वेऽण्वात्मपक्षोक्तानां शरीरव्योतिसु-  
खादिकं न स्यादित्यादिदोषाणां प्रसङ्गादितीन्द्रियाणां विभुत्वे काशी-  
स्थविश्वेश्वरदर्शनस्पर्शने सेतुवासिनामपि स्यातामुक्तान्तिगत्यागतिशु-  
तिविरोधश्च स्यादित्यादिदोषा द्रष्टव्याः । तस्मात्परिच्छिन्नाः सूक्ष्माश्च  
प्राणा इति सिद्धम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणामुत्पत्पादिकमुक्त्वा मुख्ये प्राणेऽप्युत्पत्तिसंदेह आद्याधिक-  
रणन्यायमतिदिशति—

(प्राणस्यानादित्वसङ्गजनपूर्वकं तदुत्पत्तिसमाधानम्, अचि० ४ )

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

इन्द्रियस्वरूपे प्राणे च ज्ञाते तद्यापारान्मुख्यप्राणस्य भेदचिन्ता

(श्री०)आह—विशेषितत्वाच्च । मनोविज्ञानयोरैककोटयां बहुरादीनां विशेष-  
पितत्वात्सर्वशब्दः सप्तविधः । चकारोऽपि [‘इ’वत्तानियतं श्रेयः’ इति  
न्यायसूत्राच्चा(चना)र्थः । द्वितीयसूत्रे न कोऽपि विशेषः पूर्वस्माद्याख्या-  
नात् ॥ ६ ॥

पूर्वाधिकरण एकादशेन्द्रियाणि उक्त्वा मन्तीत्युक्तं तदपुक्तं व्यापि-  
त्वादिन्द्रियाणामित्याक्षिप्य समाधत्ते—अणव इति प्राणा इत्यनुवर्तते ।  
अणवोऽप्यसर्वगतपरिमाणाः प्राणा इत्यर्थः ॥ ७ ॥

पूर्वाधिकरण उक्तान्त्पादित्वात्प्राणानामणुत्वमङ्गीकृतं तद्वदिदानी-



(अ०४०) करिष्यमाणा घुकरेति मध्येऽपमातिदेशः कृतः । ' न मृत्युरासीद्-  
मृतं न तर्हि न राड्या अह्न आसीत्यकेतः । आनीद्वान्तं स्वधया तदेकं  
तस्माद्भ्रान्त्यन्न परः किंचनाऽऽस ' [अ०सं०म०१०१२९।२] इत्यत्राऽऽनी-  
त्यदेन प्राणसंचारस्य महाप्रलये श्रुतत्वात्संचारवतः प्राणस्य स्थितिरिति  
न प्राणस्योत्पत्तिरित्यभ्यधिकाराद्वाक्यामयमतिदेशः । इन्द्रियवच्छ्रेयोऽपि  
प्राणो ब्रह्मविकारः । ' एतस्माज्जायते प्राणः ' [ सु० २।१।३ ]  
इत्युत्पत्तिश्रवणस्याविशेषादित्यर्थः । श्रुत्यर्थस्तु तर्हि तस्मिन्महाप्रलये  
मृत्युर्भूत्युमद्भ्रानासीद्मृतं देवभोग्यं च नासीत्तथा रात्रेरह्नप्रकेतश्चिह्नमू-  
तश्चन्द्रः सविता च नाऽऽस्तां स्वधया सहेति संबन्धः । स्वधाश्रवदेन  
पिगुभ्यो दीयमानमन्नं तदर्चनं चोच्यते तर्हि शून्यवादः स्यादित्यत  
आह—आनीदिति । तदेकं मूलकारणं परं ब्रह्मावातं वाप्यादिमपञ्चर-  
हितमानीदासीदिति यावत् । तस्मादात्मनोऽन्यत्किंचिदपि नाऽऽस ह  
न बभूव किलेति हकारस्यान्वय इति ॥ ८ ॥

मुख्यप्राणस्योत्पत्तिचिन्तानन्तरं तस्वरूपं निरूपयति—

( प्राणवायोः स्वतन्त्रताकथनम्, अधि० ५ )

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

' यः प्राणः स वायुः ' इति महान्वायुरेव प्राण इति श्रूयते, तथा  
च महान्वायुरेव प्राण इत्येकः पूर्वपक्षः । नन्वयं पूर्वपक्षोऽसंगतः ।  
छान्दोग्ये—' मनो ब्रह्मेत्युपासीत ' [ छा० ३।१८।१ ] इत्युपक्रम्य  
मनोरूपब्रह्मणो वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रैश्चतुष्पास्वं वदन् ' प्राण एव ब्रह्म-  
णश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा माति च तपति च ' [ छा० ३।१८।४ ]

( शी० ) मृत्युचेः प्राक्प्राणचेष्टाश्रवणान्मुख्यप्राणस्य नोत्पत्तिरिति दृष्टा-  
न्तेनाऽऽक्षिप्य पादाद्यधिकरणन्यावातिदेशेनोत्पत्तिमाह—भ्रेष्ठ इति  
श्रेष्ठो मुख्यः प्राणः सोऽपि जायते । कृतः । ' एतस्माज्जायते प्राणः ' इति  
श्रुतेः ॥ ८ ॥

पूर्वाधिकरणे मुख्यप्राणस्य पृथगुत्पत्तिर्वायोरिन्द्रियेभ्यश्चोक्ता साऽ-  
युक्ता मुख्यप्राणस्य वायुस्वरूपत्वादिन्द्रियत्वाद्भेदाक्षिप्य समाधत्ते—न  
वाप्यिति । मुख्यप्राणो न वायुः प्रसिद्धः । न च करणानां वृत्तिः

(अ०२५००१०) इति । माति, अभिव्यक्तो भवति तपति स्वव्यापार उद्य-  
च्छतीति वाय्वपेक्षया प्राणस्य मित्तत्कथनेन निर्धारणामावाद्वा  
प्राणस्य प्राणेन्द्रियत्वेऽपि 'एतस्माज्जायते प्राणः' 'सं वायुः' [मु०  
२।१।३] इत्यादौ भेदनिर्देशेन निर्धारणामावतादवस्थादिति  
चेत्तर्हि तिष्ठतु श्रुतिद्वयं मिथो विरुद्धं सांख्यमतरीत्येन्द्रियव्यापार एव  
प्राणोऽस्त्विति प्राप्ते ब्रूमः—प्राणो न वायुकिये । न वायुर्नापीन्द्रिय-  
व्यापार इत्यर्थः । कुतः । 'एतस्माज्जायते प्राण इत्यादा तत्र तत्र  
वायोरिन्द्रियेभ्यश्च प्राणस्य पृथगुपदेशादित्यर्थः । नन्विन्द्रियेभ्यः पृथ-  
गुपदेशेऽपीन्द्रियव्यापारोत्स नास्तीति चेन्न वृत्तिवृत्तिमतोरभेदात्तर्हि  
'यः प्राणः स वायुः' इति श्रुतिविरोधः कथं परिहरणीय इति चेद्-  
न्यते—महावायुरेव हि प्राणायानाद्विपञ्चात्मनाऽवतिष्ठमानः प्राण इत्यु-  
च्यते । तथा च विकारविकारिणोर्वास्तथाभेदकारणनिकभेदयोः सस्वात्त  
भेदाभेदश्रुत्योर्विरोध इति सिद्धम् । अत्र पूर्वपक्षे वाय्विन्द्रियव्यापा-  
राभ्यां जीवस्य विवेकः फलं, सिद्धान्ते तूभयातिरिक्तभाणादपीति  
चिन्नेपः ॥ ९ ॥

ननुमयातिरिक्तस्य श्रुत्यवगतस्वतन्त्रभावस्य प्राणस्य वेहेऽभ्युपगमे  
जीवप्राणयोरुभयोः स्वतन्त्रपरेकवाक्यत्वामावात्सङ्घः शरीरोन्मथन-  
प्रसङ्ग इत्यत आह—

चक्षुरादिवचु तत्सहशिष्टवादिभ्यः ॥ १० ॥

तुरुक्तस्य प्राणस्वातन्त्र्यस्य निरासार्थः । प्राणस्य न जीववत्स्वा-  
तन्त्र्यं किं तु राजापेक्षया मन्त्रिण इव गुणभाव एव । स्वातन्त्र्यं त्वस्य  
प्राणस्य प्रजापेक्षया मन्त्रिण इवेन्द्रियापेक्षया, तथा च नोक्तदोष इति

(श्ल०) क्रिया । वायुश्च क्रिया च वायुकिये । कुतः । ताम्ब्यां पृथगुपदेशः  
'स वायुना ज्योतिषा' इति वायोरिन्द्रियेभ्यः 'अथ ह य एवापं मुस्यः  
प्राणः' इत्यादिना तस्मात् ॥ ९ ॥

एवं वेर्जावधत्माणोऽपि स्वतन्त्रः स्यादित्यत आह—चक्षुरिति ।  
तुशब्दः प्राणस्य स्वातन्त्र्यनिवारणार्थः । चक्षुरादिवद् । चक्षुरादीनां  
यथा न स्वातन्त्र्यं तद्वत्प्राणस्य । कुतः । तत्सहशिष्टवादिभ्यः । तैरिन्द्रियैः

(म० व०) तात्वर्थार्थः । सूत्राक्षरार्थस्तु चक्षुरादिवत्याणोऽपि जीवं प्रति करणभूतः कुतः । तत्सहशिक्षेयादिर्यः । तैश्चक्षुरादिभिः सह प्राणसंवादादिषु प्राणस्य शिक्षेः शासनादित्यर्थः । समानजातीयानामेव सहशासनस्य युक्तत्वात् । आदिशब्देनाचेतनत्वमौक्तित्वादिहेतुसंग्रहः ॥ १० ॥

ननु प्राणस्य चक्षुरादिवत्करणत्वं न युक्तमसाधारणविषयामावा-  
दित्यत आह—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥ ११ ॥

न चोक्तदोषः प्राणस्याकरणत्वादेव । कथं तर्ह्यात्मानं प्रति करण-  
भावः । इन्द्रियान्तरेष्वसंभावितस्यासाधारणत्वस्य कार्यस्य निर्वा-  
हकत्वादिति ब्रूमः । तथा हि श्रुतिरुक्तं कार्यं प्राणस्यासाधारणं दर्शयति  
प्राणसंवादे वागादिष्वो मुखप्राणस्य श्रेष्ठत्वं निर्धार्य—‘तान्वरिष्ठः  
प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविमज्जैतद्वाण-  
मवष्टभ्य विधारयामि’ [ ५० २ । ३ ] इति । वार्णं शरीरम् । ‘प्राणेन  
रक्षणवरं कुलापम्’ [ ५० ४ । ३ । १२ । ] इति श्रुतिरपि देहस्थितिः  
प्राणनिमित्तेत्याह । अवरमनेकाश्रुचि नीळं कुलायं देहाख्यं गृहम् ।  
प्राणस्थित्या रक्षस्त्रीवः सुप्तिं यातीति योजना ॥ ११ ॥

न केवलं देहधारणमेवास्यासाधारणं कार्यं किंत्वन्यदपीत्याह—

पञ्चबुद्धिर्मनोषद्वयपदिश्यते ॥ १२ ॥

यथा मनोऽनेकवृत्त्याख्यसाधारणकार्यापेक्षयाऽनेकधा व्यपदिश्यत

(दी०) सह शिक्षेः शासनमुपदेशः प्राणसंवादादौ । आदिशब्देन संहत-  
त्वाचेतनत्वादयस्तेभ्यः ॥ १० ॥

स्यादेतत् । यथाऽन्येषां प्राणानां रूपादयो विषयास्तथाऽस्यापि  
कश्चन स्यादित्यत आह—अकरणेति । प्राणस्य विषयान्तरासत्त्वं न  
दोषः । कुतः । अकरणत्वात् । करणस्यैवायं दोषो न त्वकरणस्य ।  
चकारो देहधारणं प्रयोजनं समुच्चिनोति । कथमेतदित्यत आह—तथा  
हि दर्शयति । हि यस्माद्यथाऽस्माभिरुक्तस्तथा ‘अहमेवैतत्पञ्चधाऽऽ-  
त्मानं प्रविमज्ज’ इत्यादिश्रुतिगणो देहधारणं दर्शयति । चकारो यदस्ति  
तस्य विषयः कल्पनीय इति नियमाभावदर्शनार्थो वा ॥ ११ ॥

देहधारणं कार्यं जीवस्य प्राणस्य वेति संदेहादन्येप्राणकार्यस्याव-

(स० १०) एवमुच्छ्वासनिःश्वासवीर्यझरीरोक्कान्त्वास्थानि पृथवारिकार्या-  
णि, पञ्चमं च कार्यं भक्षितान्नादिरसानां समवेतत्वेन सर्वाङ्गेषु नयनम-  
पेक्ष्य, पञ्चवृत्तिः प्राणो व्यपदिश्यते क्रमेण प्राणोऽपानो ध्यान उदानः  
समान इति, तदसाधारणकार्यापेक्षया जीवोपकरणत्वं मनोवदिति  
सिद्धम् ॥ १२ ॥

एवं मुख्यप्राणस्योत्पत्तिं स्वरूपं चोक्त्या परिमाणविशेषविषयप्राणा-  
णुत्पत्तिर्वाह्योक्कान्त्वावृत्तुतेः 'सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण  
प्राणः' [ बृ० १ । ३ । २२ ] इति श्रुतेः प्राणविमुखं विषयायाश्च मिथो  
विरोधोऽस्ति न वेति संदेहेऽणवश्वेत्यधिकरणन्यायातिदेशेन सिद्धान्त-  
पति—

( प्राणस्य समद्विरुपेणाऽऽधिदैविकी विमुक्ताऽऽध्यात्मिकी तु तस्या-  
ल्पताऽऽह्यता चेन्द्रियपथिति, अधि० ६ )

अणुश्च ॥ १३ ॥

षष्ठ्यादिवप्राणोऽपि परिच्छिन्नः सूक्ष्मश्वेत्यर्थः । सम एभिस्त्रिभि-  
र्लोकैरिति श्रुतिश्च सकलवायुपरा नाऽऽध्यात्मिकप्राणमात्रपरत्वविरोध  
इति । अन्तरङ्गप्राणस्वरूपकथनानन्तरं बहिरङ्गं परिमाणमुच्यत इति  
संगतिर्बोध्या ॥ १३ ॥

( इन्द्रियगणस्य वेदताविशेषाधीनत्वकथनम्, अधि० ७ )

(दी०) शान्तिरर्थकः प्राण इत्यत आह—वञ्चेति । पञ्च वृत्तयो यस्य स तथा ।  
किंवत्वंश्वृत्तिरित्यत आह—मनोवत् । एथा मनः प्रमाणविषयं पविक्-  
ल्पनिद्रास्मृतिभिः पञ्चवृत्ति तद्दत् । तर्हि योगानाम्निव तर्कमूलमिदमि-  
त्यत आह—व्यपदिश्यते । श्रुत्या ' प्राणोऽपानोऽपान उदानः समानः '  
इति ॥ १२ ॥

पूर्वाधिकरणे वायुक्रियाभ्यां तत्त्वान्तरं प्राणोऽस्तीत्युक्तम् । अस्तु  
तत्त्वान्तरं तथाऽपि तस्य जीवमन्तत्कामस्यासंभवो व्यापित्वादित्या-  
क्षिप्य समापत्ते—अणुञ्चेति । मुख्यप्राणोऽप्यसंबन्धतपरिमाणोऽपि पूर्व-  
प्राणवत् ॥ १३ ॥

### ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥

(न० ५०) पूर्वमाध्यात्मिकप्राणस्याणुत्वमाधिदैविकयोः सममिरेति श्रुत्या व्यापित्वमित्युक्तं तत्प्रसङ्गेनाऽऽध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकदेवताधीनचेष्टावस्थान्ति न वेति विचार्यत इति प्रसंगसंगतिः । अत्र 'चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति' [ वृ० ३ । २ । ५ ] इति श्रुत्या चक्षुरादेर्देवतानिरपेक्षचेष्टावत्त्वं प्रतीयते । 'आदित्यश्चक्षुर्मूर्त्वाऽक्षिणी प्राविशत्' [ ऐ० १ । २ ] इत्यादिश्रुत्या तु सूर्यादिदेवताधीनचेष्टावत्त्वं प्रतीयते । अनयोर्मिथो विरोधोऽस्तीति न वेति संदेहोऽस्ति विरोध इति प्राप्त एकदेशिसिद्धान्तः—देवतानां करणाधिष्ठानुत्वे तासामेव भोक्तृत्वप्रसक्तौ जीवस्य भोक्तृत्वं न स्यादिति युक्तिसहकृतायाश्चक्षुषा हीति श्रुतेर्बलीयस्त्वादादित्यश्चक्षुरित्यादिश्रुतेर्गौणार्थेति न विरोध इति न हूयति ज्योतिरित्यादिना । तुरुक्तसिद्धान्तनिरासार्थः । अधिष्ठीयते प्रेर्यत इत्यधिष्ठानमधिष्ठितमित्यर्थः । ज्योतिरादिभिरग्न्याद्यभिमानिनीर्मिदेवताधिष्ठितमेव वाक्चक्षुरादिकं चेष्टते तदामननात् । तस्य देवताधिष्ठितत्वस्याऽऽदित्यश्चक्षुरित्यादिश्रुत्युक्तत्वादित्यर्थः । अचेतनानां स्वतश्चेष्टानुपपत्तेरिति युक्तिरपि दृष्टव्या । अक्षिणी प्राविशत्येर्प्रेरकमावेनेति श्रुत्यर्थः । न च देवतानामेव-भोक्तृत्वं तस्याश्रयणात् । यो यदधिष्ठाता स तत्साध्यफलभोक्तेति व्याप्तेश्च सारथौ व्यभिचारः । न च देवता इन्द्रियसाध्यफलभोगिन्य इन्द्रियाधिष्ठातृत्वाज्जीववदिति वाच्यम् । कृतपापफलभोगस्येन्द्रियसाध्यस्य 'न ह वै देवान्प्रापं गच्छति' [ वृ० १ । ५ । २० ] इत्यादेर्देवेषु वाधितत्वात् । न च चक्षुषा हीत्यादिश्रुतिविरोधः, तत्र देवतानपेक्षत्वस्याश्रयणादिति सिद्धं देवाधिष्ठेयत्वं प्राणानामिति । किंच श्रुत्यन्तरेऽपि प्राणदेवतयोरधिष्ठात्रधिष्ठेयभावं द्योतयति—'स वै वाचमेव प्रथमामत्यं वहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्' [ वृ० १ । ३ । १२ ] इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिमावापचिकथनादग्न्यादिभावश्च तदधिष्ठानुक्तत्वमेवान्यस्यासंभवात्स प्राणो

(टी०)पूर्वाधिकरणे त्विन्द्रियाणामुत्पत्त्यादिकं वर्णितं तेषां चाग्न्याद्यधिष्ठितत्वं श्रुतमुपपन्नं समनन्तराधिकरणे प्राणसमत्ववदिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्तं—ज्योतिरिति । तुलाब्दः प्राणानामधिष्ठानत्वं दारयति । ज्योतिरादित्यस्याऽऽदित्यद्विस्तद्विद्वं ज्योतिरादि । ज्योतिरादेराधिष्ठानं



(अ० ४०) न देवतानां मोक्षतृत्वमस्मिच्छरीर इत्यर्थः । तस्माद्देवतानां प्राणाधिष्ठानुत्वे न किञ्चिद्वाचकमिति सिद्धम् ॥ १६ ॥

ननु सत्स्विन्द्रियेषु तदधिष्ठानुदेवताचिन्ता तान्देव प्राणव्यापारव्यतिरिक्तेण न सन्तीत्याक्षेपे समाधत्ते—

( विलक्षणत्वेन प्राणादिन्द्रियाणां पृथक्त्वम्, अधि० ८ )

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठान् ॥ १७ ॥

‘एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि’ [ सू० २।१।३ ] इति श्रुतौ मुख्यप्राणादिन्द्रियाणां तत्त्वान्तरत्वं प्रतीयते । ‘हन्तास्वैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्’ [ वृ० १।५।२१ ] इति श्रुतौ मुख्यप्राणात्मत्वमिन्द्रियाणां गम्यते । हन्तेद्वानीमस्यैव मुख्यप्राणस्यैव सर्वे वागादयो वयं रूपमसामेत्याशिर्यं द्वावा ते वागादय एतस्यैव प्राणस्य रूपं बभूवुरित्यर्थः । तथा चानयोर्विरोधसंदेहे नियामकामावाद्दस्ति विरोध इति प्राप्ते ‘एतस्माज्जायते प्राणः’ इति वाक्ये मनस इन्द्रियेभ्यः पृथक्निर्दिष्टत्वेऽपि नेन्द्रियेभ्यस्तत्त्वं किञ्चिन्द्रियत्वमेवेति यथा तद्द्वयादिन्द्रियाणां पृथक्निर्दिष्टत्वेऽपि न प्राणात्त्वान्तरत्वमिति नात्वेन वाक्येन हन्तास्येति वाक्यस्य विरोध इत्येकदेशिसमाधानं दृषयति—त इन्द्रियाणीति । प्राणात्त्वान्तराणीन्द्रियाणीति बहिरेव प्रतिज्ञा तत्र हेतुस्तद्व्यपदेशादिति भेदव्यपदेशादित्यर्थः । उक्तहेतुरित्तरेण सूत्रमागेण विवृणोति—त इति । श्रेष्ठान्मुख्यप्राणादन्यत्रान्ये ते प्रकृता वागादयः प्राणा इन्द्रियाणीत्युच्यन्ते न प्राणः ‘एतस्माज्जायते’ इत्यादौ व्यपदेशे भेददर्शनात् । नन्वयं भेदव्यपदेश इन्द्रियमनसोरपि समान इत्युक्तमिति चेन्न । ‘मनःपठानीन्द्रियाणि’

(श्री०)संभिरुस्वास्व भोगश्च देवताःसिद्धमोग्यत्वं समुच्चिनोति ॥ १६ ॥

पूर्वाधिकरणे ज्योतिराद्याधिष्ठितानीन्द्रियाणीत्युक्तमिदानीं प्राणव्यापारव्यतिरिक्तानीन्द्रियाण्येव न सन्तीत्याक्षिप्य प्राणस्यानिन्द्रियत्वमाह—[ अथ वा प्राणेन्द्रियस्याक्षत्वाधिष्ठानाभाववदन्यत्राप्यभावः स्यादित्याक्षिप्य प्राणस्यानिन्द्रियत्वमाह ] त इन्द्रियाणीति । ते प्रकृताः

[म०२५००१५० मन्नासुतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २३९  
१८-१९]

(म०२५००)[म०गी०१५।७]इति स्मृत्या मनसं इन्द्रियेभ्यस्तत्त्वांन्तरत्वाभावा-  
भ्युपगमात् । न च प्रकृतेऽपि हन्तास्पेति श्रुत्येन्द्रियाणां प्राणात्तत्त्वा-  
न्तरत्वाभावाभ्युपगमः । 'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवत्स्तस्मादेत एतेनाऽऽ-  
ख्यायन्ते प्राणाः' [ वृ० १ । ५ । २१ ] इति वाक्यज्ञेयैरेन्द्रियेषु  
प्राणशब्दस्य लाक्षणिकत्वप्रतिपादकेन प्राणादिन्द्रियाणां तत्त्वान्तरत्वा-  
भ्युपगमात् । न हीन्द्रियेभ्योऽतस्वान्तरे चक्षुषीन्द्रियशब्दो लाक्षणिको  
बृहस्पतस्मात् एतस्यैव सर्वे रूपमभवदित्यनेन प्राणाधीनचेष्टावर्षमिन्द्रि-  
याणामुच्यते न + तद्यापारत्वम् ॥ १७ ॥

किंच—

भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

धागादीन्द्रियप्रकरणमुपसंहृत्य 'अथ हेममासन्धं प्राणमूत्रुः' [ वृ०  
१ । ३ । ७ ] इति भिन्नप्रकरणे प्राणस्येन्द्रियेभ्यो भेदेन श्रुतेर्न प्राण-  
ध्यापारत्वमिन्द्रियाणामित्यर्थः । आस्ये भवमासन्धं प्राणं धागाद्य  
ऊचुरिति श्रुत्यर्थः ॥ १८ ॥

इतश्च प्राणादिन्द्रियाणि तत्त्वान्तराणीत्याह—

वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

सुषुप्त्यवस्थायां प्राणस्य स्थितिर्नेन्द्रियाणामित्यादिबहुवैलक्षण्यात्त-  
त्त्वान्तराणीत्यर्थः । तस्मान्नोदाहृतवाक्ययोर्विरोध इति सिद्धम् । = इदं

(दी०) प्राणाः श्रेष्ठान्धन्व मूर्खं प्राणं विहायेन्द्रियाणि न तु मुख्यस्य  
प्राणस्य रूपाणि । कुतः । तस्मात्प्राणाद्भेदेनेन्द्रियाणां भवपदेशात्  
'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यनेन ॥ १७ ॥

अस्तु प्राणात्तेषां भेदो न तु प्राणस्तेभ्यो भिन्न इत्यत आह—भेदश्रु-  
तेरिति । 'अथ हेममासन्धं प्राणमूत्रुः' इत्यादिना प्राणस्य तेभ्यो  
भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

भेदश्रुतिरियं वाक्यश्रुत्पोरिव भाविष्यतीत्यत आह—वैलक्षण्याच्चिति ।  
सुषुप्ते सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रविलयो न प्राणस्यै 'य एवैतस्मिन्पुरे जाग्र-

\* अ. यम तत्त्वान्तरं तत्रैव लाक्षणिकत्वप्रयुक्तिर्न तु तत्त्वान्तरत्वपरिच्छेदुः । + अ.  
प्राणध्यापारत्वम् । × अ. नेन्द्रियाधीनमित्यर्थः । = यं, इत्यमित्येव दिश्यते प्राणस्य विक्रमः ।



यथाश्रुतमाग्यानुसारेणोक्तम् । अन्ये तु बहिष्पतिज्ञाकल्पनादिदोषप्रस-  
ङ्गाद्यपदेशमेदस्य संज्ञामेदरूपस्य तत्त्वान्तरत्वे साध्ये ध्वमिचारित्वात्प्र-  
करणमेदरूपस्य तस्य ' भेदश्रुतेः ' इत्यनेन पौनरुक्त्यापातादज्ञाधिकर-  
णद्वयं कल्पयामासुस्तथा हि किमेकादश वागादय एवेन्द्रिषाप्युत मुख्य-  
प्राणोऽपीति विषये ' इन्द्रिषमिन्द्रलिङ्गम् ' इत्यादिपाणिनिस्मरणात्मा-  
णस्यापि वागादिवज्जीवभावापन्नपरमेश्वरलिङ्गत्वादिन्द्रिषत्वमिति प्राप्ते  
सिद्धान्तः—श्रेष्ठान्मुख्यप्राणादन्यत्र ते वागादय एवेन्द्रिषाणि । कुतः ।  
तद्यप्यपदेशादिन्द्रिषव्यपदेशादिन्द्रिषशब्दस्य तेषु कठोरिति यावत् । स्मरणं तु  
कठस्यैवेन्द्रिषशब्दस्य यथाकथंचिद्व्युत्पत्तिं दर्शयति गच्छतीति गौरिति-  
यदिति । नन्विदमयुक्तं प्राणध्यापारान्तरेकेणेन्द्रिषाणामसत्त्वादित्वाक्षेप  
इदमारभ्यते—' भेदश्रुतेः ' ' वैलक्षण्याच्च ' इति । ' एतस्माज्जापते  
प्राणः ' इत्यादि सूषयतीत्यन्तमत्र पठितव्यम् । प्रकरणमेदाद्वैलक्षण्याच्च  
न प्राणव्यापारत्वमिन्द्रिषाणामिति नोक्तवाक्यद्वयविरोध इतीदं भाष्य-  
द्वुपणमयुक्तम् । ' \*जगद्वाचित्वात् ' [ अ० सू० १ । ४ । १६ ]  
इत्यादौ बहिष्पतिज्ञादर्शनादिन्द्रिषरूपाः प्राणाः श्रेष्ठादन्य इत्यन्त-  
प्रतिज्ञासंभवाच्चापुनरुक्तज्ञानानामेकस्मिन्वाक्ये पृथग्जन्मव्यपदेशादिति  
हेतोर्भाष्ये विवक्षितत्वात्तत्सिद्धयर्थमेव सूष्टिवाक्यमुदाहृत्य प्राणेन्द्रि-  
षशब्दधोरपुनरुक्त्यप्रतिपादनात्प्राणस्य निर्विषयत्वेनेन्द्रियत्वसंशयाद्यो-  
गादिन्द्रलिङ्गत्वेन संशये देहादावपि संशयप्रसङ्गाश्लिर्जीमधिकरणद्वय-  
कल्पनमिति दिक् ॥ १९ ॥

एवं ' न विषयश्रुतेः ' [ अ० सू० २ । ३ । १ ] इत्यारभ्य मूलाद्यु-  
त्पाद्यव्यापारभूतोत्पत्तिविषयश्रुतिविरोधो निरस्तः । इदानीमुत्पादक-  
व्यापारभूतोत्पादनविषयश्रुतिविरोधो निरस्यते । तत्रात्रिवृत्कृतभूतो-  
त्पादनं पारमेश्वरमेवेति श्रुतिषु निःशङ्कमवगतं, त्रिवृत्कृतभौतिकोत्पा-  
दने तु श्रुतिषु विप्रतिपत्तिर्हस्यते । तथा हि—सदात्मकाद्ब्रह्मणस्तेजो-  
बलानां परोक्षत्वेन देवतापदयोग्यानां सृष्टिसूक्तोपादिश्यते—' सैषं  
देवतैस्त हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुपविश्य

(दी०)ति' इतिश्रुतेः, प्रत्यक्षतश्चेन्द्रियेभ्यःप्राणस्य वैलक्षण्यात् । चकारो  
वापचक्षुषोरपि कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियकृतमेदसमुच्चयार्थः ॥ १९ ॥

(न००) नामरूपे व्याकरवाणीति ' हासां त्रिवृत्तं त्रिवृत्तमेकैकां करवा-  
णीति ' [ छा०६०३।२।३ ] सा सद्ब्रह्माख्या देवता पूर्वमीक्षणं कृत्वा  
व्यवहारायोग्यसूक्ष्मभूतान्पुत्यादित्वा तेन व्यवहाराभावाद्यवहारयो-  
ग्यभौतिकोत्पादनार्थं पुनरीक्षणप्रकारमाह—हन्तेत्यादिकरवाणीत्वमेतन् ।  
अनेनेति पदात्पूर्व व्यवहारापेक्षायामिति श्लेषः । तत्र संज्ञायः । किं  
जीवकर्तृकं त्रिवृत्कृतभौतिकोत्पादनमुत परदेवताकर्तृकमिति । संगतिस्तु  
पूर्वं नामरूपभेदात्प्रागेन्द्रिययोगेद् इत्युक्तं तत्त्वसङ्गेन नामरूपव्याकरणं  
किंकर्तृकमिति विचार्यत इति प्रसङ्गलक्षणा बोध्या । तत्र लोके  
पारणे परस्मैन् प्रविश्य संकल्पयामीत्यादौ न राज्ञः साक्षात्संकलनक-  
र्तृत्वं किंतु चारस्यैवेति यथा तद्ब्रह्मनेन जीवेनेति विशेषणाज्जीवकर्तृकमेव  
भौतिकोत्पादनमिति भवत्यस्य वाक्यस्य ' आकाशो ह वै नाम नाम-  
रूपयोर्निर्गहिता ' [ छा० ८।१४।१ ] इति वाक्येन विरोध इति  
प्राप्ते धूमः—

( सर्वजगत्सर्जने जीवस्याशक्तत्वादीशस्यैव सर्वशक्तिमत्त्वात्सस्यैव  
तस्मिन्मृतत्वम्, अधि० ९ )

संज्ञामूर्तिकल्पितस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥

तुशब्देन जीवकर्तृकत्वनिरासः । त्रिवृत्कुर्वतः परमेश्वरस्यैव संज्ञा-  
मूर्तिकल्पितनामरूपव्याकरणं कार्यं भवितुमर्हति । कस्मात् । सेषं देवते-  
त्युपक्रम्य व्याकरवाणीति व्याकरणस्य परदेवताकर्तृकत्वोपदेशात् ।  
न चानेन जीवेनेति विशेषणाज्जीवकर्तृकत्वं मेरुसमुद्रादिनामरूपादि-  
व्याकरणे सामर्थ्याभावरूपलिङ्गसहकृतसंनिवेशैर्लीयस्त्वेनानेन जीवेने-  
त्यस्य संनिहितानुप्रविश्येत्त्वेन संबन्धात्, अनेन जीवेनेत्यस्य शुष्णमू-  
तस्य व्याकरवाणीत्वेन प्रधानेनान्धवचोग्यतालक्षणलिङ्गस्योक्तसंनि-  
ध्यपेक्षया हुर्बलत्वात्तस्मात्सर्वेश्वरकर्तृकमेव नामरूपव्याकरणमित्यवि-  
रोध इति सिद्धम् ॥ २० ॥

(दी०) पूर्वाधिकरणे प्राण इन्द्रियाणीतिपृथङ्निर्देशात्सस्य च तेषां च  
तत्त्वान्तरत्वमुक्तं तद्ब्रह्मजीवेनेति श्ववजान्नामरूपयोरुत्पादनं जीवेन क्रियत  
इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाचक्षे—संज्ञेति । तुशब्दो जीवकर्तृत्वं वारयति ।  
संज्ञाऽऽदित्यादिरूपा मूर्तिः सितासितरूपा संज्ञामूर्त्योः बल्यतिः कल्पनं  
नामरूपव्याक्रियेत्येतत्त्रिवृत्कुर्वतः परमेश्वरस्य । कुतः । व्याकरवाणी-  
त्युत्तमपुरुषोपवेशात् ॥ २० ॥

(अ०५०) एवं बह्विज्ञातमिदामुदित्येतासामेव देवतानां समासः [छा०६। ४। ७] इत्यन्तेन क्षुतिप्रवन्धेन तेजोबलानां त्रिवृत्करणमुक्त्वा तासामेव देवतानां बह्विस्त्रिवृत्कृतानामध्यात्ममपरं त्रिवृत्करणमुक्तम्— 'इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' [छा० ६। ४। ७] इति तद्विद्वानीमाचार्यो यथाश्रुतं दर्शयति—

\* मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥

अविज्ञातं विशेषरूपेणावृष्टमिवाभूविति घत्स आसां तिसृणां देवतानां समासः समुदाय इति यावदिति श्रुत्यर्थः । इमास्तिस्रस्त्रिवृत्कृता देवताः पुरुषं शरीरं प्राप्य त्रिवृत्कार्यत्रयरूपेणैकैकदेवता तेजआदिलक्षणा वर्तते इति द्वितीयश्रुत्यर्थः । तथा हि । पृथिव्या ब्रीहियवादिरूपायाः पुरुषेणाशितायाः कार्यत्रयं शरीरे वर्तते पुरीषं मांसं मनश्चेति । एवं पीतानामपां मूत्रं लोहितं माणश्चेति कार्यत्रयम् । तेजसोऽग्न्यादिवीपकस्य घृतादिरूपस्य कार्यत्रयमस्थि मज्जा वागिति । प्राणस्य जलाधीनस्थितिकत्वमात्रेण जलकार्यत्वव्यपदेशः । तस्य वायुकार्यत्वप्रसिद्धेः । एवं मनसोऽप्यन्नमक्षणे स्वास्थ्यपमात्रेण तत्कार्यत्वम् । वाचोऽपि ज्ञानामुकुलत्वसाम्भवेन तेजःकार्यत्वव्यपदेश इति बोध्यम् । एवं देहे कार्यत्रयरूपेण वर्तनमेवाऽऽध्यात्मिकं त्रिवृत्करणमिति । तदिवमाह सूत्रकारः— मांसादीति । भूमेरन्नात्मिकायाः कार्यं भौमं मांसादि । आदिपदेन पुरीषमनसी गृह्येते । एवमितरयोरतेजसोः कार्यत्रयं यथाशब्दमवगन्तव्यमित्यर्थः ॥ २१ ॥

(श्री०) अस्तु बह्विस्त्रिवृत्करणं यथाकार्यचिद्वन्तस्तु त्रिवृत्करणं दुर्लभमित्यत आह—मांसादीति । पुरीषादीति वक्तव्ये तस्य शरीराद्बहिष्ठस्य दर्शनं यतस्तदाह । मांसादीति । मांसमादिविषय मनःपुरीषस्य तद्विद् मांसादि । भौमं भूयोर्विकारः । यथाशब्दं शब्दमनतिक्रम्यास्व कार्यस्यामिचानात् 'तस्य चः स्थविष्ठो धातुः' इत्यादिना । इतरयोश्चात्तेजसोरपि मूत्रलोहितप्राणास्थिमज्जाघातवः कार्याणि । अतोऽन्तरपि त्रिवृत्करणम् ॥ २१ ॥

\* ख. पुरीषादीति वक्तव्ये तस्य शरीराद्बहिष्ठस्य दर्शनं यतस्तत आह—मांसादीति । मांसविषयस्य मनःपुरीषस्य तद्विद् मांसमपि भौमम् ।

(अ०५०) एवमनेन सूत्रेण त्रिवृत्करणमेतदधिकरणचिपयः प्रदर्शितस्तत्रेयं शक्यं भवति—ननु सर्वेषां त्रिवृत्करणे विशेषामावादिषु पृथिवीमा आप इदं तेज इत्यसाधारणो घृष्टव्यवहारः कथं संगच्छते कथं वाऽऽध्यात्मिक-व्यवहार इदं भासादि पृथिवीकार्यमिदं जलस्येति तत्राऽऽह—

वैशेष्याच्च तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

तुशब्द उक्तशङ्कानिरासार्थः । सर्वेषां पृथिव्यादीनां त्रिवृत्करणादि-क्षेपेऽपि वैशेष्यास्त्वभागाधिक्यास्तद्वादः पृथिव्यादिषुः संगच्छत इत्यर्थः । अभ्यासोऽध्यायसमाप्तिद्योतनार्थस्तस्मात्सिद्धः क्षुतीनामधिक-ज्ञानां ब्रह्मणि सगन्धयः ॥ २२ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रप्रवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

पूर्वस्मिन्पादे जीवोपकरणभूतमौक्तिकानि ब्रह्मणो जायन्त इत्युक्तं

(क्षि०)एवं वेत्सर्वं त्रिवृत्कृतं कथं भूमिरियमित्यादिव्यपदेश इत्यत आह—  
वैशेष्यादिति । तुशब्दो भूम्यादिव्यपदेशामावनिवारणार्थः । तद्वादस्तस्य भूम्यादिषुर्वो व्यपदेशो नानुपपन्नः । कुतः । वैशेष्याद्विशेषस्य भावो वैशेष्यं भूम्याद्याधिक्यं तस्मात् । तद्वाद इत्यभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति । चिपयत्पादे प्राणपादे च प्रथमं विषदाद्युत्पत्तिवादिन्यः क्षुतयो न सन्तीति विरोधामावात्पूर्वपक्षाक्षेपः । अन्यत्र तच्छ्रुतीनां सत्त्वाच्छ्रुत्योर्विरोधात्मकधिकरणमुपप्राप्तमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तैकदेशिना तद्प्रामाण्यमिति सिद्धान्तः ॥ ॥ २२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादाक्षिष्यस्य

श्रीशंकरानन्दभगवतः कृती ब्रह्मसूत्रवीपिकायां द्वितीया-

स्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥ ४७ ॥ ८७ ॥

\* अ. 'न्यनिराकर्षं नव इति प्रकृतः पूर्वपक्षः । विकल्पैकदेशिना निराकरणेन प्रधानान्तरे-  
मात्रमात्मनिराकृतमिति सिद्धान्तः ।

(अ०४०)तदुपजीव्य तदुपहितस्य जीवस्य संसारप्रकारं वैराग्यार्थं निरूपयितुं देहान्तरारम्भे भूतसूक्ष्मसंपरिष्वक्तस्यैव लोकान्तरगमनमित्याह—

(जीवस्य भाविशरीरधीजरूपसूक्ष्मभूतवेदितस्यैवेतो गमनम्, अधि०१)

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः

प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये ब्रह्मणि समन्वयस्य स्मृतिन्यायश्रुतिविरोधनिरासेना-  
नध्वसावलक्षणाभामाण्यनिरासे तार्त्तार्यो विचारो भवतीत्यनयोर्ध्याय-  
योर्हेतुर्हेतुन-द्भावः संगतिः । अत्र प्रथमपादे जीवस्य परलोकगमना-  
भमनविचारेण वैराग्यं निरूप्यते ' तस्माच्छुगुप्सेत ' [ छा० ५ । १० ।  
८ । ] इति श्रुतेः । द्वितीयपादे त्वंपदार्थतत्त्वार्थयोः परिज्ञोधनं क्रियते ।  
तृतीयपादे समुणविद्यासु गुणोपसंहारः । चतुर्थपादे निर्गुणब्रह्मज्ञा-  
नस्य बहिरङ्गाणि यज्ञाभमादीन्यन्तरङ्गाणि ज्ञमादीनि च निरूप्यन्ते ।  
अत्र श्लोकः—

तृतीये विरतिस्तत्त्वंपदार्थपरिशोधनम् ।

गुणोपसंहृतिज्ञानबहिरङ्गादिसाधनम् ॥ इति ।

तथा च तत्तद्विचारात्मकत्वेन तत्तदधिकरणानां तत्तत्पादसंगति-  
र्बोध्या । तत्र जीवो मुख्यप्राणोन्द्रियसहकृतो मूलाविद्याधर्माधर्मपूर्वभ्रमसं-  
स्कारात्मकपूर्वमज्ञासहकृतः पूर्वदेहं परित्यज्य देहान्तरं गच्छतीति  
श्रुतिसिद्धम् । तादृशो जीवः किं देहान्तरारम्भकैः पञ्चीकृतभूतमा-  
गैरतदेहवन्मुख्यप्राणादीनामाधारभूतैरसंपरिष्वक्तो गच्छत्युत संपरि-  
ष्वक्तो वेति संदेहे मानाभावादसंपरिष्वक्तो गच्छतीति पूर्वपक्षः । तथा  
च निराधारप्राणादिगमनासंभवात्त वैराग्यमिति फलं, सिद्धान्ते तु  
तत्संभवाद्धैराग्यमिति बोध्यम् । तत्रार्थं सिद्धान्तः—तदन्तरप्रतिपत्तौ  
देहान्तरप्रतिपत्तौ तदारम्भकभूतैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छति । कुतः ।

(४०)पूर्वस्मिन्नध्यायेऽविरोधो ब्रह्मणि समन्वितानां वेदान्तानामुक्तः ।  
इदानीं तत्प्राप्तिसाधनं ब्रह्मज्ञानं सोपायमिह चिन्त्यते । तत्रापि प्रथमे  
पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्वास्वै संसरणं चिन्त्यते वैराग्यार्थम्—तदन्तरेति ।

(४०१०) प्रश्ननिरूपणाम्याम् । तथा हि एतुलोकपरन्वयपृथिवीपुरुषचोपित्तु पञ्चस्वप्तिपुष्टयोपासनाख्यपञ्चाग्निविद्यामस्तावे प्रवाहृणाख्यस्य राज्ञः सर्मां पविष्टं श्वेतकेतुं राजा पप्रच्छ—'वित्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' [ छा० ५ । ३ । ३ ] अपमर्थः—अस्मिहोके जल-मपदधिपथः प्रभृतिद्रव्यरुहोमे श्रद्धापूर्वं कृते तद्भुतं जलं यजमानं प्राप्य तद्वारा एतुलोकपार्थिं गच्छच्छ्रद्धास्थाहुतित्वमापन्नं यजमाने-न्द्रियाधिष्ठातृदेवास्तास्मिन्नग्नौ जुह्वति तत्र हुतं जलं सोमाख्यदेहात्मना परिणमते । स च जलमयो देहः पर्यन्त्येऽग्नौ वृष्टयभिमानीदेषविशेषे हुतः सन्वृष्टिर्भवति । तदेव जलं सोमाख्यदेहमायं वृष्टिमायं चाऽऽपन्नं पृथिव्यामग्नौ हुतं सद्दीहिपवाद्यन्नमायमाप्नोति । ताश्चाजान्नमायमापन्ना आपः पुरुषाग्नौ हुताः सत्यो रेतोमायमायुवन्ति । तास्य रेतोमायमा-पन्नाः पञ्चमाहुतिकया आपो चोपिद्ग्नौ हुता गर्मात्मना स्थिताः पुरुष इति संज्ञां लभन्त इति पुरुषवचस्त्वमपामिति वस्तुगतिः । तां वस्तु-गतिं जानन्नेव राजा पञ्चम्यामाहुती हुतायां यथा पुरुषशब्दवाच्यता आपः पुरुषाकारेण परिणमन्ते तथा किं त्वं वेत्थेति पप्रच्छ । एवं पुष्टः श्वेतकेतुः पितरं गीतममागतवोवापैषं राज्ञाऽहं पुष्टोऽस्मि तस्यो-त्तरं न जानामीति । स च गीतमः स्वपमप्यङ्गः सत्राजसमीपं गत्वा तां विद्यां ब्रूहीत्युवाच । एवमुक्तस्य राज्ञो गीतमं प्रति निरूपणं पञ्चा-ग्निविद्योपदेशस्तत्र चापां पुरुषवचस्यप्रकारः स्फुटीकृतः । एवं प्रश्न-निरूपणाम्यामवादिभूतसंपारेष्यको रंहतीति गम्यते ॥ १ ॥

ननुक्तप्रश्ननिरूपणाम्यामग्निः संपरिष्वक्तो गच्छतीति गम्यते तथा च कथमग्नितरभूतपरिष्वक्तः सिद्धस्तत्राऽऽह—

व्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

नुरुक्तचोद्यनिरासार्थः । अपां त्रिवृत्करणध्रुत्वा व्यात्मकत्वाद्देहस्य यजमानद्वारा निर्गताभ्यन्यत्वे सिद्ध इतरभूतहृद्यजन्यत्वं तत्परिष्वक्तश्च

(दी०)सूर्यशरीराच्छरीरान्तरं तदन्तरं तस्य प्रतिपत्तौ प्राप्ती भूतसूक्ष्मैः परि-ष्वक्तो रंहति गच्छति । कुतः । प्रश्ननिरूपणाम्याम् । प्रश्नः, 'वित्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः' इत्यादि । निरूपणं च 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः' इति आभ्याम् ॥ १ ॥

उदाहृते प्रश्ननिरूपणे अव्येष्टितत्वं गमयतो न तु तदन्वैर्भूतसूक्ष्मैः परिष्वेष्टितत्वं गमयत इत्यत आह—व्यात्मकत्वादिति । तुभाब्दव्येष्टित-

(अ० ५०) सिध्यति । पट्टा वातपित्तश्लेष्मभिस्त्रिभिः शरीरस्य उपात्मकत्वा-  
ज्जलमात्रजन्यत्वं न संभवति वातपित्तयोर्वायुतेजःकार्यत्वात्तथा चाभि-  
तरभूतचतुष्टयजन्यत्वमपि गन्धस्वेदपाकप्राणावकाशानां पञ्चभूतका-  
र्षाणां दर्शनात् । तर्हि श्रुतावद्ग्रहणं कथं तन्नाऽऽह—भूयस्त्वादिति ।  
पद्यपि देहे पृथिवीभूयस्त्वमेव तथाऽपि तेजआद्यपेक्षयाऽपि भूयस्त्वं  
बोधयम् ॥ २ ॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

प्राणानां मुख्यप्राणचक्षुरादीनां जीवद्दशाणां देहात्मना स्थितमूता-  
भितानां गमनदर्शनात् । 'तमुक्त्वामन्तं प्राणोऽनूक्त्वामति प्राणमनूक्त्वा-  
मन्तं सर्वे प्राणा अनूक्त्वामन्ति' [ सू० ४ । ४ । २ ] इति श्रुत्वा  
मरणकाले प्राणानां गतिश्रवणाद्भूताभिता एव प्राणा गच्छन्तीति  
वक्तव्यं तथा च भूतसंपरिष्वक्तस्य रंहणमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

ननु 'यत्रास्यं पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्छु-  
रादित्यम्' [ सू० ३ । २ । १३ ] इत्यादिना वागादीनां प्राणा-  
नामग्न्यादिषु देवेषु गतेर्लघस्य श्रवणात् तेषां लोकान्तरं प्रति गति-  
र्यथा भूतसंपरिष्वङ्गसिद्धिः स्यादिति चेन्न । 'प्राणमनूक्त्वामन्तं

(दी०) शङ्कानिवृत्त्यर्थः । नायं दोषः । उपात्मकत्वात् । तेजोब्रह्मात्मकत्वात् ।  
अपि उपात्मकत्वे कुतोऽपि व्यपदेश इत्यत आह—भूयस्त्वात् । तासा-  
मपां सायंप्रातराहुतिमारभ्य यावद्ब्रह्म भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

ननु आहुतिर्हाराऽऽद्येन संपरिष्वक्तो गच्छतीति गम्यते न तु भूतसू-  
क्ष्मैरित्यत आह—प्राणेति । प्राणानां गतिः प्राणगतिः 'तमुक्त्वामन्तम्'  
इत्यादिमोक्ता तस्याः । प्राणानां सूक्ष्माश्रयाणामवगतिरित्यर्थः । चकारः  
'स एतास्तेजोमात्राः' इत्यादिश्रुतिं प्रमाणत्वेन समुच्चिनोति ॥ ३ ॥

अग्न्यादीति । 'अग्निं वागप्येति' इत्यग्निगतिश्रुतिः । आदिशब्देन  
'वातं प्राणः' इत्यादि । तस्याश्च न प्राणानामाश्रयत्वेन भूतसूक्ष्मत्वमिति  
चेत्तन्न । कुतः । भाक्तत्वात् । प्राणानां जीवेन सह गमनात्प्राणानाम-

(४०३०)सर्वे प्राणा अनुक्तामन्ति । [ सू० ४।४ । २ ] इति श्रुतिविरो-  
धेन यत्रास्येत्थादिभुतेः 'ओषधीर्लोमानि यनस्पतीन्केशाः' [ सू० ३ ।  
२ । १३ ] इति सहपाठेन माक्तवाद्यगमात् । न हि सुतस्य लोमानि  
केशाश्च प्रत्यक्षेण दृश्यमाना ओषधिवनस्पतिषु लभं गच्छन्ती दृश्यन्ते ।  
अतस्तत्सहपाठादभ्यादिषु वागादिलय औपचारिक इत्यर्थः ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्वत्थादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

ननु श्लोकादिषु पञ्चाग्निव्यामाहुतित्वे सिद्धे पञ्चम्यामाहुतावपां  
पुरुषवचस्वप्रकारे निश्चेतुं शक्यते तदेव नास्ति प्रथमे श्लोकाव्याग्रा-  
यपामाहुतित्वस्याश्वत्थात्किं तु 'तरिमन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः अर्द्धा जुहति'  
[ छा० ५ । ४।२ ] इति प्रथमेऽग्नौ अर्द्धवाऽऽहुतित्वेन धूपत इति चेन्न ।  
हि यतस्ता एवाऽऽपः अर्द्धाश्वत्थेनोष्पन्ते । कुतः । उपपत्तेः । अपां हि  
होमद्रव्यत्वेनाऽऽहुतित्वं संभवति । मनोवृत्तिविशेषरूपशब्दात् नु मनसः  
सकाशात्पृथक्कृत्य होमायोपादानं न शक्यते तदाहुतिजन्यसोमाद्यशरीरा-  
देरप्याहुत्यानुपपत्तिश्च । तस्माच्छब्दापूर्वस्मिद्धोकेऽश्वत्थलज्जधिषयःप्रभृति-  
द्रव्यस्य हृतस्य श्लोकाग्रायाहुतिरथेन पर्यवसानादप्यु अर्द्धाश्वत्थो  
लाक्षणिक इत्यर्थः । 'आपो हास्य अर्द्धा संनमन्ते पुण्याय कर्मणे' इति  
श्रुतावर्षा अर्द्धाजमकत्वश्वत्थात्तेन संबन्धेन चाप्यु अर्द्धाश्वत्थस्य  
लक्षणम् । अस्यै पुंस आचो दर्शनमात्रेण ज्ञानादिपुण्यकर्मसिद्ध्यर्थं अर्द्धा  
संनमन्ते जनयन्तीति धृत्यर्थः ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतिः ॥ ६ ॥

ननु भवतु सोमवृत्त्यादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्वप्रका-

(श्री०) न्यादिगतिश्रुतिर्माकापचारिता 'ओषधीर्लोमानि' इतिवत्तस्या  
मायो माक्तत्वम् । तस्मात् ॥ ४ ॥

प्रथम इति । प्रथमे 'अग्नौ अर्द्धा जुहति' इत्येतस्मिन्नपामश्वत्थाग्रायां  
सर्वैर्ब्राह्मवृत्तिरिति चेत्तन्न । ता एव हि यस्मादुपपत्तेः । अपां कारणानां  
कार्यस्य अर्द्धाव्यशब्दस्य सद्भावः । 'आपः' इति श्रुतेरपि ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति । अन्ननिरूपणान्वां जीवानामश्रुतत्वाद्देवे(ब्बे)ष्टि-



(ब्र०१०)रस्तथाऽऽप्यथादिभूतपरिष्वक्तो जीवो रंहतीत्युक्तमेव, अथाविध-  
ज्जीवस्य रंहणकर्तृत्वस्याभूतत्वादिति चेन्न । इहादिकारिणां प्रतीतेः । 'अथ  
य इमे ग्राम इहापूर्ते वृक्षमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' [ छा० ५ ।  
१० । १३ ] इत्यादिना गार्हस्थ्ये स्थित्वेष्टापूर्तादिकर्मकारिणां धूमादिमार्गैण  
चन्द्रलोकप्राप्तिमुक्त्वा तानिहादिकारिणश्चन्द्रलोकस्थान्सोमराजशब्देन  
निदिशति 'एष सोमो राजा' [ छा० ५ । १० । ४ ] इति ।  
इहापि पञ्चाग्निविद्यायां 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः भद्रां जुह्वति  
तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' [ छा० ५ । ४ । २ ] इति  
सोमराजशब्दध्ववणात् एवेष्टादिकारिणः प्रतीयन्तेऽतो भूतसंपरिष्वक्त-  
जीवानां रंहणमित्यर्थः ॥ ६ ॥

मन्विहादिकारिणां भूतपरिष्वक्तानां चन्द्रलोकं प्रति रंहणं कर्मफल-  
भोगाद्येतदसंगतं 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तास्तत्र देवा यथा  
सोमः राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्येवमेनास्तत्र मक्षयन्ति' [ वृ०  
६ । २ । १६ ] इति श्रुतौ लोकं गतानामिहादिकारिणामन्नत्वेन मक्षय-  
त्वध्ववणात् । यथा यज्ञे सोमं राजानं यमसस्यभृत्विज आप्यायस्व  
पुनराप्याय्याऽऽप्याय्यापक्षीयस्व पुनःपुनरपक्षय्यापक्षय्य मक्षयन्त्वेवमे-  
नान्कर्मिणो देवा मक्षयन्तीति श्रुत्यर्थः । तत्रोत्तरमाह—

भाकं वाऽनात्मविच्चात्तथा हि दर्शयति ॥ ७ ॥

वाक्यद्व्योदितदोषनिरासार्थः । तेषामिहादिकारिणामन्नत्वं भाक-  
मेव न मुख्यमन्यथा 'स्वर्गकाभो यजेत' इतिश्रुतिबाधप्रसङ्गात् ।  
अतः कर्मिणां देवान्प्रति पुत्रभार्यादिवद्भोगोपकरणत्वमात्रेणान्नत्वव्य-  
पदेशः । कर्मिणामनात्मवित्वाच्च देवान्प्रति गुणभावेन भोग्यत्वं तथा  
हि श्रुतिरनात्मविद्वां देवभोग्यत्वं दर्शयति—'अथ योऽन्यां देवता-

(बी०)तानां ग्रहणमयुक्तमिति चेत्तन्न । कुतः । इहादिकारिणाम् 'अथ य  
इमे ग्रामे' इत्यादिना वृक्षिणमार्गैण चन्द्रं विपासतां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

'तद्देवानामन्नं यद्देवा मक्षयन्ति' इति श्रुतेश्चन्द्रप्राप्तिरपुरार्या इति चेत्-  
त्राऽऽह—भाकमिति । वाक्यद्व्यन्तप्राप्तेरपुरुषार्थत्वव्यावृत्त्यर्थः । तेषां  
देवानामन्नत्वं भाकमुपचरितम् । कुतः । अनात्मविच्चातेषाम् । हि यस्मा-

[५-१५०-१६०-] ब्रह्मावृत्तवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २४९

(न०५०)मुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद पथा पद्मरेवं स देवा-  
नाम् [ वृ० १।४।१० ] इति । भेदवृष्टीनामनात्मविस्वारूपशुबदेवानामुप-  
करोति हविरादिदानेनेति देवयोग्य इति श्रुतितात्पर्यम् । ब्रह्माऽनात्म-  
विस्वादित्यादिमूत्रमागस्वायमर्थः—पञ्चाग्निविद्याविद्वान्नाऽऽमविच्छब्दे-  
नोच्यते । तथा चाऽऽमवित्पञ्चाग्निविद्यावित्स न मघतीत्यनात्मवि-  
त्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादित्यर्थः । केपलेष्टाद्विकारिणां पञ्चाग्निविद्यान-  
मिज्ञानां देवान्मत्पन्नभावेन मोगत्वं पञ्चाग्निविद्याप्रशंसार्थं गौणमेव  
श्रुतावुक्तमिति भावः । मन्वन्नत्वस्य मुख्यत्वेऽपि प्रशंसा संभवतीत्यत  
आह—तथाहीति । यथाऽन्नत्वस्य गौणत्वं तथा हि श्रुतिर्दर्शयति ' स  
सोमलोके विमूतिमनुभूय पुनरावर्तते ' [ ५० ५। ४ ] इति । तस्ये-  
ष्टाद्विकारिणः सोमलोके विमूत्यनुभवोऽन्नत्वस्य मुख्यत्वे न संभवति  
तस्मादन्नत्वस्य गौणत्वात्परलोके भोगार्थं भूतसंपरिष्वक्तस्य रंहणमिति  
सिद्धम् ॥ ७ ॥

( कर्मान्तरैः सानुशयस्य जीवस्य लोकान्तरारोहणम्, अधि० २ )

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिर्ष्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥

पूर्वकर्मसमवेतानामथा पञ्चमाहुती पुरुषात्मना परिणामधवर्णं हेतु-  
माश्रित्वावादिभूतपरिवेष्टितस्य जीवस्य रंहणमुक्तं तदपुक्तं, स्वर्गादव-  
रोहतां जीवानां कर्माभावेन तत्समवेतापामप्यभावादिस्वाक्षेपसंगतिः ।  
पूर्वपक्षे चन्द्रलोकमोगानन्तरं तस्मादवरोहतां कर्माभावेन तदनुगुण-  
तिर्पगादिपोनिमाप्यभावाच्च कर्मफलेषु वैराग्यमिति फलं सिद्धान्ते

(क्षि०) अथाऽस्माभिस्तेषामन्नत्वं भोग्यत्वेनोक्तं तथा श्रुतिर्दर्शयति 'अथ  
योऽन्याम्' इत्यादिना ॥ ७ ॥

पूर्वाधिकरणेऽवरोहेऽप्य(ब्रु)वेष्टितस्य जीवस्य पञ्चम्यामाहुतावाप इत्यु-  
पलम्भादारोहेऽपि कर्मसमवाचिनीभिरद्भिः परिवेष्टितो गच्छतीत्युक्तम् ।  
इहानीमंधरोहे कर्माभावाद्वागप्यभावा इत्याक्षिप्य सनाधचे—कृतेति ।  
कृतस्य पुण्यस्यात्यये विनाशेऽनुशयवान्कर्मानुशयवान्नाऽऽगच्छति  
वृथा जातमात्रस्य सुखाद्यवाप्तिः । अथ वा ' तद्य इह रमणीयचरणाः'

(ब०ब०) कर्मणः सत्प्राप्तिराग्यमिति विवेकः । एवं हि स्वर्गिणामवरोहणं श्रूयते—‘तस्मिन्यावत्संपातमुपित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते’ [छा०५। १०।५] इत्यारंभ्य रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते कपूय-  
चरणाः कपूर्वां योनिमिति तस्मिन्मन्त्रलोके यावद्भोक्तव्यकर्मोपित्वा भोक्तव्यकर्म समाप्यनन्तरमेतमेव वक्ष्यमाणमध्वानमाकाशवायुधुमाग्ना-  
दिक्रुपं प्रति पुनरागच्छन्ति, ते चाऽऽगता रमणीयचरणाः पुण्यकर्माणो ब्राह्मणादिपुण्ययोनिं प्रविशन्ति कपूयचरणाः कुस्तिककर्माणस्तिर्थमा-  
दियोनी जायन्ते इति तत्र संशयः—किं स्वर्गादवरोहन्तः सानुशया उत निरनुशया इति । अनुशयशब्देनाऽऽमुष्मिकफलप्रापककर्मातिरिक्तं कर्मोच्यते । तत्र यावत्संपातमुपित्वेति सर्वकर्मनाशानन्तरमवरोहणश-  
वणाग्निरनुशया एवावरोहन्तीति प्राप्ते ब्रूमः । कुतस्य स्वर्गमुखप्रापक-  
कर्मजातस्य भोगेनात्यये नाशेऽनुशयवानेवावरोहति । कुतः । दृष्टस्मृ-  
तिभ्याम् । तथा हि दृष्टा प्रत्यक्षा श्रुतिः ‘तद्य इह रमणीयचरणा  
अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्यरन्नाह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं  
वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूर्वां  
योनिमापद्येरन्मृश्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा’ [छा०  
५। १०। ७] इति । तेषां कर्मिणां मध्ये ये केचिद्विह कर्मभूमौ  
पुण्यं कृतवन्तस्ते स्वर्गादवरोहन्तो रमणीयां ब्राह्मणादियोनिमापद्ये-  
रन्निति । यत्तदभ्याशो ह क्षिप्रं ह्यवश्यमेवेत्यर्थः । चोनिशब्दः स्थान-  
वचनः शरीरं ब्रूते । यद्वा लोके जन्ममैव प्रतिपाण्युच्चावचमध्यरूपभोगो  
दृष्टः स च निरनुशयानामवरोहाङ्गीकार आकस्मिक एव स्वादिति  
सूत्रस्यदृष्टशब्दार्थः । स्मृतिरपि ‘वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठिताः  
मेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशकालकुलरूपायुःश्रुतवि-  
त्तवृत्तमुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते’ [गौ० शा० ११। २९] इति  
सानुशयानामेवावरोहणं दर्शयति । वर्णा वर्णिन आश्रमा आश्रमिणः ।  
प्रेत्यास्ताह्योकास्तस्मत्प्राय चन्द्रलोकमधिकह्येत्यर्थः । ततः शेषेण भुक्त-  
फलाद्यन्तेन कर्मणाऽनुशयास्थेन जन्म प्रतिपद्यन्त इति संबन्धः ।  
शून्यं ज्ञानं वृत्तमाचारः । देशादयो विशिष्टा येषां ते तथोक्ता इति । यत्तु  
‘यावत्संपातमुपित्वा’ [छा० ५। १०। ५] इति सकलकर्मनाशा-  
नन्तरं श्रवणमिति तत्र यावत्पदस्य स्वर्गे भोक्तव्याशेषकर्मपरत्वेन

(दी०) इत्याद्या श्रुतिः । स्मृतिरपि ‘तच्छेषेण विशिष्टम्’ इत्याद्या । ताभ्यां,

[४०१] ११५०. ब्रह्मानुसंधर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २५१  
१-१०]

(४०५०) सकलकर्मपरत्वाभावादिति । तस्मात्सिद्धं सानुशयानामवरोह-  
णम् । ते च कर्मिणोऽवरोहे येन मार्गेण चन्द्रलोकमाकृष्टास्तेनैव मार्गेणाव-  
रोहन्त्युत मार्गविक्षेपेणेति मन्त्र उच्यते—यथेतमनेवं चेति । धूमाकाश-  
योरेवाऽऽरोहणमार्गे भ्रुतयोरवरोहणमार्गे भ्रुतत्वाद्यथेतं यथागतमवरोह-  
न्तीति मन्वते । पूर्वभ्रुतानां राडयादीनामभ्रवणाद्भ्राष्ट्रधिकश्रवणाच्चा-  
नेवं पूर्वमार्गविपरीतमार्गेणावरोहन्ति न यथाभ्रुतपूर्वमार्गेणेत्यर्थः ॥ ८ ॥

चरणादिति चेशोपलक्षणार्थेति काष्ण्वाजिनिः ॥ ९ ॥

ननु रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्त इति भ्रुतिबलात्सामानु-  
शयानामवरोहणमित्येतदसंगतं तस्यां भ्रुती चरणाद्योन्वापत्तिश्रवणाच्च-  
रणस्याऽऽचारात्मकस्य कर्मणोऽनुशयाद्भिन्नत्वादिति चेन्नाथं दोषो  
यतः काष्ण्वाजिनिराचार्य इयं चरणभ्रुतिरनुशयोपलक्षणार्थेति मन्वते ॥९॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

ननु चरणभ्रुतिरनुशयोपलक्षणार्थेत्यसंगतं चरणस्यैव सदाचारदुराचा-  
रात्मकस्य सद्सद्योनिमापकत्वसंभवादन्यथा कर्मण एवानुशयात्पस्य  
सद्सद्योनिमापकत्वे चरणस्याऽऽनर्थक्यं स्यादिति चेन्न । इहादि-  
कर्मणां चरणास्वाचारनिर्वर्त्यत्वेन चरणापेक्षत्वाच्च चरणस्वार्थवत्त्वा-  
दित्यर्थः ॥ १० ॥

(४०१) चाऽऽगच्छति यथेतं यथागतमनेवं च तद्विपर्ययेणार्थि अमावा-  
द्विरूपेण प्रकारान्तरेणापि ॥ ८ ॥

चरणादिति । तद्यद् इह रमणीयचरणादागमनं सानुशयादिति चेन्न ।  
यतस्तस्यानुशयस्योपलक्षणार्थं चरणभ्रुतिरिति काष्ण्वाजिनिराचार्यो  
मन्वते ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति । चरणशब्दस्य श्रौतशीलार्थपरित्यागेन लाक्षणिका-  
नुशयस्वीकारे शीलस्याऽऽनर्थक्यं प्रयोजनशून्यत्वेव स्यादिति चेन्न ।  
तदपेक्षत्वात् । तस्य शीलस्यापेक्षा यस्य कर्मणः 'आचारहीनम् ।'  
इत्यादिस्मृतेस्तदपेक्षं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ॥ १० ॥

• अ. पूर्वमर्तव्यत्वात् ।

१ अ. 'वि श्रद्धाकारि' ।

(न० ५०) वस्तुतः कर्मचरणयोर्न भेद इत्याह—

सुकृतदुष्कृते एवेति तु वादरिः ॥ ११ ॥

वादरिस्त्वाचार्यः सुकृतदुष्कृते एव चरणज्ञानेनोच्येते इति मन्यते । लोक इष्टादिकारिणि धर्मं चरत्येव महाश्रेतेति कर्मचरणयोरभेदेन प्रयोगदर्शनादित्यर्थः । तस्मादिष्टादिकारिणां चन्द्रलोकं गतानां पुनरवरोहणेऽनुज्ञायोऽस्तीति सिद्धम् ॥ ११ ॥

एषमिष्टादिकारिणां गतिं विचार्य तेभ्यो निकृष्टानामनिष्टादिकारिणां गत्यागती विचारयितुमिष्टादिकारिण एव चन्द्रलोकं गच्छन्तीत्येतदाक्षिपति—

( पापिनां पाप्मलोकगमनम् , अधि० ३ )

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

अत्र पापिनां श्रुमार्गेण गमनमपि नास्तीति सिद्धान्तोक्त्या वैराग्यवृद्धीकरणोत्पादसंगतिः । पूर्वपक्ष इष्टानिष्टकारिणामविशेषेण चन्द्रलोकगतेरिष्टादिकरणं व्यर्थमिति फलति सिद्धान्ते पापिनां चन्द्रलोकगत्पमावात्तदर्थं यज्ञादिकरणं सार्थकमिति विवेकः । अत्र पापिनां चन्द्रलोकगतिरस्ति न वेति संदेहेऽस्तीत्याह—अनिष्टेति । इष्टादिकारिणामिवानिष्टादिकारिणामपि चन्द्रलोकगमनं ' ये वै के चारमाहोकां रयपन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ' [ कौ० १ । २ ] इति श्रुत्या श्रुतमतो धर्मिण एव चन्द्रलोकं गच्छन्तीत्येतदसंगतमित्यर्थः ॥ १२ ॥

(कौ०) सुकृतेति । वादरिश्चाचार्यश्चरणज्ञानेन सुकृतदुष्कृते एवामिधीयेते इति मन्यते तुज्ञानो लक्षणप्यावृत्त्यर्थः ॥ ११ ॥

पूर्वाधिकरणे यावच्छ्रुतेरारव्यफलविषयत्वेन संकोचः कृतस्ततोऽन्येन कर्मणा वर्तते इत्युक्तमत्र तु चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्तीति सर्वश्रुतेस्तद्वन्न संकोच इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिपति—अनिष्टेति । इष्टापुर्तादिव्यतिरिक्तं कुर्वन्तीति अनिष्टादिकारिणो, ये तेषामप्यविशेषेण ये वै के चेत्युपलक्ष्य चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्तीति श्रुतं यतोऽतश्चन्द्रगमनम् । चकारो यौक्तिकत्वप्रदर्शनार्थः ॥ १२ ॥

(४०५०)तनु धर्मिणामधर्मिणां च चन्द्रलोकगमनं पापिनां नररूपाति-  
बोधकशास्त्रविकल्पमिति चेन्न पापिनां चन्द्रलोकगमनाङ्गीकारेऽपि तत्र  
भोगानङ्गीकारात्किंतु चन्द्रलोकगमनमात्रं कृत्वा ततोऽधरोहतां  
पापिनां नरकेष्वेवानुभव इति प्राप्ते कृते—

संपमने त्वनुभूयेतरेषामारोहाव-  
रोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

तुः पूर्वपक्षनिरासार्थः । भोगार्थं हि चन्द्रलोकगमनम् । तत्र पापिनां  
भोगासंभवाच्चद्रमनं व्यर्थमेवातश्चन्द्रलोकमेव ते सर्वे गच्छन्तीति ह्युक्ति-  
रिष्टादिकारिणामविषया । सर्वे सुकृतिन एव चन्द्रलोकं गच्छन्तीति ।  
पापिनस्तु यमलोकमारुह्य संपमने यमालये स्वपापानुरूपा धामीर्पातना  
अनुभूय पुनरिमं लोकं प्रत्यधरोहन्तीत्येवंभूतावेतरेषां पापिनामारो-  
हाधरोहौ भवतः । कुतः । तद्गतिदर्शनात् । यमलोकगतेः धृती दर्शना-  
द्विश्वः । 'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन भूयम् ।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे' [क० १।२।  
६ ] इति । 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' [ ऋ० सं० मं १०।१४ । १ ]  
इत्यादिकं पापिनां यमलोकगतौ लिङ्गम् । सम्पन्नवशंप्रभावेन परः  
परस्ताद्देहपातादूर्ध्वमपते गम्यत इति व्युत्पत्त्या संपरायः परलोकः ।  
तस्माद्यमभूतकर्मविशेषः सांपरायः । स बालमविवेकिनं विशेषतो विच-  
निमित्तेन मोहेन मूढं छत्रद्वष्टिमत एव प्रमाद्यन्तं प्रमादं विषयासक्तिं  
कुर्वन्तं प्रति न भाति । स च बालो न केवलमज्ञ एव किंतु विपरीत-  
दर्शा यतोऽप्यमेव लोकोऽज्ञपात्नाद्विरसित न पर इति मननशीलस्त-  
स्मात्तदनुकूलं पापमाचरन्पुनःपुनर्जन्महरणमाप्त्वा मे मम वशमापद्यत  
इति सुप्तोर्नचिकेतसं प्रति यथनम् । जनानां परलोकं गतानां  
पापिनां संगमनं संप्रगम्यं वैवस्वतं यमं राजानं हविषा श्रीणय-  
तेत्यर्थः ॥ १३ ॥

(श्री०)संगमन इति । तुशब्दोऽनिष्टादिकारिणां चन्द्रगतिं व्यावर्तयति ।  
संपमने याम्ये पुर इतरेषामनिष्टादिकारिणां दुःस्वानुभवार्थं आरोहः,  
दुःस्वमनुभूयाधरोहः । तावेवाऽऽरोहाधरोहौ । कुतः । तद्गतिदर्शनात् ।  
तद्यथां पुरं वा तस्याः 'पुनर्वशमापद्यते मे' 'वैवस्वतं संगमनं जना-  
नाम्' इत्याभ्यां दर्शनात् ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

(अ० १०१) मन्वाद्यः शिष्टाः पापिनां नरकभोगं स्मरन्त्यतश्च धर्मिणामेव चन्द्रलोकगमनं नान्येषामित्यर्थः ॥ १४ ॥

अपि च सप्त ॥ १५ ॥

सप्त रौरवाद्यो नरकाः पापफलभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैस्तान्पापिनः प्राप्नुवन्तीति न चन्द्रलोकप्राप्तिरिति भावः ॥ १५ ॥

ननु पापिनो यमसंबन्धिनीपातना अनुभवन्तीति यतुक्तं तदसंगतं रौरवादिषु चित्रगुप्तादीनामधिष्ठातृत्वस्मरणादित्यत आह—

तत्रापि च तद्व्यापाराद्विरोधः ॥ १६ ॥

तत्रापि रौरवादिषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृव्यापाराद्विरोधश्चित्रगुप्तादीनां यमप्रयुक्तत्वादिति भावः ॥ १६ ॥

उपासकानामधिारादिमार्गः केवलकर्मिणां धूमादिमार्गं इति श्रुतिस्मृत्यादिषु व्यवस्था तथा चैतन्मार्गद्वयभ्रष्टानां पापिनां तृतीयमार्गोक्तेरपि न तेषां चन्द्रप्राप्तिरित्याह—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥

पञ्चाग्निविद्यायां प्रवाहणारुयेन राज्ञा मृतैर्जनिर्बहुभिश्चन्द्रलोकः

(श्री०) स्वैयुरुपपन्नविश्वसिनां नैतावता पश्य इत्यत आह—स्मरन्तीति । स्मरन्ति च व्यासाद्यः संयमने गमनं तेषाम् । अकारः प्रसिद्धिसमुच्चयार्थः ॥ १४ ॥

तथाऽपि लोकपालपुरे कथं दुःस्रत्वमित्यत आह—अपि सप्तेति । अपि सप्त नरका महारौरवप्रभृतयः स्मर्यन्ते पौराणिकैः ॥ १५ ॥

ननु न यमायत्तास्ते तेषु चित्रगुप्तादीनां स्मरणादित्यत आह—तत्रापितीति । तत्रापि तेषु अपि रौरवादिषु तद्व्यापारस्तस्य यमस्य व्यापारः समाज्ञा तस्माद्यमायत्तत्वमस्य । चित्रगुप्तादीनामप्यविरोधः । अकारः शङ्कौया अतिमन्दत्वसूचनार्थः ॥ १६ ॥

ननु मार्गद्वयस्य प्रकृतत्वादन्यतरेण तैरपि गन्तव्यमित्यत आह—विद्येति । एतयोः पथोरिति विद्याकर्मणोर्ग्रहणमिति यस्मात्तयोः 'तद्य

(म० १००) कथं न संपूर्वते तत्प्रकारं किं त्वं न जानासीति श्वेतकेतुः पृष्ठ-  
स्तस्य प्रश्नस्य श्वेतकेतुवितरं गौतमं प्रति राज्ञ एव प्रतिवचनं श्रूयते 'अथै-  
तयोः पयोर्न क्तरेणचन तानीमानि ह्युद्राण्यसक्तुदावर्तानि भूतानि  
भवन्ति जायस्व त्रिपश्येत्थेतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्वते'  
[ छा० ५ । १० । ८ ] इति । अत्रैतयोरिति पदस्यार्थमाह सूत्रकारः—  
विद्याकर्मणोरिति । अर्थ इति शेषः । कुतः । विद्याकर्मणोरेव देवया-  
नपितृयाणात्मकमार्गद्वयसाधनत्वेन प्रकृतत्वात्प्रकृतवाचकत्वमेतच्छ-  
ब्दस्य युक्तमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—एतयोर्विद्याकर्मणोः पयोर्मार्ग-  
साधनथोरन्यतरेण मार्गसाधनेन विद्याया कर्मणा वाऽन्यतरारिभ्योऽपि  
नाधिकृताः पापिनस्तेषां सुद्रजन्तुलक्षणोऽसक्तुदावर्तिजन्ममरणबाहुल्य-  
दुक्तस्तृतीयः पन्था इति न चन्द्रप्रतिरिति श्रुतौ जायस्व त्रिपश्ये-  
त्थेन जन्ममरणबाहुल्यदुक्तम् । स्थानशब्दो मार्गद्वयपङ्कमानुरोधान्-  
तीयं मार्गं लक्षयति । सूत्रे तुशब्देन चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छ-  
न्तीति श्रुतिनयुक्तज्ञानिरासः कृतः सर्वशब्दस्य पुण्यपुरुषमात्रपरत्वा-  
दिति भावः ॥ १७ ॥

ननु पापिनामस्मिंहीके देहवाप्यर्थं चन्द्रलोकपमनमङ्गीकर्तव्यं  
'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' [ छा० ५ । ३ । ३ ]  
इत्याहुतिसंस्थानियमेन देहवाप्यभिधानादप्यथा संस्थानियमाभाव-  
सङ्ग इत्यत आह—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

तृतीयमार्गे प्रविष्टानां पापिनां देहवाप्यर्थमाहुतिसंस्थानियमो  
नाऽऽदरणीयः । कुतः । तथोपलब्धेः । संस्थानियमं किमैव 'जायस्व  
त्रिपश्येत्थेतत्तृतीयं स्थानम्' [ छा० ५ । १० । ८ ] इति श्रुतौ तृती-  
यमार्गे देहवाप्येकपलब्धेरित्यर्थः । इष्टादिकारिणामेवार्थं संस्थानियम

(श्री०) श्रुत्यं विपुः' इति विद्या 'हृष्टापूर्तं दत्तम्' इति कर्म । प्रकृतत्वात् ।  
पूर्वमुक्तत्वात्तेषां च तथोरभावाद्दत्तो नान्यतरेण यममम् । तुशब्दो  
जायस्व त्रिपश्येत्थेनेन तृतीयं स्थानं दर्शयति ॥ १७ ॥

तथो स्याद्भूतिचञ्चकपुरवार्थं चन्द्रमसि तेषामपि गमनमित्यत आह—



(ब०५०) इति भावः । किंच ' पञ्चम्यामाहुतावषाः पुरुषवचसो भवन्ति ' पञ्चम्यामाहुतावषां पुरुषवचस्त्वं प्रतिपाद्यते नापञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वं निषिध्यते वाक्यभेदप्रसङ्गात् । तथा च वे चन्द्रं पतास्तेषा संख्यानियम इतरेषां तु विनैव संख्यानियमं भूतान्तरप्रविष्टामिरद्भिर्देह आरभ्यत इत्यनियमः ॥ १८ ॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥

अपि च लोके भारतादीं द्रोणधृष्टद्युम्नादीनां सीताद्रौपद्यादीनां चापोनिजत्वं स्मर्यते । तत्र द्रोणादीनां योपिदाहृतिरेका नास्ति धृष्टद्युम्नादीनां योपित्पुरुषविषये द्वे आहुती न स्त इत्याहुतिसंख्याया अनियमः । एवमन्यत्रापीति भावः ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

किंच लोके जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेषु चतुर्विधेषु वेहेषु स्वेदजोद्भिज्जयोः स्त्रीपुंशुक्तिसंयोगं विनैवोत्पत्तिदर्शनात्साऽऽहुतिसंख्यानियम इत्यर्थः । जरायुजं मनुष्यादिशरीरमण्डजं पक्ष्यादिकं स्वेदजं पूसादिकमुद्भिज्जं वृक्षादिकम् ॥ २० ॥

ननु ' तेषां स्रल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जम् ' [ छा० ६ । ३ । १ ] इति श्रुतौ शरीरत्रैविध्यं श्रूयतेऽतः कथं चाहुर्विध्यमत आह—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

श्रुतौ ' आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम् ' [ छा० ६ । ३ । १ ] इत्यत्र

(शे०) न तृतीय इति । जायमाहुतिनियमस्तृतीये स्थाने । कुतः । पूसादी तथोपलब्धेः । आहुतिनियमस्यादर्शनात् ॥ १८ ॥

ननु पुरुष आहुतिनियमस्य दर्शनात्तद्वृष्टान्तेन जीवान्तरेऽपि स नियमोऽनुमीयत इत्यत आह—नाथं मनुष्येष्वपि निवमः । द्रोणद्रौपद्यादीनां योनिमन्तरेणापि शरीरस्वोत्पत्तिदर्शनात् । चकारात्पुराणेष्वपि ॥ १९ ॥

तथाऽपि क्वचिद्ब्रह्मं भूयो हृष्टं न बाधत इत्यत आह—दर्शनादिति । स्वेदजोद्भिज्जयोरआहुतिपञ्चकमन्तरेणाप्युत्पत्तिदर्शनात् । चकारो नियम-भङ्गसमुच्चयार्थः ॥ २० ॥

ननु स्वेदजमेव नास्ति अण्डजं जरायुजमुद्भिज्जमिति त्रयाणामेव

(न० १०) तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनावरोधः संग्रहः । संशोकजस्य स्वेदजस्य । वृक्षादिकं हि पृथिवीमुद्भिज्ज जायते स्वेदजं तु जलमुद्भिज्जोत्पुमयोर-  
वयवार्थत्वाविशेषाद्भिज्जजपदेन संग्रहः श्रुतौ कृतः । न ह्येतावता चातु-  
र्विध्यहानिर्भवति स्थावरजङ्गमात्मकत्वेनोभयोर्मैदस्य तुरप्लववाविति  
भावः । तस्माद्वनिष्ठादिकारिणां न चन्द्रलोकापत्तिः किं त्विष्ठादिकारि-  
णामेवेति सिद्धम् ॥ २१ ॥

( अवरोहिणो जीवस्य विषदाविसमानत्वम्, अधि० ४ )

\* सामान्यापत्तिरूपपदेः ॥ २२ ॥

पूर्वमिष्ठादिकारिणश्चन्द्रं गताः कर्मफलमोगानन्तरं सानुशाया अवरो-  
हन्तीत्युक्तमत्र तेषामवरोहप्रकारश्चिन्त्यते । तत्रावरोहश्रुतिः पठ्यते  
'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निर्वर्तन्ते पथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा  
धूमो भवति धूमो भूत्वाऽग्निं भवत्यग्निं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा  
प्रवर्षति' [ छा० ५ । १० । ७ ] इति । अथ भोक्तव्यकर्मसमाप्यन-  
न्तरमध्वानमेवाऽऽह—पथेतमिति । पथागतमित्यर्थः । इदमुपलक्षणमने-  
कमित्यपि द्रष्टव्यम् । याः स्रत्वापश्चन्द्रलोके देहमारब्धवत्यस्ताः कर्म-

(श्री०) श्रवणादित्यत आह—तृतीयेति । तृतीयशब्देनोद्भिज्जमित्येतस्मि-  
न्नवरोधः स्वीकारः संशोकजस्य स्वेदजस्य ॥ २१ ॥

पूर्वाधिकरणे स्थानशब्धो मार्गपरत्वेन नीतरतृतीयमिति त्रित्यसंख्या-  
योगात्तर्हीहापि वायुर्भूत्वेत्युत्तरत्र वायुतादात्म्यश्रवणादाकाशमित्यत्रापि

\* क. समानो भावो रूपं येषां ते समानास्तेषां भावः सामान्यं साकृत्यं सादृश्यमिति  
यावत् । कुतः । उच्यते । एतदेव न्यतिरिक्तस्यैव व्याचष्टे न अन्यत्पान्यमात्रं लक्ष्यते ।  
शुक्लमेतदेदिन्द्रशरीरमनमरानेन पीण्यन्ते देवेहेतुस्येऽनन्तरशरीरस्थाभावाद्यदि तु देवा-  
नमरशरीरे समान्ये स्यात्ताम् । न देवशरीरमनमरशरीरं शिल्पित्वापि क्रियते,  
न हि इतिव्यती समान्ये परस्परमनी-शब्धे संवादितुं, तेषां हि सुहृदशरी-  
राकाशनेर्भुवमद्रत्यात्र परस्परान्तरं भवितुमर्हति । एवं वाक्यादिक्यपि योज्यम् । तथा च  
तद्ब्रह्मसादृश्येनीचपारिको व्याख्येय इति भामतीनिबन्धेऽर्थः । तथा च कस्यतस्त्वरः—  
स्वामान्यापत्तिरिति पाठे स्वस्मिन् भावो देवां ते स्वभावाः स्वामान्यमिति समवायाद्वाह्यः  
स्यात्तः स्व(ता)मान्यापत्तिरिति युक्तः पाठस्तं व्याचष्टे समान इति )

(अ०१०) क्षय इता आकाशं गतास्तत्समा यदा भवन्ति तदा तदुपहितानुशयिनो जीवा अप्याकाशसमा भवन्तीत्याह—आकाशमिति । एवं वाय्वादायपि योजनीयं वायुर्भूत्वा वायुसमो भूत्वा । एवमेवमग्नेऽपीति सिद्धान्तार्थः । पूर्वाधिकरणे 'जायस्व त्रियस्त्रेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' [ छा० ५ । १० । ८ ] इत्यत्र स्थानशब्दस्य मार्गद्वेषोपक्रमसामर्थ्यात्तृतीयमार्गलक्षकत्वमुक्तं तद्युक्तमिमौ द्वौ ब्राह्मणादित्युपक्रम्यायं तृतीय इत्यादौ तृतीयस्योपक्रमस्तज्जातीयस्यैव वर्णनाविह तु भवति श्रुतेर्मुखावर्थापरित्यागे मानामाव इति प्रत्युदाहरणसंगतिः । पूर्वपक्षे भवति श्रुतेर्मुख्यत्वसिद्धिः फलं सिद्धान्ते गौणत्वसिद्धिरिति विवेकः । तत्र संशयः । किं स्वर्गाद्वरोहन्तो जीवा आकाशादिवस्वरूपं प्रतिपद्यन्त उत तत्साम्यमिति । तत्र भवति श्रुतेर्मुख्यत्वानुरोधादाकाशादिवस्वरूपापत्तिरेव जीवानामिति प्राप्ते द्रुमः । जीवानां तैराकाशादिभिः सामाव्यापत्तिः साम्यापत्तिरेव । कुतः । उपपत्तेः । लोके क्षीरस्य दधिभावो युक्तः क्षीरकाले वृष्यभावाविह तु पूर्वं विद्यमानाकाशादिभावो जीवस्य द्रुमपादः । किंच जीवस्याऽऽकाशस्वरूपापत्तौ वाय्वादिक्रमेणावरोहामावप्रसङ्ग इत्यादियुक्तिवशाद्भवति श्रुतेर्गौणत्वमङ्गीकर्तव्यमित्याकाशादिसंबन्धमात्रमेव जीवानाम् । संबन्धश्च सावृत्त्यातिरिक्तो न संबन्धतीति सावृत्त्यमेवेति सिद्धम् ॥ २२ ॥

एवमाकाशादिषु वर्षान्तेषु पूर्वपूर्वसाहचर्यानन्तरमुत्तरोत्तरसावृत्त्यमित्युक्तं तदुपजीव्य विचार्यते किं जीवाक्षिरकालमेकसावृत्त्येनावस्थायापरसावृत्त्यं गच्छत्युत्तालकालमिति विषये नियामकशास्त्रामावादनियम इति प्राप्ते सिद्धान्तार्थति—

(श्री०) अनुशयिनस्तेन सह तादात्म्यं स्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—सामाव्येति । तैराकाशादिभिः समानो भावः सभावस्तस्य भावः सामाव्यं सूक्ष्मत्वादिस्तस्याऽऽपत्तिः । न त्वाकाशादिरूपत्वं जीवस्य । कुतः । अन्यस्याऽऽकाशादेर्जीवस्य वा तादात्म्याभावस्योपपत्तेर्न्याय्यत्वात् ॥ २२ ॥

[अ० २७० १२० ब्रह्मामृतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २५९  
२१-२४]

(अ० २७०) (स्वर्गाद्वतरणकाले स्वर्गवृष्टिपृथिवीधरूपयोपित्तु क्रमशो जनि-  
प्यतो जीवस्य स्वर्गे वृष्टौ च जन्मनि त्वरा तदितरेषु च जन्मनि बिलम्ब  
इति कथनम्, अधि० ५ )

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

जीवो नातिचिरेणात्पं कालमेवाऽऽकाशादिवर्षान्ते सावृश्येनावस्थाप  
वर्षधाराद्वारा पृथिवीं प्रविशति । कुतः । विशेषात् । पृथिव्यनन्तरं ब्रीह्यादौ  
प्रवेशमुक्त्वा ब्रीह्यादिभ्यो जीवस्य निःसरणसमये ब्रीह्यादिषु चिरका-  
लावस्थानरूपविशेषं दर्शयित्वा निःसरणं दर्शयति धृतिः—'अतो वै सल्लु  
हुनिष्यपतरम्' [छा० ५ । १० । ६] इति । एकरतकारो लुप्तवृष्टान्दसप्र-  
क्रियया । अतोऽस्माद्ब्रीह्यादिमावाद्हुनिष्यपतरं दुःखतरं जीवानां  
निःसरणं भवतीत्यर्थः । ब्रीह्यादिभ्यो जीवस्य दुःखं निःसरणं भवतीत्युक्त  
आकाशादिभ्यः सुखं निःसरणं जातमिति प्रतीयते, यथा लोके कश्चि-  
त्पण्डितोऽनेकराजसमासंचारं चरित्वा कस्यांचिद्वाजसमायामान्गोष्ठि-  
कामतिष्ठामविन्दतेत्युक्त इतरानु समास्वान्गोष्ठिकां न लब्धवानिति  
प्रतीयते तद्वत् । ब्रीह्याकाशादिषु सुखदुःखे जीवस्य दीर्घकालावस्था-  
नास्यकालावस्थाने एव तदानीं स्थूलशरीरामावेन सुखसुखदुःखयो-  
रसंभवात् । तस्माद्ब्रीह्यादिप्रवेशात्पूर्वमल्पमेव कालं तत्तत्सादृश्येनाव-  
स्थानमिति सिद्धम् ॥ २३ ॥

( तस्यादौ जीवस्य न मुख्यजन्म किं तु संश्लेषमात्रमिति कथनम्,  
अधि० ६ )

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलाषात् ॥ २४ ॥

तस्मिन्नेवावरोहे जीवानां वर्षधाराद्वारा पृथिवीप्रवेशानन्तरं पठ्यते—

(द्यौः) (पूर्वाधिकरण आकाशादिसमानरूपतामनुशयिनः प्रागुबन्तीत्यु-  
क्तम्) तर्हि आकाशादेः प्राकृतलवान्तमवस्थानावृत्तुश्च अयिनोऽपि तावद्-  
वस्थानमित्याक्षिप्य सनाधत्ते—नतीति । आकाशादिसामान्यरूपताया  
जीवस्य नातिचिरेण नातिदीर्घेण कालेन निर्गमनमिति । कुतः । ब्रीह्या-  
दिषु पठ्यते ' अतो वै सल्लु हुनिष्यपतरम् ' इत्येतस्मादेव दीर्घकालतया  
विशेषात् ॥ २३ ॥

पूर्वाधिकरणे ' अतो वै सल्लु हुनिष्यपतरम् ' इति विशेषात्तिलमापा-

\* व. नृशक्तिः ।

१ व. 'उ पु' २ व. पुस्तकयो धनुषिद्यान्तमंतो प्रत्यः ।

(अ०५०) 'त इह भीहियवा ओपधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' [छा०५।१०।६] इति । तेऽनुशायिनो जीवा इत्यर्थः । तत्र संज्ञापः । किं जीवानां भीह्यादिभावेन जन्मश्रुतिर्मुच्येत जीवान्तराधिष्ठिते भीह्यादौ संसर्गमात्रमिति । तत्र पूर्ववद्दुःखिष्यपततरशब्दस्य पूर्वोक्तदुःखिष्यलक्षिरकालावस्थानलक्षकत्वेऽपि प्रकृते क्षीरस्य दधिभावेनेयावादिभूतसंपरिष्यक्तजीवानामवादिद्वारा भीह्यादिभावेन मुख्यस्यैव जन्मनः संभवाद्भीह्यादिस्थावरक्षारीरेषु सुखदुःखमाजोऽनुशायिनो जीवा इति प्रत्युदाहरणे पूर्वपक्षे सिद्धान्तः—अन्यैर्जीवैराधिष्ठिते भीह्यादौ संसर्गमात्रमनुशायिनां भवति पूर्ववद्यथाऽऽकाशादौ संसर्गमात्रं तद्वत् । कुतः । पूर्ववद्भिलापात् । यथाऽऽकाशादियु वपान्तेषु कर्मपरामर्शमन्तरेणैव प्रवेश उक्त एवं भीह्यादिविष्वपि कर्मपरामर्शं विनैव प्रवेशाभिलापादित्यर्थः । पूर्ववदिति पदं सूत्रेऽर्थद्वयाभिप्रायेण प्रयुक्तमिति पुनरुपादाय व्याख्यातं तस्मात्कर्मपरामर्शाभावात् भीह्यादिविष्वनुशायिनां सुखदुःखमास्त्वं पञ्च त्वनुशायिनां सुखदुःखमास्त्वं तत्र कर्मपरामर्शो 'रमणीयचरणाः' इत्यादिना वृक्षपत इति 'जायन्ते' इति श्रुतिः संसर्गमात्राभिप्राया न मुख्येति बोध्यम् ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

ननु ज्योतिष्टोमादिकं कर्म पञ्चहिंसायोगाद्दुःखं तत्कारिणामनुशायिनां भीह्यादिषु स्थावरेषु दुःखानुभवार्थं मुख्यमेव जन्मास्त्विति चेन्न । ज्योतिष्टोमादेः शब्दादिहिंसाप्राज्ञमत्वेनापगतत्वात् दुःखहेतुत्वमित्यर्थः ॥ २५ ॥

(दो०) दिद्विष्व कश्चिन्न विलम्ब आकाशादिवित्युक्तं तर्हि जायन्त इति विशेषात्तिलमाषादिविष्वनुशायिनां जन्म स्यादिति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अन्येति । 'इह भीहियवाः' इत्यादावन्वेन तिलमाषादिजीवेनाधिष्ठितमन्याधिष्ठितं तस्मिन्तच्छरीराधिष्ठित एवाधिष्ठिति । अनुशायी तु पूर्ववत् । यथा वाप्यादौ संश्लेषमात्रं तद्द्विह्यादावपि । कुतः । तत्रापि सुकृतसुकृताद्विष्यापारमन्तरेण तद्भावापत्तेरभिलापाद्भक्तत्वात् ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति । स्वर्गाद्वरोहिणां पञ्चहिंसालक्षणमशुद्धं पापमस्तीति चेन्न । पश्वादेर्हिंसाया वैदिकाच्छब्दात्कत्वद्भताया अवगतत्वात् ॥ २५ ॥

विंश—

रेतःसिन्धोमोऽथ ॥ २६ ॥

(म०१५०) अथ ब्रीह्यादिभावानन्तरमनुशयिनां रेतः सिञ्चतीति रेतःसिक्त-  
घोमस्तद्भायः क्षुत्तावाम्नापते ' यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति '  
[ छा० ५ । १० । ६ ] इत्यनुशयी ब्रीह्याद्यज्ञद्वारा पुरुषं प्रविष्टस्त-  
द्भूयो भवति तद्भायं गच्छतीत्यर्थः । न ह्यनुशयिनां रेतःसिग्भावो  
मुख्यः संभवति, इदानीं पुरुषं प्रविष्टस्वेनाप्राप्तपीयनत्वाद्युक्तस्तद्भावस्त-  
त्संसर्गो वक्तव्यः । तथा च ब्रीह्यादावपि संसर्ग एव । आकाशादावपि  
संसर्गस्यैवावगतत्वेन संश्लेषन्यायादिति भावः ॥ २६ ॥

नन्वनुशयिनां सर्वत्र संसर्गस्यैवाद्भेदिकारे मुख्यं जन्म क्वापि न  
स्वात्तथा ' रमणीयां पौनिमापद्येत् ' [ छा० ५ । १० । ७ ] इत्या-  
दिश्रुतेर्गोणत्वप्रसङ्ग इत्यत आह—

पोनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

पोनी रेतसि पविष्टे ततः शरीरमनुशयिनामनुशयाख्यकर्मभोगाय  
जायत इत्याह शास्त्रं ' तद्य इह रमणीयचरणाः ' [ छा० ५ ।  
१० । ७ ] इत्यादि । तस्माद्ब्रह्मणादियोनायेवानुशयिनां मुख्यं जन्म  
न ब्रीह्यादाविति गत्यागतिविवेककृते वैराग्यं ज्ञानसाधनमित्यन-  
वद्यम् ॥ २७ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रबुक्तौ तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादः ॥ १ ॥

(श्री०) अस्तु ब्रीह्यादिभावो विना पावमित्यत आह—रेतःस्रीति । अथ  
ब्रीह्यादिभावानन्तरं रेतःसिक्ताऽपि योगो रेतःसिन्धोमोः । ब्रीह्याद्यानां  
बहुत्वात्कण्ठनाद्यधसर एव भ्रंशसितत्वात् तेन योग इति भावः ॥ २६ ॥

नन्वस्तु भवासो बहुत्वं वाऽथापि कश्चन स्थित्वा तेन योगं यास्य-  
तीत्यत आह—पोनेरिति । पोनेरपि अनुशयिनां शरीरान्तरं ' तद्य इह  
रमणीयचरणाः ' इत्यादि भावयति शास्त्रं तेनेदमवगम्यते तृतीयस्या-  
निनामेव ब्रीह्यादिभावो मानुशयिनाम् ॥ २७ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः

पादः ॥ १ ॥ ६ ॥ २७ ॥

(न० १०) एवं गत्यागतिनिरूपणेन कर्मफलेभ्यो विरक्तस्य महापापकार्य-  
ज्ञानाय तत्संपदार्थी शोधयितुं पादमारभमाणो गत्यागतिनिरूपणेनैव  
जाग्रदवस्थानिरूपितेत्यभिसंधावाऽऽत्मनः स्वयंप्रकाशत्वसिद्धये स्वप्ना-  
वस्थां वक्तुं पूर्वपक्षयति—

( स्वप्नग्रहणैर्भिष्यत्त्वकथनम्, अधि० १ )

संधे सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

तथा चानयोः पादयोर्हेतुहेतुमद्भावः संगतिः । सिद्धे विरक्तेऽस्य  
पादस्य प्रवृत्तेस्तरसंपदार्थयोर्मध्ये त्वंपदार्थस्योद्देश्यत्वाच्च स्थानतोऽधी-  
त्यतः प्राक्तनस्यावस्थानिर्मुक्तत्वं प्रतिपाद्यते, ततश्चा पादसमाप्तेस्तत्प-  
दार्थो विचार्यते । तत्र स्वप्नावस्थाया जाग्रदानन्तर्वात्स्वयंप्रतिबुद्धिसिद्धौ  
स्पष्टसाधनत्वाच्चाऽऽद्यै विचारः । जाग्रदवस्थायां सूर्यादिप्रकाशास्ये-  
नाऽऽत्मनः स्वप्रकाशात्त्वं दुर्ग्रहं स्वप्ने तु सूर्याद्यभावेऽपि प्रत्यक्षतया  
हृदयमानात्सुग्रहमिति स्वप्नस्य स्वयंप्रतिबुद्धिसिद्धौ स्पष्टसाधनत्वं मन्त-  
व्यम् । एवं हि स्वप्नं प्रकृत्य भूयते, न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो  
भवन्ति । अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते ' [ वृ० ४ । ३ । १० ]  
इत्यादि तत्र संशयः । किं स्वप्नसृष्टिर्वायुहारीकी घटादिवद्वत् श्रुक्ति-  
रजतवम्भावामात्रमिति । पूर्वपक्षे घटादिवत्तत्या स्वप्नावस्थाऽतो  
जीवस्य पृथक्करणायोगाद्ब्रह्माभेदरूपवाक्यार्थान्वयासिद्धिः कलं सिद्धा-  
न्ते तत्सिद्धिरिति भेदः । तत्रेदं पूर्वपक्षमूत्रं संध्य इति । संधे जाग्रदु-  
पुत्पयोः संधी भवे स्वप्ने सृष्टिर्वायुहारीक्येव हि यतः सुतिरेवमाह  
' अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते ' [ वृ० ४ । ३ । १० ] इति ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

किं चैके शास्त्रिनोऽस्मिन्नेव स्वप्ने कामानां निर्मातारं तथा जीवमिव

(क्षी०) एवं प्रथमेन पादेन कर्मफलरूप यातायातकल्पत्वेन वैराग्यं निरूपितम् ।  
इदानीं विरक्तस्य तत्संपदार्थविवेकाय द्वितीयः पाद आरभ्यते । जागर-  
णावस्थाया उक्तत्वाद्बुद्धिविवेकत्वाच्च तत्र त्वमर्थस्य स्वप्रकाशत्वस्य  
स्वप्नावस्थाभेदो रतीकृत्य पूर्वपक्षमाह—संध्य इति । जागरणसुषुप्तयोः  
संधी भवं संध्यं स्वप्नस्थानं तस्मिन्स्थादीनां सृष्टिः सत्यैव । कुतः । हि  
यस्मान्न तत्र रथा इत्युपक्रम्य पथः सृजत इत्यन्तेनाऽऽह ॥ १ ॥

ननु सृजत इत्याक्षिप्तकर्तृकोऽयं लकारः । अत एवासत्यत्वमित्यत

(अ०६०) परमात्मानमात्मनन्ति—<sup>१</sup> य एषं सुत्सेषु जामार्त्तं कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः <sup>२</sup> [क०५।८] इति । एषु बहुरादिकरणेषु सुत्सेषु निर्व्यापारे-  
ष्वित्यर्थः । ननु धृतौ कामानां बुद्धिदृष्टिद्वेषोपाणां निर्माता परमात्मेति  
श्रूयते नार्थनिर्मातेत्यत आह—पुत्रादपश्चेति । काम्यन्त इति श्रुत्यस्या  
पुत्रादप एव कामा इत्यर्थः । निर्मातृत्वं परमात्मन इत्यर्थः । तथा च  
स्वप्नमृष्टिः सत्येश्वरकर्तृकत्वात्क्षित्यादिवदित्यनेन सूत्रेणोक्तम् ॥ २ ॥

तस्माच्छ्रुत्यनुमानाभ्यां स्वप्नमृष्टिः सत्येति भाषे प्रत्याह—

मायामात्रं तु कास्मर्त्थेनानभिष्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३॥

तुः पूर्वपक्षनिरासार्थः स्वप्नमृष्टिर्मायामात्रं श्रुक्तिरजतवत् । कुतः ।  
कास्मर्त्थेनोचितदेशकालादिसंपत्त्या \* बाधामात्रेण चानभिष्यक्तस्वरू-  
पत्वात् । न हि रथादीनामुचितो देशः स्वप्ने संभषति वेहान्तर्नाडीप्रवि-  
ष्टमनोवच्छिन्नसाक्षिनिष्ठत्वात् । नाप्युचितः कालोऽस्ति घटिकामात्रब-  
र्हिनि स्वप्ने बहुसंघसंस्तरसाध्यसंस्तरणस्य दर्शनात् । तस्मान्वातिमासिक  
एव स्वप्नप्रपञ्चः । यदुक्तम् । 'अथ रथास्रथयोगान्यथः सृजते' [ वृ० ४।  
३ । १० ] इति जीवकर्तृकां मृष्टिं धृतिराहेति सृष्टेः सत्त्वमिति । तच्छ्रु-  
त्यैव 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति' [ वृ० ४ । ३ ।  
१० ] इत्यादिकया स्वप्ने रथाद्यभाववोधिकया परिहृतम् । अनुमाने  
चोचितदेशादिजन्यत्वमुपाधिः ( + स्वप्नमृष्टिः सत्येश्वरकर्तृकत्वादित्यत्र

(श्लो०) आह—निर्मातारमिति । एके शास्त्रिनोऽस्मिन्नेव संध्ये स्थाने कामानां  
निर्मातारमात्मानमात्मनन्ति । 'कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' इति ।  
मन्वत एव मनोरथमात्रत्वात्तेषामसत्त्वमित्यत आह—पुत्रादपश्च ।  
कामा इति शेषः । काम्यन्त इति कामाः । यस्मात्पुत्रपौत्रानित्युपक-  
म्यान्ते कामानामित्याह । आद्यशब्कारः प्राज्ञस्य कर्तृरभावे कर्तृमात्र-  
सत्त्वत्वं समुच्चिनोति । द्वितीयशब्कारो मनोरथानामपि सत्यत्वमाह ॥२॥

इदानीं सिद्धान्तमाह—भावेति । तुल्यद्वौ रथादीनां सत्यत्वं व्याव-  
र्तयति । कुतः । तन्मायामात्रं भाषेव स्वप्नदृष्टं पतस्तदपि कुतः ।  
कास्मर्त्थेनानभिष्यक्तस्वरूपत्वात् । देशतः शतथोजनाविना कालतो



(न०५०) यत्र यत्र सत्यत्वं तत्र तत्रोचितदेशादिजन्यत्वं एव यद्वेश्वरकर्तृ-  
कत्वं तत्र तत्रोचितदेशादिजन्यत्वं नेति साध्यव्यापकस्य साधनाव्याप-  
कस्य चोचितदेशादिजन्यत्वस्योपाधेर्धिद्यमानस्याद्यभिचार इति भावः )  
हेत्वसिद्धिश्च भ्रूयन्तरे स हि कर्तेति ' स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय स्वेन  
भासा स्वेन उपोतिषा प्रस्वपिति ' [ बृ०४।३।९ ] इति च स्वप्नसृष्टेर्जीव-  
कर्तृकत्वभवणान् । एयं विहृत्य पूर्वदेहं निश्चेष्टं कृत्वा स्वयं निर्माया-  
पूर्वं स्वाप्नदेहं संपाद्य स्वेन भासा स्वीयान्तःकरणवृक्षा स्वेन उपोतिषा  
स्वरूपचैतन्येन चैत्वर्यः । तथा च ' कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः '  
[ क० ५।८ ] इत्यत्रापि जीव एव निर्माता ज्ञेयः ॥ ३ ॥

ननु स्वप्नस्य मिथ्यात्वे सत्यञ्जुमाद्युभसूचकत्वं न स्यादित्यत आह-  
सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

स्वापे गजादिप्रकाशोऽस्तस्य एव वस्तुतः स च सूचकः सत्यस्य  
साध्यसाधुसूचनस्य हेतुः । तथा हि—

यदा कर्मसु काम्येषु क्षियं स्वप्नेषु पश्यति ।

समुद्भिं तत्र जानीयात्स्मिन्स्वप्ननिदर्शने ' [ छा०५।२।९ ]

इत्यादिश्रुतेरवगम्यते स्वप्नः । आचक्षते स्वप्नाध्यापविद्ः । ज्ञानाद्युभ-  
सूचकत्वं स्वप्नस्येत्यर्थः । यद्यपि प्रकाशस्वार्थोपरागेणैव सूचकत्वमिति  
वस्तुतः सत्यत्वमप्रयोजकं तथाऽपि रजतस्य सत्यहर्षादिजनकत्ववत्स-  
त्यसूचकत्वमविशुद्धमिति तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

(शे०) रौद्रपादिना निमित्ततो वास्यादिना हृदयपुण्डरीके संवसरादिक्रमेण  
मुहूर्तमात्रं क्षयानः सर्वानुपलभते यतोऽतो बाधराहित्येनानभिष्यक्तस्व-  
रूपत्वात् । अथाधितत्वेनाप्रतीयमानत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

मायामात्रत्वात्तर्हि न काश्चित्स्वप्ने परमार्थगन्धोऽपीत्यत आह—सूचक  
इति । असत्योऽपि स्वप्नः सत्यत्वाद्यवतिसूचको भवति । हि यस्माच्छ्रुतेः  
'यदा कर्मसु काम्येषु क्षियम्' इत्यादेः 'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तम्' इत्या-  
देश्च स्वप्नात्सत्यार्थस्य श्रुतेः । नायं श्रुत्युक्तोऽर्थो स्मार्तो यत आचक्षते च  
तद्विदः । तं स्वप्नाध्यायं विदन्तीति तद्विदः । आरोग्यं गोवृषेत्यादि-  
नाऽऽचक्षते कथयन्ति । आदिश्रकारः प्रतिवाद्यादीनां दर्शनत्वसमुच्च-  
यार्थः । द्वितीयचकारः कुमारीभुजस्फुरणसमुच्चयार्थः ॥ ४ ॥

(अ०५०)ननु पथेश्वरः संकल्पमात्रेण जगत्सृजत्येवं तदंशो जीवोऽपि संकल्पमात्रेण निमित्तेन स्यात् जगत्सृजतु तथाचोचितनिमित्ताभावान्मिथ्यास्वप्नसृष्टिरित्यसंगतमित्यत आह—

परामिथ्यानां विरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययो ॥ ५ ॥

जीवेश्वरयोरभेदेऽपि मापथेश्वरस्य तिरोहितत्वात् जीवस्य संकल्पमात्रेण स्रष्टृत्वमिति परामिथ्याः । जीवस्य तिरोहितमीश्वरत्वं परस्याऽऽत्मनोऽभिधानादभेदाभ्यासरूपध्यानप्राप्तादीश्वरप्रसादाद्बन्धिव्यक्तं भवति कुतः । तत ईश्वरादज्ञानाद्बन्धे ज्ञानात्तद्विपर्ययो मोक्ष इति श्रुतिदर्शयति । तस्मादीश्वरप्रसादरहितानां नेश्वरत्वामिव्यक्तिरित्यर्थः । श्रुतिस्तु पठ्यते— 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्मसृत्सुप्रहाणिः । तस्याभिधानान्तर्तीयं देहभेदे विश्वेश्वर्यं केवल आसकामः' [ श्वे० १। ११ ] इति । देवं स्वप्रकाशमीश्वरमहत्त्वेन साक्षात्कृत्य सर्वपाशानां मिथ्याज्ञानराशादीनां क्लेशानामपहानिः क्षयो यस्मिन्संभवत्येवं क्षीणैः क्लेशैस्तत्कार्यजन्ममरणक्षयौ भवति । निर्गुणविद्याफलमुक्त्वा सगुणविद्याफलमाह— तस्येति । तस्येश्वरस्याऽऽभिमुख्येन ध्यानाद्बुद्ध्यानिद्वयापेक्षया तृतीयमणिमाद्येश्वर्यं देहभेदे देहविशेषे सिद्धदेहे भातं भुक्त्वा निर्गुणविद्योदये केवलोऽद्वितीय आसकामो निरतिशयानन्दात्मनैवावतिष्ठत इति क्रममुक्त्वास्वार्थः ॥ ५ ॥

ननु जीवस्येश्वरत्वतिरोभावे को हेतुरित्याशङ्क्याऽऽह—

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

सोऽपि जीवस्येश्वरत्वतिरोभावो देहेन्द्रियादियोगात् । यथा भस्म-  
(सू०)तथाऽपि परमात्मनाऽपि क्षिपमाणत्वात्स्वप्नसृष्टोराकाशादिवस्तव्यता न च जीवपरमात्मनोरैक्यमन्यथा जीवे नित्यशुद्धशुद्धत्वादिकं स्थाविरित्यत आह—परेति । न नित्यशुद्धत्वादिकं नास्ति किंतु तिरोहितम् । तर्हि प्रादुर्भावे नोपाय इत्यत आह—परामिथ्यानात् । परस्य परमात्मनोऽभिधानासिद्धिधासनाद्बुद्धप्रसात्कारस्य प्रादुर्भवति । तुल्यत्वं उपायान्तरं धारयति । कुत एतदित्यत आह—ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययो हि यस्मात्ततः परमात्मनः सकाशादस्य जीवस्य तदज्ञानाद्बन्धः संसरो विपर्ययो मोक्षस्तज्ज्ञानात् 'ज्ञात्वा देवम्' इत्यादिश्रुतेः ॥ ५ ॥

ननु जीवश्रेत्परमात्मनोऽभिज्ञोऽस्तततो नित्यशुद्धत्वादीनां न तिरो-

(अ०४०)योगाद्ब्रह्मेः प्रकाशनसामर्थ्यतिरोभावस्तद्दित्यर्थः । ननु जीवस्येश्वरत्वाभाव एवास्त्विति शङ्कां वाशब्देन निरस्यति । अभेदस्य श्रुतिसहस्रसिद्धत्वादिति भावः । तस्माद्बुधितसामर्थ्यभावाज्जाग्रदवसरे वाधितत्वाच्च श्रुतिरूप्यवन्मायामात्रं स्वप्नवृत्तिमिति तदवस्थापिनिर्मुक्तोऽवमात्मेति सिद्धम् ॥ ६ ॥

एवं बाह्यकरणोपरमरूपं स्वप्नमात्मनः स्वप्नकाज्ञत्वार्थं परीक्ष्यान्तः—  
करणोपरमरूपां सुषुप्तिं स्वप्नानन्तरमाविर्नीं तस्य ब्रह्मत्वाच्च निरूपयति—

( सुषुप्तिस्थानरूपस्य हृत्स्थब्रह्मण एकत्वस्थापनम्, अधि० २ )

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

सुषुप्तेः स्वप्ननाशरूपत्वात्तदानन्तराच्च हेतुहेतुमद्भावात् आनन्तर्यं वा संगतिः । तत्र सुषुप्तिवाक्यानि विप्रतिपन्नानि दृश्यन्ते ' तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संपसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सुप्तो भवति ' [ छा० ८ । ६ । ३ ] इति । तत्रासु स्वप्नाद्यवस्थानु यत्रावस्थापामेतद्ब्राह्मेन्द्रियोपरमणं यथा स्यात्तथा सुषुप्तः संहृतब्राह्मेन्द्रिय इति यावत्समस्तोऽविशेषवृत्तिः संपसन्नः संहृतान्तःकरणश्च यदा स्वप्नं न जानाति तदा नाडीषु सुप्त इत्यर्थः । क्वचिन्नाडीभिः सरणानन्तरं पुरीतति सुषुप्तिः श्रूयते ' ताभिः प्रत्यवसृष्य पुरीतति शीते ' [ वृ० २ । १ । १९ ] इति । क्वचित्परमात्मनि सुप्तिः श्रूयते ' य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्शोते ' [ वृ० २ । १ । १७ ] इति । ' सता सोम्य तदा संपन्नो भवति ' [ छा० ६ । ८ । १ ] इत्यादिभिः । तत्र संक्षेपः—किं जीवस्य नाडीपुरीतपरमारमणां मध्ये यत्र कुञ्चित्सुषुप्तिकृत नाडीपुरीतत्ववेशानन्तरं परमात्मन्येवेति । तत्र पूर्वपक्षे सुषुप्तिस्थानविकल्पाज्जीवस्य ब्रह्मेक्यानि-

(श्री०)भावोऽपीत्यत आह—देहयोगेति । वाशब्दोऽतिरोभावनिराकरणार्थः । जीवेश्वरान्यत्वनिवृत्त्यर्थो वा । सोऽपि तिरोभावोऽपि देहयोगाद्देहं मनुष्य इत्याद्यभिमानात् ॥ ६ ॥

पूर्वाधिकरणे प्रपञ्चमिध्यालं वर्णयता त्वंपदार्थस्य स्वयंप्रकाशत्वं दर्शितं तत्पदार्थनैक्याय तत्रैतत्कस्यांविद्वदवस्थायासुपलभ्येत स्यात्तदा संभावितं न तूपलभ्यत इत्याक्षिप्याऽऽह—तदभाव इति । तस्य स्वप्नस्थाभावस्तदभावः सुषुप्तिः सा नाडीषु देहान्तःस्थितासु शिरासु आभ्य

(ब०२५०१)यमः सुषुप्तौ भ्रमनिवृत्तावपीपद्मैक्यभातेरनिपमादिति फलं सि-  
 ज्ञान्ते तन्नियम इति भेदः । तत्रैकपागनिभ्याङ्कत्वेन श्रुतमीदृशवचनैक-  
 शब्देननिभ्याङ्कनाड्यादीनां विकल्प इति प्राप्ते ह्यमः । तदभायः स्वप्नाभावः  
 सुषुप्तिर्नाडीप्व्यात्मनि चेति नाड्यादीनां समुच्चय एव न विकल्प इत्यर्थः ।  
 समुच्चयश्च नाडीपुरीतत्ववेशं विना सत्संपत्तेरभावात्तपोर्नाडीपुरीततोर्गु-  
 णत्वेन परमात्मनः प्रधानत्वेन ज्ञेयः । कुतः । तच्छ्रुतेः । तस्य नाड्या-  
 दीनां सुषुप्तिस्थानत्वस्य श्रुतत्वाद्भक्तसमुच्चयानङ्गीकारे श्रुतीनां संग्रहो  
 न स्यादिति भावः । किंच विभोर्जीवस्य स्वप्नानन्तरं नाडीपुरीततोः  
 संचारोऽन्तःकरणाद्युपाधेः सस्वात्संभवतीत्युपाधिसंचारं विना स्वतस्तस्य  
 संचाराभावात्सुषुप्तौ तूपाध्यभावाद्नाडीपुरीततोः क्षयनं जीवस्य न संभ-  
 वतीत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

यतः परमात्मैव सुषुप्तिस्थानमत एव हेतोरस्मात्परमात्मनो जीवस्य  
 प्रबोध उपदिश्यते । प्रबोधकाले कस्माज्जीवात्मनः समुचिष्ठन्तीति  
 प्रश्ने परमात्मनः सकाशाद्बुद्धिष्ठन्तीति भवणादात्मनोऽल्पस्य सुप्तिस्था-  
 नत्व इदं श्रवणं बाधेताल्पत्र सुप्तस्याल्पस्माद्बुत्वानाचोगादिति भावः ।  
 तस्मान्मुक्तौ मिथ्याज्ञानाभायमात्रेणैष ब्रह्मसंपत्तेः सस्वान्मूलाज्ञाननि-  
 वृत्तौ साफल्येन ब्रह्मसंपत्तिरविरुद्धेत्यस्ति जीवस्य ब्रह्मैक्यनिपम इति  
 सिद्धम् ॥ ८ ॥

(स्वप्नावस्थितस्यैव जीवस्य तस्मात्समुद्बोधो नापरस्येति कथनम्,  
 अधि० ३)

(श्लो० १) उपसृप्य पुरीतद्वेष्टिते हृदये तदन्तःस्थ आत्मनि ब्रह्मणि अस्य  
 जीवस्य । चकारात्पुरीतल्लब्धम् । एतल्लभमपि कुत इत्यत आह — तल्लभस्य  
 'नाडीपु सुप्तो भवति' 'पुरीतति ज्ञेते' 'स्वमपीतो भवति' इति नाडीपुरी-  
 तद्ब्रह्माक्षयश्रुतेः । विकल्पे तु अन्यतरबाधः स्यात् ॥ ७ ॥

अत इति । यस्मान्सुषुप्तिरात्मनि भवति अतोऽस्माद्धेतोरस्मादात्मनः  
 प्रबोधोऽस्य जीवस्यात आत्मनः प्राधान्यम् ॥ ८ ॥

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधियः ॥ ९ ॥

(स०५०)सुषुप्तः परमात्मनः सकाशाज्जीव उचिष्ठतीति परमात्मैव सुषुप्ति-  
स्थानमित्युक्तं तदयुक्तं सुप्तादन्यस्य प्रबोधसंभवेन सुप्तस्य नाह्वादिस्था-  
नत्वेऽप्यविरोधादित्याक्षेपात्संगतिः । पूर्ववदेव फलम् । तत्र यः सुप्तो  
जीवः स एवोचिष्ठत्युत स चाऽन्यो वेत्यनियम इति संज्ञये जलराशौ  
क्षिप्तविन्दोरिवानियम इति प्राप्ते नूनमः । यः सुप्तो जीवः स एवोचि-  
ष्ठति नान्यः । कुतः । कर्मानुस्मृतिशब्दविधिम्यः । पञ्चम्यो हेतुभ्यो  
दिनद्वयसाध्यकर्मणोऽर्धं कृत्वा सुप्तः पुनरुत्थायावदक्षिणमर्धं कर्म करोति ।  
अनुशब्देन प्रत्यभिज्ञा योऽहं पूर्वदिने काशीनाथमद्राक्षं सोऽहमिदानीं  
मणिकर्णिकायां स्थितोऽस्मीत्याद्याकारा सूच्यते । पश्चात्सेतुं गतस्य  
स तादृशः काशीनाथ इत्यादिस्मरणं स्मृतिशब्देनोच्यते । ' पुनः  
प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्भवति बुद्धान्तायैव ' [ बृ० ४ । ३ । १६ ] इत्यादि  
श्रुतिजातं शब्दः । अयनं गमनमायः प्रतिनियतगमनं प्रतिन्यायः स  
यथा भवति तथा शोनिं क्षरीरं प्रति सुप्तः पुनरामच्छति जागराये-  
त्यर्थः । कर्मविद्याविधयो विधिज्ञानोच्यन्ते । यदि सुप्तस्य पुनर्नो-  
स्थानं तदोक्तहेतवो बाध्येरन्नित्यर्थः । तस्मात्सुप्त एवोचिष्ठतीति  
सिद्धम् ॥ ९ ॥

एवमवस्थापनिर्मुक्तत्वमालनो द्रष्टव्यमिचारिण उक्त्वा मूर्च्छा-  
वस्था किं सुप्तावन्तर्भवत्युतातिरिक्ता येति संदेहेऽतिरेके प्रमाणाभावात्सु-  
षुप्तिरेव मूर्च्छेत्युपजीव्योपजीवकभावेन पूर्वपक्षे सिद्धान्तः—

(दी०)पूर्वस्मिन्नधिकरणे ब्रह्मणि साम्पापत्तिकृता जीवस्येह तु तत्संपन्नस्य  
मुक्तवन्न तस्य प्रतिबोधः किंत्वन्वस्येत्यनुपपत्त्या तामाक्षिप्याऽऽह—स  
एवेति । यस्तु परमात्मनि क्षयानस्तस्मात्स एव विनिर्गच्छति । तुशब्दोऽ-  
न्यं वारयति । कुतः । कर्मानुस्मृतिशब्दविधिम्यः । कर्मस्थितस्य शेषोऽ-  
ध्ययनादिः । अनुस्मृतिः पूर्वदिवसभोजनादिः । शब्दः प्रतिन्यायं प्रति-  
योनीत्यादिः । विधिर्ज्योतिष्टोमेनेत्यादिः । तेभ्यः । तस्यैवानुत्थाने कर्मा-  
धिकं न सिध्येदित्यर्थः ॥ ९ ॥

[म०१४०२१०] ब्रह्मासृत्तवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २९९

(२०५०) (सूछांया जाग्रदाद्यवस्थान्तरभिन्नत्वम्, अधि० ४)

मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

पूर्वपक्षे सूच्छावस्थाविधेकार्थं परतो न कार्यं इति फलं सिद्धान्ते तु यत्नः कर्तव्य इति बोध्यम् । न तावत्स्वप्नजागरिते सूच्छावस्था ज्ञानामावाप्तापि मरणावस्था प्राणोष्मणोः सत्त्वान्नापि सुषुप्तिर्बलक्ष-  
ण्यात् । मुग्धस्य शरीरे कम्पो मयंकरं वदनं निश्चले उन्मीलिते नेत्रे निश्चलञ्च प्राणोऽवतिष्ठति नेत्रं सुषुप्ती भवति तस्मात्परिशेषादर्थसंप-  
त्तिर्मुग्धेऽतिरिक्तैव । ननु मुग्धेऽपि बाह्यान्तःकरणानामभावेन सत्सं-  
पत्तेः सुषुप्ताविशेषात्कथमर्थसंपत्तिरिति चेत् । सत्यम् । न हि ब्रह्मणोऽर्धसंपत्तिं मुग्धस्य ब्रूमः किं तु सुषुप्त्यवस्थायां ये धर्माः प्रसन्न-  
वदनत्वनिमीलितनेत्रत्वप्राणोच्छ्वासविशेषविज्ञानराहित्यादवस्तत्र विशेष-  
विज्ञानराहित्यादिनाऽर्धेन धर्मजातेन सूछांवस्थायाः संपन्नत्वादर्थेन मरणावस्थाधर्मजातेन कम्पनादिना च युक्तत्वादर्थसंपत्तिर्मूर्च्छेत्युच्यत इत्यनवद्यम् ॥ १० ॥

एवमुद्देशवत्वेन प्रथमं जिज्ञास्यं त्वंपदार्थं स्वप्रकाशं सर्वावस्थावि-  
निर्मुक्तं निर्विशेषं संज्ञोध्य तज्जिज्ञासोपरमानन्तरं जिज्ञास्यं विधेयं तत्पदार्थमवसरसंगत्या शोधयितुं तस्य निर्विशेषत्वमाह—

( ब्रह्मणो नीरूपमावस्य वेदान्तसंमतत्वम्, अधि० ५ )

न स्थानतोऽपि परस्पोन्नयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

‘सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः ’ [ छा० ३ । १४ । २ ]  
इत्यादिना ब्रह्मणः सविशेषत्वं श्रूयते, ‘ अक्षुद्रलमनशु ’ [ वृ०

(श्री०)पूर्वाधिकरणे सोऽहमिति प्रतिज्ञानात्सुप्तप्रबुद्धैक्यं तर्हि विशेषविज्ञा-  
नाभावप्रत्यभिज्ञानात्सुषुप्तिरेव मूर्च्छेति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्याऽऽह मुग्ध  
इति । मुग्धे सूच्छां प्राप्ते जीवे न सुषुप्तिवत्सर्वात्मना संपत्तिः किंतु अर्धसं-  
पत्तिः । कुतः । परिशेषात् । न जागरणस्वप्नौ वृत्तिज्ञानराहितत्वात् । नापि  
सुषुप्तिर्गन्धकम्पादीनामुपलम्भात् । नापि मृतिः पुनरुत्थानात् । अतः  
प्रसक्तानां जागरणादीनां प्रतिषेधेऽप्यत्र प्रसक्तौ शिष्यमाणावाः  
संपत्तेः संप्रत्ययः सोऽयं परिशेषस्तस्मात् ॥ १० ॥

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मण्यर्धसंपत्तिरुक्ता जीवस्य सैवानुपपन्ना ब्रह्मणः  
सविशेषनिर्विशेषत्वेनानेकरूपत्वेनानिश्चितरूपत्वादित्याक्षिप्याऽऽह—

(ब०१०) ३।८।८] इत्यादिना निर्विशेषत्वं तत्र संशयः । किमुभयद्वय-  
नुसारादुभयरूपं ब्रह्मोत्तेकरूपम्, एकरूपमित्यत्रापि सविशेषं निर्विशेष-  
मेवेति फलभेदः । तत्र यथा सूत्रार्थस्थाया विरुद्धसुप्तुसिमरणावस्थो-  
भयधर्मवत्त्वं तथा ब्रह्मण उभयरूपत्वं भवतु श्रुतत्वाच्चेति वृद्धान्तेन पूर्व-  
पक्षे सिद्धान्तः । न तावत्स्वतः परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गमुभयरूपत्वं  
संभवति सत्यस्य वस्तुनो द्वैरूप्यायोगात् । न ह्येकमेव वस्तुवेकदा तद्वृ-  
त्तदाभावयच्च दृष्टम् । एतेन सूत्रार्थान्तो निरस्तः । वैलक्षण्यप्राप्तापि  
स्थानत उपाधितः परस्योभयरूपत्वं तात्त्विकं युक्तमग्निसंयोगमात्रेण  
जलस्योष्णस्वभावत्वादर्शनात् । तस्मादेकरूपं ब्रह्म । तदप्येकरूपत्वं  
निर्विशेषत्वमेव हि एतः सर्वत्र वेदान्तेषु ब्रह्मपरेष्वशब्दमस्पर्शमि-  
त्यादिषु सविशेषत्वनिरासनेन ब्रह्मोपदिश्यते । तस्मात्त्रिर्विशेषमेवैकरूपं  
ब्रह्म ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

मनु न निर्विशेषमेव ब्रह्म । कुतः । भेदात् । प्रतिविद्यं ब्रह्मण  
आकारभेदेन भेदात्कस्याचिच्छाखायां चतुष्पाद्ब्रह्मोपदिश्यते कस्यां-  
चित्पोढशकलं कस्यां चिद्धैलोक्यशरीरं वैश्वानराख्यं तस्मात्सविशेषमपि  
श्रुतिसामर्थ्यादङ्गीकर्तव्यमिति चेन्न । प्रत्येकं प्रत्युपाध्यतद्वचनाद्ब्रह्मणः  
परस्याभेदस्थेय शक्यादित्यर्थः । 'यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृ-  
तमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्म\* शरीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव  
स योऽयमात्मा' [ बृ० २ । ५ । १ ] इत्यादिश्रुतौ ब्रह्मणः सर्वोपाधिषु  
पृथिव्यवादिष्वभेदः श्रूयते । अस्यां पृथिव्यां तेजोमयः स्वप्रकाशो

(श्री०) न स्थानत इति । परस्य परमात्मनः स्वभावत उभयलिङ्गमुभयरूपम् ।  
'अक्षूलमनणु' इत्यादि मनोमयः प्राणशरीर इत्यादि च न स्थान-  
तोऽपि पृथिव्यादिस्थानयोगादप्युभयलिङ्गम् । कुतः । हि परमात्मवेषु वेदा-  
न्तेष्वशब्दमस्पर्शमरूपमित्यादिनैकमेव श्रूयते ॥ ११ ॥

न भेदादिति । न ब्रह्माशब्दादिगुणकमेकलिङ्गं कुतश्चतुष्पात्पोढ-  
शकलमित्यादिना परस्य ब्रह्मणो भेदादिति चेन्न । कुतः । यश्चायमस्यां

[म० १५० २७० अज्ञातवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २७१

(म० १००) नाशरहितो यः पुरुषो यश्चाऽऽमानं देहमधिकृत्य वर्तमानः  
शारीरो जीवस्तावुभौ सर्वेषां भूतानामुपकारको सन्तौ मधुस(रः)  
शरीरपृथिव्यभिन्नः पुरुषोऽयमेव योऽयमात्मा सर्वकारणभूत इति  
श्रुत्यर्थः ॥ १२ ॥

आपि चैवमेके ॥ १३ ॥

किंचिके शास्त्रिन एषं भेदनिन्दापूर्वकमभेदमेव ब्रह्मणः समानमस्ति  
'मनसैवेदमातव्यं मेह नानाऽस्ति किंचन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य  
इह नानेव पश्यति' [ क० ४ । ११ ] इति शास्त्रार्थसंस्कृतमनसैवेदं  
ब्रह्म ज्ञातव्यं ज्ञाते त्विह ब्रह्मणि किंचिदपि भेदजातं नास्ति यस्त्ववि-  
द्याकृतं नानाकथं सति पश्यति स मरणान्मरणं पुनः प्राप्नोती-  
त्यर्थः ॥ १३ ॥

ननु सगुणनिर्गुणपरश्रुतिद्वये सति कथं निर्गुणे ब्रह्मणि पक्षपात-  
स्तवाऽऽह—

अरूपपदेव हि तद्यथानत्यात् ॥ १४ ॥

रूपादिहीनं निर्विशेषमेव ब्रह्मावधारयितव्यं न सविशेषम् । कुतः ।  
'अस्मूलम्' [ वृ० ३ । ८ । ८ ] इत्यादिनिषेधशास्त्रस्य निर्गुणब्रह्म-  
प्रथामत्वादित्यर्थः । उपासनावारुधानां सविशेषे तात्पर्याभावात्तात्-  
पर्याङ्गीकारे वाक्यभेदापत्तेरितरेषां सविशेषवाक्यानां प्रत्यक्षादिति-  
प्रपञ्चानुवादकत्वेन निर्विशेषपरत्वात्तदन्यत्वमित्यादिना प्रपञ्चमिध्या-  
त्वसाधनाच्च न सविशेषत्वं ब्रह्मणः प्रामाणिकमिति भावः ॥ १४ ॥

(शे०) पृथिव्यामित्यादिना प्रत्येकं प्रत्युपाधि अतद्वचनादभेदवच-  
नात् ॥ १२ ॥

नन्वेकस्यां शास्त्रागामिदं वचनं नात्यन्तमादर्शयामित्यत आह—  
अपीति । एवं भेददर्शनं निन्दापूर्वकम् । 'मृत्योः स मृत्युम्' इत्युपक्रम्य मेह  
नानाऽस्ति किंचन इत्यभेदमेके शास्त्रिन आमनन्ति । अपिचज्ञानेना-  
भेद एव श्रुक्तोऽपि ॥ १३ ॥

ननु नाथं तर्कगम्भीर्यैः धुनेश्रोमयत्र विद्यमानत्वादित्यत आह—  
अरूपवदिति । हि यस्मादारूपवदेव ब्रह्म न तु सगुणमवगन्तव्यम् ।  
कुतः । तद्यथानत्यात् । तस्याकारणतः प्रधानत्वात्प्रतिपाद्यत्वात् । अस्त्यु-  
त्तमनपिवाद्यादिभिर्वाक्यैः । एतच्च समन्वयसूत्रे स्थितम् ॥ १४ ॥

\* य. सर्वेषु शास्त्रेषु गणनात्पूर्वं य ।



(न०५०) ननु तर्हि सविशेषश्रुतीनां का गतिरत आह—  
प्रकाशवचनैवैवार्थात् ॥ १५ ॥

यथा सूर्यादिप्रकाशो वक्रवृंशालुपाधिना वक्र इव दीर्घ इत्यङ्गुलिब  
भवति तद्वद्ब्रह्मापि पृथिव्यालुपाधिवशात्तडाकारमिव भवति तादृश  
औपाधिकाकारः सविशेषश्रुतीनां गतिरिति तासामवैषय्यान्निरर्थकत्वा-  
भावाच्च विरोध इत्यर्थः ॥ १५ ॥

ननु कीदृशं निर्विशेषं ब्रह्मेत्यत आह—

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

तन्मात्रं चैतन्वैकरसं निर्विशेषं श्रुतिराह । 'यथा सैन्धवघ्नोऽन-  
न्तरोऽब्राह्मः कृन्धो रसचन एवैवं वा अरेऽप्यमात्माऽनन्तरोऽब्राह्मः कृत्स्नः  
प्रज्ञानघन एव' [ बृ० ४ । ५ । १३ ] इत्येकरसे ह्यन्तः । यथा लोके  
सैन्धवघ्नो लवणमूर्तिविशेषोऽन्तर्बहिश्च विलक्षणरसश्च्युतः सर्वो लवणै-  
करसस्तथाऽप्यमात्माऽन्तर्बहिर्मेदुरहितः सर्वः स्वप्रकाशचिदेकतानस्तिष्ठ-  
तीति श्रुत्यर्थः ॥ १६ ॥

किंच प्रपञ्चनिषेधमुत्सेन ब्रह्मण्य उपदेशाद्ब्रह्म निर्विशेषम् । सविशेष-  
वाक्यैरेव तस्मिद्धेर्निर्विशेषोपदेशानर्थक्यं भवेदित्यत आह—

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

'अथात आदेशो नेति नेति' [ बृ० २ । ३ । ६ ] इत्यादिश्रुतिर्नि-  
षेधमुखेनैव ब्रह्म दर्शयति । पञ्चमूर्ताकत्यानन्तर्बन्धशब्दार्थः, तस्याः

(श्री०) एवं तर्हि सगुणप्रतिपादकानां वाक्यानां वैषय्यमित्यत आह—प्रका-  
शवदिति । यथा प्रकाशः सूर्यादिवद्ब्रह्मगुल्यादिक्रजुवक्रतामनु स्वयमपि  
क्रजुवक्र एवमुपाधिभेदेनाऽऽमनोऽपि सगुणत्वमतस्तद्वाक्यानामवैषय्यं  
तस्मात् । चकारो घटाकाशादिनिर्दर्शनसमुच्चयार्थः ॥ १५ ॥

ननु संत्यपि रूपान्तरे मनसः स्थैर्यार्थमरूपस्य प्राधान्यमित्यत आह—  
आह चेति । तन्मात्रं चैतन्व्यमात्रं रूपान्तररहितं कृत्स्नः प्रज्ञानघन इति  
श्रुतिराह । चकारो नीरूपे मनसः स्थैर्यं वारयति ॥ १६ ॥

ननु इयं श्रुतिरेकरूपत्वं विधत्ते न पुना रूपान्तरं प्रतिषेधति अत  
आह—दर्शयतीति । अथो यस्माद्ब्रह्मान्तरप्रतिषेधं दर्शयति नेति नेती-

(अ०१००) परब्रह्मधीहेतुत्वमतःशब्दार्थः, इतिशब्दः पूर्वोक्तपञ्चभूतपरामर्शी, तन्निषेधावधिभूतः परमात्मेत्यादेश उपदेश इत्यर्थः । सूत्रगतार्थो-  
शब्दस्तथार्थः । तथा स्मर्यते च निषेधमुत्सेन ब्रह्मेत्यर्थः ।

‘ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽभूतमभ्युते ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥’ [गी०१३ । १२]

इति भगवद्गीता । आदिमत्कार्यमस्य न विद्यत इत्यनादिमत्कार्यरहितमित्यर्थः । न सन्न कारणं कस्यचिन्न कार्यं स्वयं कस्यचिदित्यर्थः ॥ १७ ॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

यत एव परप्रतिषेधोपदेशो निर्दिशेपोऽयमात्माऽत एवौपाधिकसवि-  
शेषत्वमादाव जलसूर्यकादिवदित्युपमा गृह्यते । ‘यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा  
विष्वक्वानधो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भेदरूपो  
देवः क्षेत्रेभ्वेवमजोऽयमात्मा’ इति ।

‘एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा वैव ब्रह्मते जलचन्द्रवत्’ [ब्रह्मविन्दु० १२] ।  
ज्योतिःस्वभावो विष्वक्वानेकोऽपि तत्तत्प्राज्ञगता भिन्ना अपोऽनुगच्छन्-  
बहुधा क्रियत एवमयमात्मा देवः स्वप्रकाशोऽजः कूटस्थमित्य एकोऽपि  
मिन्नेषु क्षेत्रेभ्वनुगच्छन्नुपाधिना भेदरूपः क्रियत इति योजना । तथा  
वैतद्ब्रह्मन्तबलादपि ब्रह्मणो निर्दिशेषत्वमिति सूत्रकृत्तात्यर्थम् ॥ १८ ॥  
दृष्टान्तवैषम्यं शङ्कते—

अभ्युवदग्रहणानु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

ननु यथाऽभ्यु सूर्यादिभ्यो भूतैर्भ्यो भिन्नं दूरस्थं प्रतिबिम्बोपाधिभूत-  
(श्लो०) त्वादिना । नार्थं प्रतिषेधो लौकिकः । यतः स्मर्यतेऽपि च न सत्त-  
दित्वादिना ममैवमित्वादिना च ॥ १७ ॥

ननु प्रतीचमानो भेदः कथमतात्त्विक इत्यत आह—अत एवेति ।  
यत एकरूपताऽस्योक्ता नानारूपत्वं निराकृतम् । अस्मादेव कार-  
णात्प्रतीचमानस्य भेदरूपोपमा भवति । यथा जलसूर्यकः प्रतिबिम्बः ।  
आदिशब्देन चन्द्रप्रतिबिम्बादि । तथा च श्रुतिः—‘यथा ह्ययं ज्योति-  
रात्मा’ इत्यादिषु ‘एक एव’ इत्यादिषु च तदुपमीयते ॥ १८ ॥

उपाधिभेदोऽनेकत्वमाक्षिपति—अभ्युवदिति । यथाऽभ्यु सूर्यान्भूतै-

(ब्र० १०) मुपलभ्यते तद्दद्यापकादात्मनो दूरस्थोपाधेरग्रहणादात्मनो मूर्त-  
त्वाभावाच्च विषमो दृष्टान्त इति न तथात्वं न सूर्यादितुल्यत्वमिति  
शङ्कार्थः ॥ १९ ॥

तत्रोत्तरमाह—

वृद्धिह्यासभाक्त्वमन्तर्भावाद्बुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

पथा सूर्यप्रतिबिम्बस्य जलान्तमूर्तस्य जलगतवृद्धिह्यासचलनादे-  
र्भाक्त्वं न वास्तवमेवमधिकृतपरमात्मनो देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्देहगतवृ-  
द्धिह्यासादिभाक्त्वं न स्वामाधिकमित्येतावतांऽक्षेणोमयोर्दृष्टान्तदार्ष्टा-  
न्तिकयोः सामञ्जस्याद्भवति सूर्यादिदृष्टान्तः । न हि सर्वात्मना साम्यं  
दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः ज्ञस्यते वक्तुं दृष्टान्तत्वविरोधादिति भावः ॥२०॥

किंचाऽऽगमसमधिगम्येऽर्थे न चोच्यमित्याह—

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

परस्यैव ब्रह्मणो देहान्तरानुप्रवेशस्य प्रतिबिम्बमादरूपस्य क्षुत्ति  
दर्शनादित्यर्थः । 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी  
भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्' [ वृ० २ । ५ । १८ ] । इति क्षुत्तिः ।  
पुरः शरीराणि द्विपाद्युक्तानि चतुष्पादयुक्तानि च चक्रे कृत्वा पुरश्चक्षुरा-  
द्यभिम्बकैः पूर्वं स पुरुष ईश्वरः पक्षी लिङ्गशरीरं भूत्वा शरी-

(शं०) अर्थवहितं गृह्यत एवमभ्युवत्परमात्मनोऽभिन्नस्थोपाधेः परमात्मनो वा  
मूर्तस्वाग्रहणादेव न तथात्वं न सूर्यकादिसमानत्वमस्य भेदस्य ॥ १९ ॥

समाधत्ते—वृद्धीति । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्न साम्यं लोके किमुत  
वेदे । एकस्य कथं तिर्यंगादिविचित्राणि रूपाणीत्यस्य समाधानार्थं  
सूर्यकादिदृष्टान्तो विवक्षितेऽर्थे श्रुत्योक्तः । विवक्षितं तु पथा जलवृद्धय-  
वृद्धिभाक्त्वं तच्चलनादौ चलनादिभाक्त्वमेकस्यापि तद्देवाद्वेदमाकव-  
मिति वृद्धिह्यासभाक्त्वमुपाधेरस्य । कुतः । उपाधौ देहादायन्तर्भावाद्-  
हमित्वाद्यभिमानेन क्रीडीकृतः । कुत एतदित्यत आह—एवमुपमस्य  
दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकस्य सामञ्जस्यम् ॥ २० ॥

नतु शरीरान्तः परमात्मप्रवेशे सत्युपमागवेषणं न तस्माद्भिन्नजीवप्र-  
वेश इत्या आह—दर्शनेति 'पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्'

[ब० १५० २४० २२] ब्रह्मासुतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २७५

(ब० १००)राणि सृष्ट्वाऽऽविशदित्यर्थः । तस्मान्निर्दिशेपमेव चैतन्यैकरसं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ २१ ॥

ननु निषेधश्रुतिर्निर्दिशेपं ब्रह्म सिध्यतीति यदुक्तं तदयुक्तं तामि-  
र्ब्रह्मणोऽपि निषिद्धत्वादित्वाक्षेपसंगत्याऽधिकरणमारम्भते—

( ब्रह्मणो निषेधातीतत्वेन सत्यत्वस्थापनम्, अपि० ६ )

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥

तत्र पूर्वपक्षे ब्रह्मासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तस्मिद्धिरिति बोध्यम् ।  
हे वाच ब्रह्मणो रूपे मूर्तं च [ वृ० २ । ३ । १ ] इत्युपक्रम्य पञ्चमूर्ता-  
त्मकं रूपद्वयं तेजोब्रह्मात्मकं भूतत्रयं मूर्तं स्थूलावयवं प्रत्यक्षं वाय्वाका-  
शात्मकं भूतद्वयं परोक्षममूर्तमिति द्वेषा विमन्य तत्र मूर्तस्य सूर्यब्रह्मणो-  
लकं च कार्यं सारोऽमूर्तस्य तु सूर्यान्तर्बोतीकिरणात्मको हिरण्यगर्भश्च-  
छूर्णालके दक्षिणे चक्षुरूपेण वर्तमानः सार इति चोक्त्वा तस्य करणा-  
त्मकलिङ्गाशरीररूपस्य हिरण्यगर्भस्य पुरुषशब्दवाच्यस्य घासनामयानि  
स्वात्मरूपाणि मायामयानि दर्शयित्वा रूपद्वयवतो ब्रह्मणः स्वरूपं बोध-  
यितुमिदमारम्भते—‘अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्य-  
न्यत्परमस्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेव  
सत्यम्’ [ वृ० २ । ३ । ६ ] इति उपक्रमे वाचशब्द उपकारार्थः । सप-  
रिक्तरूपद्वयोपन्यासानन्तर्यमथशब्दार्थः । रूपद्वयोपन्यासस्य ब्रह्मज्ञानहे-  
तुत्वं ब्रह्मणो यत्कथ्यत्वेन परिशेषो वाऽतःशब्दार्थः । इतिशब्देन ब्रह्मणो  
रूपद्वयं सपरिक्तरं चतुर्पुण्यस्तं तत्पराब्रह्मवते । इतिशब्देन परामुष्टं सर्वं नञा  
वीप्सया निषिध्यते । वेति नेतीति वीप्सया विषयजातस्य सर्वस्य निषेधे  
ह्यविषयः श्रयगात्मा निषेधावाधिभूत इति निर्दिशिक्रिसं ज्ञानं भवति ।

(दी०)अनेन अधिनेत्यादिना परमात्मन एव प्रवेशस्य दर्शनात् ।  
चकारो जीवस्य परमात्मव्यतिरिक्तग्राहकप्रमाणामावसूचनार्थः ॥ २१ ॥

पूर्वाधिकरणे निर्दिशेपमेव ब्रह्मेत्युक्तं निषेधप्राधान्यादेवं च नेति  
प्राधान्याद्ब्रह्मापि न स्वादित्वाक्षिप्याऽऽह—ब्रह्मेति । प्रकृतं मूर्तामूर्त-  
रूपेण यदेतावत्प्रतिपत्ता तस्य भावः । प्रकृतैतावत्त्वं तदेव प्रतिषेधति

(ब० ५०) एवं नेति नेतीति ब्रह्मोपदेशं कृत्वा नेति नेतीत्युपदेशस्य कोऽर्थ इत्याकाङ्क्षायां तमेवोपदेशं निर्वक्ति-न होतस्मादिति । हि यस्मादेतस्मा-  
 ज्ञेति नेतीत्यादिब्रह्मणोऽन्यथ्यतिरिक्तं नास्ति ब्रह्मैव तु परमस्ति तस्मा-  
 ज्ञेतीत्युच्यते इति निर्वचनवाक्यस्यार्थः । यद्वा नेति नेतीति यः प्रपञ्चनि-  
 वेधरूप आदेशः कृतः स एतस्मादित्यनेन परामुह्यते । एतस्माज्ज्ञेतीति  
 प्रपञ्चनिवेधरूपब्रह्मोपदेशनादन्परमुपदेशनं न ह्यस्तीत्यर्थः । ब्रह्मणो  
 नामधेयकथनव्याजेनापि स्वरूपमाह-अथेति । नेति नेतीति निवेधस्य  
 ब्रह्मनिषेधत्वामावसूचनार्थोऽथशब्दः । नामधेयमाह-सत्यस्य सत्य-  
 मिति । तथ्याचष्टे श्रुतिः 'प्राणाः' इति । प्राणशब्देन लिङ्गशरीरमुच्यते  
 तस्य सत्यत्वं स्थूलदेहापेक्षया स्थायित्वं द्रष्टव्यम् । एष परमात्मा सत्य-  
 स्यापि परं सत्यमिति वस्तुमतिः । तत्र नेतिनेतीति निवेधस्य को वा  
 विषय इति संदिश्यते किं प्रपञ्चो ब्रह्म चेत्युभयमपि निषिध्यत उतैकमे-  
 कमित्यत्रापि किं प्रपञ्चो निषिध्यत उत ब्रह्मेति । तत्र निचामकामावा-  
 द्भुमयमपि प्रतिषिध्यत इति प्राप्ते । यद्वा निरधिष्ठाननिषेधायोगादेकं  
 ब्रह्मैव निषिध्यते प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षलिङ्गत्वेन निषेधायोगादिति प्राप्ते ब्रूमः ।  
 ब्रह्मणो यद्गुणधर्मं सपरिकरं प्रकृतं प्रधानमेतावत्स्वमित्यत्रपरिच्छिन्नं तत्प्र-  
 कृतैतावत्स्वं तदेव प्रतिषेधति नेति नेतीत्यादिश्रुतिरिति शब्दस्य प्रधानत्वेन  
 प्रकृतपरामर्शत्वात् । ब्रह्म तु न प्रधानत्वेन प्रकृतं द्वै वाव ब्रह्मणो रूपे'  
 [ ५० २ । १ । १ ] इतिरूपद्वयात्मकजगदुपसर्जनत्वेनैवोक्तत्वादित्य  
 ब्रह्मणो न निषेधो यस्मात्ततः प्रपञ्चनिषेधानन्तरं भूयो ब्रह्मास्तीति  
 ब्रवीति न हीत्यादि परमस्तीत्यन्तं निर्वचनवाक्यं तस्मादित्यर्थः । ब्रह्मणो  
 निषेधे किमस्तीति ब्रूयादिति भावः । निर्वचनवाक्यस्य द्वितीयव्याख्यायां  
 तु ततः प्रपञ्चनिषेधस्य परस्तादथ नामधेयमित्यादिवाक्यं ब्रह्म ब्रवी-  
 त्यतो नेतीत्यादिवाक्येन निषेधमात्रं न ज्ञेयं किंतु तेन निषेधेन भाव-  
 रूपं ब्रह्म ज्ञातव्यमिति सूत्रभागस्यार्थः । न च प्रपञ्चनिषेधे प्रत्यक्षवि-  
 रोधस्तस्य व्यावहारिकप्रामाण्यादित्यनवद्यम् ॥ २२ ॥

(वी०) निराकरोति नेतिशब्दः कृत एतदित्यत आह-ततो ब्रवीति च भूयः ।  
 ततस्तस्मात्प्रतिषेधादनन्तरं भूयः पुनरन्यत्परमस्तीति ब्रवीति । चका-  
 रोऽयन्नतस्ततो निर्धारसमुच्चयार्थः । अथ वा ततो ब्रवीति च भूय इति  
 ततः प्रतिषेधादनन्तरं भूयः पुनर्ब्रवीति 'अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्'  
 इत्यादिना ॥ २२ ॥

(न०५०)ननु यदि ब्रह्मास्ति तर्ह्यपलभ्येत तत्राऽऽह—

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥

तद्ब्रह्माव्यक्तं श्रुत्यतिरिक्तमात्रागोचरं हि यतः श्रुतिराह 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्द्वैस्तरसा कर्मणा' [ मु० ३ । १८ ] 'स एष मेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' [ बृ० ३ । ९ । २६ ] इत्यादिना । ब्रह्मणः प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वमन्यैर्द्वैरेरिन्द्रियान्तरैरित्यर्थः । नेति नेतीति य आत्मा व्याख्यातः स एषोऽगृह्योऽग्राह्यो यस्मान्नहि गृह्यते ब्रह्मणाद्येभ्य इत्यर्थः ॥ २३ ॥

तर्हि सर्वदा ब्रह्मग्रहणामाधे योषो न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

अपि चैनमात्मानं संराधने रुमाध्यवस्थायां कृतार्थाः पश्यन्तीति प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते तथा हि श्रुतिः— 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंप्रभूस्तस्मात्पराकृपयति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' [ क० २ । १ । १ ] इति । 'ज्ञानप्रसादेन विद्वुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' [ मु० ३ । १ । ८ ] इति । स्वयंप्रभूः परमात्मा खानि श्लोभात्मकाकाशोपलक्षितानीन्द्रियाणि पराङ्गवनात्मविषयाणि व्यतृणद्धिसितवान् । इन्द्रियाणां हिंसाऽनात्मविषयतया सज्जनमेव । तथासज्जने भयकमाह तस्मादिति । ननु यदीन्द्रियैः पराङ्गमेवार्थं पश्यति नान्तरात्मानं कथं तर्ह्यत्संज्ञानं तत्राऽऽह कश्चिदिति । कश्चिद्धीरो विदेक्यावृत्तचक्षुः संपतेन्द्रियो मोक्षमिच्छन्प्रत्यगात्मानं समाधावीक्षितवानित्यर्थः । ज्ञानस्य करणव्युत्पत्त्याऽन्तःकरणस्य प्रसादेन रागादिराहित्येन विद्वुद्धसत्त्वः प्रत्यक्षप्रधानाः कर-

(दी०)एतादृशं ब्रह्म चेतऽस्माच्चक्षुरादिना न गृह्यत इत्यत आह— तद्ब्रह्म तदव्यक्तैति । तद्ब्रह्म न व्यक्तं रूपादिहीनमव्यक्तम् । कुतः । हि यस्मादाह श्रुतिः 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' इत्यादिना । स्मृतिरपि अव्यक्तोऽयमित्यादिना ॥ २३ ॥

ननु श्रुतिवचनात्तादृशस्य सत्त्वे कथं विश्वासः कदाचिदव्यप्रत्यक्षतायामित्यत आह—अपीति । संराधनं भक्तिध्यानशणिधानाद्यनुष्ठानं तस्य च संराधनस्य कालः संराधनं तस्मिन्योगिनः पश्यन्ति । तत्कुतः । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । प्रत्यक्षं श्रुतिः । 'प्रत्यगात्मानमैक्षत्' ततस्तु

(अ० ५०) व्यस्ततस्तु विष्णुस्तस्वत्वाद्धेतोस्तमात्मानं निरवयवं ध्यायमानः  
पश्यति साक्षात्करोतीत्यर्थः । स्मृतिरपि—

‘ धं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संपतेन्द्रियाः ।

उपोतिः पश्यन्ति पुञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥

[ महामा० १२ । ४७ । ५४ ] इति । जितश्वासाः प्राणायामपराः ।  
योगात्मत्वं ध्यानात्मकयोगगम्यत्वम् ॥ २४ ॥

ननु जीवेश्वरयोर्ध्यानृष्येयमावाहरीकारे भेदः स्यादित्याशङ्क-  
ष्याऽऽह—

प्रकाशादिवच्चद्वैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥

यथा सौरः प्रकाश आकाशो वाऽङ्गुल्याद्युपाधौ कर्मणि भिन्न इव  
यक्र इव माति यस्तुतस्त्वैकरूपस्तद्वत्प्रकाश आत्माऽपि ध्यानज्ञानादौ  
कर्मणि भिन्न इव यक्र इव माति यस्तुतस्त्वैशेष्यरूपमेकरूपत्वमेवाऽऽ-  
त्मनः । कुतः । अभ्यासात् । तत्त्वमसीत्याद्यभेदश्रुत्यभ्यासादि-  
त्यर्थः ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

अतो भेदस्वीपाधिकत्वाद्द्विधया भेदं निरस्य जीवोऽनन्तेन परमात्म-

(श्री०) तं पश्यते निष्कलम् ' इत्यादि । अनुमानं स्मृतिः । उपोतिः पश्य-  
न्तीत्यादि च । ताभ्यां श्रुताद्यविश्वसितस्य प्रत्याक्षिप्य विश्वासमाहा-  
पिशाब्दः ॥ २४ ॥

ननु संराभ्यसंराधकमावधेत् एव ब्रह्मभेदो जीवब्रह्मणोर्विशेषा-  
त्मत्वं च स्यादित्यत आह—प्रकाशादिवदिति । यथा प्रकाशाकाशस-  
वितुप्रमृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु कर्मसूपाधिभूतेषु सविशेषा इवाव-  
भासन्ते न च स्वामाविकीमिविशेषात्मतां जहति । एवमुपाधिनिमित्त  
एवायमात्मभेदः स्वतश्चैकाल्पमेव । तथा हि वेदान्तेषु अभ्यासेनासङ्ग-  
ज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते । अक्षराणि स्वेषं योग्यानि । कर्मण्यु-  
पाधौ प्रकाशश्च शब्दादप्रकाशश्चोपाधौ स्थितो भिन्नरूपेणैव विशेष्यमेवा-  
वलम्बते । एवं प्रकाशादिवस्वरूपेणैव विशेष्यमवलम्बते परः । आद्यधकार-  
रस्तदनवलम्बने परत्वाभावं परमेश्वरस्याऽऽह । कुतः । अभ्यासाज्जीव-  
ब्रह्मणोरभेदस्येति शेषः ॥ २५ ॥

तथाऽपि परिच्छिन्नस्य जीवस्य कथमनन्तेन परमात्मनैक्यमित्यत

[५०३भा०२५०] ब्रह्मासुतवर्षिणीदीपिकान्यां समेतानि । २७९  
२५-२८

(५०५०)मिकर्ता गच्छति । तथा हि लिङ्गमपूर्वार्थज्ञापकं ध्रुतिजातं 'ब्रह्मैव  
सन्महाव्येति' [ वृ० ४ । ४ । ६ ] इत्यादि ॥ २६ ॥

एवं जीवब्रह्मणोः पारमार्थिकमभेदमुक्त्वा स्वमतशुद्धपर्यं भेदाभेद-  
पक्षमुपन्यस्यति—

उभयव्यपदेशात्पहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

ध्यानूप्येयमावादिना भेदस्याभेदस्य च श्रुतौ व्यपदेशाज्जीवेश्वरपो-  
र्भेदाभेदा भवतः । कुतः । तुशब्दः सिद्धान्तभेदघोतनार्थः । अहिकुण्ड-  
लवत् । कुण्डलमहेः संस्थानविशेषः । अहिकुण्डलपोरहितत्वेनाभेदः  
कुण्डलत्वेन भेदस्तद्दित्यर्थः ॥ २७ ॥

धर्मभेदेन भेदाभेदाविति पक्षमुक्तवैकथमावच्छेदेनैव भेदाभेदाविति  
पक्षमाह—

प्रकाराश्रयवद्वा तेजस्त्यात् ॥ २८ ॥

यथा प्रकाशः सौरस्तदाभवश्च सविता तपोर्नात्यन्तभेदस्तेजस्त्या-  
विशेषात्तथाऽपि भिन्नत्वेन प्रतीयते । तथा चैकस्तेजस्त्वावच्छेदेनैव  
प्रमाणवलाद्भेदाभेदौ यथा तद्द्वैतविश्वरपोर्भेदाभेदावित्यर्थः ॥ २८ ॥

(१००) आह—अत इति । यतः परिच्छेदो न वस्तुहुतो जीवस्यातोऽस्मा-  
त्कारणादनन्तैक्यमुपपन्नम् । नैतद्भुक्तिमात्रं हि षष्माद्यथोक्तं तथा  
लिङ्गं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति ॥ २६ ॥

इदानीं स्वमतविशुद्धार्थं भेदाभेदाद्दृष्ट्यापपत्ति—उभयेति । हु  
शब्दः संराध्यसंराधकपोरीपार्थिकं भेदं ध्यावर्तयति—ततस्तु तमित्यादिना ।  
ध्यानूप्येयमावस्य परात्परमित्यादिना गन्तृगन्तव्यामावस्य यः सर्वाणि  
मृतानीत्यादिना नियन्तृनियन्त्यमावस्य भेदस्य तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मी-  
त्यादिनैक्यस्योभयस्य व्यपदेशाद्भेदाभेदौ जीवब्रह्मणोरहिकुण्डलवत् ।  
यथाऽहेः कुण्डलाकारो नात्यन्तं भिन्नः ध्रुवगनुपलम्भनात् । न चात्य-  
न्तमभिन्ने दण्डावमाने तस्मिंस्तस्यानुपलम्भनात् । एवं जीवोऽपीति ॥ २७ ॥

अपि चेवं जीवस्यानित्यत्वं स्वादित्यत आह—प्रकाशेति । अथ वा  
प्रकाशाश्रयवदेतत्प्रतिपत्तव्यम् । यथा प्रकाशः सावित्रस्तथाऽऽभवश्च  
सविता नात्यन्तं भिन्न उभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात् । अथ च भेदव्यप-  
देशमाजौ भवत एवमिहापि ॥ २८ ॥



(अ० ५०।)ननु भेदस्य पारमार्थिकत्वे ज्ञानाग्निवृत्तेरसंभवात्प्रोक्तो न स्यादे-  
कावच्छेदेन तयोरेकत्राङ्गीकारे लोके विरोधकथैव न स्यादित्यादिदोषं  
परमते मत्वा स्वसिद्धान्तमाह—

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

‘प्रकाशवशावैशेष्यम्’ इत्यत्र पूर्वं भेद औपाधिकोऽभेदः पारमा-  
र्थिक इति यद्योक्तं स एव सिद्धान्तोऽभ्युपेयः ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

‘नान्यतोऽस्ति द्रष्टा’ [वृ० ३।७।२३] इत्यादिशास्त्रेण परमा-  
त्मातिरिक्तस्य घेतनस्य नेति नेतीत्यादिवाक्यैः प्रपञ्चस्य प्रतिषेधाद्-  
द्वा द्वितीयमित्ययमेव सिद्धान्त इत्यर्थः । तस्माच्छ्रुतिबलाग्निर्विशेष  
एकः परमात्मेति सिद्धम् ॥ ३० ॥

ननु नेतिनेतीति ब्रह्मातिरिक्तं वस्तु निषेधमित्युक्तं तदयुक्तं ब्रह्मणः  
सेतुत्वोन्मनादिव्यपदेशेन वस्तुन्तरसत्त्वावगमादनुभवाद्यधिकरणे सेतु-  
त्वस्य गौणत्वेन नीतत्वेऽप्युन्मनादीनां गतेरवशं नादित्वाक्षिपति—  
( ब्रह्मणोऽन्यस्यावस्तुत्वव्यवस्थापनम्, अधि० ७ )

परमतः सेतुन्मानसं वन्धभेदव्यपदेशोऽपः ॥ ३१ ॥

तत्र पूर्वपक्षे पूर्वाधिकरणसिद्धान्तासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तत्सिद्धि-  
रिति बोधम् । अत्र ब्रह्मातिरिक्तं वस्तुस्थितं न वेति संशयेऽस्तीत्याह

(श्री०।)समाधत्ते—पूर्ववदिति । वाङ्मदो न भेदाभेदा इत्याह । किंतु यथा  
पूर्वमुपन्यस्तं प्रकाशवशावैशेष्यमिति तथैव तत् ॥ २९ ॥

नन्वेवं भेदश्रुतेरपि निवाहं कुतोऽप्यमेव पक्ष इत्यत आह—प्रतिषेधा-  
दिति । नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिना ब्रह्मणो व्यतिरिक्तस्य प्रतिषेधात् ।  
चकारो भेदश्रुतेरसत्त्वस्य भेदाभेददुर्मणत्वस्य समुच्चयार्थः ॥ ३० ॥

पूर्वाधिकरणे प्रतिषेधादन्यस्य ब्रह्मणः श्रुत्योक्तत्वादास्ति ब्रह्मेत्युक्तं  
तर्हि ब्रह्मव्यतिरिक्तमप्यस्ति श्रुत्युक्तत्वादित्वाक्षिपति—परमत इति ।

\* अ. 'स्वशाब्दोन्मनात्पार्थं च' (अ० सू० २।३।२२) इत्यस्मिन्पूर्वे—यथैव्याः  
स्मृतपरिभाषेभ्य उक्तत्वं ज्ञानमुन्मनात्पार्थं पण्डितपरिभाषेभ्यो वाच्यम् ।

(न०५-१)परमिति । अतो ब्रह्मणः परं वस्तुस्ति 'अथ य आत्मा स सेतुः'  
[छा०८।४ । १ ] इति ब्रह्मणः सेतुत्वव्यपदेशात् । तथा च ब्रह्म सद्द्वितीयं  
सेतुत्वाज्जलसेतुवदित्यनुमानमुक्तम् । ब्रह्म चतुष्पादिति श्रुतानुमानव्य-  
पदेशादेतावदिवमिति परिच्छिन्नत्वव्यपदेशाद्द्वैतसमीपस्थरूपसाधनपा-  
षाणादिवत्सद्द्वितीयं ब्रह्मेत्युन्मानशब्दार्थः । षतस्रो दिश एकः पादः,  
शुधिव्यन्तरिक्षं द्यौः समुद्र इति द्वितीयः पादः, अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा  
विद्युदिति तृतीयपादः, । षष्ठः श्रोत्रं बाह्वमन इति चतुर्थः पाद इति  
श्रुतावुपासनार्थं 'चतुष्पाद्ब्रह्म' [ छा० ३ । १८ । २ ] इत्युक्तमिति  
मन्तव्यम् । सुपुत्री 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना ज्ञारीरः संपरिवृक्तः' [ वृ०  
४ । ३ । २१ ] इत्यादिना ब्रह्मणोः संबन्धव्यपदेशात्संबन्धत्वेन हेतुना  
घटादिवत्सद्द्वितीयत्वेन घटादिवत्सद्द्वितीयत्वमिति संबन्धार्थः । आदित्ये  
हिरण्मयपुरुषमीश्वरं व्यपदिश्य ततो भेदेनाक्षिपुरुषस्य व्यपदेशात्पर-  
मात्मा सद्द्वितीय इति मीते ॥ ३१ ॥

सेतुत्वादिहेतोरसिद्धिमाह—

सामान्यानु ॥ ३२ ॥

सुहृत्वादिमये हि सेतुशब्दो कृदो लोके न हि तादृशं सेतुत्वं ब्रह्म-  
णोऽस्ति किंतु सेतुर्गथा जलस्य व्यवस्थापक एवं ब्रह्मणोऽपि सकलजग-  
न्मर्षांदाध्यवस्थापकत्वेन प्रसिद्धसेतुसामान्यात्सेतुत्वव्यपदेश इत्यर्थः ।  
तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । एकविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधः सर्वेषामनुमानानां  
बोध्यः ॥ ३२ ॥

(श्री-१)परमेश्वरात्परमवदस्ति । कुतः । सेतुन्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ।  
सेतुव्यपदेशस्तावद्वथ य आत्मा स सेतुरिति । उन्मानव्यपदेशश्चतुष्पा-  
दित्यादिः । संबन्धव्यपदेशः सता सोम्येत्यादिः । भेदव्यपदेशे य एषोऽ-  
न्तरादित्ये य एषोऽन्तराक्षिणीति । तेभ्यः । न हि सर्वस्मात्परस्यैते व्यप-  
देशा उचिताः ॥ ३१ ॥

सामान्येति । तुशब्दो ब्रह्मणः परमव्यवधारतपति । कथं तर्हि सेतुशब्दो  
ब्रह्मणीत्यत आह—सामान्यात् । लौकिकेन सेतुना विधारकत्वेन ॥ ३२ ॥

(अ० १०१) उन्मानव्यपदेशोऽपि न मुख्य इति द्वितीयं हेतुमप्यसिद्ध्या  
हूपयति-

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

ब्रह्म चतुष्पादिति श्रुतावुन्मानव्यपदेशो बुद्ध्यर्थः पादवदुपासनार्थः ।  
निर्दिशेषस्य बुद्धिस्थत्वायोगादुपासनाद्वारा बुद्धिस्थत्वयोगावुन्मानव्य-  
पदेशो न मुख्य इत्यर्थः । पादवत् । यथा ब्रह्ममतीकस्य मनसो वाग्धा-  
णरक्षुःश्रोत्राण्युपासनार्थं पादत्वेन व्यपदिश्यन्ते तद्वदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

अवशिष्टहेतुद्वयमप्यसिद्ध्या हूपयति-

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

सुप्तौ ब्रह्मणो जीवेन न घटस्व पदेनेव संबन्धः किंतु स्थानविशेषाद्-  
बुद्ध्याद्युपाधिविशेषात्प्रकाशस्य विशेषविज्ञानस्योपाध्युपगमादुपशमोऽभि-  
व्यक्तोपाधिप्रयुक्तमेदाभाव एव जीवपरयोः सुप्तौ संबन्ध इति व्यप-  
दिश्यते । अक्षयादित्यपुरुषयोर्मेंदव्यपदेशोऽप्यक्षयादित्यरूपस्थानविशेषा-  
पेक्षया प्रकाशादिवद्यथा सौरः प्रकाश आकाशो वाऽङ्गुलियोगादुपशम-  
धीपाशाद्युपाधिविशेषात्संबन्ध इव भिन्न इव भाति, उपाधिविगमे  
तदानीमसंबन्ध इवामिन्न इव व्यपदिश्यते तद्वदित्यर्थः । तस्माज्जीवप-  
रपोः संबन्धो भेदोपाधिनिमित्तो न स्वाभाविकः ॥ ३४ ॥

(क्षि०) कथं तर्हि उन्मानशब्द इत्याह—बुद्ध्यर्थ इति । बुद्ध्यर्थ उपास-  
नार्थः । तत्र निर्दर्शनं पादवत् । यथा पादा मनसो वागादव आका-  
शस्याग्न्यादवः । अथ वा कापापणस्य पादा व्यवहारार्थं तद्वत् ॥ ३३ ॥

तर्हि संबन्धभेदयोः कथं व्यपदेश इत्यत आह—स्थानेति । स्थानं-  
मद्यस्थानं तस्य विशेषो बुद्ध्युपाधिराहित्यं सुप्तावस्थायां न तु  
परिमितत्वेन सत्तासंपत्तिरतो न संबन्धकृतहूपयम् । भेदपक्षे स्थान  
आदित्यगण्डलेऽक्षिणी च विशेषस्तस्मात् । न तु स्वरूपभेदाद्यपदेशः ।  
प्रकाशादिवदित्युपभोपादानम् । यथैकस्य प्रकाशस्य सौरस्य चान्द्रम-  
सस्य चोपाधियोगाद्युपजातस्योपाध्युपगमात्संबन्धव्यपदेशो भवति उपा-  
धि[भेदाच्च] । भेदव्यपदेशः । आदिशब्देन यथा सूचीपाशादिव्याध-  
पेक्षयैवैतौ व्यपदेशो भवतस्तद्वत् ॥ ३४ ॥

(न०४०) ननु मुख्य एवास्तु तत्राऽऽह—

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

न मुख्यः संबन्धो जीवपरयोः सुती संभवति 'स्वमपीतो भवति'  
[ छा० ६।८।१ ] इति स्वरूपस्यैव संबन्धत्वव्यपदेशात्स्वरूपस्य च  
सदात्मत्वात्सुपुतौ गौणसंबन्धत्वमेव, एवं भेदोऽपि न मुख्यः क्षुतिसह-  
स्रविरोधादित्युपपत्तिवशान्नैमित्तिक एवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

एवं सेतुत्वादीन्हेतुशिराकृत्य ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं हेत्वन्तरेणाऽऽह—  
तथाऽन्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

यथा सेतुत्वादिहेतुभ्यो न वस्तुन्तरप्रमा तथा 'अहमेवाधस्तात्'  
[ छा० ७।२५।१ ] 'आत्मैवाधस्तात् ।' [ छा० ७।२५।२ ]  
इत्यादिवाक्यैरन्यस्य वस्तुनः प्रतिषेधाद्द्वितीयमेव ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

ननु ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वे सर्वगतत्वं कथमत आह—

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

अनेन सेतुत्वादिव्यपदेशमुख्यत्वस्य वस्तुन्तरस्य च प्रतिषेधेन ब्रह्मणः  
सर्वगतत्वं सिद्धमप्रतिषेधे प्रसिद्धसेतुवद्ब्रह्मणोऽसर्वगतत्वं प्रसज्येत ।  
सर्वगतत्वे मानमाहाऽऽप्यामेति । आयामशब्दो व्यापकत्ववाचकः ।  
'आकाशवत्सर्वगतम्व नित्यः' [ क्षतप० ब्रा० १०।६।३।२ ]

(श्ल०) ननु कस्मान्मुख्यं संबन्धं परित्यज्योपचरितः स्वी क्षिपत इत्यत  
आह—उपपत्तेरिति । स्वमपीतो भवतीति स्वरूपसंबन्धमेवाऽऽग्रमन्तीति  
नचास्योपाधिबलप्रभन्तरेण मरुनगरवदस्त्युपपत्तिः । अत उपपत्तेरर्थं  
संबन्धः । भेदोऽपि नान्वाहुः इति चकारार्थः ॥ ३५ ॥

उक्तेभ्यो हेतुभ्यः परपक्षनिवृत्तिर्नैतावता स्वपक्षसिद्धिरित्यत आह—  
तथेति । यथा सेत्वादिव्यपदेशोऽनवच्छिन्न उपपन्नस्तथा स एवाधस्ता-  
दित्यादिना ब्रह्मणोऽन्यस्य प्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

तथाऽपि ब्रह्मणश्चेधा परिच्छेदशून्यत्वाभावात्परमन्पदनुमेयमित्यत  
आह—

अनेनेति । अनेन सेत्वादिनिराकरणेनान्वप्रतिषेधेन च । सर्वगतत्वं  
त्रेषापरिच्छेदशून्यत्वं किं तर्कमात्रेण तत्रेत्याह—आयामशब्दादिभ्यः ।

(ब्र० १०) इत्यादिः शब्दः । आदिपदेन 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः । [अ० ३ ०  
२। २। ४ ] इत्यादिस्मृतिरुक्ता । तस्माद्द्वितीयस्य ब्रह्मण आविद्यकं  
सर्वमादाय श्रुतिस्मृतिभ्यां सर्वगतत्वं सिद्धम् ॥ ३७ ॥

ननु ब्रह्मातिरिक्तस्य वस्तुनो निषेधे ब्रह्मणो निर्विशेषत्वेन कर्मफल-  
दातृत्वं न स्यादित्वाक्षेपे व्यावहारिकफलदातृत्वमविरुद्धमित्याह—

( कर्मफलोत्पत्तिं प्रतीश्वरस्यैव कर्तृत्वं नापूर्वस्येति कथनम्,  
अधि० ८ )

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥

पूर्वं निर्विशेषं तत्पद्वलक्ष्यं ब्रह्मोक्तमिदानीं तत्पदवाच्यं विचार्यत  
इति पादसंगतिः । पूर्वपक्षे कर्मण एव फलदातृत्वाद्ब्रह्मणोऽकिञ्चित्कर-  
त्वसिद्धिः फलं सिद्धान्ते त्वीश्वरस्यैव फलदातृत्वसिद्धिरिति भेदः ।  
किं सर्वस्य जन्तोः कर्मण एव फलं भवत्युत्तेश्वरादिति संदेहेऽग्रे पूर्व-  
पक्षं निराकारिष्यन्सिद्धान्तमाह—फलमिति । अतः परमात्मनः फलं  
सर्वस्य लोकस्य भवितुमर्हति क्षणिकात्कर्मणः फलासंभवेनेश्वरस्यैव  
फलदातृत्वोपपत्तेरित्यर्थः ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

'स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः' [ वृ० ४। ४। २४ ]  
इतीश्वरफलहेतुत्वस्य श्रुतत्वाच्चेश्वरः फलदातेत्यर्थः । अन्नमा समन्ता-  
त्वाग्निभ्यो ददातीत्यन्नादः । वसुदानो धनदाता ॥ ३९ ॥

(शे०) आयामशब्दो व्याप्तिवचनः शब्दः । यावान्वा अपमाकाश  
इत्यादिः । आदिशब्देन नित्यत्वादिशब्दार्थो वा तेभ्यः ॥ ३७ ॥

पूर्वाधिकरणे निर्गुणमेव ब्रह्म तत्पदार्थलक्ष्यं नातोऽधिकं किञ्चिदस्ति  
तर्हि निर्गुणस्यापि कर्मफले पारतन्त्र्यात्सेतून्मानादिकमित्याक्षिप्याऽऽह-  
फलमत इति । फलं सुखदुःखादि अतः परमेश्वरान् । कुतः । चेतनो  
हि स्वतन्त्रः कृतं शुभाशुभं विज्ञाय तदनुसारि फलं यच्छतीति  
उपपत्तेः ॥ ३८ ॥

किं तर्कमात्रमित्याशङ्क्य नेत्याह—श्रुतत्वादिति । अन्नादो वसुदान  
इत्यादिना । अकार ईश्वरपरितो गच्छेदिति स्मृतिमाह ॥ ३९ ॥

(न०५०)शाङ्कते—

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

यतः श्रुत्युपपत्तिभ्यामीश्वरं फलदातारं मन्यते सिद्धान्त्यत एव श्रुत्युपपत्तिभ्यां धर्मं फलदातारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । तथा हि 'स्वर्गकामो यजेत' इति विविधियस्य यागस्य स्वर्गसाधनत्वं श्रुतं तन्निर्वाहाय श्रुतिप्रमाणकैरपूर्वास्त्यो ध्यापारो यागस्योत्तरावस्थारूपः कल्पनीय इति यागादिधर्म एव फलदातेभ्यस्तस्य सर्वसाधारणस्य विविधफलदातृत्वानुपपत्तेरिति ॥ ४० ॥

समाधत्ते—

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

बादरायणस्वार्थार्थः पूर्वोक्तमीश्वरं फलदातारं मन्यते । तुरुक्तशङ्कानिरासकः । कर्मापूर्वं वा स्वस्वरूपस्वधिनियोगसाक्षात्कारवदाधिष्ठितं भवितुमर्हत्पथेतनत्वान्मूदादिबदित्वनुमानेन संभावितेऽर्थे श्रुतिस्मृती प्रमाणयति हेतुव्यपदेशादिति 'एष ह्येव साष्टु कर्म कारयति' [कौ० ३।८] 'अज्ञादो वसुदानः' [बृ० ४।४।२४] इत्यादिश्रुत्या 'लभते च ततः कामान्मथैव विहितान्हितान्' [म० गी० ७।२१] इत्यादिस्मृत्या भेद्वरस्य धर्माधर्मयोस्तत्फले च हेतुत्वेन व्यपदिष्टत्वादित्यर्थः । तस्मात्तत्कर्मसापेक्षादीश्वरादेव सर्वेषां फलसिद्धिरिति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

(श्री०) ईश्वरे फलदातृत्वमाक्षिपति—धर्ममिति । जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलस्य दातारं मन्यते । अत एव श्रुतोपपत्तिभ्यामेव । श्रुतं ज्योतिष्टोमेनेत्यादि । उपपत्तिरीश्वरश्चेद्दाताऽकृतेऽपि कर्मणि दद्यात्सुखदुःखादिकृतेऽपि न दद्यात्स्वतन्त्रत्वादेव ॥ ४० ॥

समाधत्ते—पूर्वमिति । तुल्यत्वं ईश्वरानधिष्ठितस्य कर्मणः फलदातृत्वं व्यावर्तयति । किंतु चः पूर्वमुक्तमेवेश्वरं फलदातारं बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः । हेतुव्यपदेशात् । हेतुरीश्वरो धर्माधर्मयोः फलस्य च 'एष ह्येव' इत्यादिश्रुत्या 'यो यो यां याम्' इत्यादिस्मृत्या च व्यपदिश्यते । हेतोः कारणस्य व्यपदेशो हेतुव्यपदेशस्तस्मात् ॥ ४१ ॥ ८ ॥

इति ब्रह्मसूत्रटीपिकायां तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

(न०५०) एवं तत्पदलक्ष्यवाच्यात्मकं निर्गुणं सगुणं ब्रह्म ज्ञेयं व्याख्या-  
तमिदानीं तज्ज्ञानं किंप्रकारकमित्यपेक्षायां तद्विचाराय पादान्तरमा-  
रभ्यते—

(छान्दोग्यबृहदारण्यकश्रुत्युक्तयोः पञ्चाग्निविद्योपासनयोर्विभ्वन्-  
छानकलसाम्भेनैकत्वम्, अधि० १ )

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

पूर्वपादे वाक्यार्थज्ञाने कारणीभूततत्त्वंपदार्थनिरूपणं कृतमस्मि-  
न्यादे वाक्यार्थो निर्धार्यत इत्यनयोः पादयोर्हेतुहेतुमद्भावः संगतिः ।  
सगुणविद्यायाः सत्त्वज्ञानद्वारा वाक्यार्थज्ञानोपयोगित्वात्तद्व्याख्या-  
र्यचिन्ता क्रियत इति मन्तव्यम् । तत्र तावत्सगुणब्रह्मपाठपञ्चाग्निवादि-  
विषयेषुपासनेषु भेदाभेदचिन्ताऽऽरभ्यते किं प्रतिवेदान्तं प्राणोपासनं  
पञ्चाग्न्युपासनमित्येवंजातीयकमुपासनं भिद्यते न वेति पूर्वपक्ष उपा-  
सनानां भेदादेकवेदान्तोक्तोपासनस्यगुणानां वेदान्तान्तरोक्तोपासनेऽनु-  
पसंहारः सिद्धान्त उपासनैकवाहुणोपसंहारे तदुपासनान्तस्त्वज्ञानद्वारा  
वाक्यार्थज्ञाने मुक्तिरिति कल्पितम् । इत्येवमेव यथा यागस्य रूपं  
तथोपासनस्थोपास्यं रूपम् । तथा च यथाऽऽमिक्षावाजिनयागयोर्द्वैव्यरू-  
पमेवाद्भेद एवमुपासनानामुपास्यरूपमेवाद्भेदो न्याय्यः । तथा हि  
कचित्पञ्चाग्निविद्यायां पठोऽग्निरुपास्यः श्रूयते क्वचित्तु शाखायां पञ्चै-  
वाग्रय इत्येवंरूपेण तत्र तत्रोपासने रूपमेवावगमादुपासनं भिद्यत  
इति प्राप्ते ब्रूमः—सर्ववेदान्तैः प्रत्ययं प्रतीयमानान्युपासनानि न भिद्यन्ते ।  
कुतः । चोदनाद्यविशेषात् । आदिपदेन कर्माभेदे हेतुत्वेनोपन्यस्ताः

(श्री०)द्वितीये पादे तत्त्वंपदार्थो निर्णीतो तृतीयपादेनापुनरुक्ताकाङ्-  
क्षितपदार्थोपसंहारेण सगुणनिर्गुणब्रह्मवाक्याणामर्थोऽवधार्यते । सगुणो  
विद्याभेदोऽभेदश्च गुणोपसंहारोऽनुपसंहारश्चोपासनार्थः । ततः छान्दा-  
न्तःकरणो ज्ञानोत्पादे ब्रह्माऽऽप्नोतीति फलम् । निर्गुणे तु विद्याया  
एकपक्षे वाचानन्दादिगुणानामुपसंहाराद्विद्ययासङ्गैकरत्तवाक्यार्थबोधः  
फलमित्यत आरभ्यते—

सर्वेति । सर्ववेदान्तप्रत्ययानि विज्ञानानि तस्मिन्तस्मिन्वेदान्ते  
ताम्येव तानि भवितुमर्हन्ति । कुतः । चोदनाद्यविशेषात् । आदिश-

(अ०१००)संयोगरूपाख्या गृह्यन्ते चोदनासंयोगरूपसमाख्यानामविशेषादि-  
त्यर्थः । यथा सर्वशास्त्रस्वप्निहोत्रं जुहोतीति चोदनाया अविशेषान्नित्या-  
ग्निहोत्रमेकं तथा 'यो ह वै ज्येष्ठं श्रेष्ठं च प्राणं वेद्' [छा०५।१।१] [बृ०६।  
१।१] इत्यादिचोदनावाच्यछन्दोगानां वाजसनेयिनां चाविशिष्टत्वाद्देवैक्य  
प्राणविद्या सर्वेषां शास्त्रिणामिति गम्यते । यः प्राणोपासकः सः 'ज्येष्ठश्च  
श्रेष्ठश्च स्वानां भवति' [ बृ० ६।१।१ ] इति । कलसंयोगस्य सर्वत्रावि-  
शिष्टत्वाच्च न विद्याया भेदो ज्येष्ठत्वादिगुणकमाणस्योपास्यरूपस्य सर्व-  
त्राविशिष्टत्वाच्च । तथा प्राणविद्येति समाख्यायाः सर्वत्राविशेषाच्च  
विद्यैक्यमिति ॥ १ ॥

\* भेदादिति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

ननु वाजसनेयिनः पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठं प्रसिद्धमग्निमुपास्यत्वेनाऽऽ-  
मनन्ति तस्य धृतस्य यजमानस्यात्विग्भिररण्यं प्रापितस्य प्रसिद्धोऽग्निरे-  
वाग्निर्भवतीति । छन्दोगास्तु पञ्चाग्निन्वेद्येत्पामनन्ति न तु षष्ठमग्निं तथा  
च रूपभेदादामिक्षायाजिनयागयोरेव शाखाहूपे पञ्चाग्निविद्याया भेदो  
न्याय्य इत्युक्तमिति चेन्न यत् एकस्यामपि विद्यायामयं रूपमेव उपप-  
द्यते । तथा हि ये द्युलोकादयः पञ्चाग्नयो वाजसनेयिज्ञासायासुक्तास्त  
एव च्छान्दोग्ये प्रत्यभिज्ञावन्ते तथा च न विद्याभेदो युक्तः । न च पञ्चा-  
ग्नितद्भावाभ्यां भेदः, एकस्मिन्नेवातिरात्रे षोडशीग्रहणतद्भावावर्द्धन-  
त्वात् । यद्वाऽनेकगुणप्रत्यभिज्ञानुरोधाच्छान्दोग्ये पञ्चाग्नेरुपसंहारः कर्तव्यः ।  
न चाग्निषु पञ्चत्वसंख्याप्राथम्याविरोधस्तस्य स्वदुःसुखा संपादिताग्निपर-  
त्वादिति भावः ॥ २ ॥

(श्री०)भेदेन संयोगरूपाख्यानां ग्रहणम् । 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद्' इति  
छन्दोगानां वाजसनेयिनां च चोदनाया अविशेषः । 'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च  
स्वानां भवति' इति प्रयोजनसंयोगोऽप्यविशिष्टः । रूपमपि ज्येष्ठश्रेष्ठ-  
गुणकमेव । समाख्याऽपि प्राणविद्येति समैव ॥ १ ॥

भेदादिति । वाजसनेयिनां छन्दोगानां षष्ठमग्निमुपास्यत्वेनाऽऽ  
विद्येति चेन्न । एकस्यामपि विद्यायामयं भेदो न दोषाय सांपादि-  
कानां पञ्चानामप्यग्निनां प्रत्यभिज्ञाप्रमानत्वात् । एवमन्यत्रापि ज्येष्ठ-  
त्वादिगुणानामेकैकपत्वाच्च भेदः ॥ २ ॥



(अ०१०) ननु ब्रह्मविद्याप्रतिपादकमुण्डकाध्ययने शिरस्पङ्गुरपात्रधार-  
णरूपं व्रतं कर्तव्यत्वेनोपदिश्यत इतरंगनिषदध्ययनकाले तु शिरोव्रतं  
नापेक्षते तथा च मुण्डकस्यविद्यापेक्षयेतरोपनिषज्जिष्ठविद्याया भेदो  
युक्तः । न ह्येकैव विद्या शिरोव्रतरूपधर्ममपेक्षते नापेक्षते चेति युक्तमतो  
धर्मभेदाद्विद्याभेद इत्याशङ्क्याऽऽह—

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधि-

काराच्च स्रववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

स्वाध्यायस्यैवैष शिरोव्रताख्यो धर्मोऽङ्गं न विद्यायाः । कुतः । हि  
व्रतस्तथात्वेन स्वाध्यायाङ्गत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे शिरोव्र-  
तमपि वेदव्रतत्वेनाऽऽथर्वणिकाः समामनन्ति । तथा च यथा गोदानरूपं  
वेदव्रतं वेदाध्ययनाङ्गमेवं शिरोव्रतमपि मुण्डकाध्ययनाङ्गमेव न मुण्डको-  
क्तविद्याङ्गमित्यर्थः । अधिकाराच्च । 'नैतद् चीर्णव्रतोऽधीते' [मु०३।२।११]  
इत्यत्रत्यादाधिकृतमुण्डकग्रन्थजातपरादेतच्छब्दाच्चकारादधीत इत्यध्यय-  
नशब्दाच्च शिरोव्रतमध्ययनस्यैवाङ्गमित्यर्थः । अचीर्णव्रतोऽननुष्ठितशि-  
रोव्रतः । तस्य शिरोव्रतस्य मुण्डकाध्ययने नियम इत्यत्र दृष्टान्तः स्रव-  
वचेति । यथा स्रवाः सप्त होमाः सौर्यादयः शतौदनान्ताः शाखान्तरो-  
क्तत्रेताग्न्यसंबन्धादथर्वणोक्तैकाग्निंसंबन्धाच्चैकाग्नीनामाथर्वणिकानामेव  
नियम्यन्ते तद्वदेतच्छब्दादधीत इति शब्दाच्च मुण्डकाध्ययन एव शिरो-  
व्रतस्य नियम इत्यर्थः । तस्मात्सर्वत्र विद्यैक्यम् ॥ ३ ॥

(क्षी०)तेषामेवैतामित्यादिना शिरोव्रतादिधर्मभेदाद्विद्याभेद इत्यत आह—  
स्वाध्यायेति । स्वाध्यायस्यैव धर्मोऽङ्गं विद्यायाः । कथम् । हि व्रत्सामान्या-  
त्वेन स्वाध्यायधर्मत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे आथर्वणिका इद-  
मपि वेदव्रतत्वेन व्याख्यातमित्यामनन्ति नैतद् चीर्णव्रतोऽधीत इति  
चाधिकृतविषयदेतच्छब्दादध्ययनशब्दाच्च । अधिकाराच्च । स्रववच्च  
तन्नियमः । तस्य शिरोव्रतस्य नियमोऽपि तेषामेव तत्र निदर्शनं स्रव-  
यत् । यथा सप्त सूर्यादयः शनैश्चरपर्यन्ताः सवा एकाग्निंसंबन्धाधेषामेव  
तद्वत् ॥ ३ ॥

दर्शयति च ॥ ४ ॥

(ब०१०) 'सर्वे वेदा पत्यदमामनन्ति' [ का०२।१५ ] इत्यादिवाक्यं निर्गुणस्य ब्रह्मणो वेद्यस्य सर्ववेदाग्नेप्येकत्वेन तद्विद्यायाः सर्वैकत्वं दर्शयति । तथा वाजसनेथके सगुणस्य ब्रह्मणो वैश्वानरस्य प्रादेशमात्रत्वेन संपादितस्य च्छान्दोग्ये सिद्धवद्रुपादानं 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' [ छा० ५।१८।१ ] इति तदपि सर्वत्र वैश्वानरविद्याया एकत्वं दर्शयति । तथा च यथा निर्गुणस्य सगुणस्य वा ब्रह्मण एकत्वेन सर्वत्र श्रूयमाणत्वात्तद्विद्याया एकत्वं तथा शस्त्रविशेषरूपोक्त्यादीनां सर्वत्र श्रूयमाणत्वादिदमवगम्यते सर्वत्रोपास्त्वर्थं तेषां श्रवणमिति । तत्तद्योपास्त्वोक्त्यादीनामेकत्वात्तद्रुपासनानामप्यैक्यमिति । तत्समभिव्याहारादितरेषामप्युपासनानामभेदसिद्धिरित्यर्थः ॥ ४ ॥

उपासनैक्यविचारस्य प्रयोजनमाह—

( गुणोपसंहारस्य कर्तव्यत्वम्, अचि० २ )

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधियोपयत्समाने च ॥ ५ ॥

सर्वत्रोपासनानामेकत्वेऽप्येकशास्त्रास्त्वविद्यायां कतिपयगुणयुक्तायां शास्त्रान्तरस्थाधिकगुणानामुपसंहारोऽस्ति न वेति संदेहे यत्र पादन्तो गुणाः श्रुतास्तीरेवाऽऽकाङ्क्षाशान्तेर्नोपसंहार इति प्राप्ते न्यमः—समान उपसंहारो युक्तः । कुतः । अर्थाभेदात् । उपास्यगुणैर्निर्भर्योपासनरूपार्थस्य सर्वशास्त्रास्त्वभिन्नत्वात्, न ह्येकमेवोपासनं गुणान्तरमपेक्षते नापेक्षत इति युक्तम् । विधिशेषवत् । यथाऽग्निहोत्रस्य सर्वत्रैकत्वात्-

(क्षि०) ननु न्यायमात्रेण कथमवाचनिकं स्वीकर्तुं शक्यमित्यत आह—दर्शयतीति । सर्वे वेदा पत्यदमित्यादिना विश्लेषकत्वम् । चकारो न्यायमात्रशङ्काया अनुत्थानं दर्शयति ॥ ४ ॥

पूर्वाधिकरणे विश्लेष्यं निरूपितं तन्निष्पद्योजनमित्याशङ्क्याऽऽह—उपसंहार इति । शास्त्रान्तरुपदिष्टानां गुणानां शास्त्रान्तरविज्ञान उपसंहारः स्वीकार्यः । कुतः । अर्थस्य प्रयोजनस्य विशिष्टज्ञानस्योप-

(ब०१०) च्छेपाणामुपसंहारस्तद्द्विरपर्यः । अत्र पूर्वपक्षे पूर्वाधिकरणप्रयोजनस्य गुणोपसंहारस्यासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तात्सिद्धिरिति बोध्यम् । तस्माच्चोदनाद्यविशेषेण हेतुना कृतस्पोपासनैक्यविचारस्य फलत्वं सिद्धम् ॥ ५ ॥

इदानीं चोदनाद्यविशेषस्पोपासनैक्यसाधकत्वापवादार्थमाह—

( छान्दोग्यकाण्वशास्त्रधोऋषीथविद्याभेदकथनम्, अचि०३ )

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविरोधात् ॥ ६ ॥

वृहदारण्यके श्रूयत उद्गीथमाह्वणम् । क्षेत्रज्ञस्य यास्तामसवृत्तपस्तेऽसुरा याश्च सात्त्विकवृत्तपस्ते देवास्तेषां देवासुराणामन्योन्यं स्पर्धां तामसवृत्त्युद्भवे सात्त्विकवृत्त्यनुद्भवः सात्त्विकवृत्त्युद्भवे च तामसवृत्त्यनुद्भव इत्येवंरूपां श्रावयित्वा तत्र देवाः सामभक्तिरूपेणोद्गीथोद्गातृकर्मणाऽसुरजयं करिष्याम इति बुद्ध्या वाचं ब्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनश्चोचुस्त्वमस्माकमौद्गात्रं कर्मोद्गीथं कुर्याति । ते च वागादयस्तथाऽस्त्वित्युक्तवन्तः कर्मणि प्रवृत्तास्तानुद्गातृनसुरा एभिरुद्गातृभिर्देवा अस्मज्जयं करिष्यन्तीति बुद्ध्या ताडितवन्तस्ते च वागादयस्ताडिता इति वागादीन्निन्दित्वा मुख्यप्राणमुद्गातृत्वेन श्रावयति—अथहेमं मुखप्राणं देवा ऊचुस्त्वमस्माकमुद्गाता भवेति । स प्राणस्तथाऽस्त्वित्युक्तवा कर्मणि प्रवचस्तं चोद्गातारं प्राणं प्राप्य हन्तुकामा असुराः पापाणं प्राप्य वेगवाह्योऽह इव विशीर्णावयथा अभूवन्निति प्राणस्तुतिं कृत्योद्गीथकर्तारं प्राणमुपास्यं दर्शयतीति । एवमेव च्छान्दोग्येऽपि श्रूयते 'तद्देवा उद्गीथमाजहूरनेनेनानमिमविष्यामः' [ छा०१।२।१ ] तत्र पूर्ववद्देवासुरस्पर्धायां देवा उद्गीथोपलक्षितमौद्गात्रं कर्माऽऽहृतवन्तोऽनेन कर्मणैर्नास्तामसवृत्तिलक्षणानसुरानमिमविष्याम इत्युपक्रम्य पूर्ववदेव वागादिनिन्दां कृत्वा 'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाचकिरे' [ छा०१।२।७ ] देवा इति । सर्वत्र वागादिशब्दास्तद्भिमानिदेवतापरा बोध्याः । तत्र

(वी०) कारस्याभेदात् । समाने चोभयत्रापि तस्मिन्नेकस्मिन्ज्ञाने स्थिते । अत्र निदर्शनम् । विधिशेषवत् । विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्माणां शास्त्रान्तरे श्रुतानां यथा शास्त्रान्तर उपसंहारस्तद्देव ॥ ५ ॥

पूर्वाधिकरणे चोदनाद्यविशेषाद्द्वितीयक्यमुक्तमत्रापि प्राणविद्येति समाख्याया ऐक्याद्द्वितीयक्यमिति वदन्तगपवदति सूत्रावयवेन—अन्य-

(अ०४०)संज्ञयः किमनयोर्विद्ययोरभेद उत भेद इति । अत्र पूर्वपक्षे गुणो-  
पसंहारः फलं सिद्धान्ते विद्ययोर्भेदान्नोपसंहार इति भेदः । षोडशाद्यवि-  
शेषादित्यत्र समाख्याया अविशेषाद्विद्यैक्यमित्युक्तं तर्ह्यनाप्युद्गीयविद्येति  
समाख्याया अविशेषाद्विद्यैक्यमेवेति दृष्टान्तसंगत्या प्राप्ते तदाक्षिपति  
सिद्धान्ती 'अन्यथात्वं शब्दादिति चेत्' इति । छान्दोग्यबृहदारण्यक-  
वाक्याभ्यां प्राणस्पान्यथात्वं भिन्नाकारत्वं बृहदारण्यक उद्गीथकर्तृत्वं  
छान्दोग्य उद्गीथकर्मात्मकत्वमित्येवंरूपं गम्यते तथा च कर्तृकर्मणोर्भेदे-  
नोपास्यभेदान्न विद्यैक्यमिति शङ्कार्थः । पूर्वपक्षी परिहरति नेति । कुतः ।  
अविशेषात् । देवानुरस्यर्षोपक्रमादीनां बहूनामर्थानामुभयत्राविशे-  
षात् ॥ ६ ॥

छान्दोग्ये 'तमुद्गीथमुपासांचकिरे' इति प्राणस्योद्गीथकर्मात्मकत्वव-  
यणं लक्षणयोद्गीथकर्तृत्वनैव व्याख्येयमिति विद्यैक्यमिति प्राप्ते सिद्धान्त-  
पति—

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

नैवात्र विद्यैक्यं युक्तं प्रकरणभेदादुपक्रमभेदादित्यर्थः । तथा हि 'ओ-  
मित्येतद्दक्षरमुद्गीथमुपासीत' [ छा० । १ । १ । १ ] इत्योकाराद्यनेक-  
वर्णरूपावयवविशिष्टस्य सामभक्तिविशेषस्योद्गीथस्यावयवभूतमोकार-  
मुपास्यमुपक्रम्य तस्यैवोकारस्य पृथिव्यादिभ्यः सारतमत्वादिगुणानुक्त्वा  
पुनरुद्गीथावयवमोकारमनुवर्त्य देवानुराख्याधिकारोपेण 'प्राणमुद्गीथमुपा-

(टी०) धात्वमिति । उद्गानस्य कर्तृत्वमुद्गीथरूपत्वं च वाजसनेयके छान्दोग्ये  
ष प्रतीयते त्वं न उद्गायेति वाजसनेयके 'तमुद्गीथमुपासांचकिरे' इति  
शब्दभेदादिति चेन्न । कुतः । अविशेषाद्देवानुरसङ्गामादेर्भूयस्त्वम् ॥ ६ ॥

उभयत्रापि सिद्धान्तमाह—न वेति । न वा नैव विद्याया ऐक्यम् ।  
कुतः । छान्दोग्ये ओमित्येतद्दक्षरमुद्गीथमित्युपक्रम्योद्गीथावयवस्योकार-  
स्योद्गीथत्वेनोपास्यत्वमभिधाय प्राणस्याप्युद्गीथत्वमाह तमुद्गीथमिति ।

\* क. पुलके त्वयं ग्रन्थः—एषाच कर्तृकर्मणोर्भेदोपेतमुद्गीथमुपासांचकिर इति कर्तृकर्म  
विधैक्यं स्यादिति चेन्न दोषः । न ह्योतावता विशेषेण विधैक्यमप्युच्यते । अविशेषेऽपि  
बहुतस्य प्रतीयमानत्वात् ॥ ७ ॥ तथाहि—

(अ०१०१) सांचक्रिरे [ छा०१।२।२ ] देवा इत्याह । अत्रत्योद्गीथशब्देनोद्गीथावयव उकार एव स्वीकर्तव्य उपक्रम उद्गीथपदेन तस्यैवोक्तत्वा-  
दन्वथोद्गीथपदेन सकलसामभक्तिग्रहण उद्गीथकर्तृलक्षणावां चोपक्रमो  
वाधेत । तस्मादुद्गीथावयव उकारे प्राण उपास्यः । बृहदारण्यके  
उद्गीथकर्ता प्राण उपास्य इत्यनयोर्विद्ययोर्भेद इति परोवरीयस्त्वादि-  
द्यथोद्गीथोपासितत्वाभ्येऽप्येकत्रोद्गीथे परमात्माध्यासेन प्राणाद्यपेक्षया  
परत्ववरीयस्त्वादिगुणकमुपासनं 'स एव परोवरीयानुद्गीथः [ छा० १ ।  
९ । २ ] इत्यादिवाक्यविहितमक्षयादित्यपुरुषगतहिरण्यमश्रुत्वादिगुण-  
विशिष्टोद्गीथोपासनाद्भिद्यते तद्ददित्यर्थः ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

ननुद्गीथविद्येति संज्ञाया एकत्वाच्छास्त्राह्वये विद्यैक्यमित्युक्तमिति चेत्त-  
त्रोत्तरमुक्तं न वा प्रकरणभेदादिति । सूत्रे संज्ञाकरणस्य पौरुषेयत्वात्  
विद्यैक्यसंबादकत्वमिति भावः । किंच तत्संज्ञैकत्वं परोवरीयस्त्वाद्युपा-  
सनयोर्भिन्नयोरप्यस्त्युद्गीथविद्येति । सूत्रस्थापिशब्धेनान्योऽपि हृष्टान्तः  
सूच्यते यथैकस्मिन्काठकग्रन्थे चोदितानां भिन्नानां कर्मणां काठकैकसं-  
ज्ञत्वमस्त्यतः पौरुषेयसंज्ञैक्यं विद्यैक्येऽप्रयोजकमिति भावः । तस्माच्छ-  
न्दोगवाजसनेयिशाखयोः प्रकृतविद्ययोर्भेद इति सिद्धम् ॥ ८ ॥

ननु ओमित्येतदक्षरमुद्गीथपासीत [ छा० । १ । १ । १ ] इत्युपक्रम  
उद्गीथपदस्योकारपरत्वनिर्धारणेन सिद्धान्तः कृतस्तदुक्तमुपक्रमवाक्य-

(दी०१) वाजसनेयके तु समग्राया उद्गीथमक्तेः कर्ता त्वं न उद्गापेति ।  
अतः प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिबदेकस्यां शालायां निदर्शनं स एव  
परोवरीयानुद्गीथ इत्याकाशे परोवरीयस्त्वादिधर्मिण्युद्गीथे हिरण्यम-  
श्रुत्वादिधर्मिणि च न परस्परं गुणोपसंहारस्तद्द्व ॥ ७ ॥

संज्ञाया इति । संज्ञायाः प्राणैविधेयत्वात् अभेदाद्भिद्यावा अप्यभेद  
इति चेच्चोद्यं तदुक्तं निराकृतं प्रकरणभेदादित्यत्र । तदपि संज्ञाया  
ऐक्यमपि प्रसिद्धभेदेष्वपि परोवरीयस्त्वादाद्युद्गीथ इत्यग्निहोत्रदर्श-  
पूर्णमासादौ काठकमिति । अस्ति तु अस्त्येव ॥ ८ ॥

[अ० ३ पा० १ सू० ९] ब्रह्मावृत्तवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २९३

(अ० ५०) स्वान्यथाऽपि योजनासंभवेन निर्धारणायोगादित्वाक्षेपे समा-  
धत्ते—

( ब्रह्महृद्वेहेतुत्वेनाक्षरोद्गीथयोरेकत्वसंपादनम्, अधि० ४ )

व्यापेथ्य समञ्जसम् ॥ ९ ॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमित्योकारत्वोद्गीथत्वयोः सामानाधिकरण्यमति-  
भासोऽस्ति स किं नास्ति ब्रह्मदृष्टिवदध्यास उत यद्भजते सा श्रुतिरिति-  
षदपवादः । किं वा भूसुरो ब्राह्मण इतिधनुत्वधर्मावभास आहोस्विन्नी-  
लमुत्पलमितिवदुद्गीथोकारयोर्विशेषणविशेष्यभावावभास इति संशयः ।  
तत्र पूर्वपक्षे निर्धारणे कारणाभावाद्निर्धारितार्थकमिदमुपक्रमवाक्यम-  
प्रमाणमिति तन्मूलकस्य पूर्वाधिकरणसिद्धान्तस्यासिद्धिः कलं सिद्धान्ते  
स्योकारस्य प्रवृत्तं प्रत्यनुवाकं प्रतिसामं चाऽऽजन्तेषु न्पासेर्वापित्वात्को  
थोकार उपास्य इत्याकाङ्क्षाषामुद्गीथावयवत्वेनोकारो विशिष्यते 'ओ-  
मित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इति । तथा ओद्गीथमित्योकारस्य विशे-  
षणमित्येव समञ्जसमुत्पलस्य नीलत्वमिव न त्वध्यासाद्विषयग्रहणं युक्त-  
मित्युपक्रमवाक्यस्य निर्धारितार्थत्वात्तन्मूलकस्य सिद्धान्तस्य सिद्धि-  
रिति बोध्यम् । सूत्रे चक्षव्योऽयं तुल्यव्युत्पन्नानिवेशी तुल्यत्वेनाध्यासा-  
द्विषयाणामसंभवः सूचितः । तथा ह्युद्गीथ ओकारस्योकारे ओद्गीथ-  
स्याध्यासेनोपास्यत्वं उत्तरत्र विधीयमानादोकारे प्राणवृष्टिरूपादुपास-  
नाद्विषयमिदमुपासनमिति वक्तव्यं तथा च वृथक्फलकल्पनामसङ्गः ।  
सिद्धान्ते तु प्राणाद्यथ ओकारोऽत्र विशिष्य समर्थित इति नार्थं दोषः ।  
नापि द्वितीयः पक्षः । ओकारोद्गीथयोरन्यतरज्ञानस्यान्यतरज्ञानावध-  
कत्वादृशनात् । नापि तृतीयः । ओकारोद्गीथशब्दयोः पर्यायत्वाभावा-  
दिति । तस्मात्पदैकदेशे वृधे पटो द्रव्य इत्यादिवदुद्गीथपदं स्वावयव-  
मोकारं लक्षयतीति सिद्धम् ॥ ९ ॥

(श्लो०) पूर्वाधिकरण ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमिति च्छन्दोगानामुपक-  
माद्विद्यामेदु उक्तः । इदानीं तस्योकारस्योद्गीथोऽपि विशेषणं न दृष्टिवि-  
धिर्नाषवादानेन चैक्यमिति बुद्धिसंनिधिमाह व्यासैरिति । चक्षव्यव्युत्पन्नः ।  
स ह्यध्यासावयववैक्यानि निराकरोति । व्यासैः सर्ववैदसाधारण्यादो-  
कारस्य स ताडशो मा मूदित्युद्गीथशब्दं विशेषणमित्युक्तम् । समञ्जसं  
चैतद्विशेषणमन्यथा व्यासस्यैव ग्रहणं स्यात् ॥ ९ ॥

(अ० १००) ( वसिष्ठत्वादिगुणानामुपसंहर्तव्यत्वम्, अचि० ५ )

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

वाजसनेयके छान्दोग्ये च प्राणसंवादे मुख्यप्राणस्य श्रेष्ठगुणकस्यो-  
पास्पत्वमुक्तम् । वाक्चक्षुःश्रोत्रमनोरेतांसि क्रमेण वसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसंप-  
स्वायतनत्वजनिमत्स्वरूपगुणयुक्तान्युक्तानि संकीर्त्य ते च वागादयः प्राणा-  
धीनस्थितिकत्वं स्येदु निश्चित्य स्वनिष्ठान्वसिष्ठत्वादिगुणान्प्राणे सम-  
र्पितवन्त इत्युक्तम् । वाचो हि वसिष्ठत्वं वाम्भिमनो लोके सुखेन वासदर्श-  
नाच्चक्षुषः प्रतिष्ठात्वं चक्षुष्मतः सुखेन पादप्रतिष्ठादर्शनाच्छ्रोत्रस्य संपत्त्वं  
श्रुतात्मनिर्धारणेन परमसंपत्तिदर्शनात्मनो हि मोग्याकारवृत्तिद्वारा  
मोग्यानामावतनं पुरुषाद्याकारेण परिणममानं रेतोऽजनिमन्मन्तव्यम् ।  
एवं कौशीतक्यादिशाखास्वपि प्राणसंवादेषु 'अथातो निःश्रेयसादानमेता  
ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' [कौ० २।१४] इत्यादिना प्राणश्रे-  
ष्ठमुक्तं वसिष्ठत्वादिगुणास्तु नोक्ताः । निःश्रेयसं श्रेष्ठत्वं तस्याऽऽधानं  
निर्धारणं तद्विनोपास्तेरयोगात्तद्वारम्यत इत्याह—अथेति । एता वागाद्यभि-  
मानिन्यो देवता अहंश्रेयसे स्वकीयश्रेष्ठत्वाथेत्यर्थः । तत्र किं वसिष्ठत्वादिगु-  
णानां क्वचिदुक्तानामन्यत्रोपसंहारोऽस्ति न वेति संदेहे पूर्वमौकारस्य समी-  
पस्थगुणैरेवोपास्पत्ववद्वापि यत्र ये गुणाः श्रुतास्तेरेवोपास्पत्वं प्राण-  
स्येति नोपसंहार इति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । अन्यत्र वसिष्ठत्वादिगुणा-  
नामभ्रवणस्थल इमे वसिष्ठत्वाद्यो गुणा उपसंहर्तव्याः । कुतः ।  
सर्वाभेदात् । सर्वासु द्वाक्तासु प्राणोपासनस्य प्राणसंवाद्स्वाभिन्नत्वा-  
दित्यर्थः । एकस्यामेव विद्यायां वसिष्ठत्वाद्यपेक्षातद्भावयोर्विरोधादिति  
भावः ॥ १० ॥

(दी०) पूर्वाधिकरण औकारस्योद्गीयो विशेषणमित्युक्तं सर्वप्रणवव्यां-  
वृत्पर्यं तद्ब्रह्मवापि वसिष्ठत्वादिगुणा अन्यत्र व्यावृत्त्यर्था इति दृष्टान्तत्वे-  
नाऽऽक्षिप्याऽऽह—सर्वाभेदादिति । इमे वसिष्ठत्वाद्यो गुणा यत्र नोक्ता-  
स्तत्रास्थेरन् । कुतः । सर्वाभेदात् । सर्वस्य प्राणविज्ञानस्यैकस्याभे-  
दात् ॥ १० ॥

(अ०१००) ननु प्राणस्य सविशेषत्वाद्भवतु शास्त्रान्तरीयतदीयगुणोपसंहारो ब्रह्मणस्तु निर्विशेषत्वेन स्वशास्त्रागतधर्मैरेव ज्ञानसंभवान्प्रान्यशास्त्राश्रुतानामानन्दादीनामुपसंहार इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—  
( आनन्दसत्त्वत्वादीनां ब्रह्मगुणानां प्रतिपत्तिफलत्वेन सर्वशास्त्रानुसमानत्वाद्यवस्थापकविध्यमापाद्य तेषामुपसंहर्तव्यत्वम्, अधि० ६ )

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

निर्गुणब्रह्मपरास्तु श्रुतिध्वानन्दस्वरूपत्वविज्ञानयनत्वापरिच्छिन्नत्वाद्द्वितीयत्वाद्द्वयो धर्माः क्वचित्कश्चिच्छ्रूयन्ते तत्र संशयः । किं यत्र ये धर्माः श्रुतास्त एव तत्र ज्ञेया उत सर्वे धर्माः सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति । अत्र पूर्वपक्षे केषांचिद्भ्रमाणामनुपसंहाराद्यावत्तत्त्वस्वरूपज्ञानासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति बोध्यम् । तत्राऽऽनन्दादीनां नोपसंहार इति प्राप्ते भ्रमः । प्रधानस्य ब्रह्मण आनन्दस्वरूपत्वाद्द्वयो धर्माः सर्वत्रोपसंहर्तव्या वैद्यैरप्येन विद्यैरप्यादिति पूर्वसूत्रोक्तहेतोः रित्यर्थः ॥ ११ ॥

ननु तैत्तिरीयक आनन्दमपरमात्मानं प्रस्तुत्य 'तस्य त्रियमेव शिरः। मोदो दृक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा ' [ तै० २ । ५ । १ ] इति त्रियशिरस्त्वाद्द्वयो धर्माः श्रूयन्ते तेषामप्यानन्दस्वरूपत्वादिधर्माणामिव सर्वत्रोपसंहारः स्वाद्ब्रह्मधर्मत्वाविशेषादित्यत आह—

त्रियशिरस्त्वायमाविरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

त्रियशिरस्त्वादिधर्माणां न सर्वत्र प्राप्तिः, हि यतः त्रियमोदप्रमोदानन्दाः परस्परापेक्षयोपचितापचितस्वरूपाः । उपचयापचययन्तौ हि धर्मौ धर्मिणि भेदे सत्त्वेव स्वामाचिकौ संभवतः । ब्रह्मणस्त्वद्वितीयत्वाज्जोपचितापचितत्रियदिधर्मस्वभावत्वम् । अस्वभावधर्माणां ब्रह्मज्ञानार्थं

(श्री०) पूर्वाधिकरणे प्राणस्य सविशेषत्वेन शारदान्तरगता गुणा वसिष्ठत्वाद्द्वय उपसंहृता न तु ब्रह्मणि सविशेषत्वमिति न शास्त्रान्तरगता आनन्दाद्द्वय उपसंहर्तव्या इत्याक्षिप्याऽऽह—आनन्देति । यत्र शास्त्रान्तर आनन्दाद्द्वयो धर्मौ नोक्ताः प्रधानस्य ब्रह्मणस्तत्रोपसंहर्तव्याः । कुतः । सर्वभिदादेष ॥ ११ ॥

एवं चेतियशिरस्त्वादीनामुपसंहारप्राप्तिरित्यत आह—त्रियेति । त्रियशिरस्त्वादेरुपसंहाराप्राप्तिः । कुतः । हि यस्माद्भेदे सत्युपचयापचयो



(अ० १०) नोपसंहार इत्यर्थः । चन्दनजं सुखं त्रिवं पुत्रप्राप्तिजं मोदः स एव प्रकृष्टः प्रमोदः सुखसामान्यमानन्द इति तेषां तारतम्यं बोध्यम् । अत्र श्रीमद्भिः सूत्रकारैरानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं मियादीनां तद्भ्रमत्वं चाङ्गीकृत्य कृत्वेषं चिन्ता तस्या अन्यत्र फलं बोध्यं तथा हि—येद्येक्ये विद्यैक्यादानन्दादिधर्माणां सर्वत्रोपसंहारे समुज्ज्वल्लोपासनेषु भिन्नेष्वपि वेद्यस्य समुज्ज्वल्य ब्रह्मण एकत्वेनोपासनैक्यापत्तावन्योन्यं गुणोपसंहारः स्वादितिशक्तानिरासः फलम् । उपासनानां विधिपारतन्त्र्याद्यत्र यावद्गुणविशिष्टमुपासनं विधीयते तत्र तावद्गुणविशिष्टमेव कर्तव्यं तत्तत्फलस्य तेनैव सिद्धैर्बस्तुपरतन्त्रनिर्गुणविद्याफलस्याविद्यानिवृत्तेर्पाथस्वरूपज्ञानमन्तरेणासंभवात्सर्वत्राऽऽनन्दादिगुणानामुपसंहार इति शक्तानिरासप्रकारः ॥ १२ ॥

उपास्यब्रह्मधर्माणां सर्वत्र न प्राप्तिरित्युक्तं तदपेक्षया ज्ञेयधर्माणामानन्दादीनां सर्वत्र प्राप्तिरिति विशेषमाह—

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

उपास्यधर्मापेक्षेतेरे त्वानन्दादयो धर्मा ज्ञानैकफलकाः सर्वत्रोपसंहित्येनोऽर्थस्य प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः सामान्यादेकत्वादित्यर्थः । उपसंहारं विना यथायत्स्वरूपविषयकमहावाक्यार्थज्ञानसाध्याविद्यानिवृत्तेरसंभवादिति भावः ॥ १३ ॥

(पुरुषज्ञानस्य संसारकारणाज्ञाननिवर्तकत्वात्पुरुषस्यैव वेद्यत्वम्, अ० ७)

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

कठबह्नीषु पठयते—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः [क० ३ । १० ]इत्या-

(श्री०)भवतो न त्वमेदे । प्रियशिरस्त्वादयोऽपि तारतम्येन वर्तन्ते । मोक्षमेवात्र प्रियशिरस्त्वादयः कृत्वा चिन्तयोक्ताः संयद्दामसत्यकामत्वादीनामप्राप्तिं दर्शयितुम् ॥ १२ ॥

यथा प्रियशिरस्त्वादयो नोपसंहार्यास्तद्द्वानन्दादयोऽधीत्यत आह—इतर इति । तुज्ञादोऽनुपसंहार्यत्वं ध्यावर्तयति । इतर आनन्दादय उपसंहर्तव्याः । कुतः । अर्थसामान्यात् । अर्थस्य प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः सामान्यादेकरूपत्वात् ॥ १३ ॥

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मण ऐक्याद्वाच्ये तत्पदार्थं आनन्दादीनामुपसंहार उक्तः

(अ० ४०)रम्यं 'पुरुषाज्ञ परं किं चित्ता काष्ठा सा परा गतिः' [क० ३।११] इति तत्र संज्ञायः । किमिमानि वाक्यानि भिन्नान्युक्ताऽऽमपरमेकमेव वाक्यमिति । पूर्वपक्ष इन्द्रियादिपरत्वविशिष्टस्यार्थाद्वैरुपास्यस्य प्रति-  
वाक्यं भेदाद्विद्याया भेदः फलं सिद्धान्ते निर्विशेषात्मप्रदर्शनपरमेकवा-  
क्यमिति विष्टैक्यं फलमत एव पूर्वोत्तरपक्षयोर्विद्याभेदाभेदयोः पर्यव-  
सानादस्यैवाधिकरणस्य पादसंगतिः । पूर्वं ब्रह्मस्वरूपाणामानन्दादीना-  
मुपसंहार्याणां ब्रह्मज्ञानोपायत्वं चिन्तितमिदानीमब्रह्मस्वरूपस्यानुपसं-  
हार्यस्यार्थादिपरत्वरूपधर्मस्य ब्रह्मज्ञानोपायत्वमुच्यत इत्येकफलत्वमवा-  
न्तरसंगतिस्तत्रेमानि वाक्यानि भिन्नानीति प्राप्ते ब्रूमः । आध्यानाय  
ध्यानसाध्यसंज्ञाकाराय पुरुष एवार्थादिभ्यः सर्वेभ्यः परत्वेन प्रतिपाद्यत  
इत्येकमेव वाक्यं न त्विन्द्रियादिपरत्वेनार्थाद्वयः प्रतिपाद्याः प्रयोजना-  
भावात् । न हीन्द्रियपरत्वेनार्थज्ञानं स्वतः किञ्चित्फलं साधयति, अतः  
प्रतिपाद्यभेदाभावात् वाक्यभेदः । पुरुषज्ञानं फलहेतुरिति तत्रैवोक्तं  
'निचाप्य तन्मृत्युमुसाल्यमुच्यते' [ क० ३।१५ ] इति ॥ १४ ॥

एवं वाक्यस्याऽऽममात्रपरत्वे फलमत्त्वं लिङ्गमुक्त्याऽपूर्वत्वमपि लिङ्ग-  
माह—

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।

हृदयते त्वम्पया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिमिः' [ क० ३।१२ ]

(क्ष०) शब्दसामर्थ्यात्तर्हि तद्भूयैन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादौ वाक्यसमा-  
शेरार्थाद्वयः स्वतन्त्राः प्रतिपाद्यन्त इति हृदयन्तेनाऽऽक्षिप्याऽऽह—आध्या-  
नायेति । इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादिना वा परम्परा पुरुषान्तोक्ता  
न सा प्रतिपाद्या । क्लृप्तः । प्रयोजनाभावात् । तर्हि पुरुषोऽपि न प्रति-  
पाद्य हृदयत आह—आध्यानाय । ध्यानपूर्वकाय सम्पर्शनाय पुरुषः  
प्रतिपाद्यः ॥ १४ ॥

आध्यानं चेन्द्रियादिप्रतिपादनेऽपि स्यादित्यत आह—आत्मेति ।  
गूढोत्मा न प्रकाशत इति पुरुष आत्मशब्दाच्चस्यैव गूढत्वात्प्रतिपाद्यत्वं

(अ० १) इति प्रकृतपुरुष आत्मशब्दध्वजाणाऽऽत्मपरमेवेदं वाक्यं तस्याऽऽत्मनः श्रुत्या मानान्तरावेद्यत्वरूपापूर्वत्वप्रतिपादनादिति भावः ॥ १५ ॥

ईश्वरस्वैवाऽऽत्मशब्दवाच्यत्वं न विराज इति कथनम्, (अधि० ८)

आत्मगृहीतिरितरवदुचरात् ॥ १६ ॥

ऐतरेयके श्रूयते—'आत्मा वा इदमेक एवाद्य आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु लुजा इति [ ऐ० १ । १ ] 'स इमाल्लोकानसृज-  
ताम्भो मरीचीर्भरमावोऽवोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरी-  
चयः पृथिवी मरो वा अधस्तात्ता आपः' [ ऐ० १ । २ ] इति । लोका-  
नेवाऽऽहाम्भ इति तद्यथाष्टे श्रुतिरवोऽम्भ इति । तदम्भो चत्परेण  
दिवं दिवः परस्ताद्दत्ते तस्य च परस्ताद्दत्तमानस्य द्यौः प्रतिष्ठाऽऽश्रयः  
साऽऽपम्भःशब्दवाच्या दिवमारभ्योपरितनलोकांश्चान्द्रमसैरम्भोमिष्ण-  
सत्वाऽम्भ इत्युच्यत इत्यर्थः । अन्तरिक्षलोकः सवितृकिरणव्याप्तत्वान्म-  
रीचयः । स्थानभेदापेक्षया बहुवचनम् । अग्निनेऽस्मिन्मूतानीति पृथि-  
वीलोको मरो यानि पृथिव्या अधस्तात्पातालान्पञ्चहुलानि तान्याप  
इत्यर्थः । तत्र संज्ञयः । किमात्मपदेन हिरण्यगर्भं उच्यत उत परमा-  
त्मेति । पूर्वपक्ष आत्मपदस्य परमात्मपरत्वाभावात्तत्त्वमित्यर्थं नाऽऽमन्दा-  
दिधर्माणामत्रोपसंहार इति फलं सिद्धान्ते परमात्मन एवात्रोक्तत्वात्-  
त्वमित्यर्थमस्त्यानन्दाविधर्माणामत्रोपसंहार इति मन्तव्यम् । तत्र पूर्वं  
वाक्यभेदमियाऽर्थादीनां पृथक्प्रतिपाद्यत्वं नास्तीत्युक्तं तर्हि श्वापते  
रेतः कार्यं देवा इत्यादिपूर्ववाक्ये हिरण्यगर्भस्य प्रकृतत्वात्स एवाऽऽत्म-  
शब्देनोच्यत इति युक्तमन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गादिति ह्यष्टान्तसंगत्या  
प्राप्ते इमः । अस्मिन्सृष्टिवाक्य आत्मशब्देन परमात्मन एव गृहीतिर्ना-  
न्यस्येतरवत् । यथेतेषु सृष्टिवाक्येषु आत्मन आकाशः संभूतः [ ऐ० २

(क्षि०) तत्प्रतिपत्त्यर्थमेवंपरम्परा न स्वतन्त्रा । चकारो नैतेषामन्यतम-  
प्रतिपादने सर्वप्रतिपादने वाऽऽध्वानं सिध्यतीत्याह ॥ १५ ॥

पूर्वाधिकरणे संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदे न युक्त इत्युक्तम् ।  
तर्हि आत्मा वा इदमेक एवेत्यादौ हिरण्यगर्भः स्वीकरणीयस्तत्र वाक्य-  
भेदाभावादिति ह्यष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते । अथ वा सदेवेति चन्द्रो-  
मानां योऽयं विज्ञानमय इति वाजसनेयकानां चैकवाक्यताभावात्  
पूर्ववद्विद्यैक्यमित्वाक्षिप्य समाधत्ते—आत्मेति । आत्मा वा इदमेक

(न०६०) १।१] इत्यादिध्वात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणं तद्ग्रहणापि । कुतः । उच्यते । 'स ईक्षत लोकान् सृजा इति' [ ऐ० १।१ ] 'स इमा-  
ल्लोकान् सृजत' [ ऐ० १।२ ] इतीक्षणपूर्वकसमृत्वरूपोत्तरविशेषणावि-  
त्यर्थः । तच्च विशेषणं परमात्मन्येव मुख्यत्वेन श्रुतपन्तरेष्ववगतमिति  
भावः ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

पूर्वशाक्यादिपार्थलोचनया मजापतावेव धारणस्यान्वयवर्शनात् पर-  
मात्मग्रहणं युक्तमिति चेदत्रोच्यते स्यादवधारणादिति । अत्र परमा-  
त्मन एव ग्रहणं युक्तं स्यात् । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' [ ऐ०  
१।१ ] इति सूत्रेः प्रागेकत्वावधारणस्य परमात्मन्येवाऽऽसृजसत्त्वादित्यर्थः ।  
न चास्मिन्वाक्ये लोकसमृत्वं श्रूयमाणं हिरण्यगर्भमेव गमयत्यन्यथा  
परमात्मग्रहणे महाभूतसृष्टिः श्रूयतेति वाच्यम् । छान्दोग्ये तेज-  
आदिसृष्टिश्रवणेऽपि यथाऽऽकाशवायुमृत्पुसंहारस्तद्ग्रहणापि महाभूत-  
सृष्टेरुपसंहारात् । तस्मादस्मिन्वाक्य आत्मनः परस्यैव ग्रहणमिति  
सिद्धम् ॥ १७ ॥

सूत्रद्वयस्यापरा व्याख्या—'आत्मगृहीतिरितरवदुच्यते' बृहदार-  
ण्यके 'कृतम आत्मा' इति श्रुते 'बोऽयं विज्ञानमवः प्राणेपु हृद्यन्त-  
र्ज्योतिः पुरुषः' [ बृ० ४।३।७ ] इत्यात्मशब्देनोपक्रम्य तस्यैवाऽऽ-  
त्मनोऽसृजत्वादिकमुक्त्वा 'स वा एव महानज आत्मा' [ बृ० ४।४  
२५ ] इति ब्रह्मात्मतामुपसंहरति । छान्दोग्ये तु 'सदेव सोम्येदमग्र  
आसीदिकमेवाद्वितीयम् [ छा० ६।२।१ ] इति चिनैवाऽऽत्म-  
शब्दं सन्मात्रमुपक्रम्यान्ते 'स आत्मा तत्त्वमसि' [ छा० ६।१।७ ] इति  
ब्रह्मात्मत्वमुपसंहरति । तत्र संशयः किमनयोर्वाक्ययोस्तुत्यार्थत्वमुत  
भिन्नार्थत्वमिति । पूर्वपक्षेऽनयोर्वाक्ययोः पक्षमथैवम्याहर्षभेदेन विद्ययो-

(टी०) एवाग्र आसीदित्यत्राऽऽत्मनः परमात्मनो गृहीतिर्ग्रहणम् । किंचत् ।  
इतरवत् । यथा तस्माद्वा एतस्मादात्मन इत्यत्र सृष्टिमसङ्गेन तद्ग्रह ।  
कुत इत्यत आह—उच्यते । 'स ऐक्षत' इत्यादेः ॥ १६ ॥

अन्वयादिति । अम्मःप्रभृतीनां सृष्टेरन्वयादवगतत्वात् पर आत्म-  
शब्दाभिधेय इति चेत्तन्न स्यात्पर आत्मशब्दाभिधेयो भवेत् । कुतः ।  
आत्मा वा इदमेक एवेत्यवधारणात् । अथ वा सदेवेत्यादिना सच्छब्दे-

(अ०५०) भेदान्दान्धोऽन्यं गुणोपसंहारः किंतु बृहदारण्यके निर्गुणविद्या छान्दोग्य उपक्रान्तसत्तासामान्ये ब्रह्मत्वोपासनेति फलं सिद्धान्ते छान्दोग्ये सत्यदेनाऽऽत्मन एव गृहीतिरिति वद्वृहदारण्यक आत्मपदेनाऽऽत्मग्रहणवदुत्तरात्तत्त्वमसीत्युपसंहारबलादित्युभयत्र विद्यैक्यादस्य-  
न्योन्यं गुणोपसंहार इति । पूर्वाधिकरणे वाक्यैक्यबलाद्वादिपरत्वं पारि-  
त्यज्य विद्यैक्यमुक्तं तर्हि प्रकृत उपक्रमभेदेन वाक्यभेदाद्विद्यैक्यं न स्या-  
दिति प्रत्युदाहरणसंगतिरस्वाधिकरणस्य बोध्या ॥ १ ॥

‘अन्वयादिति चेत्स्याद्व्यवधारणात्’ ननुपसंहारबलात्सत्यदेनाऽऽत्म-  
गृहीतिरित्यसंगतमुपहारस्योपक्रमान्वयादुपक्रमपरतन्त्रत्वादित्युपसंहारा-  
र्थः परिहरति स्याद्व्यवधारणादिति । सत्यदेनाऽऽत्मन एव गृही-  
तिर्बुक्ता स्वात्सदेवेत्यद्वितीयत्वावधारणात्सत्तासामान्यस्य च सद्भिती-  
यत्वावधारणानुपपत्तेरित्यर्थः । अयं भावः—आरम्भणाधिकरणे  
ब्रह्मातिरिक्तवस्तुजातस्य मिथ्यात्वसाधनादात्मत्वस्य सत्यदार्थत्वानुप-  
पत्तेः । सत्यदेनाऽऽत्मन एवोपक्रमः सत्त्वक्रमस्य ब्रह्मसत्तासामान्यप-  
रत्वसंदेहेऽपि तत्त्वमसीति वाक्यशेषाद्ब्रह्मपरत्वनिर्णयः । न च शास्त्राद्य  
आत्मसच्छब्दान्वां जीवब्रह्मणोरुपक्रमद्वैपस्यमुपयोर्लक्ष्यैक्येनाविषम्या-  
दिति । तस्मादनयोर्वाक्ययोरेकार्थत्वमिति सिद्धम् ॥ २ ॥

(काण्वच्छान्दोग्यपठयोर्द्वयोर्वस्वेकत्वम्, अधि० १ ) ।

कार्यारूपानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

वाजसनेयके प्राणसंवादे प्राणो वागादीन्पप्रच्छ मम किमन्नं किं  
वास इति । ते प्रत्युचुः—‘यद्विदं किंचाऽऽश्विन्य आ कुमिभ्य आ कीट-  
पतङ्गैभ्यस्तस्येऽन्नमापो वास इति’ तदनन्तरं श्रूयते ‘तद्विद्वाःस्तः श्रोत्रिया  
अक्षिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्त्येतेमेव तदनमनग्रं कुर्वन्तो ग्रन्थन्ते’

(शी०)नाऽऽत्मनो गृहीतिरितरवत् । वाजसनेयके कतम आत्मेति यथाऽऽ-  
त्मशब्देनाऽऽत्मगृहीतिस्तद्वत् । कुतः । उत्तरात् । ऐतदात्म्यमिदं सर्व-  
मित्युपसंहारगतादात्मशब्दात्सदेवेत्युपक्रमान्वयात्ताऽऽत्मनो ग्रहणमिति  
चेत्तन्न । येनाद्युतमित्यादिनैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य सद्देष्टव्येनेतो-  
त्पत्तेः प्रागन्यासत्त्वस्य चावधारणात् । तस्य चाऽऽत्मग्रहण उपपन्नत्वं  
नान्यथा ॥ १७ ॥

पूर्वाधिकरणे संदिग्धसदुपक्रमस्य वाक्यशेषान्निर्णय उक्तः । एवमि-  
हापि अक्षिष्यन्त आचामन्तीत्यादेर्वर्तमानापदेशत्वेन विधित्वसंदेहेऽ-

(प्र०४०) [ब्र०६।१।१५] 'तस्मादेवंविदशिल्पिणाचामेदक्षित्वा चाऽऽचामेदे-  
 तमेव तद्वनमनसं कुरुत इति' [ब्र०६।२।१५] यस्मात्प्राणस्याऽऽचामेदे-  
 सस्तस्मादित्यस्मिन्नर्थे तच्छब्दः । विद्वांसः प्राणविद्ः ओज्जिषा यथेष्टचे-  
 द्वाश्विन्या भोजनात्पूर्वोत्तरकालपोराचमनं कुर्वन्ति तेनाऽऽचमनसंबन्धि-  
 नाऽनूपवाससैतमेवेनं प्राणमनसमाच्छादितं कुर्वन्तो मन्यन्ते चिन्तयन्ति  
 पूर्वं जनास्तस्मादिदानींतनोऽपि प्राणविदेवं कुर्यादित्यर्थः । छान्दोग्येऽप्ये-  
 वमेव श्रूयते । किम् । 'तस्माद्वा एतदशिल्पन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाञ्चाद्भिः  
 परिद्वचति' [छा०५।२०२] तस्मात्प्राणं प्रत्यर्पां वासस्त्वादित्यर्थः । अन्नम-  
 शिल्पन्तः प्राणविद् आचमनं कुर्वन्त एतत्कुर्वन्ति । किमेतत् । भोजनात्पू-  
 र्वमूर्ध्वं चाद्भिः प्राणं परिद्वचत्याच्छादयन्तीत्यर्थः । तत्राऽऽचमनीया-  
 स्वप्सु प्राणवासस्त्वध्यानमाचमनं च प्रतीयते । तत्रोभयविधाने वाक्य-  
 भेदप्रवादकमेव विधेयं तदेकं किमाचमनं विधेयमुत वासस्त्वध्यानमिति  
 संशयः । पूर्वपक्षे प्राणविद्याकृत्वेनापूर्वस्याऽऽचमनस्य विधेयत्वात्तस्याऽऽ-  
 चमनस्यात्र प्राणविद्यायामुपसंहारः फलं सिद्धान्ते त्वनुपसंहार इति  
 मन्तव्यम् । तत्र संदिग्धसदुपक्रमस्य वाक्यशेषास्मिन्नर्थवदाचामन्तीति  
 वर्तमानापदेशस्य विधित्वसंदेह आचामेदिति वाक्यशेषाद्विधित्वनिर्णय  
 इति वृष्टान्तसंगत्या शक्ते भ्रमः । वासस्त्वध्यानमेवापूर्वं प्राणविद्याकृत्वेन  
 विधेयं यथा प्राणविद्याकृत्वेन श्वादिमर्षादस्वास्त्रस्य प्राणं प्रत्यन्नत्वेन  
 ध्येयं विधीयते तद्वत् । न त्वाचमनमत्र विधेयम् । कुतः । कार्याख्यानात् ।  
 द्विजो नित्यमुपस्पृशेदित्पादिना स्मार्तविधिना सकलानुष्ठानाकृत्वेन  
 ह्युद्ध्यर्थं कार्याख्याऽऽचमनस्य प्राणविद्यायामपि प्राप्तस्याऽऽख्यानात्तदी-  
 यास्वप्सु वासस्त्वविधानार्थमनुवादादित्यर्थः ॥ १८ ॥

(दी०) शिल्पिणाचामेदिति वाक्यशेषादाचमनस्य विधित्वनिश्चय इत्या-  
 क्षिप्य समाधत्ते—कार्यति । 'पुरस्ताच्चोपरिष्टाञ्चाद्भिः परिद्वचति'  
 इति च्छन्दोगानाम् । 'अशिल्पिणाचामेद' इति वाजसनेयिनां यदाचमनं  
 न तद्विधेयम् । कुतः । कार्याख्यानात्प्राप्त्यर्थं कार्यत्वेन प्राप्तस्य  
 स्मार्तस्याऽऽख्यानादनुवादात् । किं तर्हि विधेयमित्यत आह—अपूर्वम् ।  
 'एतमेव तद्वनमनसं कुर्वन्तो मन्यन्ते' इत्यन्यताचिन्तनमप्राप्ते विधे-  
 यम् ॥ १८ ॥

(न०१०।)(प्राणोपासनं प्रति प्राणविद्याप्राप्तयोरनग्रतांबुद्ध्याचमनयोरनग्रतांबुद्ध्यैरेव विधेयत्वम्, अधि० १०)

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

वाजसनेयिशास्त्रायामग्निहस्ये शाण्डिल्यविद्या भूता तत्र गुणाः  
 द्युपन्ते—‘स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं मारुपम्’ [ शतप०  
 १०।६।३।२। ] इत्यादिना । तस्यामेव शास्त्रायां बृहदारण्यके पुनः  
 भूयते शाण्डिल्येन ह्येषा विद्या ‘मनोमयोऽयं पुरुषो माः सत्यस्तस्मि-  
 न्नन्तर्हृदये यथा वीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः  
 सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच’ [ बृ० ५।६।१ ] इति । माः प्रका-  
 शात्मकः सत्यः परमार्थतः । तस्मिन्मनोमयपदप्रकृतिमृतमनःशब्देन  
 प्रस्तुते हृदयेऽन्तर्यथा वीह्यादि तथा तावत्परिमाणः पुरुषोऽस्ति स एष  
 सर्वस्येशान इत्यादिगुणक इत्यर्थः । तत्र संशयः किमग्निहस्यवृहदा-  
 रण्यकस्थयोरनयोर्विद्ययोर्भेद उतैक्यमिति । पूर्वपक्षे विद्ययोर्भेदाद्गुणा-  
 नुपसंहारः फलं सिद्धान्ते विद्यैक्यानुणोपसंहार इति बोध्यम् । पूर्वं  
 प्राणाचमनानुवादेन वासस्त्वध्यानं विधेयमित्युक्तमिह तूक्तवाक्ययोरेक-  
 स्थानुवाङ्कत्वमेकस्य विद्याविधायकत्वमित्यत्र नियामकामावाद्बुधयो-  
 रपि स्वनिकटस्थगुणविशिष्टविद्याविधायकत्वमित्यनयोर्विद्ययोर्भेद इति  
 प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते क्रमः । यथा भिन्नास्तु शास्त्रास्तु विद्यैक्यं गुणोपसंहा-  
 रश्च भवत्येवं समाने चैकस्यामपि शास्त्रायां भवितुं युक्तम् । कुतः ।  
 अभेदात् । उपास्यस्य मनोमयत्वादिगुणकस्वोभयत्राप्यभेदेन प्रत्यभि-  
 ज्ञानादित्यर्थः । पर्येकस्थानुवाङ्कत्वमेकस्य विधायकत्वमित्यत्र निया-  
 मकामाव इति तत्राग्निहस्ये वदूनां गुणानां भवणेन तत्रैव विद्योत्प-  
 त्तिविधिकल्पनात्, बृहदारण्यके तु विद्यैक्यप्रत्यभिज्ञानार्थं तत्रोक्तमनो-  
 मयत्वाद्यल्पगुणानुवादेन सर्वेशानत्वाद्यो गुणा विधीयन्त इति न  
 किञ्चिद्वाचकम् । तस्माद्बुधयत्र शाण्डिल्यविद्यैक्यमिति सिद्धम् ॥ १९ ॥

(श्री०।)पूर्वाधिकरणे प्राणाचमनानुवादेनानग्रताचिन्तनं विधेयमित्युक्तमिह  
 तु वाक्ययोः कस्य विधेयत्वं कस्यानुवाङ्कत्वमित्यनिश्चयाद्बुधयोरपि विद्या-  
 ह्यविधित्वेनान्योन्यं गुणोपसंहार इत्याक्षिप्य समाधत्ते—समान इति ।  
 समानेऽपि शास्त्राभेदे वाजसनेयक एवं गुणोपसंहारो यथा भिन्नशा-  
 स्त्रायां कृतः । शाण्डिल्यशास्त्रायां मनोमयत्वादीनां गुणानां बृहदार-  
 ण्यके च मनोमय इत्यादीनां प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद्द्विधाया अभेदस्त-  
 स्मात् ॥ १९ ॥

( अ० १० । ) ( काण्वानामग्निरहस्पन्नाङ्गणवृहदारण्यकयोः पठितायाः  
शाण्डिल्यविद्याया एकविद्यात्वम्, अधि० ११ )

संपन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

बृहदारण्यके सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भास्त्वं सत्त्वं महवित्युपक्रम्य  
'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो पश्चात्वं  
क्षेत्रेऽक्षन्पुरुषः' [ सू० ५ । ५ । २ ] इति । तत्रैवं सति यत्तत्सत्यं  
हिरण्यगर्भास्त्वं सोऽसावादित्यः । किं मण्डलमेवाऽऽदित्यो नेत्यङ्गीय  
इति । अक्षमक्षिणि तस्य सत्यस्य स्थानमेवेनाऽऽदित्यचाक्षुपपुरुषात्म-  
नाऽवस्थानमुक्त्वाऽऽदित्यपुरुषस्य सत्यस्य मूर्तिरिति शिरः, भुव इति बाहू,  
स्वरिति प्रतिष्ठा पादापिति व्याहृतिदेहत्वं संपाद्य तस्योपनिषद्दृष्टित्यङ्ग-  
नामत्वमुक्तम् । तदनन्तरं चाक्षुपपुरुषस्य सत्यस्य पूर्ववद्वाहृतिदेहत्वं  
संपाद्य तस्योपनिषद्दृष्टित्यङ्गनामत्वमुक्तम् । उपनिषच्छब्देन द्वेषताश-  
कादाकं रहस्यनामोच्यते । अहःशब्दः प्रकाशवाची, अहंशब्दः प्रत्यगा-  
त्मवाची । तावद्दृष्टशब्दी क्रमेणाऽऽदित्यचाक्षुपपुरुषयोर्नामनी इति  
स्थितिः । तत्र संज्ञयः । किमस्यां सत्यविद्यायां नाङ्गोर्व्यवस्थया ध्यानं  
कर्तव्यमुत नामद्वयस्य पुरुषद्वयेऽस्त्युपसंहार इति । पूर्वपक्ष उपसंहारः  
कठं सिद्धान्ते त्वनुपसंहार इति । तत्र ह्यन्तसंगत्या पूर्वपक्षयति  
संबन्धादिति । यथा शाण्डिल्यविद्यायामेकशास्त्रायां विभागेनाधी-  
तायामेकविद्यात्वसंबन्धादन्वोन्वं गुणोपसंहारः पूर्वमुक्त एवमन्यत्रापि  
सत्यविद्यायां भवितुं युक्तमेकविद्यात्वसंबन्धादित्यर्थः ॥ २० ॥

समापत्ते—

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

नैव नामद्वयस्य पुरुषद्वय उपसंहारो विशेष्येऽप्यक्षपादित्यरूपस्थान-  
विशेषादित्यर्थः । तथा य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्याहुरिति  
(श्री०)पूर्वाधिकरण एकशास्त्रायामभ्यासाच्छाण्डिल्यविद्याभेदप्रसक्तावपि  
प्रत्यभिज्ञानाद्द्विधैक्यगुणोपसंहार उक्तस्तर्हीहापि सत्यस्य ब्रह्मणो मण्ड-  
लद्वयवर्तिन देव्यावुपनिषदोरप्युभयत्र चिन्तनमिति ह्यन्तमेनाऽऽक्षिपति-  
संबन्धेति । तस्योपनिषद्दृष्टिरिति तस्योपनिषद्दृष्टमिति यथा शाण्डिल्य-  
विद्यायां बृहदारण्यके च गुणोपसंहार एवमन्यत्रापि आदित्ये चक्षुपि  
चोपनिषदोरविभागेन चिन्तनम् । कुतः । एकविद्यासंबन्धात् ॥ २० ॥

सिद्धान्तमाह—न वेति । तदुक्तं नैव । कुतः । आदित्येऽहुरिति



(अ० २४०१) नामेत्युक्त्वा तस्येति तच्छब्देनाऽऽदित्यमण्डलावच्छिन्नस्यैव परामर्शाच्चस्यैवाहनामित्वं युक्तम् । एवमहंनामत्वं चाक्षुषपुरुषस्यैव चक्षुरु-  
पस्थानविशेषावच्छिन्नस्यैव तच्छब्देन परामर्शादिति । तस्मादनयोर्नामो-  
र्व्यवस्थेति ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

किंच विद्यान्तरे हिरण्यम्भुरित्यादिनाऽऽदित्यपुरुषस्य रूपमुक्त्वा तद्रूपमाक्षुषरूपेऽतिदिशति 'तस्यैतस्य तदेव रूपं चद्रुष्य रूपम्' [ छा० १ । ७ । ५ ] इति । अयमतिदेश इतरत्र सत्यविद्यास्थले स्थानभेदान्नोपसंहार इति दर्शयति । अन्यथा स्थानभेदेऽपि गुणोपसं-  
हाराङ्गीकारेऽयमतिदेशो निरर्थक एव स्यादिति । तस्मान्नान्नोर्व्यवस्थेति सिद्धम् ॥ २२ ॥

( अहरित्वादित्यगतस्याहमित्यक्षिगतस्य च वेद्यपुरुषस्यैकत्वेऽपि स्थानविशेषे तन्नामविशेषस्य युक्तत्वकथनम्, अधि० १२ )

संभृतिबुध्याप्यपि चातः ॥ २३ ॥

परिशिष्टोपदेशालकल्लिग्रन्थेषु श्रूयते—' ब्रह्मज्येष्ठा वीर्षां संभू-  
तानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान ' इति । वीर्षां वीर्षाणि पराक्रमविशेष-  
रूपाणि विषदादीनि । ब्रह्मैव ज्येष्ठमनन्पापेक्षं कारणं येषां तानि ब्रह्मज्येष्ठानि । लौकिकेश्वरवीर्षाणां बलवद्भिर्मध्ये ब्रह्मः संभवति ब्रह्मवीर्षाणां तु नैवमित्वाह संभूतानीति । सर्वाधिकेन ब्रह्मणा निर्दिष्टसमुद्धानीत्यर्थः । तत्र ज्येष्ठं ब्रह्माग्र इन्द्रादिजन्मनः प्रागेव दिवं स्वर्गमाततान व्यासयत् । नित्यमेव सर्वव्यापकमित्यर्थः । एवं संभृतिबु-  
ध्याप्यदादयो गुणा ब्रह्मणः श्रूयन्ते तत्र संशयः । किं तेषां गुणानां

(श्री०)चाक्षुषि चाहमिति स्थलयोर्विशेषादुपनिषदोरपि विभागः ॥ २१ ॥

ननु स्थानभेदाद्ब्रह्मभेदो नात्यन्तनियत इत्यत आह—दर्शयतीति । तस्यैतस्य तदेव रूपमित्यादिस्थानभेदाद्ब्रह्मभेदः । चकारो राजादीनां स्थानभेदाद्ब्रह्मभेदमसिद्धिमाह ॥ २२ ॥

पूर्वाधिकरणेऽक्षयादित्यस्थानभेदाद्ब्रह्मर्मानुपसंहार उक्तः । अत्र तु ब्रह्मणः प्रत्यभिज्ञावमानत्वात् तदनुपसंहार इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षि-  
प्यातिदेशेन समाधत्ते—संभृतीति । ब्रह्मज्येष्ठा वीर्षां संभूतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान ' इति राणायनीयानां खिलेषु अधिदैवं संभृतिबु-

(५०६०) तदीयोपनिषद्भिहितशाण्डिल्यादिविद्ब्रह्मविद्यासूपसंहार उक्त तत्तुण-  
विशिष्टोपासनं पृथगेवात्र विधीयत इति । तत्रोपसंहार इति प्राप्ते पूर्वो-  
क्तन्यायमतिदिशति—संभृतीति । संभृतिश्च द्युव्याप्तिश्च संभृतिद्व्युव्याप्ती ।  
यथा स्थानभेदाद्ब्रह्माशोर्व्यवस्थैवं संभृत्याद्योऽपि शाण्डिल्यादिविद्यास्तु  
नोपसंह्रियन्तेऽत एव स्थानभेदादेवेत्यर्थः । शाण्डिल्यादिविद्यास्तु  
हृदयापतनत्वं ब्रह्मणः श्रुतं मैवमत्र । तस्मात्संभृत्यादियुगाविशिष्टमुपास-  
नान्तरमिति सिद्धम् । अस्याविदेशात्तु पृथक्संगत्याद्यपेक्षा ॥ २३ ॥

( विद्यैकत्वाभावात्संभृत्यादीनां गुणानां शाण्डिल्यविद्याद्विभ्यनुपसं-  
हार्यत्वम्, अधि० १३ )

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥

अस्ति ताण्डिनां वैङ्गिनां रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या । तत्र पुरुषो  
यज्ञत्वेन कल्पितः । तदीयमायुस्त्रेधा विभज्य सवनत्रयं कल्पितं तस्य  
पानि चतुर्विंशतियर्षाणि तत्यातःसवनं ततः पराणि षतुब्धत्वारिंशद्-  
र्षाणि माध्वर्षिदिनं सवनं ततः पराण्वष्टाचत्वारिंशद्दर्षाणि तृतीयं सवनं  
पुरुषविद्याविदः षोडशोत्तरशतवर्षजीवित्वादिति । पिपासादिकं व्रीक्षा-  
त्वेन कल्पितम् । तैत्तिरीयकेऽपि—‘ तस्यैवं विदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यज-  
मानः अह्ना पत्नी शरीरमिधमम् ’ [ तै० आर० १० । ६४ ] इत्यादिना  
पुरुषपक्षः श्रूयते । तत्र संशयः । किमनयोर्विद्ययोरन्योन्यं गुणोपसंहा-  
रोऽस्ति न वेति । तत्र पूर्वं यदुक्तं संभृत्यादिगुणाः शाण्डिल्यादिविद्यास्तु  
नोपसंह्रियन्त इति युक्तं हि तदसाधारणगुणप्रत्यभिज्ञानाभावादिह तु  
मरणस्यावभृथत्वेन कल्पितस्य गुणस्योभंगत्र सत्त्वेन प्रत्यभिज्ञानाद्गुणोप-  
संहारो युक्त इति प्रत्युदाहरणसंगत्या प्राप्ते ब्रूमः । नान्योन्यं गुणोपसं-  
हार उपास्वरूपभेदात् । तदाहाऽऽचार्यः—पुरुषविद्यायामिति । ताण्ड्या-  
द्विशास्त्रास्थपुरुषविद्यायां यथा गुणान्नानं तथेतरेषां तैत्तिरीयकार्णां

(श्री०)व्याप्त्याद्योऽपि धर्मास्ते नाध्यात्मद्वहरोपकोसलादिविद्यास्वपि  
उपसंहर्तव्याः । कुतः । अत एव स्थानभेदादेव ॥ २३ ॥

पूर्वाधिकरणेऽसाधारणगुणप्रत्यभिज्ञानाभावात्संभृत्यादौ विद्याभेद-  
उक्त इह तु असाधारणगुणप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैक्यमिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽ-  
क्षिप्य समाधत्ते—पुरुषेति । ताण्डिनां वैङ्गिनां च रहस्ये पुरुषस्याऽऽ-  
युस्त्रेधा विभज्य तत्सवनत्रयं परिकल्प्याशिक्षिपत्वादीनि व्रीक्षादित्वेनो-

(अ०५०) पुरुषविद्यायां गुणाज्ञानाभावादित्यर्थः । अन्यत्र पुरुष एव यज्ञत्वेनोपास्थः । तैत्तिरीयके तु विदुषः पुरुषस्य प्रसिद्धो यो यज्ञस्तस्य पुरुषात्मादिषु यजमानत्वादिकल्पनोपास्थत्वादेवं बहुतर उपास्थभेदो वृश्यते तद्भेदाच्च विद्याभेदान्त्वान्योन्यं गुणोपसंहार इति । यत्त्वयमृधगुणस्योमयत्र सत्त्वात्पत्यमिज्ञानमिति तन्न । बहुगुणभेद एकस्य प्रत्यभिज्ञापकत्वाभावादिति । किंच तैत्तिरीयके श्रूयते पूर्वमात्मविद्यामुपदिश्य तच्छेषत्वेन पुरुषस्य यज्ञ उपदिश्यते 'तस्यैव विदुषः' इति तत्संनिधौ अवणादम्ब्र त्वापूर्वद्विफलकः पुरुषयज्ञः स्वतन्त्र इत्यनयोर्भेद एव न्याय्य इति ॥ २४ ॥

(तैत्तिरीयकताण्डिनोः पुरुषविद्यायाः प्रथमत्वम्, अधि० १४)

वेधायर्थभेदात् ॥ २५ ॥

अस्त्याथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे मन्त्रपठनं 'सर्वं प्रविध्य हृद्यं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विभक्तः' इत्यादि । ताण्डिनां 'देव सवितः प्रसुव' [छा० ब्रा० १।१] इत्यादि । शाठ्यायनिकानां 'श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि' इत्यादि । तैत्तिरीयकाणां 'शं नो मित्रः' [तै०१।१।१] इत्यादि । वाजसनेयिनां तूपनिषदारम्भे प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठ्यते—'देवा ह वै सन्नं निषेदुः' [शत०१४।१।१।१] इत्यादि । कौपीतिकिनामग्निष्टोमब्राह्मणं 'ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तद्ब्रह्मं ब्रह्मणैव ते ब्रह्मोपचन्ति तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति य एतद्ब्रह्मरुपचन्ति' इत्यादि । अयमर्थः—अभिचारकर्मदेवतामभिचारकर्ता प्रार्थयते हे देवते मद्विधोः सर्वमङ्गं प्रविध्य विदारय हृद्यं च विदारय धमनीः शिराः

(श्लो०) च्यन्ते सेयं पुरुषविद्या तस्यां ये धर्मास्तस्यैवं विदुषो यज्ञस्येत्यादिना यज्ञपुरुषे य इतैस्तैत्तिरीयकैः परिकल्पितास्तस्मिन्स्ते नोपसंहृतव्याः । कुतः । तेषां ताण्डिपैङ्गिचदनाज्ञानात् । यतस्ते तस्येत्यादिना 'आत्मा यजमानः अद्धा पत्नी' इत्यादि पठन्ति ॥ २४ ॥

पूर्वाधिकरणे पुरुषयज्ञस्य विद्यासंनिधेर्विद्याङ्गत्ववत्सर्वं प्रविध्येत्यादेरुपनिषत्संनिधेर्विद्याङ्गत्वमिति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—वेधा-

(म० ५०) प्रवृष्य मिन्धि तस्य शिरश्चाभितो मिन्धि, एवं मद्रिपुस्त्रिधा विभक्तो विशिलद्यो भवत्वित्यर्थः । हे देव सवितर्यज्ञं नः सनिं च प्रभुव निवर्तयेत्यर्थः । उच्चैःश्रवाः श्वेतोऽश्वो यस्येन्द्रस्य स त्वं हरित इन्द्रनी- लस्तद्ग्रीलोऽसीतीन्द्रः संबोध्यते । मित्रः सूर्यः शं सुखकरो भूषादिति विद्याधर्वाज्ञास्ते । अग्निष्टोमो ब्रह्म स पस्मिन्नहनि क्विपते तद्हरापि ब्रह्म ततो य एतद्गुरुपयन्तपहनिर्वर्त्य कर्मानुतिष्ठन्ति ते ब्रह्मणैव साध- नेन ब्रह्म परमुपपन्ति ते क्रमेणासुतत्वं मुक्तिमाप्नुवन्तीत्यर्थः । तत्र संशयः । किमिमे सर्वे प्रविध्येत्वाद्यो मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि तच्चतुर्पनिषदुक्तविद्यासूपसंहियेरन्न वेति । तत्र पूर्वं यथा पुरुषपञ्च- स्वाऽऽत्मविद्यासंनिधानात्तच्छेषत्वं तथा मन्त्राणां कर्मणां च तत्तद्विद्या- संनिधानात्तच्छेषत्वेनोपसंहारोऽस्तीति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । नैषामुप- संहारो विद्यासु । कुतः । वेधाद्यर्थभेदात् । सर्वे प्रविध्येत्यादिमन्त्रप्रका- शितानां वेधादीनामर्थानामभिचारकर्मादिसमवेतानां भेदाद्विद्यास्वसम- वेतत्वादित्यर्थः । तथा चामिचारकर्मादिसमवेतार्थप्रकाशनसामर्थ्यलक्षणं लिङ्गं संनिधिं दुर्वलं अतिरस्कृत्य मन्त्राणामभिचारादिकर्माङ्गत्वं संपाद्य- तीति न विद्याशेषत्वम् । प्रवर्ग्यादिकर्मणां संनिधेर्वलीयसा श्रुत्यादिना ज्योतिष्टोमादौ विनियुक्तानां न विद्याशेषत्वमिति भावः ॥ २५ ॥

( वेद्मन्त्रप्रवर्ग्यादीनां विद्यानङ्गत्वम्, अधि० १५ )

हानौ तूपायनशब्दरोपत्वात्कुशाच्छ-  
न्दस्तुत्युपशानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

ताण्डिनां रहस्ये ध्रुयते—‘अम्ब इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य ध्रुत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंम-

(टी०) दीति । सर्वे प्रविध्येत्यादिमन्त्रजातं प्रवर्ग्यादिकं कर्म च तत्तच्छा- खोपनिषद्ग्रन्थे पठ्यमानानि न विद्यासूपसंहर्तव्यानि । कुतः । तेषां ये हृदयवेधाद्योऽर्वास्तेषां भेदात् ॥ २५ ॥

पूर्वाधिकरणे विद्यासंनिधौ श्रुतस्यापि मन्त्रादेर्विद्यापामसामर्थ्याद्-

(अ० व० १) वामि [छा० ८। १३। १] इति । तथैवाऽऽधर्षणश्रुतिः—‘तथा विद्वान्पुण्यपापे विभूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति’ इति । यथाऽश्वो जीर्णानि रोमाणि रजोभिः सह त्यक्त्वा स्वच्छो भवतीत्येवमहमपि पापं सर्वं विभूय निर्मलः सन्, यथा वा चन्द्रो राहोर्मुखात्प्रसुच्य मास्वरो भवत्येवमकृतं प्रयाहरूपेणानादिसिद्धं शरीरं धृत्वा त्यक्त्वाऽति-स्वच्छः सन्कृतात्मा कृतकृत्यो ब्रह्मात्मकं लोकमभिसंभवाभ्यामिमु-ख्येन प्रत्यक्त्वेन प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा शास्त्रापनिनः पठन्ति ‘तस्य पुत्रा द्वापमुपयान्ति सुहृद्ः साधुकृत्वां द्विपन्तः पापकृत्याम्’ इति । तस्य ह्युतस्य विदुष इत्यर्थः । तथैव कौपीतिकिनः पठन्ति—‘तत्सुकृत-बुष्कृते विभुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया बुष्कृतम्’ [ कौ० १। ४ ] इति । तत्तेन विद्याबलेन विद्वान्सुकृतबुष्कृते विभुनुते त्यजति । त्यक्तयोस्तयोर्धिनियोगमाह—तस्येति । तस्मादुपासको न द्वेष्य इति श्रुतितात्पर्यम् । तत्र शास्त्रापनिश्रुताबुपादानमात्रं पुण्यपापयोः श्रुतं तत्र विदुषस्त्यागं विना न संभवतीति पुण्यपापत्याग आक्षिप्यते । यत्र तु ताण्ड्यार्थवर्णनाक्षययोः पुण्यपापत्यागमात्रं श्रुतं तत्र किं त्यक्त-योर्बुपादानमन्यत्र श्रुतमत्रोपसंक्षिप्यते न वेति संदिह्यते । पूर्वपक्षे विद्यायाः स्तुतिप्रकर्षसिद्धिः फलं सिद्धान्ते तूपादानस्यात्रोपसंहारा-द्विद्यास्तुतिप्रकर्षसिद्धिः । उपासककृतविद्यास्तुत्यर्थं हि श्रुताबुपासकः पुण्यपापे त्यजति ते चान्यैरुपादीचेते इत्युच्यते । सा च स्तुतिः सत्ता-गुणेन । तथा चोपास्यगुणोपसंहारप्रसङ्गेन स्तुत्यर्थं गुणोपसंहारो विचार-यत इति प्राप्तद्विकी पादसंगतिः । तत्र यथा पूर्वं विद्यासंनिधौ श्रुत-स्यापि मन्त्रादेर्विद्यायामसामर्थ्यादनुपसंहार उक्त एव कचित्कौपीतिकि-

(शं०) अनुपसंहार उक्तस्तद्ब्रह्मानसंनिधौ श्रुतस्याप्युपायनस्य तदन्तरेणापि हानसंभवादानुपसंहार इत्याक्षिप्य समाधत्ते—हानाविति । ‘तदा विद्वान्-पुण्यपापे विभूय’ इत्यादौ यद्भानं तस्मिन्नुपायनं नास्तीति न वक्तव्य-मिति ननुभ्रं आह । हानौ केवलायां श्रुपमाणावामधर्वणादाबुपायनं संनिपतेत् । कुतः । उपायनशब्दशेषत्वात् तस्याः । तथा हि कौपीत-किरहस्ये—‘तत्सुकृतबुष्कृते विभुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपय-न्त्यप्रिया बुष्कृतम्’ इति । अथ वा धूर्त् कम्पन इति धातोश्चलनार्थोऽयं

(न०५०) रहस्ये हानसंनिधी श्रुतस्याप्युपादानस्योपादानमन्तरेणापि तूर्ण्यर्था हानसंभवेन हानस्योपादानोपपादनसामर्थ्याभावात्प्रोपसंहार इति दृष्टान्तेन प्राप्ते दूमः । त्रुः केवलवाची । तथा च केवलहानौ श्रुतायां सत्यां तत्रोपादानमुपसंहर्तव्यम् । कुतः । उपाचनशब्दशेषत्वात् । अश्वरोमविधूननदृष्टान्तेनोक्तस्य पुण्यपापहानस्य नाशत्वाभावेन विधूतयोः पुण्यपापयोरन्यत्रावस्थानरूपोपाचनसापेक्षत्वात् । उपाचनं क्वचिदपि हानसंनिधौ श्रुयमाणं केवलहानश्रवण आयाति पुण्यपापहानेनापेक्षितस्योपादानात्मकस्योपाचनस्य तद्धानशेषत्वादित्यर्थः । ज्ञानात्पूर्वयोः पुण्यपापयोर्नाश उत्तरयोरश्लेष इति कलाध्याये दक्ष्यते । अतो हानं विद्वद्भोग्यत्वाभावात्स्तत्तुल्यकर्मप्राप्तिकोपादानमिति फलतो द्रष्टव्यम् । अमूर्तयोः पुण्यपापयोरन्यत्र संचारात्मकोपादानस्य मुपयस्यायोगात् । सूत्रे शब्दपदेन हानाद्युपाचनोपसंहारस्य स्तुत्यर्थत्वं सूचितमिति बोध्यम् । शास्त्रान्तरस्यो विशेषः शास्त्रान्तरेऽप्यपेक्षित उपसंहरणीय इत्यत्र दृष्टान्तमाह—कुशाच्छन्द इत्यादिना । तत्र कुशादृष्टान्तो यथा—‘कुशा वानस्पत्याः स्य’ इत्यादौ माह्मविनां श्रुतौ हे कुशाः समिदूपा यूर्य वानस्पत्याः स्य मां यजमानं रक्षतेति यजमानप्रार्थने वनस्पतिपौगिन्धेन सामान्यसमिच्छवणे ‘औदुम्बराः’ इति शास्त्रान्तरीयो विशेष आधित औदुम्बराः कुशा इति । छन्दोदृष्टान्तो यथा—‘छन्दोभिः स्तुवीत’ इत्यत्र वैवासुरच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्यपसङ्गे ‘वैवच्छन्दांसि पूर्वाणि’ इति पैङ्गव्यश्रुत्या निर्णयः । स्तुतिदृष्टान्तो यथा—‘पोडशिनः पात्रविशेषस्य ग्रहण्येऽङ्गमूर्तं स्तोत्रं

(दी०) विधूननशब्द इत्यत आह—हानाविति । ‘अश्व इव रोमाणि विधूय’ इत्यादौ न मुकृतदृष्टतयोश्चलनमिति तुशब्द आह । किंतु तयोर्हानिः परित्यागः । कुतः । उपाचनशब्दशेषत्वात् । तत्र हानौ सत्याम् । कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानयत’ इत्युपमानं माह्मविनाम् । ‘कुशा वानस्पत्याः स्य ता मा पात’ इत्यविशेषेण श्रवणात् । श्राटशायनिनामौदुम्बरा इति विशेषः कुशानाम् । क्वचिद्वैवासुरच्छन्दसामविशेषे ‘वैवच्छन्दांसि पूर्वाणि’ इति पैङ्गव्याह्वानात्तेषां पूर्वत्वम् । यथा च पोडशिस्तोत्रे कालानिश्चये ‘समवाधुयिते’ इति विशेषः । यथा वा क्वचिद्वृत्तिज इति अविशेषात्तुपमाने प्राप्ते माह्मविनो नाध्वर्युरुपमापेदिति विशेषमाहुस्तद्दत्कीर्षीतकि-

( ३०५० ) कदा कर्तव्यमित्याह्लाक्षावां छन्दोगानां कालाविशेषमाती  
 'समवाधुषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति' इति तैत्तिरीयकवा-  
 क्वात्कालविशेषधीर्भवति । एवंभूताया आर्च्यानां श्रुतेर्वा कालविशेष-  
 धीरिति । उपमानदृष्टान्तो यथा—'ऋत्विज उपगावन्ति' इति सामान्य-  
 वाक्यं शास्त्रान्तरीयं 'नाध्वर्युरुपगायति' इति विशेषमपेक्ष्याध्वर्युर्वर्जिता  
 ऋत्विज उपगावन्तीत्येतदर्थपरतया निश्चीयत इति । तथा च यथा  
 कुशादिषु श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वयस्तथा हानानुपायनान्वय इत्यर्थः ।  
 कुशादिसामान्यश्रवणं शास्त्रान्तरीयविशेषसापेक्षमित्यङ्गीकर्तव्यं निरपे-  
 क्षत्वेऽ+ददोपदृष्टविकल्पः स्यात् । इदं च सामान्यवाक्यस्य विशेषे-  
 षसापेक्षत्वं जैमिनेरपि संमतमित्याह—तदुक्तमिति । पूर्वमीमांसायां  
 जैमिनिना तदुक्तमित्यर्थः । तथा हि—'अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्वा-  
 यत्वाद्द्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्' [ जै० १०।८।१।४ ]  
 इति जैमिनिसूत्रम् । अस्यार्थः—आश्राययेति चतुरक्षरमस्तु श्रौपडिति  
 चतुरक्षरं यजेति षडक्षरं ये यजामह इति पञ्चाक्षरं षडक्षरो वषट्कार एष  
 वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तः' इत्यनारम्याधीतवाक्यं श्रुतं 'नानु-  
 याजेषु ये यजामहं करोति' इति विशेषवाक्यं तस्य वाक्यस्य शेषः  
 स्यात् । तथा च नञः पर्युदासार्थतयाऽनुयाजव्यतिरिक्तेषु यज्ञेषु सप्तद-  
 शाक्षरगणः प्रयोक्तव्य इत्येको विधिर्भवति । यदि नञो निषेधकत्वेन  
 सामान्यवाक्यं विशेषानपेक्षं तदा सामान्यवाक्येन विहितस्य गणस्य  
 निषेधादनुयाजेषु तस्य विकल्पः स्यात्त चान्वाय्यो विधीनामित्येकदेश  
 एव स्यादिति । प्रजापतिरिति स्तुतिसहितलिङ्गात्मा सप्तदश इति ।  
 अथ वोदाहृतश्रुतिष्वेव किं गुण्यपापयोर्बिधूननं हानमभिमतमुत तयोः

(श्री०)रहस्याद्वाधुपायनपरित्यागस्य वा विशेषः । तदुक्तं द्वादशलक्ष-  
 ण्याम्—'अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्वायत्वाद्द्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः  
 स्यात्' इति । 'एष वै सप्तदश प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तः' इति 'नानुयाजेषु येय-  
 जामहं करोति' इति च विधिप्रतिषेधयोः समावेशे विकल्पे प्राप्ते जैमि-  
 निराह—अपि त्वित्यादि । तुशब्दो विकल्पं वारयति । कुतः । अन्वा-  
 यत्वाद्द्विकल्पस्याददोपदृष्टत्वेन ततो विधीनामेकदेशः स्यात् । अनु-

\* क. उदयसमवाधिष्ठे । † क. न. स्वीकृतमामान्यपरित्यागः, षडक्षरीकृताप्रामाण्यान्नुपाय-  
 यत्तः, अन्वायत्तमामान्यान्नुपगमा, अन्नुपगताप्रामाण्यान्नुपगतः ।

( ब० व० । ) फलतश्चालनमिति विशये फलतश्चालनमेवेति न पुरुषान्तरे तपोः फलहेतुत्वमिति प्राते ब्रूमः । हानावेवाथं विधूननशब्दो वर्तितुमर्ह-  
त्सुपायनशब्दशेषत्वाद्दुपायनशब्दसंनिधी विधूननशब्दस्य ध्रुतत्वादि-  
त्यर्थः । उपादानात्मकोपायनस्य हानं विनाऽसंभवाद्बिधूननशब्देन ध्रुव-  
कम्पन इति धातुजत्वेन चालनवाचकत्वेनापि हानमेव लक्ष्यमिति भावः ।  
ननुपायनशब्दसंनिधी ध्रुवमाणविधूननशब्दस्य हानिलक्षकत्वेऽपि केवल-  
विधूननशब्दस्य न हानलक्षकत्वमिति शङ्कां कुशाच्छन्द इत्यादिना निरा-  
करोति । यथा कुशादिस्थले शास्त्रान्तरीयविशेषव्यवर्णं निर्णायकं तथे-  
हापि क्वचिद्बिधूननसंनिधी ध्रुवमाणमुपायनं सर्वत्र विधूननस्य निर्णा-  
यकमित्यर्थः । तदुक्तमिति पूर्ववद्याख्येयम् ॥ २६ ॥

( मरणात्प्रागुपास्ये साक्षात्कृते सुकृतदुष्कृतक्षयः अधि० १६ )

सांपराये वर्तव्याभावाच्चथा ह्यग्ये ॥ २७ ॥

पूर्वं विद्यायाः कर्महानिहेतुत्वं सिद्धं कृत्वा केवलहानव्यवण उपाय-  
नस्योपसंहार उक्त इदानीं विद्यायाः कर्महानिहेतुत्वं नास्तीत्याक्षेपा-  
त्संगतिः । पर्यङ्कस्थग्रहोपासकस्य देहत्यागानन्तरं देवमार्गेण ब्रह्मलोकं  
प्रति पर्यङ्कस्थग्रहोपास्यर्थं गच्छतो मार्गमध्ये विरजानदीतरणानन्तरं  
कर्महानिः श्रूयते—'विरजां नदीं मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधू-  
नुते' [ कौ० १ । ४ ] इति । तत्र संशयः । किं विरजानदीतरणानन्तरं  
कर्महानिरुक्तं देहत्यागात्प्राक्काल इति पूर्वपक्षे मरणप्राक्कालीनविद्यां  
विना नदीतरणस्यैव कर्महानिहेतुत्वमिति विद्याया हानिहेतुत्वासिद्धिः  
फलं सिद्धान्ते विद्यासामर्थ्याज्जीवत एव कर्महानिरिति तत्सिद्धि-

( शि० ) याजवर्जितेषु श्रेयजामहः कर्तव्य इति पशुंवाप्तः स्यात् । अस्मिन्नर्थे  
नानुपाजेषु श्रेयजामहं करोतीति वाक्यशेषोऽप्यनुकूलः स्यात् । यथाऽत्र  
न विकल्पस्तद्वदुपायनेऽपि न विकल्पः । यद्यप्यन्यसुकृतदुष्कृतपोरग्येन  
नोपादानं तथाऽपि विद्यास्तुतिरिति द्रष्टव्यम् ॥ २६ ॥

पूर्वाधिकरणे विद्यासामर्थ्यात्कर्मणां परित्याग उक्तः । नैतद्विद्यासा-  
मर्थ्यमर्थमार्गे परित्यागाद्वितीदानीमाक्षिप्य समाधत्ते—सांपराय इति ।  
संपराय एव सांपरायस्तस्मिन्नेहपरित्यागावसरे सुकृतदुष्कृतयोर्हानिर्ना-  
र्थमार्गे विरजां तीर्त्वा । कुतः । ततर्व्यामावात् । उत्पन्नज्ञानस्य सुकृत-  
दुष्कृताभ्यां प्रातन्व्यस्यामावात् । तथा ह्यग्ये । हि यस्माद्यथाऽस्त्वामि-



(ब०५०)रिति भेदः । तत्र तस्सुकृत इत्यत्रत्येन तदिति सर्वनाम्ना तस्मादर्थ-  
कत्वेन हेतुत्ववाचिना नदीतरणस्यैवाव्ययहितस्य कर्महानिहेतुत्वमिति  
भ्रम्यते । तथा च नदीतरणानन्तरमेव कर्महानिरिति प्राप्ते ब्रूमः । सर्पराये  
परलोकसाधनीभूतविद्याकाल एव कर्महानिर्युक्ता । कुतः । तर्तव्याभावात् ।  
नदीतरणानन्तरं पुण्यपापकर्मणा तर्तव्यस्य निर्वर्त्यस्य फलरूपाभावा-  
दित्यर्थः । अत्रार्थ विकल्पः—किं नदीतरणानन्तरं कर्मणा निर्वर्त्यफलस-  
त्वात्तावत्पर्यन्तमक्षीणत्वं कर्मण उच्यत उत नदीतरणं विना कर्मक्षयहे-  
तोरभावाद्वा । आद्ये सूत्रोक्तो हेतुर्वाच्यः । द्वितीयस्त्वसिद्धः कर्मक्षयहे-  
तोर्विद्यायाः सत्त्वात्कर्मक्षयं विना नदीतरणानुपपत्तेश्च । न च सर्वनाम्ना  
नदीतरणस्य हेतुत्वप्रतीतिर्युक्ता सर्वनाम्नः प्राधान्येन प्रकृतविद्यापराम-  
र्शित्वादिति । तस्मात्पूर्वं जात एव कर्मक्षयो नदीतरणानन्तरं पठ्यते इति  
मन्तव्यम् । । तथा ह्येके ज्ञासिनस्ताण्ड्यादयो जीवदशायामेव कर्म-  
क्षयम् 'अश्व इव रोमाणि' [ छा०८ । १३ । १ । ] इत्यादावधीयते ।  
अतश्च जीवत एव विद्यासामर्थ्यात्कर्मक्षय इति ॥ २७ ॥

ननु कर्मक्षयस्य विद्याफलत्वे ब्रह्मप्राप्तेरिव देहत्यागोत्तरकालीनत्वं  
स्पादत आह—

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

छन्दतः स्वेच्छया विद्यानुष्ठानं जीवत एवेति तद्धेतुकः कर्मक्षयो  
जीवत एव युक्तः सति हेतौ कार्यविलम्बायोगात् । एवं सति विद्याक-  
र्मक्षयपरिनिमित्तनैमित्तिकभावे ताण्ड्याविश्रुत्योरुभयोरविरोधो भवती-  
त्यर्थः । ब्रह्मप्राप्तेर्देहत्यागं विनाऽनुपपत्तेश्च । प्रकृते चानुपपत्त्यभावाज्जीवत  
एव कर्मक्षय इति भावः । तस्माद्विद्याफलत्वं कर्मक्षयस्येति सिद्धम् ॥ २८ ॥

(टी०) व्यर्थव्यातं तथा ताण्डिनः 'अश्व इव रोमाणि विधुव' इत्यादिना  
शाट्यापनिनश्च 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति' इत्यादिनाऽऽदावेव परित्या-  
गमामनन्ति ॥ २७ ॥

ननु विरजां नदीं तीर्थेत्यत्र क्त्वाप्रत्ययश्रवणाच्चत्रैव कुतो न परि-  
त्याग इत्यत आह—छन्दत इति । छन्दत इच्छातः शरीरे सति ब्रह्मचर्या-  
विसाधनानां सत्त्वात्परित्यागावसर एव सुकृतदुष्कृतयोः परित्यागः ।  
एवं च निमित्तस्य नैमित्तिकस्य च ताण्डिशाट्यापनिनोश्चाविरोधः ॥ २८ ॥

[भ०१ पा०१श्ल० २१-३०] ब्रह्माद्युतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । ३१३

(ब०श्ल०) एवं प्रसङ्गागतं विद्योदयानन्तरमेव कर्महानमिति निरूप्य यथा हानसंनिधौ क्वचिच्छ्रयमाणमुपायनं सर्वत्रोपसंह्रियते तथा हानसंनिधौ क्वचिच्छ्रयमाणो देवयानः पन्थाः सर्वत्रोपसंहृतव्य इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—

(उपासकस्यैवाचिरादिमार्गो न ज्ञानिन इत्यस्य व्यवस्था । अधि०१७)

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥

कर्महानसंनिधौ क्वचिद्देवयानः पन्थाः श्रुतः क्वचिन्न श्रुतो निर्गुणविद्यास्थले । तत्र किं देवयानोपसंहारोऽस्ति न वेति संदिहेऽस्तीति प्राप्ते वृत्तः । गतेर्देवयानस्यार्थवत्त्वमुभयथा विभागेन भवितुमर्हति क्वचित्सगुणविद्यायां देवमार्गोऽस्तीति क्वचिन्निरगुणविद्यायां नेति । अन्यथा सर्वत्र देवमार्गोपसंहाराङ्गीकारे विद्वान्गुणव्यापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यं प्रत्यगभिन्नब्रह्मलक्षणं नित्यसिद्धमुपैतीति श्रुतिविरोधः स्यादित्यर्थः ॥ २९ ॥

किमिदानीं श्रुतिविरोधादनुपपन्नमप्याहृतव्यमित्यत आह—

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोक्यत् ॥ ३० ॥

क्वचिद्विद्यायां गतिरस्ति क्वचिन्नास्तीति गतेरुभयथाभाव उपपन्नः । कुतः । तल्लक्षणार्थोपलब्धेः । × सा गतिर्लक्षणं कारणं यस्य सगुणवि-

(श्ल०)पूर्वाधिकरणे शरीरपरित्यागावसर एव सुकृतदुष्कृतयोः परित्यागे निमित्तनैमित्तिकाविरोधेनेत्युक्तम् । अत्रापि सगुणनिर्गुणब्रह्मप्रतिपादकत्वात्परानां ब्रह्मप्रतिपादकत्वाविरोधेन निर्गुणेऽप्यपि गतेरुपसंहार इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—गतेरिति । गतेर्देवयानस्य पथोऽर्थवत्त्वं प्रयोजनवत्त्वमुभयथा सगुणे निर्गुणे च व्यवस्थया । कुतः । हि यस्मादन्वया निर्गुणेऽपि चेद्वृत्तिः 'पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादिना विरोधः स्यात् ॥ २९ ॥

किमिदानीं श्रुतिविरोधादनुपपन्नमप्याहृतव्यमित्यत आह—उपपन्न

\* अ. प्रयोगतन्त्रम् । + अ. सगुणे निर्गुणे च । × अ. य. तस्या श्लेर्लक्षणमूतः कारणमूतो योऽर्थः प्रयोगतं सर्वत्रोदरणादि सर्वत्रियती सगुण उपलब्धयो न तु निर्गुणे तत्र सर्वत्र ।

(ब०५०)द्याफलस्य पर्यङ्कस्थवृक्षमासिरूपस्य लोकान्तरवर्तिनोऽर्थस्य तस्य भ्रुतिषुपलब्धेरित्यर्थः । निर्गुणविद्यायां मार्गसाध्यफलाभावात् तस्योपसंहारो लोकवत् । यथा लोके रामसेतुवासिनां गङ्गाप्राप्त्यर्थं पन्था अपेक्षितो न गङ्गास्थानां तद्दृष्टित्यर्थः । तस्मान्न निर्गुणविद्यायां मार्गोपसंहार इति सिद्धम् ॥ ३० ॥

( सर्वासुपासनासूत्रमार्गविधानम्, अधि० १८ )

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥

सगुणविद्यासु क्वचित्पञ्चाग्निविद्यादिषु मार्गः श्रूयते क्वचिन्तु वैश्वानरविद्यादिषु न श्रूयते तत्र क्वचिच्छ्रुतमार्गस्यान्यत्रोपसंहारोऽस्ति न वेति संदेहे यद्विद्याप्रकरणे सार्थः श्रुतः स तत्रैवेति प्रकरणबलास्त्रियम एव नोपसंहार इति पूर्वाधिकरणदृष्टान्तेन प्राप्तायुच्यते—सर्वेषां सगुणोपासनानां मार्गस्यानियमः । क्वचिच्छ्रुतस्य सर्वत्रोपसंहार इति यावत् । ननु प्रकरणबलास्त्रियमो युक्तोऽन्यथा प्रकरणविरोध इति चेदुच्यते । प्रकरणेनाविरोध एवानियमस्य । कुतः । शब्दानुमानाभ्याम् । श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । ' ते य एवमेतद्द्विदुर्यं चामी अरण्ये अद्भ्याः सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्ति ' इत्याद्या श्रुतिः । ये तेऽधिकृता एके सुलोकादिपञ्चकमेवाशित्वेन ये विदुस्तेऽर्चिरभिसंभवन्तीति संबन्धस्तद्दृष्ट्यमी अरण्ये सत्यं ब्रह्म अद्भ्यातपःपूर्वमुपासते तेऽप्यर्चिरभिसंभवन्तीत्यर्थः । तथा च पञ्चाग्निविद्यायामिव विद्यान्तरशीलानां वाक्येनैव प्रकरणाद्दलीपसा देवमार्गवगतेः प्रकरणं बाध्यमिति भावः ।

(वी०)इति । उपपन्नोऽयं गतेरुपधामावः । कुतः । तद्वक्षणाथोपलब्धेः । तस्या गतेर्लक्षणभूतः कारणभूतोऽर्थः प्रयोजनं पर्यङ्कारोहणादि पर्यङ्कविद्यादौ सगुण उपलब्धते न तु निर्गुणे । तत्र निदर्शनं लोकवत् । यथा ग्रामादिप्राप्तौ मार्गस्थार्थवत्त्वं तद्वत् ॥ ३० ॥

पूर्वाधिकरणे सगुणनिर्गुणविद्यासु व्यवस्था गतेरुक्ता । एवं सगुणास्वपि गतेर्व्यवस्था स्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्यापवृत्ति—अनियम इति । सर्वासां सगुणानामुपासनानामश्रुतगतीनां च गतेरनियमोऽविशेषः । प्रक-

(न०५०) शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः ॥ [गी० ८।२६]

इत्याद्या स्मृतिरप्युपाकस्याधिज्ञेयेण मार्गं दर्शयति जगतो विद्यायां कर्मणि वाऽधिकृतस्य जनस्येत्यर्थः ॥ ३१ ॥

( ब्रह्मवृत्तज्ञानिनां मुक्तिर्नियता न तु पाक्षिकीत्यस्य प्रतिपादनम्, अधि० १९ )

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥

पूर्वं निर्गुणविद्यायां न मार्गः सगुणविद्यायां तु सर्वत्र मार्गं इति व्यवस्था कृता, इदानीं निर्गुणविद्याया मोक्षहेतुत्वानुपपत्तेरैश्वर्यादि-फलकत्वं वक्तव्यं तत्राऽऽमुष्मिकं फलं मार्गनन्तरेण न संभवतीति कृतव्य-वस्थाया आक्षेपात्संगतिः । अपान्तरतमोवसिष्ठसन्त्कुमारादीनां निर्गु-णब्रह्मविद्यां पुनः पुनरुत्पत्तिः स्मर्यते 'अपान्तरतमाः कलिद्वापरयोः संधौ विष्णुनिषेगात्कृष्णह्रैपायनः संवभूव' [ महामा० १२ । ३५१ ] इत्यादिना । तत्र संज्ञपः । विदुषो वर्चमानवेहपातानन्तरं देहान्तरप्राप्ति-रस्ति न वेति । अत्र पूर्वपक्षे वसिष्ठादिनिष्ठब्रह्मविद्याया इधेतरवि-द्वस्त्रिष्ठब्रह्मविद्याया अपि मोक्षहेतुत्वामादेश्वर्यादिफलप्राप्त्यर्थं देहान्तर-प्राप्तिरस्येवेति निर्गुणविद्यायामपि मार्गोपसंहारं इति फलं सिद्धान्ते त्वपान्तरतमःप्रमृतीनामाधिकारिकायां वेदप्रवर्तनादिषु लोकाव्यवस्था-हेतुष्वधिकारेषु परमात्मना नियुक्तानां यावदधिकारमवस्थितिर्यावत्त्वा-रन्धकर्मवस्थितिस्तस्य प्रारब्धकर्मणः प्रतिबन्धकस्यानेकशरीरभोग्यफ-लहेतोस्तस्य फलस्य भोगेन नाशे प्रतिबन्धकान्तरामावात् । अनादी

(श्री०)रणस्य निषामकस्य विरोधे कुतोऽनियम इत्यत आह-अविरोधः । न विरोधः प्रकरणेन । कुतः । शब्दानुमानाभ्याम् । शब्दः धृतिः 'ये चेमेऽ-रण्ये भ्रद्धा तप इत्युपासते' इत्यविशेषेण गतिमाह । अनुमानं स्मृतिः- 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः' इत्यादिका ॥ ३१ ॥

पूर्वाधिकरण्ये सगुणविद्यासु गतिः सर्वत्रोक्ता ततः पूर्वं निर्गुणासु नैस्तुक्तं सोऽयं निषमोऽनुपपैन्न उत्पन्नज्ञानानामपि व्यासादीनां शरीर-श्वर्यादिवृत्तानात्ततो न निर्गुणज्ञानेन विदेहकैवल्यं न सगुणेन क्रममुक्ति-

(अ० १०) संसारे संचितकर्मणां च ज्ञाननाशयत्वेनाप्रतिबन्धकत्वात्प्रतिबन्धः साक्षात्कारो वर्तमानदेहपातानन्तरं कैवल्यं संपाद्यतीति न देहान्तरप्राप्तिरप्रतिबन्धसाक्षात्कारवतः । तथैव श्रुतिः ' तस्य तावदेव चिरं यावन्न चिमोक्षेऽथ संपत्स्ये ' [ छा० ६ । १४ । २ ] इत्यप्रतिबन्धसाक्षात्कारवतो वर्तमानदेहपातावधिं कैवल्यस्य भावयति । तथा च न विदुषो मार्गपेक्षेति न मार्गस्य निर्गुणविद्यायामुपसंहार इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

(आत्मस्वरूपलक्षणाणां निषेधानां परस्परपसंहर्तव्यत्वम्, अधि० २०)

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भा-  
वाभ्यामौपसदवचदुकम् ॥ ३३ ॥

बृहदारण्यके श्रूयते याज्ञवल्क्यस्य मार्गी स्त्रियं प्रत्युत्तरम्—' एतद्देहं तदक्षरं यामि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनववह्मस्वमदीर्घम् ' [ वृ० ३ । ८ । ८ ] इत्यादि । एवमाथर्वणेऽपि ' अक्षरमधिगम्यते ' इत्यक्षरब्रह्मोपक्रम्य भावयति—' यत्तद्ब्रह्ममद्याह्यमगोत्रमवर्णमच्छुः ' [ मु० १ । १ । ६ ] इत्यादि । एवं तत्र तत्र निर्गुणब्रह्मप्रमित्यर्था निषेधाः श्रूयन्ते । तत्र संशयः—कचिन्निषेधश्रुतावश्रुतनिषेधानां श्रुत्यन्तरादुपसंहारोऽस्ति न वेति । तत्र यथा पूर्वमाधिकारिकाणां वसिष्ठादीनां प्राबन्धकर्मण एव देहान्तरसंबन्धसिद्धेर्न संचितकर्मणो देहान्तरसंबन्धहेतुत्वमित्युक्तं तथेहापि तत्तद्वाक्योक्तेरेव निषेधैरुपलक्षणतया सर्वद्वैतनिषेधसिद्धेर्न शास्त्रान्तरीयनिषेधानां तत्र ब्रह्मप्रमितिहेतुत्वमित्यनुपसंहार इति दृष्टान्तेन प्राप्ते भ्रमः । अक्षरे धर्मिणि द्वैतनिषेधधियोऽक्षरधिय-

(श्री०) रित्वाक्षिप्य समाधत्ते—यावदिति । आधिकारिकाणां परमेश्वरनिर्भोगे वर्तमानानां व्यासादीनामारब्धफलेन कर्मणा कल्पभोग्येनावस्थितिः शरीरादेवस्थानम् । न तु ब्रह्मज्ञानस्य पाक्षिकफलत्वेनाफलत्वेन वा । तर्हि कियन्तं कालमित्यत आह—यावदधिकारम् । अधिकारकर्म यावत्तावदेव न तूपरिष्ठात् ॥ ३२ ॥

पूर्वाधिकरण आधिकारिकाणां प्राबन्धकर्मण एव शरीरान्तरसंभवान्न कर्मान्तरस्य निमित्ततेत्युक्तम् । एवमिहापि तत्तत्प्रकरणपठितनिषे-

(ब० २००) स्तासां सर्वत्र निषेधप्रकरणेष्ववरोध उपसंहारो न्वाच्यः । कुतः । सामान्यतद्भावाभ्याम् । द्वैतप्रपञ्चनिरासेन ब्रह्मप्रतिपादनस्य सर्वत्र समानत्वात्तस्य ब्रह्मणः प्रतिपाद्यस्य सर्वत्र भावादेकत्वेन प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्च तच्छेषाणां निषेधशब्दप्रत्ययानां सर्वत्रोपसंहार इत्यर्थः । औपसद्वत् । तथा हि यजुर्वेदे जमदाग्निः पुष्टिकामश्चतुरात्रेणापजते-त्युत्पन्ने जामदग्न्येऽह्नि पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्तीति पुरोडाश-युक्तासूत्रसत्त्वित्प्रपुष्टिहासु पुरोडाशप्रदानकमन्त्राणामुद्गातृवेदोत्वज्ञानाम् 'अग्नेर्वहोत्रं धेरध्वरम्' [ ताण्ड्य० २१ । १० । ११ ] इत्यादीनामुद्गात्रा प्रयोगे प्राप्तेऽध्वर्युकर्तृके पुरोडाशप्रदाने तेषां मन्त्राणां विनियोगाद्विनियोगविधेश्च सार्थक्यसंपादकस्य स्वरूपमात्रवोधकोप-त्तिविधयेक्षया मुख्यत्वान्मुख्यात्पुरोधेनाध्वर्युमीध प्रयोगो न गौणोत्वत्ति-विधयपुरोधेनोद्गात्रा प्रयोग इति । यथाऽध्वर्युकर्तृकपुरोडाशशेषाणां मन्त्राणां यत्र ऋचिच्छ्रुतानामप्यध्वर्युणा संवन्व एवमक्षरव्यमितिशेषाणां निषेधानां यत्र ऋचिच्छ्रुतानामप्यक्षरेण सर्वत्र संवन्ध इत्यर्थः । अस्मि-न्नेवार्थं उदाहरणान्तरविचक्षया जैमिनिस्मृतमुदाहरति—तदुक्तमिति । 'गुणमुख्यपथतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः' [ जि० ३ । ३ । २१९ ] इति 'य एवं विद्वान्धारवन्तीयं गायति' 'य एवं विद्वान्यज्ञापज्ञीयं गायति' 'य एवं विद्वान्वामदेव्यं गायति' इति यजुर्वेद एव सामानि विहितानि विषयः । वारवन्तपद्युक्तं साम वारवन्तीयम् । एवम-ग्नेऽपि । उच्यैः साज्ञोपांश्च यजुपेति सामयजुषोः स्वरभेदोऽस्ति तत्र

(दी०) धत एवोपलक्षणतया सर्वत्र प्रपञ्चनिषेधसिद्धेर्न शास्त्रान्तरीयनि-षेधानां शास्त्रान्तरे ब्रह्मप्रमितिरिति हृद्यान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अक्ष-रधिचामिति । अक्षरधियामस्यूलत्वादिब्रुद्धीनां चान्यजानुकानामन्य-त्रावरोधः स्वीकारः स्यात् । कुतः । विशेषधर्मनिराकरणस्य सामान्यं तस्य ब्रह्मणः प्रतिपाद्यस्यैकस्य भावः सत्त्वं च सर्वत्र ताभ्याम् । 'औपसद्वत्' इति निर्दर्शनम् । यथा जामदग्न्येऽह्नि पुरोडाशिनीपूपससु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणाम् । 'अग्नेर्वहोत्रं धेरध्वरम्' इत्येवमादीनामुद्गातृ-वेदोत्वज्ञानामध्वर्युभिः संवन्धो भवत्यध्वर्युकर्तृकत्वात्पुरोडाशप्रदानस्य प्रधानतन्त्रत्वाच्चान्नामैवमिहाप्यक्षरतन्त्रत्वाच्चतद्विशेषणानां यत्र ऋचि-

(अ० १०)संज्ञायः । किमेतानि सामानि सामवेदोत्पन्नत्वात्तदीयेनोच्चैःस्वरेणाऽऽधाने प्रयोक्तव्यान्नुत येन यजुर्वेदेन विनिपुञ्जन्ते तदीयेनोपांशुस्वरेणेति । तत्रोत्पत्तिविधिवलादुच्चैःस्वरेण प्रयोगे प्राप्ते सिद्धान्तो गुणमुख्येति । गुणमुख्यचोरुत्पत्तिविनियोगविधोर्व्यतिक्रमे स्वरविषये विरोधे मुख्येन विनियोगविधिना वारवन्तीयादेर्वेदस्य संयोगो ब्राह्मः । साक्षां विनियोजकवेदस्वरसंयोग इति यावत् । कुतः । तदर्थत्वात् । उत्पत्तिविधेर्विनियोगार्थत्वादित्यर्थः । एतत्समानन्यायत्वेनोपसदमन्त्राः पूर्वमुदाहृता इति मन्तव्यम् ॥ ३३ ॥

( ऋतं पिबन्ताविति ह्य ह्युपर्णाविति च मन्त्रयोर्वैद्यैकत्वम्, अधि० २१ )

इयदाभननात् ॥ ३४ ॥

‘ ह्य ह्युपर्णां सयुजा ’ [ सु० ३ । १ । १ ] [ श्वे० ४ । ६ ] इत्यादि-मन्त्र आधर्वणादौ श्रूयते । काठकेऽपि ‘ ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके शुभां प्रविष्टौ परमे परार्धे ’ [ क० १ । ३ । १ ] इत्यादि श्रूयते । तत्र संज्ञायः । किमनयोर्मन्त्रयोर्विद्याभेद उत विद्यैक्यमिति । पूर्वपक्षे विद्याभेदादन्वोम्यं गुणानुपसंहारः फलं सिद्धान्ते विद्यैक्यादुपसंहार इति । तत्र पूर्वं वेद्यस्याक्षरस्याभिन्नत्वेन विद्यैक्यादक्षरधियामुपसंहार उक्त-

(श्री०)द्वुत्पन्नानामक्षरेण सर्वत्राभिसंबन्ध इत्यर्थः । तदुक्तं प्रथमकाण्डे— ‘ गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ’ इत्यत्र । अत्र शांवरमुदाहरणम्—वारवन्तीयादिसाक्षां यजुर्वेदविनियोगस्य श्रवणात् । ‘ उच्चैः साक्षाः ’ इत्युत्पत्तिविधेर्गुणत्वात् ‘ उपांशु यजुषा ’ इति विनियोगविधेर्मुख्यत्वात्तथोर्व्यतिक्रमे विरोधे तदर्थत्वाद्द्विनियोगविधेपत्वाद्द्वुत्पत्तिविरोधे मुख्येन यजुष उपांशुस्वरेण वेदस्य वारवन्तीयादिसाक्षाः संयोगसंबन्ध इति योज्यम् । पूर्वं तु शांकरमुदाहरणमतिरोहितं तु ॥ ३३ ॥

पूर्वाधिकरणे प्रतिपाद्यब्रह्मैक्यप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैक्यमक्षरधियामुपसंहार उक्तः । इह तु प्रतिपाद्यभेदाद्विद्याभेद इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य

१ अ. ‘ रोपस्य तौ ’ २ अ. ‘ विद्यैक्यम् ’ । ३ अ. ‘ विवेकम् ’ । ४ अ. ‘ त्व च वाी-५ अ. ‘ च इत्यत्र श्रुं ’ । ६ अ. ‘ तु सावरसुं ’ । ७ अ. ‘ तु यत् ’ ॥ ३३ ॥ ८ अ. ‘ वैक्येऽश्रुं ’ ।

(३०५०) स्तार्हि प्रकृते 'द्वा सुपर्णा' इति मन्त्र एकस्यैव भोक्तृत्वम् 'कर्तं विवन्ती' इत्यत्रोभयोरपि भोक्तृत्वं ध्रुपत इत्युभयत्र वेद्यभेदाद्विद्याया भेद इति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते ब्रूनः । मन्त्रद्वये विद्यैक्यमेव । कुतः । इय-  
त्तापरिच्छिन्नस्य द्वित्वावच्छिन्नस्य वेद्यस्योभयत्राप्यभिन्नत्वेनाऽऽमनना-  
दित्यर्थः । अत्र हि मन्त्रद्वये भोक्तृजीवानुवादेन परमात्माभेदः प्रति-  
पाद्यः विवन्ताविति प्रयोगस्तु भोक्तृजीवसाहचर्यादभोक्तरीश्वरे छत्रिणो  
गच्छन्तीतिवदुपपद्यत इत्युक्तं गुहाधिकरणे । तथा च प्रतिपाद्यैक्यास्त्रि-  
गुणविद्यैक्यमित्यविरोधः ॥ ३४ ॥

( एकशारास्ययोरुपस्तकहोत्रयोर्ब्राह्मणयोर्विद्यैक्यप्रतिपादनम्,  
अधि० २२ )

अन्तरा भूतश्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥

बृहदारण्यक उपस्तो याज्ञवल्क्यं पश्यच्छ 'वत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म'  
'य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व' [ वृ० ३।४।१ ] इति ।  
स्वतोऽपरोक्षं ब्रह्मैव प्रत्यगात्मैवाह—य आत्मेति । एतत्प्रश्नोचरे 'यः  
प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' [ वृ० ३।४।१ ] इत्या-  
दिना कार्यकारणरहित आत्मा प्रतिपादितः । एवमेव तदनन्तरब्राह्मणे  
पूर्ववत्कहोत्रपञ्चे 'योऽक्षनाथापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति'  
[ वृ० ३।५।१ ] इत्यक्षनाथाद्यतीत आत्मा प्रतिपादितः । तत्र संशयः  
किमनयोर्ब्राह्मणयोर्विद्याभेद उत विद्यैक्यमिति । फलं पूर्ववत् । पूर्वं  
विवन्तावित्यस्य पदस्य लाक्षणिकत्वेन वेद्याभेदाद्विद्यैक्यमुक्तमिह तु

(क्षि०) समाधत्ते—इवदिति । द्वा सुपर्णैश्च कर्तं विवन्तावित्यत्र च विद्याया  
देक्यम् । कुतः । इयत्तापरिच्छिन्नस्य द्वित्वसंख्योपदेशस्योभयत्राऽऽ-  
मननात् ॥ ३४ ॥

पूर्वाधिकरणे विवन्तावित्यस्य लाक्षणिकत्वमुपावाप्य मन्त्रद्वयेऽपि  
भोक्तृपरत्वेनार्थैक्याद्विद्यैक्यमुक्तमिहार्थैक्येऽपि न विद्यैक्यमिति रूपा-  
भेदमभ्यासेन प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अन्तरेति । उपस्तक-  
होत्रब्राह्मणयोर्विद्यैकत्वम् । कुतः । स्वात्मनोऽन्तरा सर्वान्तरत्वेनोभयत्र



(ब्र० व० १) वेद्यैक्येऽपि न विद्यैक्यं समिधो यजतीत्यादौ यजत्यभ्यासवत्कृत  
आत्माभ्यासाद्विद्याया भेदासिद्धेरिति मुख्यः पूर्वपक्षः । एकत्र कार्यादि-  
रहितात्मन उपास्यत्वादन्यत्राशनायाद्यतीतात्मन उपास्यत्वाद्भूमयत्र  
वेद्यभेदाद्विद्याभेद इति गौणः पूर्वपक्षः । तत्र गौणं पक्षं दूषयति—अन्त-  
रेति । पूर्वसूत्रस्थस्वाऽऽत्मननादिति पदस्यानुषङ्गः । ब्राह्मणद्वयेऽपि स्वा-  
त्मनः सर्वान्तरत्वामननाद्वेद्यस्वाऽऽत्मन एकत्वमेवोभयोरैकस्मिन्देहे सर्वा-  
न्तरत्वायोगात् । भूतग्रामवत् । यथा भूतसमुहात्मकस्थूलदेहे पृथिव्यपे-  
क्षया जलमान्तरं जलापेक्षया तेज इत्यादिक्रमेणापेक्षितं भूतानामा-  
न्तरत्वं न मुख्यं सर्वान्तरत्वं तद्ब्रह्माह्मणद्वये वेद्यभेदाङ्गीकारे वेद्यात्मद्वय-  
स्यापि भ्रष्टादित्यर्थः । यद्वा भूतग्रामवदिति श्रुत्यन्तरदृष्टान्तार्थम् । यथा—  
'एको देवः सर्वभूतेषु शृष्टः' [ श्वे० ६।११ ] इत्यादिश्रुत्यन्तरे सर्वेषु भूत-  
ग्रामेषु सर्वान्तर एक एवाऽऽत्माऽऽज्ञायते तद्ब्रह्मनयोर्ब्राह्मणयोरित्यर्थः ।  
तथा च वेद्यैक्याद्विद्यैक्यं सिद्धम् ॥ ३५ ॥

मुख्यपक्षमनूद्य दूषयति—

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेषोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

अन्यथा विद्याभेदानङ्गीकार आम्नानभेदस्याभ्यासस्यानुपपत्तिः  
प्रयोजनाभावादिति चेष । उपदेशान्तरवदभ्यासस्योपपत्तेरित्यर्थः ।  
तथा हि च्छान्दोग्ये 'तत्त्वमसि' [ छा० ६।८।७ ] इत्युपदेशे नव-  
कृत्योऽभ्यस्यमानेऽपि न विद्या मिद्यत उपक्रमोपसंहारयोरविशेषात् । तद्-  
ब्रह्माह्मणद्वयेऽपि प्रश्नरूपेणोपक्रमस्य 'अतोऽन्यदार्तम्' [ वृ० ३।४।२ ]  
इत्युपसंहारस्य चाविशेषाद्द्वितीयप्रश्ने 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म'

(दी० ।) पाठादिति शेषः । भूतग्रामवदिति निदर्शनं व्यतिरेके । यथा  
भूतग्रामस्य पृथिव्यादेर्न सर्वान्तरत्वं तद्ब्रह्मात्मनो वाऽऽज्ञाने सर्वान्तरत्वं  
न स्यादेकस्यान्वये तु यथा 'एको देवः' इत्यादौ सर्वान्तरत्वमेकस्य  
तद्ब्रह्म ॥ ३५ ॥

अन्यथेति । अन्यथा विद्यैकत्व आम्नानभेदानुपपत्तिरिति चेषन्न ।

\* ख. आम्नान्तमत्वम् ।

( अ० १०० ) [ बृ० ३ । ५ । १ ] इत्येवकारेण विद्याभेदमिरासाच्च न विद्या-  
भेदः । अभ्यासस्याऽऽद्वैतार्थत्वेनाशनापाद्यतीतत्वाद्विशेषप्रतिपादनार्थ-  
त्वेन वोपपत्तेरिति ॥ ३६ ॥

( उपासनाद्यप्यस्त्वेनोपास्वस्य द्वैधज्ञानम्, अधि० २३ )

व्यतिहारो विशिष्यन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

एतरेषां आदित्यपुरुषमधिकृत्य समामन्त्रित— 'तद्योऽहं  
सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' [ ऐ० आ० २ । २ । ४ । ६ ] इति । तथैव  
जावाला अपि ' त्वं वा अहमास्मि भगवो वेषते अहं वै त्वमसि '   
इति । तत्र संशयः । किमात्मन ईश्वरेणैकत्वविषयमेकरूपमेव चिन्तनं  
विधीयत उक्त जीवेश्वरपोरन्योन्यानुवादेनान्योन्यात्मकत्वरूपव्यतिहारे-  
णोभयविषयं चिन्तनमिति । अत्र पूर्वपक्षे मतेरेकरूपत्वात्प्राप्यं सिद्धान्ते  
मतेरुभयरूपत्वाङ्गीकारेण व्यतिहारसार्थत्वमिति भेदः । तत्राभ्यास-  
स्याऽऽद्वैतार्थत्वयद्यतिहारोपदेशस्याप्याद्वैतार्थत्वात्तदनुरोधेन न चिन्तन-  
स्योभयरूपत्वं किं त्वेकरूपत्वमेवेति हट्टान्तेन प्राप्ते दूमः । व्यतिहार  
एवान्नोपास्यत्वेनोपदिश्यते न स्वात्मन ईश्वरेणैकत्वमात्रमितरवत् ।  
यथेते सर्वात्मत्वाद्यो गुणा उपास्यत्वेनोपदिश्यन्ते तद्वत् । प्रतिज्ञा-  
तेऽर्थे हेतुः—विशिष्यन्ति हीति । समाम्नातारो जीवपरमात्मानौ व्यतिहा-  
रेण विशिष्यन्ति तद्योऽहमित्यादिना । तच्च व्यतिहारेण विशेषणं व्यति-  
हारस्योपास्यत्वे सार्थकं स्यात् । अन्यथा जीवस्येश्वरेणैकत्वमात्रस्यो-  
पास्यत्वे तत्प्रतिपादकभ्रुत्वंशस्यैवार्थवत्त्वं न त्वीश्वरस्य जीवैकत्वप्रति-  
पादकांशस्येति । तस्माद्दुमयांशसार्थकवायोभयरूपं चिन्तनं विधेयमिति  
सिद्धम् । पूर्वसूत्र उपदेशान्तरपदिति हट्टान्तत्वेन तत्त्वमसीत्येकवाक्य-  
कथनमसद्भेदेकैकत्ववाक्यस्य तद्योऽहमित्यादेर्विचारात्प्रासङ्गिकी पादसं-  
गतिसौध्या । यद्वाऽस्यामहंयद्गोपास्ती व्यतिहारस्यानुपास्यत्वाच्च सर्व-

( ३१० ) यथा ताण्डिनाम् 'तत्त्वमसि' इति नयकृत्व उपदेशमेदो विशिष्ये  
तद्वद्वापि स्यात् ॥ ३६ ॥

पूर्वाधिकरणेऽभ्यास आद्वैतार्थ उक्त उत्तरत्रापि तथेत्याक्षिप्य समा-  
धत्ते—व्यतिहार इति । 'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' इत्यादावीश्व-  
रबुद्धिरिति व्यतिहारेण बुद्धिद्वयं करणीयम् । अनेकबुद्धिकरणे निद-

(ब्र० व० १) ब्राह्मं ब्रह्मोपास्ती तस्य व्यतिहारस्योपसंहार इति पूर्वपक्षे फलं सिद्ध्यन्ते तस्योपास्यत्वात्सर्वत्रोपसंहार इति साक्षाद्देव पादसंगतिः ॥ ३७ ॥

( सत्यविद्याया एकत्वप्रतिपादनम्, अधि० २४ )

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

वाजसनेयके हृदयास्थं हिरण्यगर्भं प्रस्तुत्य 'स यो हैतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाह्लिकान्' [ वृ० ५ । ४ । १ ] इति सत्यविद्यां विधाय तद्ब्रह्मत्वेन 'तदेतद्भवक्षरः सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतद्वनृतमुमयतः सत्येन परिगृहीतः सत्यभूयमेव भवति' [ वृ० ५ । ५ । १ ] इति सत्यनामाक्षराणामुपासनमुक्त्वाऽनन्तरं श्रावयति—'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो ष एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' [ वृ० ५ । ५ । २ ] इत्यादि । अयमर्थः—हृदयं उपास्यप्रसिद्धार्थः । एतदिति हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्मोपास्यं परामुञ्चति । महद्वापकं यक्षं पूज्यं प्रथमजं भौतिकापेक्षयेति शेषः । वेदनप्रकारमाह—सत्यं ब्रह्मेति । सच्च त्यच्चेति सत्यं पञ्चभूतात्मकं हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्म यो वेदोपास्ते स इमाह्लिकाञ्जयतीत्यर्थः । तीत्येकमक्षरमित्यत्र तकारोपरितन इकार उच्चारणार्थः । निर्यक्तस्तकारो बोध्यः । अत्र हि प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मृत्युसाध्याभावात् । मध्यतो मध्यस्थमक्षरमनृतं मृत्युर्मुत्स्यनृतयोस्तकारसाध्यात् । तदेतद्वनृतं मृत्युरूपमुमयतः सत्येन परिगृहीतमन्तर्भावितमतोऽर्कचित्करं तत्सत्यभूयं सत्यवाहुर्यमेव भवतीत्यर्थः । तत्तत्र हृदयात्मकत्वे सत्यात्मकत्वे च ब्रह्मणः सिद्ध इत्यर्थः । यत्तत्सत्यमित्यादिकं 'संबन्धाद्देवमन्यत्रापि' [ ब्र० सू० ३ । ३ । २० ] इत्यधिकरणे व्याख्यातम् । तत्र संशयः । किं

(श्लो०) ईशानमितरथत् । यथा सर्वात्मादिबुद्धिः क्रियते तद्वत् । कुतः । हि यस्मात् 'त्वं वा अहमस्मि अहं वै त्वमसि' इति विनिर्दिशन्ति समाह्वानतारः ॥ ३७ ॥

पूर्वाधिकरणे जीवब्रह्मणोरितरेतरात्मत्वं निर्देशमेवाह्निरूपा मतिः कर्तव्येत्युक्तमेवमिहापि जयतीमाह्लिकानिति हन्ति पाप्मानमिति च फलभेदनिर्देशाह्निरूपाभेद इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—सैव हीति ।

(अ०३०।) 'तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यः' [वृ०५।५।५] इत्यादिना श्रुता विद्या पूर्व सत्यविद्यातो भिद्यते न वेति । पूर्वपक्षे विद्याभेदाद्गुणानुपसंहारः सिद्धान्ते तद्रूपसंहार इति बोध्यम् । तत्र पूर्वं जीवब्रह्मणोर्व्यतिहारो-क्तिभेदाद्द्विधाया द्विरूपत्वमुक्तं तद्द्विहापि सत्यविद्यायां लोकत्रयस्य फलत्वादनन्तरविद्यायां च 'हन्ति पाप्मानम्' [ वृ० ५।५।३ ] इत्यादिना पापनिवृत्तेः फलत्वात्फलोक्तिभेदाद्द्विधाभेद इति दृष्टान्तेन प्राप्ते ह्यमः । इयमनन्तरविद्या सैव सत्यविद्यैव न ततो भिद्यते । कुतः । तद्यत्सत्यमिति प्रकृत्यास्यैवोपास्यस्य द्विरुपपगर्मस्याऽऽकर्षणादिति हिंश-वदसूचितो हेतुर्बोध्यः । न हि वेद्याभेदे विद्याभेदो युक्तः । न च फलभेदाद्द्विधाभेदः । सत्यविद्याप्रकरणे पठितस्य फलस्य सर्वस्यापि सत्यविद्याफलत्वादिति । तस्माद्विद्यैक्यात्पूर्वापरत्वावस्थाः सर्वे सत्या-द्यो गुणा उपसंहर्तव्या इति सिद्धम् ॥ ३८ ॥

(दहराकाशहार्वाकाशपोरुपसंहर्तव्यत्वम्, अधि० २५)

कामादीतरत्र तत्र चाऽऽयतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

दहरविद्यायां दहराकाशमात्मानं प्रकृत्य च्छन्दोगा आमनन्ति—  
'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विभृत्पुर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः  
सत्यकामः सत्यसंकल्पः' [ छा० ८।१।५ ] इत्यादि । तथा बाज-  
सनेपिनोऽपि 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु  
य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते सर्वस्य वक्षी सर्वस्येशानः'  
[ वृ० ४।४।२२ ] इत्यादि । तत्र संज्ञयः । किमन्योर्म्यं गुणो-  
पसंहारोऽस्ति न वेति । तत्र पूर्वं वेद्याभेदेन विद्यैक्याद्गुणोपसंहार  
इत्युक्तं तर्हि प्रकृते छान्दोग्ये दहराकाशस्यैवोपास्यत्वाद्वाजसनेयक  
आकाशनिष्ठस्याऽऽत्मनो ज्ञेयत्वाद्द्वेद्यभेदेन सगुणनिर्गुणविद्ययोर्भेदाज्ञो-

(श्री०।) 'स यो ह्येतं महद्यक्षम्' इत्यादिना 'तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यः'  
इत्यादिना 'षड्धायं ईक्षिणेऽक्ष्णुरुपः' इत्यादिना च योक्ता सैकैव । हि  
यस्मात्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात् । अतः सत्याद्यः सर्वगुणा उभयत्रो-  
पसंहर्तव्याः ॥ ३८ ॥

पूर्वाधिकरणे तद्यत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणेन रूपाभेदाद्गुणोपसंहार  
उक्तः । इह तु रूपभेदाद्गुणानुपसंहार इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समा-

(ब०व०)पसंहार इति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते ब्रूमः । कामादि सत्यकामत्वादि गुणजातमितरत्र वाजसनेपक उपसंहर्तव्यम् । यच्च सर्ववक्षित्वादिकं तदपि तत्र च्छान्दोग्य उपसंहर्तव्यम् । कुतः । आयतनादिभ्यः । हृदयस्याऽऽयतनस्य ब्रह्मणश्चोपास्यस्य ब्रह्मणः सेतुत्वव्यपदेशस्य चोभयत्राधि-  
शेषादित्यर्थः । अयं भावः । दहराधिकरणे दहराकाशस्य ब्रह्मत्वसमर्थ-  
नान्न वेद्यभेदः । ननु तथाऽपि सगुणनिर्गुणविद्यघोरनयोर्भेदो दुर्वार इति चेत्सत्यम् । अस्ति भेदः । कथं तर्हि गुणोपसंहार इति चेन्न ह्यत्रोपा-  
सनार्थं गुणोपसंहारं ब्रूमः किंतु विद्यास्तुत्यर्थं, स्तुत्यर्थगुणोपसंहारश्च  
विद्याभेदेऽपि संभवति स्तुतेरुभयत्राविज्ञेयादिति ॥ ३९ ॥

( उपासकस्य भोजने प्राणाहुतिलोपापत्तिः, अधि० २६ )  
आदरादलोपः ॥ ४० ॥

छान्दोग्ये वैश्वामरविद्यायां प्राणाग्निहोत्रं श्रूयते—‘तद्यद्भक्तं प्रथ-  
ममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुपात्तां जुहुपात्प्राणाय  
स्वाहा ’ [ छा० ५ । १९ । १ ] इत्यादिना । भक्तमन्त्रम् । जाबालश्रुती  
‘पूर्वोऽतिथिभ्योऽग्नीयात् ’ इति वैश्वानरोपासकस्यातिथिभ्यः पूर्वं  
भोजनं विधायातिथिभोजनप्रथम्यनिन्दया पूर्वभोजनं स्तौति—‘यथा  
ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुपादेवं तत् ’ इति । यथा स्वाग्नि-  
होत्राकरणेन पराग्निहोत्रकरणमयुक्तमेवं तदतिथिभ्यः पूर्वं भोजनदान-  
मित्यर्थः । तत्र संशयः । किं भोजनलोपे प्राणाग्निहोत्रस्य लोप उता-  
लोप इति । अलोपसिद्धिः पूर्वपक्षे फलं सिद्धान्ते तु लोपसिद्धिरिति ।  
उपास्तविचारप्रसङ्गेन तदङ्गपूर्वभोजनाश्रितप्राणाग्निहोत्रविचारादस्ति  
पादसंघतिः । उपास्तिलोपेऽपि स्तुत्यर्थत्वेन गुणोपसंहारवद्भोजन-  
लोपेऽपि पूर्वभोजनस्तुत्युपपत्त्यर्थं प्राणाग्निहोत्रालोप इत्यवान्तरसंघतिः ।

(श्री०) धत्ते—कामादीति । कामादि सत्यकामादि दहरविद्यायां श्रूयमाण-  
मितरत्र ‘योऽयं विज्ञानमयः’ इत्यादि बृहदारण्यकोक्त उपसंहर्तव्यं तत्र च  
यद्वक्षित्वादिकं तदपि च्छान्दोग्योक्ते दहर उपसंहर्तव्यम् । कुतः । आय-  
तनादिभ्यः । समानं ह्युभयत्र हृदयाद्याचतनत्वं तेभ्यः(तस्मात्) ॥ ३९ ॥

पूर्वाधिकरण उपासनालोपेऽपि स्तुत्युपपत्त्यर्थवद्भ्रं भोजनलोपेऽपि  
प्राणाग्निहोत्रालोप इति ह्यन्तेनाऽऽक्षिपति—आदरादिति । ‘तद्यद्भक्तं  
प्रथममागच्छेत्’ इत्यत्र भोजने सति भक्तेन प्राणाहुतीनां विधानाद्भो-

[न०१३०११०] ब्रह्माभूतवर्षिणीदीपिकाम्पां समेतानि । ३२५  
४१-४३]

(न०१०) तत्र पूर्वपक्षसूत्रम् 'आद्रादलोपः' इति । भोजनलोपेऽप्यग्नि-  
होत्रस्यालोपः ॥ ४० ॥

पूर्वभोजनस्य प्राथम्यरूपधर्मलोपमसहमानया जावालध्रुत्वा प्राणा-  
ग्निहोत्र आद्रकरणान्न हि धर्मलोपमसहमाना ध्रुतिः प्राणाग्निहोत्रस्य  
धर्मिणो लोपं सङ्गते तस्माद्भोजनलोपेऽप्यन्येन मक्ष्यद्रव्येण प्राणाग्नि-  
होत्रं कर्तव्यमित्येवं प्राप्ते सिद्धान्तयति—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

भोजन उपस्थितेऽतोऽस्मादेव भोजनद्रव्यात्प्राणाग्निहोत्रं कर्तव्यम् ।  
अनुपस्थिते भोजने प्राणाग्निहोत्रं न कर्तव्यमेव । कुतः । तद्वचनात् ।  
'तद्भूमिपम्' [ छा०पा०१९१ ] इति वचनात् । संहितसाक्षात्कात् ।  
तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेदित्यनेन संहितस्य भोजनार्थं प्राप्तद्रव्यस्य  
होमसाधनत्वप्रतीतेरित्यर्थः । तथा च भक्तागमनस्य भोजनप्रयुक्तस्य  
भोजनलोपे लोपाद्द्रव्यलोपेऽग्निहोत्रस्य लोप एव । आद्रवचनं तु भोज-  
नप्रसक्तिदशार्थां द्रष्टव्यम् ॥ ४१ ॥

( उद्गीथकर्माङ्गीभूतदेवतोपासनाया अनियतत्वम्, अधि० २७ )

तन्निर्धारणानियमस्तद्वृष्टेः पृथ-

ग्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥

सन्ति कर्माङ्गेऽङ्गीधादिषु प्राणाह्युपासनानि-तानि किं पणतावत्कर्मा-  
ङ्गाणि नित्यवदनुष्ठेयाम्पुत अगोदोह्नवत्स्वतन्त्रफलसाधनाभ्यनित्या-

(दी०)जनलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रस्यालोपः । कुतः । पूर्वोऽतिथिभ्योऽ-  
श्रीयात् 'इत्यादेशावालांनामाद्रादिति पूर्वपक्षः ॥ ४० ॥

सिद्धान्तमाह—उपस्थित इति । पात्रं प्रत्यागतमुपस्थितं तद्भक्तं द्रव्य-  
मतोऽस्माद्भक्तद्रव्यात्प्राणाग्निहोत्रस्य नित्यत्तिर्न त्वन्यस्मात्कस्मादिति ।  
तद्यद्भक्तमित्यनेन तस्य भक्तस्याग्निहोत्रद्रव्यत्ववचनात् । अतो भोजन-  
लोपे लोपोऽग्निहोत्रस्य ॥ ४१ ॥

पूर्वाधिकरणे नित्यभोजनाभितप्राणाग्निहोत्रस्यानित्यत्वमुक्तम् । एवं  
चेन्नित्याङ्गाभितोपासनानां नित्यत्वमिति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—

१ ग. 'आद्रादलोपः' इति भौ० । २ अ. प्रसङ्गात् ।

\* अ. ग. 'भर्मिणाः प्रपदेशोद्देशेन स्युक्तमस्य' ।

(अ०३०) नीति संक्षयः । पूर्वोत्तरकोटिसिद्धिरेव पूर्वोत्तरपक्षयोः फलम् ।  
 उपासनविचारात्मकत्वाद्स्य पादसंगतिः । अनित्यभोजनाङ्गाभित-  
 प्राणाग्निहोत्रस्यानित्यत्वबन्धित्यकर्मङ्गाभितोपासनानां नित्यत्वमित्यथा-  
 न्तरसंगतिः । तत्र 'यस्य पर्णमयी जुहुर्मवति' [ तै०सं०३।५।७२ ] ।  
 कंचित्कतुमनारम्भाधीतस्य पर्णमयीत्वस्याव्यभिचरितकतुसंबन्धिजुहुद्वारा  
 कत्वङ्गत्ववदनारम्भाधीतानामुद्गीथाद्युपासनानामप्युद्गीथाद्विद्वारा कत्व-  
 ङ्गत्वमिति प्राप्ते ब्रूमः—तन्निर्धारणानियम इति । तेषां कर्माङ्गा-  
 भितानां निर्धारणानामुपासनानामनियमो नित्यवदनुष्ठानाभावः ।  
 कुतः । तद्दृष्टेः । तस्यानियमस्य श्रुतौ दर्शनादित्यर्थः । तथा  
 हि—'तेनोमी कुरुतो यश्चेतदेवं वेद् यश्च न वेद्' [ छा० १ ।  
 १ । १० ] इत्यनुपासकस्यापि कर्मणि कर्तृत्वं वदन्ती श्रुतिरुपासनस्या-  
 नियतत्वं दर्शयति । उपासनस्य पृथक्फलभ्रवणादपि पञ्चप्रातिफलक-  
 गोदोहनवन्न कर्माङ्गत्वमित्याह—पृथग्धीति । हि यतः पृथगप्रतिबन्धः  
 कर्मणो वीर्यवत्तरत्वात्मकसमुद्भिरूपः फलमुपलभ्यतेऽतोऽपि न कर्मा-  
 ङ्गत्वमुपासनस्येत्यर्थः । तथा ह्युपासनस्य पृथक्फलत्वे श्रुतिः—'तेनोमी  
 कुरुतो यश्चेतदेवं वेद् यश्च न वेद् । नाना तु विद्या चाविद्या च  
 यदेव विद्याया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' [ छा०  
 १ । १ । १० ] इति । तेनोकारेणोभावपि कर्म कुरुतः । यश्चेतदोकारा-  
 स्यमक्षरमेवं रसतमत्वादिगुणकं वेद् यश्च न वेद् तावुभाविति संबन्धः ।  
 एवमनभिप्रेतपक्षमुक्त्वा स्वामिप्रेतमाह श्रुतिः—नाना त्विति । तुः पूर्ण-  
 पक्षनिरासार्थः । ओंकारमात्रज्ञानापेक्षया रसतमत्वादिगुणकं ओंकारज्ञानं  
 नानैव पृथक्फलकं दृष्टो हि मणिविक्रये शबरवणिजोः सामान्यविशेष-  
 ज्ञानाभ्यां फलभेदस्तस्माद्यदेव कर्म विद्ययोद्गीथादिविषयथा श्रद्धयाऽऽ-  
 स्तिक्वमुद्भयोपनिषदा तत्तद्देवताध्यानेन युक्तं करोति तदेव कर्म वीर्यव-  
 त्तरं भवतीत्यर्थः । अनेन विद्याहीनं कर्म वीर्यवन्मात्रं विद्यासहितं तु  
 वीर्यवत्तरमिति गम्यते । न हीदं विद्यायाः कर्माङ्गत्वे संभवत्यङ्गहीनस्य  
 कर्मणो वीर्यवन्मात्रत्वस्य फलजनकत्वलक्षणस्यानुपपत्तेः । तस्मात्पूर्व-

(शे०) तन्निर्धारणेति । तेषां कर्मगुणपायात्म्यनिर्धारणानामनियमः । कुतः ।  
 तद्दृष्टेः । 'तेनोमी कुरुतः' इत्यादिना दृष्टेरवगमात् । ननु भयोः करणे

(अ० ४०) ज्ञाया अक्रियात्मकत्वेन क्रतुसंबन्धं विना स्वातन्त्र्येण फलसाध-  
नत्वाभावेन विषमत्वाद्द्विधायाः क्रियात्मकत्वेन स्वातन्त्र्येण फलसाधन-  
त्वसंभवाद्गोहोहनवत्स्वातन्त्र्यमेवेति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

(संबर्गविद्योक्ताधिदेववाप्यध्यात्ममाणयोरनुचिन्तनस्य पृथक्त्वम्,  
अधि० २८)

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥

बृहदारण्यके छान्दोग्ये च संबर्गविद्यायां वागादिभ्यः प्राणः श्रेष्ठोऽ-  
म्यादित्वादिदेवताभ्यः श्रेष्ठो वायुरित्यवधारितम् । तत्र संशयः  
किमस्यां विद्यायां वायुप्राणयोः प्रयोगैक्यमुत प्रयोगभेद इति । फलपा-  
दसंगती पूर्ववत् । पूर्वं फलभेदात्कर्माङ्गाणां तदाश्रितोपासनानां च  
नित्यत्वानित्यत्वलक्षणः प्रयोगभेद उक्तस्तर्हि प्रकृते वायुप्राणिलक्षण-  
फलैक्याद्वायुप्राणयोः स्वरूपत एकत्वेन वैद्याभेदेन विद्यैक्याच्च प्रयोगै-  
क्यमिति प्रत्युदाहरणेन प्राते भूमः । यथैकस्मिन्नग्निहोत्रे दधितण्डुला-  
दिभिर्गुणैः प्रयोगभेद एवमेकस्यामपि विद्यायां वायुप्राणयोः स्वरूपा-  
भेदेऽप्याधिदैविकत्वाध्यात्मिकत्वस्वरूपावस्थाभेदेन गुणभेदात्प्रयोगभेद  
इति प्रदानवदेवेदं ब्रह्मण्यम् । तथा हि ' इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकाद्-  
क्षकपालमिन्द्राथाधिराजापेन्द्राय स्वराज्ञे ' [तै० सं० २ । ३ । ६ । १]  
इति पुरोडाशत्रयवत्पामिष्टौ श्रुतायां किं त्रयाणां पुरोडाशानां सहप-

(दो०) किमयमेव हेतुरित्यत आह—हि यस्मात्पृथक्फलमप्रतिबन्धोऽति-  
शयः 'यदेव विद्यया करोति' इत्यादिना श्रूयतेऽतः फलमूर्तार्थान्युपास-  
नानि गोहोहनादिवत् ॥ ४२ ॥

पूर्वाधिकरणे फलभेदात्कर्माङ्गाणां नित्यरूपप्रयोजनभेद उक्तः ।  
इदं तु वायुप्राणयोश्चाभेदात्त्वासिलक्षणफलैक्याच्चापासनप्रयोगैक्यमिति  
प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—प्रदानवदिति । बाजसनेयके 'वदि-  
ध्याम्येवाहम्' इत्यादिना वागादिभ्यः प्राणोऽधिकोऽवधारितः । 'अध्या-  
त्ममधिदैवं च ज्वलिष्याम्येवाहम्' इत्यादिनाऽम्प्यादिभ्यो वायुः । एवं  
छान्दोग्येऽपि संबर्गविद्यायां वायुप्राणावधारितौ विद्याया ऐक्यमपि ।



(अ० ५०) दानमुत्त प्रदानभेद इति विशये देवतैक्यात्सह प्रदाने प्राप्ते राजाधि-  
राजस्वराजगुणभेदेन तद्विशिष्टदेवताभेदात्पुरोडाशानां प्रदानस्य प्रक्षेपस्य  
भेद इति यथा तद्व्यक्तते वेद्यभेदात्प्रयोगभेद इत्यर्थः । तदुक्तं देवता-  
काण्डे ' नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात् ' इति । वाशब्दो देवतैस्वनिरा-  
सार्थः । नाना देवतेत्यत्र हेतुमाह—पृथगिति । उत्पत्तिवाक्य एव राजा-  
धिराजस्वराजगुणानां पृथग्ज्ञानात्तद्विशिष्टदेवतानां नानात्वं युक्त-  
मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

( मनश्चिदादीनां स्वतन्त्रविद्यात्वस्वीकारः, अधि० २९ ]

लिङ्गभूयस्त्वाच्चिद्वि चलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥

चाजसनेचिनोऽग्निहस्येनैव वा इदमुत्पत्तेः पूर्वं सदासीन्नाप्यसदित्युप-  
क्रम्य मनसः प्रादुर्भावमुक्त्वा तन्मन आत्मनोऽग्नीनपश्यदिति मनोऽधि-  
कृत्य पठन्ति—पद्भिर्ज्ञितं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमवान्मन-  
श्चितः' [ शत० ब्रा० १० । ५ । ३ । ३ ] इत्यादि । तथैव वाक्चिततः  
प्राणचितशब्दश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचित इत्यन्यानग्नीनाम-  
नन्ति । अयमर्थः—पुरुषस्थाऽऽयुद्धेन कृतज्ञतवर्षाणामहोरात्राणि पद्भि-  
र्ज्ञित्सहस्राणि, तैरवच्छिन्ना मनोवृत्तयोऽपि पद्भिर्ज्ञित्सहस्राणि भवन्ति ।  
एकस्मिन्नहोरात्र उत्पन्नसर्वमनोवृत्तिष्वहोरात्रगतैकत्वारोपात् । ता एव  
तावत्संख्याका मनोवृत्तय इष्टिकात्वेनाग्नित्वेन च संपाद्यन्ते । पद्भिर्ज्ञा-  
त्सहस्राणीत्यादिना मन एव स्ववृत्तिरूपानग्नीनर्कान्चर्यान्त एव

(शे०) तत्रैती वायुप्राणी भिन्नस्वरूपी न तु विद्याभेदे (इः) यथैकस्मिन्न-  
ग्निहोत्रे सायंप्रातः प्रवृत्तिभेद इत्येतस्मिन्नर्थे निर्दर्शनं प्रदानवत् । यथा  
त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ ' इन्द्राय राज इन्द्रायाधिराजायेन्द्राय सुराज्ञे'  
इत्यत्र राजादिरूपभेदात्पृथक्प्रदानं तद्द्वयायुप्राणयोरपि भेदः । तदुक्तं  
पूर्वस्यां मीमांसायां संकर्षे—नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात् । संकर्षः सर्व-  
धर्मभिर्गमयन्नवद्यतीत्यस्मादेकहेलया परित्यागः प्राप्तस्तं परित्यागं  
वाशब्दो वारयति । कुतः । पृथग्ज्ञानोद्भाष्यादिगुणानाम् ॥ ४३ ॥

पूर्वाधिकरण एकपयोगासंभवाद्वायुप्राणौ भेदेन नेपावित्युक्त-  
मिह तु मनश्चिदादीनां कर्माङ्गत्वेनैकपयोगाङ्गत्वमिति प्रत्युदाह-

१ ग. 'कशासकम्' । २ ख. 'भैरी' । ३ ख. 'नभिम' । ४ ख. 'गणनादि' । ५ ख.  
'योगम्' ।

(म०५०) मनोविकारान्मनश्चित्तो मनसा धीपन्ते संपाद्यन्त इति मनश्चित्त-  
स्तानपश्यदित्यर्थः । एवमेव वागादयोऽपि स्वस्ववृत्तीरश्लित्वेनापश्यन्निति  
प्रतीन्द्रियवृत्त्येकैकमग्निचयनं संपाद्यं प्राणो घ्राणम् । कर्मवदमनुक्तकर्म-  
न्द्रियपरम् । एतेऽग्नयः कर्मप्रकरणे पठिताः । तत्र संक्षयः । किमेते मनश्चि-  
दादयोऽग्नयः कर्माङ्गभूता उत स्वतन्त्रा इति । पादसंगतिफले पूर्ववत् ।  
पूर्वमेकप्रयोगो ग्राह्यायुप्राणयोः प्रयोगमेद् इत्युक्तं तर्हि मनश्चिदादीनां  
प्रकरणात्कर्माङ्गत्वेनैकप्रयोगसंभवात्प्रयोगैक्यमिति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते  
भ्रमः । सिद्धान्तमुपक्रमते—लिंगेति । मनश्चिदादयोऽग्नयः स्वतन्त्रा एव ।  
कुतः । लिङ्गभूयस्त्वात् । स्वातन्त्र्यज्ञापकलिङ्गानां भूयसां सत्त्वादित्यर्थः ।  
तथा हि 'यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेपामेव सा  
कृतिः' [ श० ब्रा० १० । ५ । ३ । ३ ] इति 'तान्हेतानेवंविदे सर्वदा  
सर्वाणि भूतानि चिन्बन्त्यपि स्वपते' [ श० ब्रा० १० । ५ । ३ । १२ ]  
इत्यादीनि लिङ्गानि सन्ति । अयमर्थः—सर्वाण्यपि भूतानि जन्तवो  
यत्किमपि मनसा संकल्पयन्ति तेपामेवाग्नीनां सा कृतिः संपादनं  
सर्वजन्तुमनआदिपृथ्वीनामश्लित्वेन ध्येयत्वादित्येकं लिङ्गं न हि यत्किं-  
चित्कर्माङ्गं संभवतीत्येवंविदे स्वपते जाग्रतेऽपि सर्वदा सर्वाणि भूतानि  
तानेतानग्नींश्चिन्बन्तीति लिङ्गान्तरं न हि कर्माङ्गं सर्वदाऽनुष्ठीपमानं  
वृत्तं कालविशेष एव तद्विधानादिति । तद्वि लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयस्तदपि  
बलीयस्त्वमप्युक्तं पूर्वकाण्डे 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां  
समवाये पारदोर्वलयमर्थविप्रकर्षात्' [ जै० ३ । ३ । ७ । १४ ] इति ।  
एतत्सूत्रार्थो विस्तरेण वाचस्पतिमिश्रेतत्यादादी वैधाधिकरणे वर्णित  
इतीह विस्तरमयान्नोच्यत इति ॥ ४४ ॥

(शै०) रणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—लिङ्गभूयस्त्वादिति । वाजसनेयकेऽग्निर-  
हृस्पे मनोऽधिकृत्य 'पद्त्रिंशत् सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनकान्मनोम-  
यान्मनश्चित्तः' इत्यादिनाऽऽज्ञाता अग्नयः स्वतन्त्रा न क्रियानुयवेशिनः ।  
कुतः । तद्यत्किंचेत्यादेर्लिङ्गस्य भूयस्त्वादधिकत्वात् । सन्ति लिङ्गानि त-  
थाऽप्यग्नेः प्रकरणात्कर्मानुयवेशिन इत्यत आह—तद्वि बलीयः । हि यस्मा-  
त्तलिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः । तदप्युक्तं पूर्वस्मिन्काण्डे—'श्रुतिलिङ्गवाक्य-  
प्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदोर्वलयमर्थविप्रकर्षात्' इति ॥४४॥

(न० १०।)सिद्धान्तमुपक्रम्य पूर्वपक्षयति—

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ॥ ४५ ॥

संकल्पात्मका मनश्चिदादयोऽग्नयो न स्वतन्त्राः किंत्विष्टिकाभिरग्निं चिनुत इति प्रकृतस्य पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेरयं विकल्पः । संकल्पाल्लकोऽग्निः । प्रकरणात्स्यात् । न लिङ्गादग्नीनां स्वातन्त्र्यं प्रकृते तु कलिङ्गस्याऽऽर्थवाचिकार्थदर्शनलक्षणस्यार्थवादस्थत्वेन विहितमानसिकाग्निस्तुतिपरत्वेन विधेकवाक्यतया स्वार्थपरत्वाभावात् । सिद्धे हि स्वार्थे तद्दर्शनं लिङ्गमग्नीनां स्वातन्त्र्यं गमयेत् । नह्यस्ति स्वार्थसिद्धिस्तस्मात्क्रियानुप्रवेशेन एवैते मानसिकाग्रय एतेन सौत्रं क्रियापदं व्याख्यातम् । मानसवत् । तथा हि द्वादशाहे ध्रुवते—‘अनया त्वा पात्रेण समुद्ररसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णामि’ इति । त्वा त्वां समुद्रमनया रसया पृथिव्या पात्रेण प्रजापतिदेवताकं मनोग्रहं ध्यानमयग्रहमापाद्यं गृह्णामीत्यर्थः । तत्र किमिदं मानसं द्वादशाहादहरन्तरमुत तन्मध्यपातिनो दशमस्याह्नोऽङ्कमिति संदेहे वाग्ये द्वादशाहो मनो मानसमिति भेदव्यपदेशाद्दहरन्तरमिति प्राप्ते मानसस्याहरन्तरत्वे मानाभावाद्भेदव्यपदेशस्याङ्गाङ्गिभावेनाप्युपपत्तेरहरन्तरत्वे द्वादशाहसंज्ञाया गौणत्वप्रसङ्गान्मुख्ये संभवति गौणत्वाद्योगाद्द्वादशाहमध्यपातिनो दशमस्याह्नोऽङ्कं मानसमिति यथा तथेमे मानसिकाग्रयः प्रकृतकर्मशेषा इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

(श्री०)एकद्वित्रिचतुःपञ्चक्षणविलम्बात्परस्य परस्य दूर्ध्वत्वं पूर्वस्य पूर्वस्य प्राक्त्यमित्याक्षिपति पूर्ववादी—पूर्वविकल्प इति । मनश्चिदादयः क्रियैव स्यात् । कथम् । पूर्वस्मिन्क्रियामयेऽग्नौ विकल्पो विशेषोऽभिधीयते यतः । तदपि कुतः । क्रियामयस्याग्नेः प्रकरणात् । विकल्पस्य तत्रकरणात्क्रियारूपत्वं क इष्टमित्यत आह—मानसवत् । यथा दशरात्रस्य दशमेऽह्न्यपि वाक्ये पृथिव्याः पात्रेण समुद्रस्य सोमस्य प्रजापते देवतापै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनहारणोपह्वानभक्षणानि मानसान्धेवाऽऽज्ञायन्ते । स च मानसोऽपि ग्रहकल्पः क्रियाप्रकरणात्क्रियाशेष एवमयमप्यङ्गिकल्प इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

(म० ४०१) मानसिकाग्नीनां मध्य एकैकोऽग्निस्तावान्यावानसौ पूर्वं इति पूर्वणैरिहाचितेनाग्निना मानसिकाग्नीनां सादृश्यापदेशाच्च । तच्छेषत्वमेकक्रियानुश्लेषातिरिक्तसादृश्यामावादित्यर्थः ॥ ४६ ॥

सिद्धान्तयति—

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

तुरुक्तपक्षनिरासार्थः । विद्यात्मका एते मनश्चिदादयः स्वतन्त्रा एव न कर्मानुप्रवेशिनः । कुतः । 'ते ह्येते विद्याचित एव' इत्यवधारणादित्यर्थः । एवकारश्रुत्या कर्मप्रकरणं बाध्यमिति भावः ॥ ४७ ॥

लिङ्गादपि तद्बाध्यमित्याह—

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

मानसिकाग्नीनां स्वातन्त्र्यज्ञापकलिङ्गस्य दर्शनाच्च प्रकरणं बाध्यमिति भावः । लिङ्गं पूर्वदर्शितम् ॥ ४८ ॥

नन्विदं लिङ्गं न साधकमित्युक्तमित्यत आह—

श्रुत्यादिवलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

श्रुतिरेषकारः । आदिपदेन लिङ्गवाक्यपोग्रहणम् । लिङ्गमुक्तमेव 'विद्यया ह्यैवैत एवंपिदक्षिता भवन्ति' [ श० जा० १० । ५३ । १२ ] इति । एतेषां मानसिकाग्नीनां पुरुषसंबन्धमाचक्षानं वाक्यं स्वातन्त्र्यबोधकम् । तथा चैतेषां श्रुतिलिङ्गवाक्यानां बलीयस्त्वान्न दुर्बलेन कर्मप्रकरणेनाग्नीनां न स्वातन्त्र्यबाध इत्यर्थः । न च लिङ्गस्वार्थबाध-

(टी० १) केवलप्रकरणं कथं लिङ्गं बाध्ये(धि)तेत्यत आह—अतीति । 'तेषामेकैक एतावान्यावानसौ पूर्वं' इत्यतिदेशस्तस्मादपि ॥ ४६ ॥

परिहरति सिद्धान्ती—विद्यैवेति । तुल्यशब्दोऽग्नीनां क्रियाकृतत्वं व्यावर्तयति । किं तर्हि विद्यैव । कुतः । विद्याचित एवेति निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

नन्वसहकृतं निर्धारणं न बाधकं प्रकरणस्येत्यत आह—दर्शनादिति । लिङ्गानामिति शेषः । चकारः सहकारिणोऽन्यपेक्षामप्याह । लिङ्गानि चोक्तानि लिङ्गसूत्रे ॥ ४८ ॥

लिङ्गमपि न क्वचिद्बाधकं प्रकरणस्येत्यत आह—श्रुत्यादीति । न प्रकरणेन लिङ्गवाधात्स्वातन्त्र्यस्य मनश्चिदाग्नीनां बाधः । कुतः । श्रुत्यादीनां बलीयस्त्वात् । सन्ति चात्र तानि । श्रुतिस्तावद्विद्याचित एवेति ।

(अ० १०) स्थत्वेनासायकत्वम् । लिङ्गप्रदर्शनार्थमुदाहृतवाक्यानां विधि-  
श्रुत्यपसामीप्याभावाद्बोधार्थबोधकत्वाच्च विधायकत्वेनार्थवादत्वाभावा-  
दिति भावः ॥ ४९ ॥

इतोऽपि मनश्चिदाद्यग्नीनां स्वातन्त्र्यमित्याह—

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्वृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५० ॥

‘ते मनसैवाऽऽधीपन्त मनसाऽधीपन्त मनसैव ब्रह्मा अगृह्यन्त  
मनसाऽस्तुबन्धनमनसाऽशंसन्पत्किंच यज्ञे कर्म क्रियते यत्किंच यज्ञियं कर्म  
मनसैव तन्मनोमयेषु मनश्चित्तु मनोमयमक्रियत’ [ १० ब्रा० १० ।  
५ । ३ । ३ ] इत्यादिना मनआविकृत्तिषु कर्माङ्गाणामनुबन्धात्संपादना-  
द्यग्नीनां स्वातन्त्र्यं कर्माङ्गत्वेऽङ्गानां प्रत्यक्षसिद्धत्वेन संपादनवैयर्थ्यात् ।  
आदिशब्धेनातिदेशो गृह्यते । अतिदेशो हि क्रियामयस्याग्नेर्माहात्म्यभे-  
दैकस्य मानसिकाग्नेर्दृशंस्वातन्त्र्यभेदां दर्शयति । यस्वयमतिदेशः  
पूर्वपक्षानुकूल इति तत्राग्नित्वसाहचर्येनास्यातिदेशस्य सिद्धान्तेऽप्यु-  
पपत्तेः । सूत्रे बहुवचनसिद्ध्यर्थं पूर्वोक्तश्रुतिलिङ्गादिकं बोध्यम् । उक्त-  
श्रुत्यर्थस्तु तेऽग्नयो मनसैवाऽऽधीपन्ताऽऽधानकर्मणा संपादिताः ।  
अधीपन्तेति चिताः । एष्वग्निषु ब्रह्माः पाशाण्यगृह्यन्त गृहीताः ।  
अस्तुवन्तोऽं कृतवन्त उद्गातारः, अशंसन्शंसनं कृतवन्तो होताः । किं  
बहुना यत्किंच कर्माऽऽराहुपकारकं यत्किंच यज्ञियं यज्ञनिष्पत्त्यर्थं संनिप-  
त्पोपकारकं च क्रियते तद्विदुषो मनसैवाक्रियत कृतमिति । अनुबन्धा-

(श्री०) लिङ्गं सर्वं वा सर्वाणि भूतानि । वाक्यं तु विद्यया ह्येवैत एवंविद्-  
श्रिता भवन्ति ॥ ४९ ॥

मन्वथापि प्रसिद्धेनाग्निर्नो निर्देशात्क्रियानुप्रवेशिनस्त इत्यत आह—  
अनुबन्धेति । अनुबन्धयन्ते ‘मनसैवाऽऽधीपन्ते’ इत्यादिनोक्ता येन सोऽव-  
मनुबन्धः । आधानादिसंपादनमिति यावत् । आदिशब्धेनातिदेशादुच्यते ।  
न हि क्रियानुप्रवेशिष्वग्निषु ईदमाश्रयम् । तेभ्य एते स्वतन्त्राः प्रज्ञा-  
न्तरपृथक्त्ववदिति निदर्शनम् । यथा प्रज्ञान्तराणां शाण्डिल्यादिविद्यानां  
परस्परं कर्मभ्यश्च पृथक्त्वं तद्वत् । ननु प्रकरणादुक्तार्थोऽर्हद्विचरः कथ-  
मिव स्वीकरणीय इत्यत आह—हृदश्च । अवेष्टे राजसूयस्य प्रकरणपठि-

(म०५०)दिग्भ्यो हेतुभ्यः स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनां प्रज्ञान्तरपुषकत्ववद्यथा प्रज्ञान्तराणां शाण्डिल्यादिविद्यानां स्वातन्त्र्यं तद्वत् । नन्वग्नीनां स्वातन्त्र्ये कर्मप्रकरणादुत्कर्षः क्वाप्यवुष्टः कल्पितः स्यादत आह—वुष्ट-  
श्रेति । ' राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत ' इति राजसूयं प्रकृत्य  
' आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा ' इत्यादिना भुताया अवेष्टेर्ना-  
ह्यणादिकर्तृकाया राजमानकर्तृकराजसूयप्रकरणादुत्कर्षो वुष्टस्तद्वद्वा-  
प्यग्नीनां कर्मप्रकरणादुत्कर्ष इत्यर्थः । इदं तर्कं प्रथमतश्च उक्तमित्याह  
तदुक्तमिति ॥ ५० ॥

यदुक्तं मानसवदग्नीनां क्रियाशेषत्वमिति तद्वद्वृत्तपति—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

मनश्चिदादीनां मानसेन मानसिकत्वसामान्यादपि क्रियाशेषत्वं न  
कल्पमुक्तधृत्यादिभ्यः स्वातन्त्र्योपलब्धेर्हृत्युवत् । यथा ' स एव  
मृत्युयं एव एतस्मिन्मण्डले पुरुषः ' [ शं० ब्रा० १०।५।२ । ३ ]  
इति ' अग्निर्वै मृत्युः ' [ वृ० ३।२।१० ] इति चाऽऽदित्यपुरुषस्था-

(शं०)तायाः प्रकरणादुत्कर्षः । वर्णत्रयानुबन्धात्तस्या राज्यरूप(पशु)त्वाच्च  
राजसूयस्य । तदुक्तं प्रथमे काण्डे क्लृप्तेषामिति चेन्न वर्णत्रयसंयो-  
गादिति । ' आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा ' इत्याद्यवेष्टिः क्रतो राज-  
सूयस्य प्रकरणे पठिताऽतस्तदर्थेवमिति चेन्न । कुतः । यदि ब्राह्मणो यजेत  
बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाऽऽहुतीनामाहुतिं हुत्वा तमभिचारयेत् । यदि  
वैश्वो वैश्वदेवं यदि राजन्य ऐन्द्रियमिति वर्णैः सह संयोगः संबन्धः ।  
न च \*राजसूयस्य ' राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत ' इति श्रुतेः ।  
तस्मात् स च(तस्य) राजसूयप्रकरणादुत्कर्षः ॥ ५० ॥

ननु मानसवत्क्रियाङ्गं भविष्यतीत्युक्तमित्यत आह—न सामान्यादिति ।  
न सामान्यादपि क्रियाङ्गत्वं मनश्चिदादीनाम् । कुतः । केनाप्यंशेन  
कस्यचित्सामान्यस्थोपलब्धेः । किंचदित्यत आह—मृत्युवत् । ' स वा एव

\* नवेसादितस्वविलम्बो मन्थः च, पुस्तकस्थः ।

(अ०१०) श्रेष्ठ मृत्युशब्दत्वसाम्येऽपि परस्परवैषम्यं यथा वा शूलोकोऽग्नि-  
स्तस्वाऽऽदित्यः समिदित्यादी समिदादिसाम्यान्न हि शूलोकस्याग्नि-  
त्वापत्तिः किंतु परस्परवैषम्यं तद्वन्मानसमानसिकाम्नोर्मानसिकत्वसा-  
म्येऽपि परस्परवैषम्यमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वान्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

मानसिकाग्निब्राह्मणात्परस्मिन्ब्राह्मणे 'अयं वाव लोक एषोऽग्नि-  
श्चितः [ श० ब्रा० १०।५।४।१ ] इति शब्दस्य ताद्विध्यम् ।  
चित्तेऽग्नीं प्रथिषीहादिकरूपस्वतन्त्रविधित्वमेव लक्ष्यते न कर्माङ्गविद्या-  
विधित्वम् । तथा 'यदेतन्मण्डलं तपति' [ श० ब्रा० १०।५।२।  
१ ] इति पूर्वस्मिन्नपि ब्राह्मणे विद्याप्राधान्यं वृक्ष्यते इति चकारार्थः ।  
तथा च तत्सममिवाहारादस्मिन्नपि ब्राह्मणे विद्यायाः प्राधान्यमिति  
भावः । नन्वस्मिन्ब्राह्मणे मानसिकाग्निविद्यायाः प्रधानत्वे किमर्थं  
कर्माङ्गमस्तत्राऽऽह—भूपस्वादिति । कर्माङ्गानां मानसिकाग्निवि-  
द्यायां संपाद्यानां बहुत्वाद्द्विद्यायास्तदुपक्रमेणानुबन्धः प्रतिपादनमि-  
त्यर्थः । तस्मादिष्यं मानसिकाग्निविद्या स्वतन्त्रपुरुषार्थहेतुरिति  
सिद्धम् ॥ ५२ ॥

(दी०) मृत्युः' इत्यादित्यपुरुषस्याग्निर्वै मृत्युरित्यश्रेष्ठ मृत्युत्वं नैव तयोरेक्यं  
तद्वत् । हि पस्मादसौ वै लोकोऽग्निरिति न लोकस्याग्निभावापत्तिस्तद्वत् ।  
अत्यन्तवैलक्षण्ये लोकवृष्टान्तः ॥ ५१ ॥

ननु 'अद्भ्यां जुहति' इति परेण लोकस्याग्नित्वं प्रतीयते न चान्यत्र  
तादृग्भाष्यमित्यत आह—परेणेति । परस्तादपि 'अयं वाव लोक एषोऽ-  
ग्निश्चितः' इत्यस्मिन्ननन्तरे ब्राह्मणे ताद्विध्यं केवलविद्योत्वं शब्दस्य  
प्रयोजनं लक्ष्यते न शूद्रकर्माङ्गविधित्वम् । यत आह—विद्यया तदा-  
रोहन्ति' इत्यादि तथा पुरस्तादपि 'यदेतन्मण्डलम्' इत्युपक्रम्याऽऽह  
'सोऽभूतो भवति' इत्यादि । तत्सामान्यादिहापि तैथात्वम् । नन्व-  
ग्निसंबन्धः कथं तर्हीत्यत आह—भूपस्वात्स्वनुबन्धः । तुकारः कर्माङ्गतां  
व्यावर्तयति । आधानादीनामध्यम्यववचानां संपाद्यानां भूपस्वाद्बहुल-  
त्वादनुबन्धोऽग्निना संबन्धः ॥ ५२ ॥

[म० १५०-१५०० ब्रह्मासूतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । १३५  
५३-५४]

(म० ५०) मनु विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वमपुक्तं देहातिरिक्तस्य पुरुषस्या-  
भावादित्याक्षिपति—

( मौक्तिकस्याऽऽत्मत्वनिराकरणपूर्वकतद्व्यपस्याऽऽत्मत्वप्रतिपादनम्,  
अधि० ३० )

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

प्रसङ्गादस्य पादसंगतिर्बोधा । अत्र किमात्मा देह एवोक्त तदति-  
रिक्त इति संशयः । पूर्वपक्षे देहातिरिक्तात्माभावात्स्वर्गादिशास्त्रवैयर्थ्यं  
सिद्धान्ते तत्सार्थक्यमिति विभागः । तत्रैके देहात्मवादिनो लोकाय-  
तिका देहातिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽस्तत्त्वं मन्यमाना देह एवाऽऽत्मेति वदन्ति ।  
कुतः । शरीरे सति चैतन्यसुखादीनां भावात्तद्भावे चाभावादित्यम्ब-  
व्यतिरेकाभ्यां तेषां देहधर्मत्वेनातिरिक्तात्मसिद्धयभावात् ॥ ५३ ॥

इति भास्ते सिद्धान्तवति—

व्यतिरेकस्माद्भावाभावित्वात् तूपलम्बिवत् ॥ ५४ ॥

न त्वात्मनो देहाद्व्यतिरेकः किंतु व्यतिरेक एव न्याय्यः । कुतः ।  
चैतन्यादीनामात्मधर्माणां तस्य शरीरस्य भ्रण्णावस्थायां भावेऽप्यभा-  
वित्वाद्देहधर्मत्वात्संभवाद्यथा देहभावे भावाद्देहधर्मत्वं तथा देहभावेऽ-  
प्यभावाद्देहधर्मत्वमेव कुतो न स्यादित्यर्थः । किंच निश्चितान्वयव्य-  
तिरेकाभ्यां देहधर्मत्वं वक्तव्यम् । न चात्र देहाभावेऽभाव इति व्यति-  
रेकनिश्चयः संभवति, एतद्देहाभावेऽपि देहान्तरावच्छेदेन तद्भ्रमसत्त्व-  
संभवादिति । उपलम्बिवत् । तथा ह्यस्ति तावद्व्यपलम्बिः सा च  
न देहधर्म इत्युक्तम् । किंच देहधर्मत्वे तस्याः प्रकाशकत्वानुपपत्तिर्देह-  
रूपादिवदिति । यथा देहादिविषयाया उपलम्बेः सत्त्वमङ्गी क्रियते

(श्री०)पूर्वाधिकरणे मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वमुक्तं संग्रति पुरुषस्यैवाभा-  
वादित्याक्षिपति—एक इति । एके लोकायतिका देहव्यतिरिक्तात्मनोऽ-  
स्तत्त्वमाहुः । कुतः । ज्ञानादीनामात्मधर्मत्वेनाभिमतानां शरीरेणाऽऽहु-  
तिमावाच्छरीरस्यैव ज्ञानादयो धर्माः ॥ ५३ ॥

सिद्धान्तमाह—व्यतिरेक इति । देहात्मनोर्व्यतिरेकः । कुतः । तद्भा-  
वाभावित्वात् । तस्य देहस्य भावेऽपि ज्ञानचेष्टादीनामनावित्वात्स-  
त्त्वात् । अतस्ते न देहधर्माः । तत्र निर्दर्शनमुपलम्बिवत् । यथा भूत-



(अ०४०) तथा तस्या देहादिव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनीकार्यः सैव चोपलब्धिर्न आत्मेति । तस्माद्देहातिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽस्तित्वमिति सिद्धम् ॥ ५४ ॥

( ऐतरेयगतोऽथोपासनायां पृथिव्यादिदृष्टेः कौपीतक्यामपि समा-  
नत्वम्, अधि० ३१ )

अङ्गावबद्धास्तु न शास्त्रासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

सन्ति कर्माङ्गाभिता उपासना उद्गीथावयवोकारे प्राणहृदिकथ्ये पृथिवीहृदिलोकेषु पञ्चविधं सामोपासीतेति । लोकशब्दः पृथिव्यग्न्यन्तरिक्षादित्यष्टलोकपरः । पृथिव्यादिविषयकब्रह्मपञ्चविधं सामोपासीतेत्यर्थः । 'पृथिवी हिंकारः । अग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनम्' [ छा० २ । २ । १ ] इति । हिंकाराद्विषयविधे साम्नि पृथिव्यादिवृष्टिरिति विभागः । तत्र संशयः—किमेता उपासना पञ्च शास्त्रायां विहितास्तच्छास्त्रगतोद्गीथाद्यालम्बना उत सर्व-शास्त्रगतोद्गीथाद्यालम्बना इति । पूर्वोत्तरपक्षयोः पूर्वोत्तरकोटिसिद्धिः फलम् । उपासनाविचारात्मकत्वात्साक्षादस्य पादसंगतिः । तत्र यथा शरीरात्मनोर्भेदादात्मधर्माणां शरीरे न संभवस्तद्वदेकशास्त्रगतोद्गीथाद्यपेक्षया शास्त्रान्तरोद्गीथादेः स्वरभेदेन भेदादेकशास्त्रगतोद्गीथाविध-र्माणामुपासनानां शास्त्रान्तरगतोद्गीथादौ न संभव इति ब्रह्मन्तेन प्राप्ते ब्रूमः—अङ्गावबद्धास्त्विति । तुः पूर्वपक्षनिरासार्थः । एता अङ्गाभिता-उपासनाः प्रतिवेदं स्वशास्त्रासु विद्यमानोद्गीथाद्यालम्बना एव न भवन्ति किंतु शास्त्रान्तरीयोद्गीथाद्यालम्बना अपि । कुतः । 'उद्गीथमुपासीत'

(श्लो०) भौतिकानामनुभवनमुपलब्धिं(!)पूर्वोचियत्वेन विषयधर्मो बला-  
दुपतति तद्वत्प्राणचेटादयोऽपि न देहधर्माः ॥ ५४ ॥

पूर्वाधिकरणे शरीरात्मनोर्भेदादात्मधर्माणामसंभवः शरीर इत्युक्तम् । एवमेकशास्त्रगतोद्गीथधर्माणां प्राणादिवृष्टीनां न तर्हि शास्त्रान्तरीयोद्गी-  
थादिषु प्राप्तिरिति ब्रह्मन्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अङ्गेति । 'ओमित्यत-  
दक्षरम्, । लोकेषु पञ्चविधम्, इत्येवमाद्याः प्रतिवेदमुपासना न शास्त्र-

१ स. 'कार्यः स इव चो' । ग. सर्वो देहादिभ्यतिरिक्त इव चो' । २ स. 'विधिवत्त्वेन  
न हि' ।

[म०३४०३५० मन्नामृतपरिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । ३३७

(म०३००) [ छा०१।१।१ ] इत्यादावुद्गीथादिभूतेरविशेषादिति हिशब्दस्य-  
चितो हेतुर्षोऽप्यः ॥ ५५ ॥

इममर्थं ह्यनान्तमुत्तेनापि साधयति—

मन्नादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

एकशास्त्राविहितोपासनानां शास्त्रान्तरोद्गीथादिषु प्राप्तेरविरोधो  
मन्नादिवत् । तथा हि यथा तण्डुलपेषणार्थमस्मादानमन्त्रः कुटकरसी-  
स्येकत्राऽऽज्ञातः शास्त्रान्तरेऽपि प्राप्नोति यथा वा प्रयाजा एकत्राऽऽज्ञाताः  
शास्त्रान्तरेऽपि प्राप्नुवन्ति तद्वदत्राप्यविरोधः । बाशब्दो ह्यनान्तप्रवर्जन-  
रूपहेत्वन्तरसूचनार्थः । तस्मादेकत्र विहितानामप्युपासनानां शास्त्रान्त-  
रोद्गीथादिषु प्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ५६ ॥

( चिराद्भूषवैश्वानरस्य कृत्स्नस्यैव ध्यातव्यत्वं न तदंशस्य, अधि०३२ )

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥ ५७ ॥

वैश्वानराद्यधिकार्यां प्राचीनशालादिपङ्कपीणां राज्ञा सह पञ्चन-  
तिवचनाभ्यां शुभोक्तसूर्यवाप्यादिषु व्यस्तेषु वैश्वानरोपास्तिः श्रुता तथा  
समस्तोऽप्यपि वैश्वानराधिकरणल्लिखितास्वायिकाऽत्राप्यनुसंधेया । तत्र  
संज्ञावः । किमिहोमचथाऽप्युपास्तिर्बन्धुक्षितोत्त समस्तोपास्तिरेवेति ।  
अत्र पूर्वपक्षे बाधवभेदः सिद्धान्ते तद्वैक्यमिति शोध्यम् । तत्रोद्गीथादि-  
भूत्या संनिधिप्राप्तव्यवस्थां बाधित्वोद्गीथाद्युपास्तीनां सर्वशास्त्रास्वव्य-  
वस्थावदत्रापि व्यस्तोपास्तीनां विधिभूत्या समस्तोपास्तिसंनिधिप्राप्त-

(श्री०)स्यैव व्यवतिष्ठेरन् । उद्गीथादिभूत्यविशेषात् । तुशब्दो व्यवस्था-  
निपममङ्गार्थः ॥ ५५ ॥

मन्त्रन्यवेदपठितानां कथमन्यत्र परिग्रह इत्यत आह—मन्नादीति ।  
बाशब्दः शङ्कानिराकरणार्थः । यथा ' कुटकरसि ' इति तेषां मन्त्रो  
न पठितस्तेषामपि तेन मन्त्रेणास्मादानमेवमेवाग्रेरित्येवमादिमन्त्राणां  
यज्ञस्य दानम् । आदिशब्देन प्रयाजादीनां ग्रहणं तद्वाञ्छाशास्त्ररूपीणां-  
मप्युद्गीथादिषुमाणां ग्रहणं न विरोधः ॥ ५६ ॥

पूर्वाधिकरणं उद्गीथादिभूत्या संनिधिं बाधित्वोद्गीथाद्युपासनानां  
सर्वशास्त्रासूपयोग उक्त एवमत्र व्यस्तोपासनस्य विधिभूतेः फलभूतेश्च  
समस्तोपासनस्य विधिभूतेः फलभूतेश्च समस्तोपासनं संनिधिप्राप्तं

१ अ. 'शानं प्रा' । २ अ. 'मनेराक' । ३ अ. 'कुट' । ४ अ. 'पेजि' ।

(अ० १०।)स्तुत्यर्थत्वं बाधित्वा विधेयत्वं युक्तमिति दृष्टान्तेन प्राप्ते भ्रमः ।  
 भ्रमः समस्तोपासनस्यैवास्मिन्वाक्ये ज्यायस्त्वं प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वं न  
 व्यस्तोपास्तीनामपि क्रतुवत् । यथा दर्शपूर्णमासादेः क्रतोः साङ्गप्रधान-  
 स्यैव प्रयोगो विवक्ष्यते न व्यस्तानामपि प्रयाजादीनां तद्वत् । ननु भ्रम  
 एव ज्यायस्त्वं क्रुत इत्यत आह—तथा हीति । प्राचीनशालादिभिरु-  
 क्तानि व्यस्तोपासनानि निन्दित्वा कैकेयेन राज्ञाऽव्यस्तोपासनस्योक्त-  
 त्वादेकवाक्यता श्रुतेरवगम्यते तथा चैकवाक्यतामापन्नेयं श्रुतिर्भ्रम एव  
 ज्यायस्त्वं दर्शयतीत्यर्थः । ननु तर्हि राज्ञः प्राचीनशालादीन्यति हे  
 'औपमन्यव कं त्वमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' [ छा० ५ । १२ । १ ] इति  
 प्रश्ने हे राजन् श्रुतेऽपि श्रुलोको वैश्वानरोऽयं त्वं वैश्वानरमुपास्तेत्यादी  
 व्यस्तोपास्तिषु विधिभ्रुतीनां का गतिरिति चेत्प्राचीनशालादिभिरवग-  
 तं व्यस्तोपास्त्यनुवादेन समस्तोपासनस्य विधेयत्वाद्नुवादकत्वमेव श्रुती-  
 नां गतिरिति । तस्मात्समस्तोपासनमेव ज्याय इति सिद्धम् ॥ ५७ ॥  
 ( अनुष्ठातव्यशाण्डिल्यद्वहारादिविद्यानां वेद्यब्रह्ममिन्नत्वेन मिन्न-  
 त्वम्, अधि० ३३ ) ।

नानाशब्दादिनेदात् ॥ ५८ ॥

एकसगुणब्रह्मोपास्यकाः शाण्डिल्यद्वहारादिविद्याः सन्त्येवमेकमुख्य-  
 प्राणविद्या अपि सन्ति तत्र संज्ञयः । किमेकोपास्यकविद्यानां भेदोऽस्ति  
 न वेति । पादसंगतिफले पूर्ववत् । तत्र व्यस्तोपास्तिषु विधिभ्रुतीनां  
 सत्त्वेऽपि समस्तोपास्तेरेव ज्यायस्त्ववदेकोपास्यकोपास्तिषु प्रत्येकं  
 विधीनां सत्त्वेऽपि समस्तोपास्तेरेव ज्यायस्त्वमिति नास्ति विद्यानां भेद

(श्लो०) तुल्यार्थं बाधित्वा तद्विधेयमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—भ्रम  
 इति । भ्रमः प्राचीनशालादिभिरुपासनस्य समस्तस्य वैश्वानरस्य  
 ज्यायस्त्वं विवक्षितम् । क्रतुवदिति निवर्शनम् । यथा क्रतोर्दर्शपूर्णमासादेः  
 साङ्गस्यानुष्ठेयत्वम् । तथा हि दर्शयति । हि यस्माद्यथोक्तमस्मान्मिस्तथा  
 श्रुतिर्दर्शयति मूर्धा त्वेष इत्यादिना ॥ ५७ ॥

पूर्वाधिकरणे सत्यामपि श्रुतेऽस्त्वादिगुणविशिष्टश्रुलोकादिवैश्वानरो-  
 पासनानां गुणफलभेदश्रुती चोपास्यैक्यमुक्तं तद्वदन्यासामपि ब्रह्मो-  
 पासनानामैक्यं स्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—नानेति ।

(प्र०१००) इति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । एकोपास्यकविद्या नभिव । कुतः । शब्दादिभेदात् । 'वेद्' 'उपासीत' 'स क्रतुं संकल्पं कुर्वति' इत्यादिशब्द-भेदात् । आदिशब्देनोपास्यगुणभेदाच्चेत्पर्यः । यथा यागदानहोमानां कर्मणां यजेत दद्याज्जुषादिति शब्दभेदाद्भेदस्तद्वदिति ब्रह्मव्यम् ॥५८॥

(आत्मनः सगुणोपासनायामेकस्य द्वयोर्ब्रह्मनां चोपासनायां वैकल्पिकनियमकथनम्, अधि० ३५) ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥

याः सगुणब्रह्मादिविद्या उपास्यसाक्षात्करणेन फलहेतवस्तासां किं स्वेच्छया विकल्पसमुच्चयाभ्यामनुष्ठानमृत विकल्प एवेति संशयः । पूर्वपक्षे स्वेच्छया विद्यासु प्रवृत्तेर्पां काचिदेकैव विद्या यावज्जी-वमनुष्ठेति विकल्पोऽपि नास्ति द्विष्टयादयो विद्याः समुच्चये नानु-ष्ठेया इत्यपि नास्तीत्यनियमः फलं सिद्धान्ते विकल्प एवेति नियम इति भेदः । पूर्वाधिकरणेन विद्यानानात्वे सिद्धेऽयं विचारः प्रवर्तते नो चेन्ना-स्तीति हेतुहेतुमद्भावः संगतिः । तत्रानुष्ठाननियमे हेत्वभावाद्यथेच्छ-मनुष्ठानमिति प्राप्ते ब्रूमः । विकल्प एवाऽऽसां विद्यानां युक्तः । कुतः । अविशिष्टफलत्वात् । अविशिष्टं ह्यसां विद्यानामुपास्यसाक्षात्कारार्थं फलम् । तत्रैकया विद्ययोपास्ये साक्षात्कृते विद्यान्तरमफलम् । विरु-द्धोपास्यसाक्षात्कारस्य युगपदयोगाच्च विद्यान्तरं स्पर्धम् ।

तं तमेवेति कीर्त्तये सदा तद्भावमाचितः [ गी० ८ । ६ ] इति मगः ब्रह्मता स्पष्टमेकविद्याया एवानुष्ठेयत्वं दर्शयति । तस्मादुपास्यसाक्षात्कार-द्वारा फलहेतुमृतविद्यैकैवानुष्ठेयति सिद्धम् ॥ ५९ ॥

(श्री०)शाण्डिल्यद्वहरोपकोशलादिविद्या नाना भिन्ना एव । कुतः । शब्दा-दिभेदात् । 'वेदोपासीत' इत्यादिशब्दः । आदिशब्देन रूपाख्यादिभेद-स्तस्मात् ॥ ५८ ॥

पूर्वाधिकरणे शब्दान्तरादिप्रमाणाहुपास्तीनां भेद उक्तस्तद्द्विहापि विकल्पसमुच्चयनियमयोः प्रमाणाभावाद्याथाकाम्यमिति प्रत्युदाहरणे-नाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—विकल्प इति । साक्षात्कारफलहेतुमत्तामां विद्यानां विकल्पः । कुतः । अविशिष्टफलत्वात् । एकस्य साक्षात्कार-फलस्य प्रत्येकं तासां फलत्वात् । एकदा तस्मिन्कृतेऽन्यस्य वैषम्य-मिति भावः ॥ ५९ ॥

(अ० १०१) (विकल्पेन समुच्चयेन वा प्रतीकोपासनाया ऐच्छिकत्वम्, अधि० ६५)

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चैरेरन्

वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥

याश्च प्रतीकोपास्तवो 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत तस्य यथाकामचारो भवति' इत्याद्याः काम्या उपास्यसाक्षात्कारानपेक्षा एवाद्ब्रह्मद्वारा फले हेतवस्तासु पूर्ववत्सदेह उपास्तित्वाविशेषात्पूर्ववद्विकल्पनियम इति प्राप्ते ब्रवीति—काम्यास्त्विति । काम्यास्त्वद्ब्रह्मद्वारा फलहेतवो विद्या यथा-कामं समुच्चैरेन् वा न वा समुच्चैरेन् । पूर्वहेतोरविशिष्टफलत्वस्य विकल्पनियममयोजकस्यात्रामावादित्यर्थः । तथा च प्रतीकोपास्तयो विकल्पेनैवानुष्ठेया उपास्तित्वात्पूर्वोक्तविद्यावदित्यनुमान उपास्यसाक्षात्कारहेतुत्वमुपाधिरिति भावः ॥ ६० ॥

( विकल्पसमुच्चययोर्थाकाम्यम्, अधि० ३६ )

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥

कर्मज्ञेषु श्रेयाधिषु या आभिता विद्यास्तासां किं समुच्चयेनैवाङ्गवदनुष्ठानमुत यथाकाममिति संशयः । पूर्वपक्षे समुच्चयेनानुष्ठानात्कलबाहुल्यं सिद्धान्ते यथाकाममनुष्ठानात्प्रयोगसौकर्यमिति बोध्यम् । तत्र प्रतीकोपास्तीनां स्वतन्त्रत्वाद्यथाकाममनुष्ठानं युक्तमङ्गाभितोपास्तीनामङ्गतन्त्रत्वाद्यथाश्रयभावं : आश्रयाः स्तोत्रादयः । संयुज भवन्ति ।

(श्री०) पूर्वाधिकरणेऽहं ब्रह्मोपासनानामुपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तत्वाद्विकल्पनियम इत्युक्तं तद्व्यतीकोपासनानामपि तत्पर्यन्तत्वाद्विकल्प इति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—काम्यास्त्विति । तुशब्दः काम्यानां विकल्पं ध्यावर्तयति । काम्या विद्या यथाकामं काममनतिक्रम्य तासु वर्तनम् । तमेव कामानतिक्रममाह—समुच्चैरेन्न वेति । तासां न समुच्चयो विकल्पो वेच्छातः । कुतः । पूर्वहेत्वभावात् । पूर्वस्य हेतोः फलैक्यस्य काम्यस्व(स्या)भावात् । अतः फलभूमार्थिनः समुच्चयोऽप्योन्यस्य । ताश्च 'स य एतमेव वायुम्' इत्याद्याः ॥ ६० ॥

पूर्वाधिकरणे प्रतीकोपासनानां भिन्नफलत्वाद्याथाकाम्यमुक्तं तद्व्युक्तं सफलैक्यमङ्गाभितोपासनेषु समुच्चयनियमो न फलभेदस्यानैकान्ति-

[म०३पा०३शु० ६२-६४] महासूतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । ६४१

(म०४०) यथाऽऽभयाणामङ्गानामनुष्ठानस्य भावस्तद्दनुष्ठानस्य भाव इति भृत्युदाहरणेन पूर्णपक्षः ॥ ६१ ॥

शिष्टेभ्य ॥ ६२ ॥

शिष्टिः शासनं विधानमित्यर्थः । यथा प्रतिवेदं विधानं तथा तदा-  
भितोपासनीनां विधानाविशेषाञ्चाङ्गवत्समुच्चयनियम इत्यर्थः ॥ ६२ ॥  
इतश्चैवमेवेत्याह—

समाहारान् ॥ ६३ ॥

अथेदोक्तप्रणवस्य सामवेदोक्तोद्गीथस्य चैवोपासन उद्गात्रा कृते फलमाह श्रुतिः—‘होतृपदनाञ्छैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति’ [ छा० १ । ५ । ५ ] इति । होतृपदनशब्देन होतृशंसनस्थानवाचिना होतृकृतं शंसनाख्यं कर्म लक्ष्यते । उद्गात्रा प्रणवोद्गीथयोरैश्वर्यज्ञानमाहात्म्यात्त्वेन कृतं दुरुद्गीथमपि स्वरादिप्रमादाद्दुष्टमप्युद्गानं होत्रा सम्यक्कृतशस्त्रसहा-  
यादनुसमाहरत्येव ह प्रतिसमाद्धात्येव सलु । होतृकर्मसंबन्धकारस्यैव-  
दोक्तस्य स्ववेदोक्तोद्गीथस्य चैवमेव चिन्तितत्वादित्यर्थः । तथा च वेद-  
द्वयोक्तप्रणवोद्गीथयोरैश्वर्यज्ञानस्येदृशां फलं हुवद्वाख्यं सर्ववेदोक्ताना-  
मप्यङ्गाभितोपासनानां समुच्चयं सूचयति । सर्वोपासनेषु वेदान्तरोक्तो-  
पासनस्य वेदान्तरोक्तोद्गीथादिना संबन्धस्य समानत्वादिति सूत्रकृ-  
त्तात्पर्यम् ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेभ्य ॥ ६४ ॥

उद्गीथोपासनार्थां गुणभूतस्योपास्यस्योकारस्य ‘तेनेर्थं त्रयीं विद्या  
वर्तते [ छा० १ । १ । ९ ] तेनोकारेण वेदत्रयोक्तं कर्म भवतीति सर्व-

(४०) कलादित्याक्षिपति—अङ्गेष्विति । कर्माङ्गेषु ग्रीथादिषु यथाभय-  
भावः । यथैषानाश्रयाः स्तोत्रादयः संभूय भवन्ति एवं प्रत्यया अपि ॥ ६१ ॥

शिष्टेभ्येति । यथाऽऽभयाः स्तोत्राद्वैषो वेदेषु शिष्यन्त एवमाभिता  
अपि प्रत्ययाः ॥ ६२ ॥

समाहारादिति । होतृपदनाञ्छैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति’ इति  
होत्राकर्मण उद्गात्रः स्वकर्मणः क्षत्रस्य समाहारः संधानं तस्माच्छिद्गा-  
त्समुच्चयः ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्येति । विद्यागुणं च विधाभयं सन्तमोकारं वेदत्रयसा-

(ब०५०) कर्मणि साधारण्यस्य श्रवणात्तदाभितोपासनानामपि साधारण्यं समुच्चित्यानुष्ठानमित्यर्थः । यद्वा कर्मगुणानामुद्गीथादीनां सर्वेषां समुच्चित्यानुष्ठानात्मकसाधारण्यमावे हि तदाभितोपासनानां समुच्चयो न भवेन्नैतदस्ति प्रयोगवचनेन सर्वाङ्गग्राहिणा तेषां साधारण्यश्रुतेः । तथा च तदाभितानामुपासनानामपि समुच्चय इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्तपति—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥

शाश्वत्स्वर्थः पक्षव्यावर्तनार्थः । नाङ्गाभितोपासनानामङ्गवत्समुच्चयनियमः 'तत्सहभावाश्रुतेः' । यथाऽङ्गानां सहभावः श्रूयते 'ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं योज्जीव स्तोत्रमुपाकुर्वात् [ तै० सं० ३।१।२।४ ] इत्यादिना तथा तेषामुपासनानां सहभावस्याश्रुतेरित्यर्थः । न चाङ्गतन्त्रत्वमुपासनानां समुच्चयनियमः । अङ्गतन्त्रस्थापि गौक्षोहनस्यानुष्ठानानियमात् । यदुक्तं शिष्टेभ्येति सूत्रेऽङ्गवद्विधानाविशेषात्समुच्चय इति तन्न । तेन हीदमनुमानं लभ्यत उपासनानि समुच्चित्यानुष्ठेयानि विहितत्वाद्गङ्गवदिति । तत्र च ऋत्विर्धत्वमुपाधिः । परं च सूत्रहृत्पोक्तं लिङ्गद्वयमप्रयोजकत्वेन दूषणीयम् ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

दर्शयति च श्रुतिरङ्गाभितोपासनानामसमुच्चयम्—'एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वाँश्चत्विजोऽधिरक्षति' [ छा० ४।१७।१० ] इति । ऋग्वेदादिविहिताङ्गलोपे व्याहृतिहोमप्रायश्चित्ताभिज्ञत्वं ब्रह्मण एवंचित्त्वं, सर्वोपासनानां समुच्चये हि विज्ञानवता ब्रह्मणा परिपात्यत्व-

(द्वि०) धारणं श्रावयति—तेनेयं त्रयीत्यादिना । अथ वा कर्मगुणानामुद्गीथादीनां सर्वप्रयोगसाधारण्यश्रुतेरपि तदाभितानां समुच्चयः ॥ ६४ ॥

समाधत्ते—न वेति । नवेति समुच्चयनियमव्यावर्तनम् । कुतः । तत्सहभावाश्रुतेः । तासामुपासनानां सहभावस्य समुच्चयस्याश्रुतेरश्रवणात् ॥ ६५ ॥

मनु समुच्चयोऽपि श्रूयत इत्यत आह—दर्शनादिति दर्शयत्यपि श्रु-

[म०१ पा०१०१] ब्रह्मासुतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि ।

३४३

(ज०४०)नितरेषामुत्विजां न स्यात्सर्वेषां सर्वविश्वावृत्ति व परिपाल्यत्व-  
कीर्तनं तस्मान्न सर्वोपासनासमुच्चय इति सिद्धम् ॥ ६६ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

(आत्मज्ञानस्य स्वतन्त्रत्वं न क्रत्यर्थत्वम्, अधि० १)

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति वादरायणः ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्वादे परापरब्रह्मविद्यानां गुणोपसंहारोक्त्या परिमाणमवधा-  
रितमिह तासां कर्मनिपेक्षाणामेव पुरुषार्थसाधनत्वं निरूप्यते । तत्र  
कर्मनिपेक्षाणामासां विद्यानां कान्यङ्गानीत्याकाङ्क्षार्था यज्ञादीनि  
बाहिरङ्गाणि शमादीन्यन्तरङ्गाणि च निरूप्यन्त इत्येकविद्याविषयकत्व-  
मनयोः पादयोः संगतिः । तत्र परब्रह्मविद्यामाश्रित्य विचार्यते किमौ-  
पनिषदात्माविद्या कर्मकर्तृद्वारा क्रत्यनुप्रवेशेऽनुत् स्वतन्त्रैव पुरुषार्थ-  
साधनमिति । अत्र पूर्वोत्तरपक्षयोः पूर्वोत्तरकोटिसिद्धिः फलम् । पूर्व-  
पादान्पाथिकरणे कर्माङ्गविद्योक्तिप्रसङ्गाद्ब्रह्मज्ञानस्य कर्माङ्गत्वमा-  
शङ्क्य सिद्धान्तमुपक्रमते—पुरुषार्थ इति । अतोऽस्मादीपनिषदात्म-  
ज्ञानात्स्वतन्त्रात्पुरुषार्थो मोक्षः सिध्यतीति वादरायण आचार्यो  
मन्यते । कुतः । 'तरति शोकमात्मवित्' [ छा० ७ । १ । ३ ] 'ब्रह्म  
वेदं ब्रह्मैव भवति' [ मु० ३ । २ । ९ ] इत्यादिभ्यः केवलविद्याया  
मोक्षहेतुत्वबोधकशब्दादिभ्यः । इवमुपलक्षणम् । सगुणविद्यानामपि  
स्वातन्त्र्येण फलहेतुत्वं तत्तत्फलश्रुतेरिति बोध्यम् ॥ १ ॥

(६०)तिरसहमायम् । 'एवंविद्ध वै ब्रह्मा' इत्यादिना ॥ ६६ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

एवं तावत्पूर्वपादे परापरब्रह्मविद्यानां गुणोपसंहारनिरूपणेन परि-  
माणमवधारितम् । इदानींमासां कर्मनिपेक्षाणामेव पुरुषार्थसाधनत्वं  
निरूप्यते । तत्र विद्यायाः केवलायाः पुरुषार्थत्वमाह—पुरुषार्थ इति ।  
अतो वेदान्तविहिताज्ज्ञानात्पुरुषार्थो भवतीति वादरायण आचार्यो  
मन्यते । कुतः । शब्दात् । 'तरति शोकमात्मवित्' इति श्रुतेः ॥ १ ॥



(ब० ५०) एवं सिद्धान्तमुपक्रम्य पूर्वपक्षपति—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

कर्तृत्वेनाऽऽत्मनः कर्मशेषत्वात्तज्ज्ञानमपि पर्णतावत्कर्मशेषत्वद्वारा क्रत्वङ्गम् । अत्रायं प्रयोगः—तत्त्वज्ञानं कर्माङ्गं फलशून्यत्वे सति कर्माङ्गाभ्यत्वात्पर्णतावदिति । ननु विशेषणासिद्धौ हेतुः 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादिफलश्रुतेः सत्त्वादित्यत आह—पुरुषेति । यथाऽन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु पर्णमयीद्रव्ययजनमानस्थाञ्जनादिसंस्कारप्रयाजादिरूपो ष्वपापश्लोकश्रवणादिकलश्रुतिरर्थवादस्तथाऽत्रापि पुरुषार्थश्रुतिरर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तथा च न हेतोर्विशेषणासिद्धिरिति भावः ॥ २ ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' [ बृ० ३ । १ । १ ] इत्यादौ ब्रह्मविद्यावतां जनकादीनां विद्याया सह कर्माचारदर्शनाल्लिङ्गाद्विद्यायाः स्वातन्त्र्याभावेन कर्माङ्गत्वमित्यर्थः । विदेहानामधिपतिर्जनको नाम राजा बहुदक्षिणसंज्ञेनाश्रमेधेन वा बहुदक्षिणायुक्तेनेजे यागं कृतवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

किंच 'यदेव कर्म विद्यया करोति 'तदेव वीर्यवत्तरं भवति' [ छा० १ । १ । १० ] इति तृतीयाश्रुत्या विद्यायास्तस्याः कर्मशेषत्वस्य श्रवणात् स्वातन्त्र्येण मुक्तिफलत्वमित्यर्थः ॥ ४ ॥

(शे०) शेषत्वादिति । कर्तृत्वेनाऽऽत्मनि कर्मशेषत्वात्तज्ज्ञानमपि ब्रीहिप्रोक्षणादिवद्विषयद्वारेण कर्मसंबन्धो वेति एतस्मिन्नवगतप्रयोजन आत्मज्ञाने वा फलश्रुतिः साऽर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ २ ॥

यथाऽन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु यस्य पर्णमयीत्यादिषु फलश्रुतिरर्थवादस्तद्ब्रह्मात्मविज्ञानदर्शनात्कर्माङ्गत्वे न लिङ्गमित्यत आह—आचारोति । आचारो जनकादीनां ब्रह्मविदाम् । 'जनको ह' इत्यादिना ॥ ३ ॥

नन्वयमाचारः श्रुतेरभावेऽप्रयोजक इत्यत आह—तदिति । तस्या विद्यायाः कर्माङ्गत्वस्य 'यदेव विद्यया' इत्यादिश्रुतेः ॥ ४ ॥

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS  
50 EAST LAKE STREET  
CHICAGO, ILLINOIS 60607  
TEL: 773-707-3000  
WWW.CHICAGO.PRESS.EDU

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS  
50 EAST LAKE STREET  
CHICAGO, ILLINOIS 60607  
TEL: 773-707-3000  
WWW.CHICAGO.PRESS.EDU

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS  
50 EAST LAKE STREET  
CHICAGO, ILLINOIS 60607  
TEL: 773-707-3000  
WWW.CHICAGO.PRESS.EDU

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS  
50 EAST LAKE STREET  
CHICAGO, ILLINOIS 60607  
TEL: 773-707-3000  
WWW.CHICAGO.PRESS.EDU

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS  
50 EAST LAKE STREET  
CHICAGO, ILLINOIS 60607  
TEL: 773-707-3000  
WWW.CHICAGO.PRESS.EDU

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS  
50 EAST LAKE STREET  
CHICAGO, ILLINOIS 60607  
TEL: 773-707-3000  
WWW.CHICAGO.PRESS.EDU

(अ० २७०) न लिप्यते त्वं न लिप्यस इत्यर्थः । इतः प्रकारादन्वया प्रकारान्तरनास्ति यतः कर्मलोपो न स्यादित्यर्थः ॥ ७ ॥

तस्माद्ब्रह्मविद्या कर्माङ्गमेवेति प्राप्ते समाधत्ते—

अधिकोपदेशानु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

तुः पूर्वपक्षनिरासार्थः । यदुक्तं तत्त्वज्ञानं कर्माङ्गं फलशून्यत्वे सति कर्माश्रयत्वादिति तन्न हेतोर्विशेष्यासिद्धेः । कुतो विशेष्यासिद्धिः । अधिकोपदेशात् । कर्मकर्तुः संसारिणः कर्माङ्गादधिकस्याकर्तुरसंसारिणाश्चिन्मात्रस्य वेदान्तेषूपदेशात् । तथा च तत्त्वज्ञानं चिन्मात्राश्रयमेवेति भवति विशेष्यासिद्धिः । एषं च तत्त्वज्ञानफलश्रुतेरपि नार्थवादात्त्वम् । तस्मात्पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति यन्मतं बादरायणस्य तदेवमेव तथैवेत्यर्थः । अधिकोपदेशासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—तद्दर्शनादिति । तस्याधिकस्याऽऽत्मनो 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' [ मु० १ । १ । ९ ] इत्यादिश्रुतिसहस्रेषु दर्शनादित्यर्थः ॥ ८ ॥

यदुक्तमाचारदर्शनादिति तत्राऽऽह—

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

विद्यायाः कर्मशेषत्वाभावेऽप्याचारदर्शनं तुल्यमेव । तथा हि 'एतद्ध स्म धे तस्यूर्ध्वं शिद्धान्तोऽग्निहोत्रं न ज्ञहर्वाचकिरे' [ कौ० २ । ५ ] इत्यादिका श्रुतिर्विदुषः कर्माचाराभावं दर्शयति । तुशब्देनाकर्माङ्गत्वलिङ्गदर्शनस्य प्राबल्यं सूचितम् । न हि ब्रह्मविद्यावर्ता अनकादीनां कर्माचारदर्शनं विद्यायाः कर्मशेषत्वे लिङ्गं तेषामहमभिमानाभावेन चोदनाप्रवृत्तस्यैवभावात् । तत्कृतकर्मणश्चोदनालक्षणत्वाभावेनाकर्मतया तदाचारदर्शनस्य विद्यायाः कर्मशेषत्वबोधने दुर्बलत्वादिति ॥ ९ ॥

(श्री०) इति । कुर्वन्नेवेत्यादि । चकारो नियमाभावेऽपि ज्ञानस्य पुरुषार्थतामाह ॥ ७ ॥

आद्यसूत्रोक्तं सिद्धान्तमाह—अधिकेति । तुशब्दो जैमिनीयं मतं व्यावर्तयति । कुतः । अधिकोपदेशात् । असंसारिणो निरुपाधिकस्य परमात्मनः सर्वेषु वेदान्तेषूपदेशात् । यन्मतं बादरायणस्य तत्तथैव स्थितं तद्दर्शनात् । 'यः सर्वज्ञः' इत्यादिभ्यः ॥ ८ ॥

ननु कर्माचारादित्यत आह—तुल्यमिति । तुशब्दः पूर्वस्याऽऽचारस्य विधान्तरविषयत्वमाह । तुल्यं समानमाचारस्य दर्शनम् । 'एतद्ध स्म' इत्यादिना ॥ ९ ॥

[न०३५०४८० मङ्गलसूत्रवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । ३४७  
१०-१२]

(न०५०)तच्छ्रुतेरिति यदुक्तं तत्राऽऽह—

असार्धत्रिकी ॥ १० ॥

‘यदेव विद्यया करोति [ छा० १ । १ । १० ] इति श्रुतिरसार्धत्रिकी  
सर्वविद्याविषया न भवति प्रकृतोद्गीथविद्यामात्रपरत्वात् । तथा च न  
श्रुतिबलाद्ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वमित्यर्थः ॥ १० ॥

यदप्युक्तं समन्वारम्भणादिति तत्राऽऽह—

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

‘तं विद्याकर्मणी समन्वारमते’ [ बृ० ४ । ४ । २ ] इत्यत्र विभागो  
बोधः । विद्याऽन्यं पुरुषमन्वारमते कर्मान्यमिति शतवत् । यथा शत-  
माभ्यां दीपतामित्युक्ते विभज्य दीपते पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशद्वन्पस्मै  
तद्वदित्यर्थः । वस्तुतोऽस्य समन्वारम्भवाक्यस्य समुद्भूतिविषयत्वाभावा-  
द्विद्याङ्गत्वेन विहितोद्गीथाद्विद्या प्रतिपिच्छा च नञ्छ्रीदर्शनादि-  
रूपा गृह्यते । तादृशविद्यायाः फलारम्भे कर्मसाहित्येऽपि न क्षतिरिति  
मन्तव्यम् ॥ ११ ॥

यद्युनरुक्तं तद्गतो विधानादिति तत्राऽऽह—

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

‘आचार्यकुलाद्भेदमधीत्य’ [ छा० ८ । १५ । १ ] इति वाक्ये वेदा-  
ध्ययनमात्रवतः कर्म विधीयते नाऽऽत्मज्ञानवत् इत्यर्थः । मात्रपदेनौपनि-  
षदात्मज्ञानमेव व्याख्येयं न कर्मकाण्डार्थापबोधः कर्मज्ञानं विनाऽनुष्ठा-  
नासंभवादिति ॥ १२ ॥

(श्री०) यदेवेत्यादिश्रुतेरुक्तमित्यत आह—नेति । न सर्वविषयेषां श्रुतिः  
किं तु प्रकृतोद्गीथविद्याविषयैव ॥ १० ॥

तं विद्या’ हत्यादिना फले समुच्चय उक्त इत्यत आह—विभागोऽयं  
न समुच्चयः । विद्ययाऽन्यस्याऽऽत्ममर्णं कर्मणाऽऽन्यस्य शतवत् ।  
यथा शतमाभ्यां दीपतामित्यत्र विभागस्तद्भूत् ॥ ११ ॥

ननुक्तं तद्गतो विधानादित्यत आह—अध्ययनेति । अध्ययनमात्र-  
वतो न ज्ञानवतः ॥ १२ ॥

(न० १०) यच्चोक्तं नियमाच्चेति तत्राऽऽह-

नाविरोधात् ॥ १३ ॥

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ [ ई० २ ] इति नियमवाक्यं न ज्ञानिद्विषयं विद्वान्-  
निति विशेषाभावादित्यर्थः ॥ १३ ॥

अस्य नियमवाक्यस्य ज्ञानिविषयत्वेऽप्यविरोधो ज्ञानस्तुत्वर्थत्वा-  
दित्याह-

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

इयं विदुषः कर्मानुमतिः कर्मानुज्ञा ब्रह्मविद्यास्तुतये ज्ञातव्या ।  
स्तुतिश्चैवं यावज्जीवं कर्म कुर्वन्त्यपि त्वयि विदुषि न कर्म लेपाय भवति  
विद्यासामर्थ्यादिति । अस्मिन्पक्षे नान्यथेतोऽस्तीत्वस्यायमर्थः—एवं कर्म  
कुर्वन्त्यपि त्वर्यतीति ब्रह्मभावाद्विद्यालम्बादन्यथा संसारापचिर्नास्ति यतो  
न कर्म लिप्यत इति ॥ १४ ॥

अपि च ब्रह्मविद्यायाः प्रत्यक्षं फलं दृशयन्ती श्रुतिः कालान्तरमा-  
विफलककर्माद्भ्रत्यं वारयतीत्याह-

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

एके विद्वांसः प्रत्यक्षीकृतविद्याफलाः परोक्षकर्मफलसाधनं प्रजादिकं  
कामकारेण स्वेच्छया त्यक्तवन्त इति श्रूयते—‘एतन्नृ स्म वै तत्पूर्वं विद्वांसो  
सत्सः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽर्थ  
लोकः’ [ षृ० ४ । ४ । २२ ] इति । विद्यायाः कर्मानुज्ञाभावेऽपि विदुषः  
स्वेच्छया कर्मसाधनयजादित्यागो लिङ्गमनेन सूत्रेण सूच्यत इति वा

(श्री०) यदप्युक्तं नियमाच्चेत्यत आह—नाविशेषेति । त्वदुक्तं न कुर्वन्नेवे-  
त्तत्र विदुषः कर्माणि वारयति ॥ १३ ॥

\* प्रकरणसामर्थ्याद्विद्वानेव संबध्यत इत्यत आह—स्तुतय इति ।

विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानमेतत् ॥ १४ ॥

ननु कर्मश्रुतेर्विद्यास्तावत्प्रमित्यत्रापि किं नियामकमित्यत आह—

\* अत्रयामाश्लेषार्थं श्रुतकस्यम् ।

१ अ. ‘थ इति विशेष्यत्वमवयवात् ॥ १३ ॥ ३ अ. यावन्तो विदुषः स्तुत्या देवात्सवापु-  
ष्टेयवयात् ।

[अ०११०१५० मङ्गलमृतवर्षिणीदीपिकान्धां समेतानि । ३४५  
१६-१७]

(अ०१००)बोधयम् । विद्यायाः कर्मान्जन्त्वे हि कर्मसाधनत्यागो न स्यादिति, सुत्यर्थस्तु येषां नोऽस्माकमयमपरोक्ष आत्माऽयं लोकः प्रत्यक्षं फलं ते वयं किं प्रजया करिष्याम इति निश्चित्याग्निहोत्रादिकर्म न कृतवन्त इति ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

किंच कर्मानुष्ठानहेतोः क्रियाकारकफलविभागस्य समस्तस्याविद्या-  
कृतस्य विद्यासाधनस्योपमर्दमभावमामनन्ति—‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवा-  
भूतत्वेन कं पश्येत्’ [ वृ० २।४।१४ ] इत्यादिना । तथा च ब्रह्म-  
विद्यायाः कर्मविरोधित्वाच्च कर्मान्जन्त्वमिति भावः ॥ १६ ॥

विद्यायाः कर्मान्जन्त्वे हेत्वन्तरमाह—

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु यतिषु ब्रह्मविद्याऽवगता न हि तस्याः कर्मान्जन्त्वं संभ-  
वति । यतीनामग्निहोत्रादिकर्माभावात् । तथा चायं प्रयोगः विद्याक-  
र्मन्वी नाङ्गाङ्गिमूले मिथो व्यभिचारित्वाद्दुर्गमननीतिक्रमत्ववदिति । ननु  
यत्याश्रमसद्भावे किं मानमिरयत आह—शब्दे हीति । वेदे ह्यूर्ध्वरेतसा-  
माश्रमाः श्रूयन्ते ‘त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽव्ययं दानमिति प्रथमस्तप  
एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽव्ययन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽ-  
वसाद्यन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति’ [ छा०  
२।२३।१ ] इति ‘ब्रह्मचर्यादेव प्रश्नजेत्’ इत्यादौ । सुत्यर्थस्तु  
स्कन्धशब्द आश्रमपरः । यज्ञादिधर्मप्रधानो गार्हस्थ्यश्रम एकस्तपः-

(र्षि०)कामेति । अवगतपरमार्थाः प्रजां न कामयन्ते कामकारणेति सुत्य-  
र्थतिर्देशः । चकारो विद्वदनुभवं दर्शयति ॥ १५ ॥

ननु ब्राह्मणादिशरीरे कथं कर्माभाव इत्यत आह—उपेति । ‘यत्र  
त्वस्य’ इत्यादिना क्रियाकारकादेरुपमर्दमामनन्ति । चकारस्तादृकक-  
त्यर्थं समुचिनोति ॥ १६ ॥

तथाऽपि कथं गृहस्थस्य कर्माभाव इत्यत आह—ऊर्ध्वेति । ऊर्ध्व-  
रेतःस्वाश्रमेषु विद्या श्रूयते न तत्र कर्माणि । चकारः कर्मिणां विद्या-

(अ०१पा०१)प्रधानो वानप्रस्थाश्रमो द्वितीयस्तृतीयः स्पष्टः। एतेषामाश्रमिणा-  
मनित्यफलमाकृत्वं ब्रह्मसंस्थस्य संन्यासिनो नित्यफलत्वमाह—ब्रह्मसंस्थ  
इति। ब्रह्मणि प्रत्यग्रूपे सम्पत्कृनिष्ठा यस्य स ब्रह्मसंस्थः परिव्राडित्यर्थः।  
तस्माद्ब्रह्मविद्या न कर्माङ्गं किंतु स्वतन्त्रा मुक्तिफलेति सिद्धम् ॥ १७ ॥

‘अथो धर्मस्कन्धाः’ इत्यादिश्रुतिराश्रमसद्भावे प्रमाणमित्युक्तं तदा-  
क्षिपति—

(ऊर्ध्वरितोरूपाश्रमाणामस्तित्वव्यवस्थापनं लोककामिनामाश्रमिणां  
ब्रह्मनिष्ठानर्हत्वम्, अधि० २)

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानस्यान्तरङ्गसाधनं पारिव्राज्यमत्र निरूप्यत इति स्फुटे साध-  
नाभ्यापपादसंगती। अत्र संशयः किं पारिव्राज्यमनुष्ठेयं न वेति। पूर्व-  
पक्षे पारिव्राज्यस्वामावाद्द्विद्यायाः कर्माङ्गमिचारेण कर्माङ्गत्वमिति  
फलं सिद्धान्ते तत्सत्त्वाद्द्विद्यास्वातन्त्र्यमिति बोध्यम्। तत्र पारिव्राज्यं  
प्रमाणाभावाच्चानुष्ठेयमित्याह—परामर्शमिति। ‘अयः’ इति श्रुतौ  
चतुर्णामाश्रमाणां परामर्शमनुवादमात्रं जैमिनिराचार्यो मन्यते न विधी-  
यते। इयं श्रुतिरचोदना लिङ्गादिशून्या। अस्याः श्रुतेर्ब्रह्मसंस्थता  
स्तुतिपरत्वं चेति चकारार्थः। तथा चान्यपराद्वाक्यादनुवादमात्रेण  
नाऽऽश्रमसिद्धिरिति भावः। तयःशब्देनैव वानप्रस्थयत्वाश्रमयोरनुवाद  
इति द्रष्टव्यम्। निन्द्यमानत्वाच्च पारिव्राज्यं नानुष्ठेयमित्याह—अपवदति  
हीति। ‘वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते’ [ तै० सं० १। ५

(श्री०)नधिकारमाह। त एव न सन्तीत्यत आह—शब्दे हि। ‘अथो धर्म-  
स्कन्धाः’ इत्येतस्मिञ्छब्देऽवगम्यन्ते ॥ १७ ॥

पूर्वाधिकरण ऊर्ध्वरितःस्वाश्रमेषु विद्यायाः सत्त्वात्कर्मनिरपेक्षताच-  
स्थोक्ता। इदानीं त एवाऽऽश्रमा न सन्तीत्याक्षिपति। अथ वा  
पुरुषार्थकरणे ज्ञानस्यासहायस्य मोक्षफलत्वमुक्तं तन्न संभवति गृह-  
स्थादीनामपि ब्रह्मनिर्दृष्टत्वस्य संस्थानामिधानात्। तदनुष्ठितकर्मणां

\* अ. विधायकशब्दाभावादित्यर्थः।

(अ०५०१)२।१ इत्याद्या श्रुतिरग्न्युद्घासनप्रधानं पारिव्राज्यमपवदतीत्यर्थः । यत्याश्रमातिरिक्ताश्रमान्तरमग्निहोत्रादिविधानसामर्थ्यात्प्रामाणिकमेव 'त्रयः' इत्यादिश्रुतावनुद्यते यत्याश्रमस्तु न श्रुतिसिद्धः किंतु स्मृतिसिद्ध एवानुद्यते स्मृतिश्च यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिप्रत्यक्षश्रुतिविरोधाद्प्रमाणामिति पूर्वपक्षमभिमानः । यद्यपि ब्रह्मचर्यादिव प्रवजेदिति प्रत्यक्षा श्रुतिरस्ति तथाऽपीयं श्रुतिर्नास्तीति कृत्वा चिन्तेयमिति मन्यम् ॥ १८ ॥

समाधत्ते—

अनुष्ठेयं वाद्रायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

पारिव्राज्यमनुष्ठेयं भगवान्वाद्रायणो मन्यते । कुतः । 'त्रयः' इत्यादिश्रुतौ प्रामाणिकगार्हस्थ्येन साम्यश्रवणादित्यर्थः । अयं भावः— तपःशब्देन वानप्रस्थाश्रमस्यैवानुवादः संन्यासिनां तपःशून्यत्वात् । ब्रह्मसंस्थ इत्यनेनैव यत्याश्रमानुवादः । आश्रमचतुष्टयानुवादेन ब्रह्मसंस्थतास्तुतिपरत्वमेव वाक्यस्य । तथा चान्वयपरादपि वाक्यात्मतीव्यमाना आश्रमाः सिध्यन्ति देवताधिकरणन्यायात् । न च वीरहेत्यादिश्रुतिविरोधस्तस्याः श्रुतेरज्ञानादग्न्युद्घासनाद्यनाहिताग्निविषयत्वादिति ॥ १९ ॥

एवमस्य वाक्यस्यानुवादत्वमङ्गीकृत्यानुवादस्य प्रमाणान्तरसापेक्षत्वादाश्रमाणां प्रामाणिकत्वमुक्तमिदानीमस्मिन्नेव वाक्य आश्र-

(अ०५०१) च ज्ञानसहकारिपतीतिरित्याक्षिप्यते—परामर्शमिति । जैमिनिराचार्य-स्त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यादिशब्दे निर्दिष्टमूलानामाश्रमाणां परामर्शमात्रं मन्यते । कुतः । अपोदना । यतो विधायकशब्दाभाव इत्यर्थः । मनु विधिः कल्पनीय इत्यत आह—अपवदति हि । हि यस्मात् 'वीरहा वा' इत्यादिनाऽपवदति । अतो न कल्प्यो विधिः । चकारो गृहस्थस्य मसिद्धविरोधमाह ॥ १८ ॥

परिहरति—अनुष्ठेयमिति । अनुष्ठेयमाश्रमान्तरं वाद्रायण आचार्यो मन्यते वेदे श्रवणात् । न चान्वयपङ्क्त्यादिविषयं तत् । कुतः । साम्यश्रुतेः । गार्हस्थ्येन त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यादिना ॥ १९ ॥



(अ० १०१) भाषां विधिकल्पनमन्येथाऽऽस्वानुवादकत्व आश्रमविधापकवा-  
क्यान्तरकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्सिद्धे वाक्ये विधिमात्रकल्पनायाश्च  
लघुत्वादित्याह-

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

अस्मिन्वाक्य आश्रमाणां विधिरेव नानुवादः । न चानेकाश्रमवि-  
धाने वाक्यभेदः स्यादिति बौद्धमपूर्वत्वेनाऽऽश्रमाणां विधेरावश्यक-  
त्वेन वाक्यभेदस्येष्टत्वात् । एकवाक्यप्रतीतावपि तस्यागेनापूर्वार्थविधौ  
हृष्टान्तमाह—धारणवदिति । महापितृयज्ञे भुचि प्रक्षिप्तं हविराहवनीयं  
प्रति यदानीयते तत्र भूयते—‘अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्वेदुपरि हि देवे-  
भ्यो धारयति’ इति । तत्र सुग्दण्डावस्थात्समिद्धारणविष्येकवाक्य-  
त्वस्योपरि हीत्यादेरनुवादतया प्रतीतावपि सुक्स्थहविरुपरि समिद्धा-  
रणस्यापूर्वत्वादेकवाक्यतामङ्गेन विधिर्यथा कल्पितस्तथेहापीत्यर्थः ।  
वस्तुतस्तु ब्रह्मसंस्थत्वमेव पारिव्राज्यलक्षणमत्र वाक्ये ऋषिधीयत आश्र-  
मत्रयानुवादेनानित्यफलत्वेनाऽऽश्रमत्रयनिन्दया ब्रह्मसंस्थत्वस्यैव नित्य-  
फलत्वेन स्तूपमानत्वाद्यत्तयते तद्विधेयमिति न्यायात् । न च ब्रह्मसं-  
स्थत्वस्य योगिकार्थस्य गृहस्थादेरपि संभवात्कथं ब्रह्मसंस्थत्वं परिव्राज  
एवेति वाच्यं गृहस्थादीनां स्वस्वकर्मासक्ततया ब्रह्मसंस्थत्वायोगात्परि-  
शिष्यमाणः परिव्राडैव ब्रह्मसंस्थ इति । तथा च नान्यस्मिन्पक्षे वाक्य-  
भेद इति तस्मात्पारिव्राज्यस्य प्रामाणिकत्वात्तेषां च कर्माभावात्सिद्धं  
ब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्यम् ॥ २० ॥

(उद्गीथावपवस्योकारस्य ध्येयत्वम्, अधि० ३) ।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

उद्गीथाद्विद्यासु भूयते—‘स एव उद्गीथो रसानां रसतमः परमः’

(श्री०) ननु तावताऽपि विधिर्न सिध्येदित्यत आह—विधिरिति । वाशब्दो  
विष्वभार्यं निराकरोति । विधिरेवायमपूर्वार्थत्वात् । धारणवत् । यथा  
‘उपरि हि देवेभ्यो धारयति’ इत्यत्र तद्वत् । सति वाऽऽश्रमान्तरे  
ब्रह्मसंस्थत्वं न कर्मिणामित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

एवं तावदनुष्ठेयमाश्रमान्तरं गार्हस्थ्येन साम्यश्रुतेरित्युक्तम् । तर्हि

\* अ. घ. सति वाऽऽश्रमान्तरे ब्रह्मसंस्थत्वं न कर्मिणामित्यभिप्रायः ।

१ अ. ‘न्यथा स्थस्तु’ । २ अ. ‘न्यथा मागन्तरात्सत्वे’ । ३ अ. ‘ति । श्रुताश्रितोऽश्रमरूप-  
लीयति’ । ४ अ. ‘ति वाऽऽश्रम’ ।

(अ० १०१) [छा० १।१।३] इत्यादि । तत्र संशयः । किमिदं कर्माङ्गोद्गीथस्तु-  
तिमात्रमुतोद्गीथोपासनार्थां गुणविधाचकामिति । पूर्वपक्ष उद्गीथमुपासी-  
तेत्यादेः सर्वस्यापि स्तुतिमात्रत्वात्कर्माङ्गाभितोपासनानुष्ठानासिद्धिः-  
सिद्धान्ते कर्माङ्गाभितोपासनार्थां विधेयत्वाद्नुष्ठानसिद्धिरिति । एवं  
चाङ्गपरतन्त्राणामपि विद्यानामनुष्ठानसमर्थनेन पुरुषार्थत्वेन पुरुषार्थहे-  
तुत्वोक्तावङ्गानाभितत्रयविध्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वं किमु वक्तव्यमिति  
सिद्धेः पादसंगतिः । तत्रानुष्ठेयाश्रमसाम्यश्रुतेः पारिव्रान्द्यस्वानुष्ठेयत्ववत् ।  
'इयमेव जुहुरादित्यः' इत्यादिकर्माङ्गस्तुत्या रसतमत्वादिवाक्यस्य साम्या-  
स्तुतिमात्रत्वमिति वृद्धान्तेन पूर्वपक्षयति-स्तुतिमात्रमिति । रसतमत्वा-  
दिवाक्यं सर्वमपि कर्माङ्गविधिस्तुतिमात्रं कर्माङ्गोद्गीथाद्युपादानादिति  
चेन्न । कुतः । अपूर्वत्वात् । कर्माङ्गोद्गीथाद्युपासनानां रसतमत्वादिशु-  
णानां चापूर्वत्वान्मानान्तरायास्तत्वाद्यायादिवह्निधेयत्वमेवेत्यर्थः । प्रकृत  
एव विधिसंभवे प्रकरणांतरगततोद्गीथादिविधिस्तुतिक्षणकल्पनमन्या-  
स्पतरमिति भावः ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

'उद्गीथमुपासीत' [ छा० १।१।६ ] 'सामोपासीत' [ छा० २।२।  
१ ] इत्यादिविधिसंभवाच्च विधेयत्वमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

( औपनिषदाख्यानानां विद्यास्तावकत्वम्, अधि० ४ ) ।

पारिष्टुवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

वेदान्तेषु तत्र तत्र 'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवुर्भैत्रेयी च

(श्री०) रसतमत्वादीनामङ्गाभितत्वेन 'स्वर्गो लोक आहवनीयः' इत्या-  
दिस्तुतिसाम्यास्तुत्यर्थत्वमिति प्रत्युदाहरणेन सूत्रावयवेनाऽऽक्षिप्याय-  
पयान्तरेण समाधत्ते—स्तुतिमात्रमिति । 'स एव रसानां रसतमः'  
इत्यादि स्तुतिमात्रं न विधिः । कुतः । उद्गीथादिकर्माङ्गानां स्ताव-  
कत्वेनोपादानादिति चेन्न । कुतः । अपूर्वत्वात्, रसतमाद्यर्थस्य ॥ २१ ॥

ननु विधिकल्पनमेव दोष इत्यत आह—भावेति । भावशब्दो विधि-  
शब्द उपासीतेत्यादिः । चकारोऽपूर्वाधिगमने विधिकल्पनं न दोष  
इत्याह ॥ २२ ॥

एवं तावदुद्गीथादिस्तुत्यर्थत्वात्सकाशाद्युपास्यविषयसमर्पकत्वं रसत-

(म० व०) कात्यायनी च' [बृ० ४। ५। १] इत्याद्या आख्यायिकाः श्रूयन्ते तत्र संशयः । किमेताः पारिप्लुवार्या उत संनिहितविद्यास्तुत्यर्था इति । पूर्वपक्षे कथानामासां पारिप्लुवमवगोशेषत्वात्तवेकवाक्यतापन्नशब्दबोधविद्यायाः प्राधान्याभावेन पुरुषार्थहेतुत्वासिद्धिः सिद्धान्ते तस्मिन्निरिति मन्तव्यम् । एवं फलपर्यवसानादेवास्य पादसंगतिर्बोधा । तत्र रसतमत्वादेरुद्गीयादिस्तुत्यर्थत्वापेक्षयोपास्यविषयसमर्पकत्वस्य ज्यायस्त्ववत्कथानामपि विद्यास्तुत्यर्थत्वापेक्षया पारिप्लुवशेषत्वं ज्याय इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—पारिप्लुवार्या इति चेदिति । अश्वमेधे पुत्रादिपरिवृताय राज्ञे यन्नानाविधकथाकथनं तत्पारिप्लुवशब्देनोच्यते तद्व्यां एवोपनिषत्कथा अपीत्यर्थः । समाधत्ते—नेति । कुतः । विशेषितत्वात् । 'पारिप्लुवमाचक्षीत' इत्युपक्रम्य 'मनुर्वैश्वतः राजा' [शं० ब्रा० १। १। ४। ३३] इत्यादिवाक्यशेषे कासांचिदेव कथानां पारिप्लुवशेषत्वेन विशेषितत्वादित्यर्थः । तस्माद्वैपनिषदकथानां न पारिप्लुवशेषत्वम् ॥ २३ ॥

मनु तर्हि किमर्था इमाः कथा इत्याशङ्क्य संनिधिवलाद्विद्यार्था इत्याह—

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

तथा शोक्तयुक्त्या पारिप्लुवार्थत्वामावे सति संनिधिवलाद्विद्याशेषत्वं कथानां युक्तमेकवाक्यतोपबन्धात् । संनिहिततत्तद्विद्यैकवाक्यतादर्शना-

(दी०) मत्वादेर्ज्याय इत्युक्तम् । तर्ह्यार्षानामपि विद्यास्तुत्यर्थत्वोत्सका-  
ज्ञात्पारिप्लुवशेषत्वे(त्वं) ज्यायोऽनुष्ठानपर्यवसानत्वसंभवादिनि दृष्टान्तेन  
सूत्रावयवेनाऽऽक्षिप्य तदवयवेन समाधत्ते—पारिप्लुवार्या इति । 'अथ  
ह याज्ञवल्क्यस्य' इत्याद्युपाख्यानश्रुतयः पारिप्लुवार्या इति चेन्न ।  
कुतः । पारिप्लुवमाचक्षीतित्युपक्रम्य 'मनुर्वैश्वतः' इत्यादिना विशेषे-  
यित्वात् ॥ २३ ॥

मनुपलक्षणार्थं तद्विशेषणं स्यादित्यत आह—तथेति । चकार उप-  
लक्षणार्थत्वं वारयति । तथाऽऽख्यायानां पारिप्लुवार्थत्वेऽसति संनिहित-

(सं०५०)द्वित्यर्थः। कथानां विद्यास्तुतिलक्षकत्वेन विद्याज्ञानसौकर्यार्थत्वेन च विद्यैकवाक्यत्वं बोध्यम्। तस्मात्संनिहितविद्याशेषत्वमेव कथानामिति सिद्धम् ॥ २४ ॥

एवं पुरुषार्थाधिकरणे ब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्यं प्रतिपाद्य तत्त्वसक्त्यां प्राप्तं विचारं परिसमाप्य पुरुषार्थाधिकरणस्य फलमाह—

( आत्मबोधस्य कर्मानपेक्षत्वम्, अधि० ५ )

अत एव चाग्नीन्धनायनपेक्षा ॥ २५ ॥

किं ब्रह्मविद्या स्वफले मोक्षे शेषत्वेन यज्ञादिकर्मण्यपेक्षते न वेति संदेहे कथानां विद्याशेषत्वेनापेक्षावत्कर्मणामपि फले विद्याशेषत्वेनापेक्षा न्याय्या, यज्ञादिभ्युत्वा विविद्विषयां विनियुक्तयज्ञादीनां विषयसौन्दर्यलभ्याणां तस्यामनन्वयाद्विच्छादिविषयज्ञानसाध्यमोक्षेऽन्वयस्य संभवाद्पेक्षत इति प्राप्ते ब्रूमः । आद्याधिकरणे ब्रह्मविद्यायाः कर्मशेषत्वनिरासेन यत्पुरुषार्थहेतुत्वमुक्तं तदतःशब्देन अपराभूयते । अत एव ब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतुत्वादेव । अग्नीन्धनशब्देन स्वस्वाश्रमविहितानि कर्माणि लक्ष्यन्ते । विद्याफले मोक्षे कर्मापेक्षा नास्ति श्रुतिज्ञानस्येव रजतभ्रमनिवृत्तावित्यर्थः । अर्थ भावः—यज्ञादिभ्युत्वा विविदिष्यायामेव कर्मणां विनियोगाश्रयणान्न मोक्षे कर्मापेक्षा । न च विषयसौन्दर्यलभ्याणां तस्यामनन्वयः कर्मणामिति दार्ढ्यं ब्रह्मज्ञाने चोत्पत्तिप्रतिबन्धककल्मषनिवृत्तिजननहारेच्छायामनन्वयसंभवाद्दिति । अस्याऽऽद्याधिकरज्जफलपरत्वान्न पृथक्पादसंगत्याद्यपेक्षा ॥ २५ ॥

(३०)विद्योपयोगो न्याय्यस्तद्गतोपाख्यानानाम् । कुतः । एकवाक्यतोपबन्धान् । तत्र तत्राऽऽख्यानानां विद्याभिः संबन्धस्योपलम्भान् ॥ २४ ॥

पूर्वाधिकरण आख्यानानां विद्यानां संनिधेर्विद्याशेषत्वमुक्तम् । तर्हि विद्याश्रवणे वा यज्ञेनेत्यादिवाक्येन यज्ञादीनां विद्यायां विनियोगात्तेषां विद्याशेषत्वमिति ब्रह्मन्तेनाऽऽक्षिप्य समाचक्षे—अत एवेति । प्रकारः कारणान्तरं व्यावर्तयति । यतो ज्ञानं पुरुषार्थोऽत एव विद्यायाः स्वफलेऽग्नीन्धनादिकर्मणामनपेक्षा ॥ २५ ॥

\* अ. अनुवाचः किन्ते ।

(ब०ब०)(विद्यायाः स्वोत्पत्तौ कर्मसापेक्षत्वं, अधि० ६)

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेश्चवत् ॥ २६ ॥

ब्रह्मविद्या किं स्वोत्पत्तौ कर्माण्यपेक्षते न वेति संदिग्धः । पूर्वपक्षे ज्ञानार्थं यज्ञाद्यनुष्ठानाभावाः फलं सिद्धान्ते तदनुष्ठानावश्यंभावः । अत्र यज्ञादीनां श्रमादीनां च ज्ञानसाधनानां निरूपणादस्ति पाद-संगतिः । तत्र यथा ब्रह्मविद्यायाः प्रमात्वाच्छुक्तिज्ञानस्यैव स्वफले कर्मनिपेक्षा तथा स्वोत्पत्तावपि न कर्मनिपेक्षा प्रमात्वादेवेति वृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । विद्यायाः स्वोत्पत्तौ सर्वेषामाश्रमकर्मणामपेक्षाऽस्ति । कुतः । यज्ञादिश्रुतेः । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दातेन तपसाऽनाज्ञकेन' [बृ० ४।४।२२] इत्येवंरूपायाः कर्मणां सर्वेषां ज्ञानसाधनत्वबोधिकायाः श्रुतेः । यद्यप्यत्र विविदिषन्तीति वर्तमानापदेशः प्रतिभाति न विविदिषन्त्याऽपि यज्ञादीनां ज्ञानसंयोगस्यापूर्वत्वाद्भिधिः कल्प्या ब्रह्मानुभवकामो यज्ञादि कुर्वात् । न चानुभवस्य प्रमाणाधीनत्वाच्च यज्ञाद्यपेक्षेति वाच्यम् । मलिनान्तःकरणस्य सत्यपि प्रमाणेऽनुभवानुत्पत्तेरनुभवोत्पत्तिप्रतिबन्धकान्तःकरणमालिन्यनिवृत्त्यादिपरम्परया ज्ञानस्य यज्ञादिजन्यत्वेन तदपेक्षाया आवश्यकत्वादिति । ननु परम्परया ज्ञानोत्पत्तौ कर्मनिपेक्षावन्मोक्षेऽप्यपेक्षाऽस्तु तत्राऽऽहम्भवदिति । यथाऽम्बो योग्यताबलाद्ब्रधचर्यायां विनियुज्यते न लाङ्गलाकर्षणे तद्वत्कर्मणां मोक्षे योग्यत्वाभावात्सापेक्षेत्यर्थः ॥ २६ ॥

(क्षि०)पूर्वाधिकरणे विद्याफले कर्मनिपेक्षोक्ता यथा फले तद्वदुत्पत्तावपीति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—सर्वेति । चकाराद्ब्रह्मविद्याया उत्पत्तावपेक्षत्वं वारयति । सर्वापेक्षा सर्वस्याऽऽश्रमादिकर्मजातस्य विद्याया उत्पत्तावपेक्षा । कुतः । यज्ञादिश्रुतेः । 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिना विद्यायाः । अश्ववदिति । योग्यतानिर्द्देशनम् । सद्म्बो रथस्य वहनेऽपेक्षितो न लाङ्गलस्यैवं विद्याया उत्पत्तौ कर्मनिपेक्षा न ज्ञानफले ॥ २६ ॥

[म०३श०५००  
२५-२८] ब्रह्माद्युतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि ।

३५७

(म०४०) ज्ञानोत्पत्तौ बहिरङ्गमुक्त्याऽन्तरङ्गमाह—

शमदमाद्युपेतः स्यान्नयाऽपि तु तद्विधे-  
स्तदङ्गतया तेषामवस्थानुष्ठेयत्वात् ॥२७॥

यदि कश्चिद्यज्ञादीनां ज्ञानसाधनेत्वे विध्यमावाङ्मन्त्रविद्यार्थं नानु-  
ष्ठेयत्वं मन्येत तथाऽपि शमदमाद्युपेतस्तु अङ्गविद्यार्थां स्यादेव । कुतः ।  
तद्विधेः । 'तस्मादेवविच्छान्तो दान्त उपरतस्तिष्ठुः समाहितो  
मूत्वाऽऽत्मन्वेवाऽऽजमानं पश्यति' [बृ०४।१।२३] इति तदङ्गतया विद्या-  
हेतुत्वेन तेषां शमादीनां विद्यानाद्विहितानां च तेषामवस्थानुष्ठेयत्वादि-  
त्यर्थः । यज्ञादीनां ज्ञानसाधनेत्वे विधिर्नास्तीति परभ्रान्तिमभ्युपेत्येवमुक्तं  
भगवता सूत्रकृता—तथाऽपि त्विति । वस्तुतो विधिरस्तीत्युक्त्वावेति  
बोधयम् । यस्मादेवमात्मानं विदित्वा पापेन कर्मणा न लिप्यते तस्मादेवै-  
विच्छमाद्युपेतो मूत्वा विचारयेदिति श्रुत्यर्थः । अत एवविदिति विद्यासं-  
निधानाच्छमादीनामन्तरङ्गत्वं विविदिषासंनिधानाद्यज्ञादीनां बहिर-  
ङ्गत्वं बोध्यम् ॥ २७ ॥

( आपदि सर्वाज्ञान्यनुज्ञानम्, अधि० ७ )

सर्वाज्ञानुमतिश्च प्राणान्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

बृहदारण्यके श्रूयते प्राणसंवादे ' न ह वा अस्थानज्ञं जग्धं भवति '  
[बृ० ६।१।१४] इति । अस्य प्राणोपासकस्य यज्जन्तुमात्रस्य  
जग्धं भक्षं तत्सर्वमनज्ञं न भवति हादनीयमेव भवतीत्यर्थः । तत्र संशयः

(क्षि०) तर्हि कर्माण्येव सन्तु न ज्ञानोत्पत्तावन्यदनुष्ठेयमित्यत आह—शमद-  
मेति । यद्यपि कर्माणि विद्योत्पत्ता(स्य) र्थानि तथाऽपि नैतान्यन्तरङ्गाणि  
अतः शमदमाद्युपेतः । तुशब्दः शक्त्यानिर्करणार्थः । कुतः । तद्विधेः ।  
तेषां शमादीनां ज्ञान्त इत्याद्युपक्रम्य पश्येदिति विधेः । स विधिः  
स्वतन्त्र इत्यत आह—तदङ्गतया । तस्या विद्याया अङ्गत्वेन विधिर्यत-  
स्ततो विद्यार्थिना तेषामवस्थानुष्ठेयत्वादनंतरङ्गसाधनत्वं तेषाम् ॥ २७ ॥

पूर्वाधिकरणे विविदिषन्तीति पञ्चमलकाराभयणेन विधिरुक्तः ।  
एवं नानज्ञं भवतीति विधिरिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समापत्ते सर्वाज्ञिति ।

( ३०१० । ) किमिषं प्राणोपासकस्य सर्वाङ्गानुमतिः शमादिवद्विद्याङ्गं विधीयत उत स्तुत्यर्थं कथयत इति । पूर्वपक्षे प्राणविदो भक्ष्याभक्ष्यविभागा सिद्धिः सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति । अत्र ब्रह्मविद्यासाधनस्य प्राणविद्यायाः स्वतन्त्रपुरुषार्थहेतोः स्तुत्यर्थं सर्वाङ्गानुज्ञानमिति निरूपणात्पादसंगतिः । तत्र विद्यासंनिधानाच्छमादिवद्विद्याङ्गमेव सर्वाङ्गानुमतिरिति प्राते ब्रूमः न सर्वाङ्गानुज्ञानं विद्याङ्गं विधीयते विध्यमावाच्छादिसर्वादस्याङ्गस्य प्राणोपासकेनानुमशक्यत्वाच्च न ह्यशक्ये विधिः संभवतीति तस्मात्प्राणविद्यायां प्राणस्याङ्गमिदं सर्वमिति यच्चिन्तनं विहितं तत्पक्षं सार्थोऽयमर्थवादः । इदमभिप्रेत्याऽऽहसूत्रकारः 'सर्वाङ्गानुमतिश्च प्राणात्यये' इति । सावधारणमिदं सूत्रं प्राणात्यय एव हि परस्यामापदि सर्वमङ्गं सुरावर्ज्यं विद्वांसमविद्वांसं प्रति वाऽऽदमीषत्वेनानुमतं न स्वस्थं प्रति । तद्दर्शनात् । अभक्ष्यभक्षणस्याऽऽपत्काल एव क्षुतौ दर्शनादित्यर्थः । तथा हि 'मटचीहतेषु कुरुषु' [ छा० १ । १० । १ ] इत्येतस्मिन्ब्राह्मणे चाक्रायणः किलपिः कुरुदेशे दुर्भिक्षे जाते क्षुत्पीडितो देशान्तरमागतः कदाचिद्भस्तिपालकदेशसंनिधिदस्तेन हस्तिपालकेनार्थमक्षितान्कुत्सितान्माषान्वाचित्वा भक्षितवांस्तेनोदपानं गृहाणेत्सुक्ते सत्युच्छिष्टं न पीतं स्यादिति प्रतिषिध्य किमेते माषा उच्छिष्टा नेति हस्तिपालकेनोक्ते नेत्यत्र हेतुमाह चाक्रायणः । कुल्माषमक्षणं यद्यहं न कुर्यां तर्हि मे जीवनमेव न स्याद्दुदपानं तु तडाकाविषु स्वेच्छातो भविष्यतीति एवंमिष्योच्छिष्टान्माषान्खादित्वा शिष्टाञ्जायाचै द्दवौ । तथा च मर्तुः स्वभावज्ञया निहितानुचरदिनेऽपि भक्षितवानिति श्रुतम् । एवं स्वपरोच्छिष्टपर्युषिताङ्गमक्षणं दर्शयन्त्याः क्षुतेरयं भावः—परस्यामापदि प्राणनिर्वाहार्थमभक्ष्यमपि मक्षणीयं स्वस्थावस्थायां विदुषाऽपि तन्न कर्तव्यमिति । मटचीशब्देन पाषाणवृष्टयो रक्तवर्णाः क्षुद्रपक्षिविशेषा वा ग्राह्याः । तस्मात्सर्वाङ्गानुज्ञानमर्थवादमात्रम् ॥ २८ ॥

( श्लो० ) 'न ह वा एवंविद्दि' इत्यादिना सर्वाङ्गानुमतिरनुज्ञाता साऽपि प्राणात्यये घोरायामापदि । कुतः । तद्दर्शनात् । तस्य प्राणात्यये सर्वाङ्गमक्षणस्य 'मटचीहतेषु' इत्यादिना दर्शनात् ॥ २८ ॥

अवाधाच्च ॥ २९ ॥

(१०५०) ब्रह्मामह्यविभागशास्त्रस्यावाधाचार्यवादमात्रमित्यर्थः । अन्यथा सामान्यज्ञानं विशेषपरतया नियम्यमानं वाधितं स्यादिति भावः ॥ २९ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥

अपि च परस्यामापदि विदुषोऽपिदुपक्ष सर्वाङ्गमक्षणं स्मर्यते—

जीवितात्यपमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्महा [मनु० १०।१०५] इति ॥

तथा 'मद्यं नित्यं ब्राह्मणो बर्जयेत्' [ गी० सू० २ । २० ] इति । तस्मात्त्वस्येन विदुषाऽपि नाभयं मक्षयितव्यम् ॥ ३० ॥

स्मृतिमूलभूतां श्रुतिमप्याह—

शब्दधातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

अस्यामह्यमक्षणस्य प्रतिषेधकः 'तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न विवेत्' इत्येवंरूपः शब्दधातुकामकारे स्पेच्छाकृतप्रयुक्तिनिरासौ वर्तत इत्यर्थः । तस्मात्प्राणविदुः सर्वाङ्गानुज्ञानमर्थवाद्ब्रह्मात्रमिति सिद्धम् । श्रुतौ तस्मादिति स्रष्टव्याह्वयस्यात्पुष्पसुरासकस्य मरणान्तप्रावक्षितस्य सत्त्वादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

(विद्यानां नामाद्यमधर्माणां च यज्ञादीनां सकृदनुष्ठानम्, अधि० c)

(श्लो०) ननु कुतस्य कस्मात्संकोचः क्विपत इत्यत आह—अवाधेति । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' इत्यादेः शास्त्रस्य । चशब्दाच्छिष्टाचारस्य ॥ २९ ॥

ननु शास्त्रद्वयं विद्वद्विद्वद्विषयं भवत्वित्यत आह—अपीति । 'जीवितात्यपमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः' इत्यादिना साधारण्यमपिशब्दो दृश्यतेऽपीत्याह ॥ ३० ॥

ननु निषेधाभावे नेदं बुद्धिसामर्थ्यात्कल्पयितुं शक्यमित्यत आह—शब्देति । अकामकारः कामकारनिवृत्तिप्रयोजनः कठानाम् । 'तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न विवेत्' इति सर्वत्र प्रतिषेधकः शब्दः । अतोऽस्माद्विधेरभावात्तोऽप्युपपन्नः । चकारो लौकिकं प्रतिषेधमाह ॥ ३१ ॥



विहितत्वाच्चाऽऽश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

(न० ५०) सवपिशा [ ब० सू० ३ । ४ । २६ ] इत्यत्र स्वस्वाश्रमनित्यकर्मणां तत्त्वज्ञानसाधनत्वमुक्तं तानि नित्यकर्माण्यमुमुक्षुणा कर्तव्यानि न वेति संदेहः । तत्र ' तमेतं वेदानुवचनेन ' [ बृ० ४ । ४ । २२ ] इत्यादिना विद्यासाधनत्वनिर्णयान्न कर्तव्यानीति प्राप्तम् । यद्वा सर्वाज्ञानुमतेः शास्त्रान्तरविरोधात्स्तुतित्ववद्याधज्जीवमित्वादिकर्मनित्यत्वशास्त्रविरोधाद्यज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वश्रुतिः स्तुतिमात्रम् । अन्यथा नित्यत्वेनावस्था-नुष्ठेयत्वं ज्ञानार्थत्वेन काम्यतयाऽवस्थानुष्ठेयत्वाभावश्चेत्येकस्मिन्कर्माणि विरुद्धधर्मद्वयं स्यादिति प्राप्ते ब्रूमः । अमुमुक्षुणाऽप्याश्रमकर्मानुष्ठेयमेव ' यावज्जीवमग्निहोत्रम् ' इत्यादिना विहितत्वादित्यर्थः ॥ ३२ ॥

नन्वेवं सति विद्यासाधनत्वं कर्मणां न युक्तं विरुद्धधर्मद्वयापत्तेरिति ह्युक्तमित्यत आह—

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

विद्यासहकारित्वेनापि सत्त्वशुद्ध्यादिविद्वान्ना विद्यासाधनत्वेनापि नित्य-कर्माण्यनुष्ठेयानि यज्ञादिश्रुत्या विद्यार्थत्वेन विहितत्वादेवेत्यर्थः । यथैकस्य स्नादिरत्यस्य ' स्नादिरो यूपो भवति ' ' स्नादिर्न वीर्यकामस्य ' इति शास्त्रद्वयात्कत्वर्थत्वेन नित्यत्वं पुरुषार्थत्वेनानिरयत्वं चाविरुद्धं तद्वि-हापि शास्त्रद्वयबलात्कर्मणां नित्यत्वं काम्यत्वं चाविरुद्धम् । सिद्धे हि वस्तुनि विरुद्धधर्मद्वययोगो वाद्यको न तु साध्ये कर्मण्युपपत्त्याऽप्यनुष्ठानसंभवाद् । न च काम्यत्वे यावज्जीवमिति नित्यत्वश्रुतिविरोधः काम्या-नुष्ठानेनैव नित्यसिद्धिरिति तात्पर्यम् । अत्र पूर्वपक्षे यज्ञादिश्रुतेः स्तुतिपरत्वं फलं सिद्धान्ते विधायकत्वमिति बोध्यम् ॥ ३३ ॥

(सं०) पूर्वाधिकरणे यथा शास्त्रान्तरविरोधात्सर्वाज्ञानुवचनं विद्यायाः स्तावकमुक्तं तद्वद्विधिविधायचनमपि विद्यायाः स्तावकमिति । अन्यथा कर्मणामनेकत्वाभावाच्चानुमुक्षोरेवानुष्ठेयत्वमिति हृदयान्तेनाऽऽश्लिष्य समा-धत्ते—विहितेति । चकारस्त्वर्थः । स हि मुमुक्षोश्चानुष्ठेयत्वं कर्मणां वारयति क्वित्वनुष्ठेयममुमुक्षुणाऽप्याश्रमकर्माग्निहोत्रादिकम् । कुतः । विहितत्वाद् । ' यावज्जीवमग्निहोत्रम् ' इत्यादिना ॥ ३२ ॥

एवं चेद्विद्यासाधनानि न स्युरित्यत आह—सहेति । सहकारित्वं साधनत्वं यज्ञेनेत्यादिना विद्यासाधनत्वेनापि विहितत्वादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

( ब० ५०१ ) मनु ज्ञानकाण्डस्थपञ्चादिश्रुत्या कर्मकाण्डस्थपञ्चाद्यनुवादेन ज्ञानसाधनत्वविधानं युक्तं किंत्वपूर्वपञ्चादीनामेव प्रकरणमेवेन कर्मभेद-  
स्याऽऽवश्यकत्वादित्यत आह—

सर्वथाऽपि त एवोक्तयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

सर्वथाऽपि नित्यत्वेन ज्ञानार्थत्वेन चानुष्ठेया यज्ञादयो धर्मास्त एव न कर्मभेदोऽस्ति । कुतः । उभयलिङ्गात् । श्रुतिलिङ्गात्स्मृतिलिङ्गाद्येत्यर्थः । तथा हि श्रुतिलिङ्गं ' यज्ञेन विविदिपन्ति ' इति । यज्ञादिशब्देन प्रसिद्धपञ्चाद्यनुवादेन विद्यासाधनत्वं विधीयते न तु ' मासमग्निहोत्रं जुहति ' [ कात्या० श्रौ० २४ । ४ । २४ ] इत्यत्रेव प्रसिद्धाग्निहोत्रात्कर्मान्तरम् । तत्र हि जुह्वतीतिविधायकाख्यातप्रकृतिभूतस्य जुहोते-  
रर्थोऽग्निहोत्रमिति युक्तः । तस्य प्रसिद्धाग्निहोत्राद्भेदो जुहोतेः साध्य-  
होतृव्यक्तियचनत्वेन सिद्धाग्निहोत्रपरामर्शानुपपत्तेः । \* अत एव +तदे-  
कार्थकाग्निहोत्रेशब्दस्य न नित्याग्निहोत्रानुधादकत्वं व्यक्तियचनत्वादेव ।  
× प्रकृते तु न यज्ञादिविधायकाख्यातप्रकृत्यर्थो विविदिषाया एव तदर्थ-  
त्वात् । तस्मादाख्यातप्रकृत्यर्थोऽग्निहोत्रार्थकैर्यज्ञादिशब्दैः प्रसिद्धपञ्चाद्य-  
नुवादेन विद्यासंयोगमात्रमपूर्वं विधीयत इति न कर्मभेदः । स्मृतिलि-  
ङ्गमपि—

अनाथितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः [ भ० गी० ६ । १ ]

इति प्रसिद्धमेव कर्म ज्ञानार्थं दर्शयति । तस्मान्न कर्मभेदः ॥ ३४ ॥

( श्रौ० ) मनु तर्हि दर्शयौर्गमासादीनां विद्याकृत्वेन विहितानां मन्यत्वं प्रसिद्धेभ्य इत्यत आह—सर्वथेति । सर्वथाऽप्याधमकर्मपक्षे विद्यासह-  
कारित्वपक्षेऽपि च त एवाग्निहोत्रादयो धर्मा अनुष्ठेयाः । कुतः । उभय-  
लिङ्गात् । श्रुतिस्मृतिलिङ्गात् । ' विविदिपन्ति ' इत्यादिका श्रुतिः ।  
कर्मफलमित्यादिका स्मृतिः । ते एव हि प्रसिद्धबहुत्वज्ञानां कर्मणां  
विनिधौर्गं कुर्वत्यावेकत्वे लिङ्गं तस्मात् ॥ ३४ ॥

\* य. जुहोतेऽर्थेका । + य. प्रहारात्त्वात् । × य. विविदिपन्तीत्यन

१ य. 'हेमन्व' । २ य. 'तस्य' । ३ य. तं शिवायकाशिलस्यै कर्मभेदोऽयं ।

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

(ब० व०) रागादिभिः क्लेशैः 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते'  
[ छा० ८।५।३ ] इत्याद्या श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादिराश्रमकर्मणो मनःशुद्धि-  
द्वारा ज्ञानसाधनत्व आत्मानमिभवं लिङ्गं दर्शयतीत्यर्थः । तस्मात्सर्वे-  
षामाश्रमनित्यकर्मणां ज्ञानार्थत्वमिति सिद्धम् ॥ ३५ ॥

(अनाश्रमिणो ज्ञानसंभावनम्, अधि० ९)

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

अस्वप्नराले वर्तमानो विधुरस्तस्य किं ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति  
न वेति संदेहे यज्ञादिश्रुत्याऽऽश्रमकर्मणामेव ज्ञानसाधनत्वविधानादा-  
श्रमिणामधिकारेऽपि विधुरकृतकर्मणां ज्ञानहेतुत्वाभावात्साध्यधिकार  
इति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते ब्रूमः । अन्तरा चापि । आश्रममन्तरा वर्त-  
मानस्याप्यस्यधिकारः । तस्य ब्रह्मविद्याधिकारस्यानाश्रमिणो रैकादेः  
श्रुतौ स्मृतौ च दर्शयित्वात्वर्थः । पूर्वपक्षेऽनाश्रमिणां जपादीनां विद्याहे-  
तुत्वासिद्धिः फलं सिद्ध्यान्ते तत्सिद्धिरिति बोध्यम् ॥ ३६ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

संवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महा-

(टी०) ननु साधनसंपन्नस्य यदि विद्यायां कश्चनानिश्चयः श्रुतो वा वृत्तो वा  
स्यात्तदा यज्ञादीनां सहकारित्वं कल्प्यमानमुचितं स्यादित्यत आह—  
अनभिभवमिति । 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येण' इत्यादिना ।  
चकारोऽत्र प्रत्यक्षमप्याह ॥ ३५ ॥

पूर्वाधिकरणे नित्यादीनां यज्ञादीनां विद्यायां पृथक्नियोगाच्च नित्या-  
नित्यसंयोगवियोगविरोध इत्युक्तम् । मा भूद्गृहस्थाश्रमकर्मणि विरोधो  
विधुरादिकर्मणि स स्यादित्याक्षिप्य समाधत्ते—अन्तरेति । अन्तरा  
विधुरादीनामन्तरालवर्तिनां विद्यायामधिकारः । कुतः । तद्दृष्टेः । तस्या-  
धिकारस्य रैकादिषु दृष्टेः । तुकारस्त्वन्तरालवर्तिनामनधिकारं व्याव-  
र्तयति । चकारोऽन्येषामप्यधिकारं समुच्चिनोति ॥ ३६ ॥

नन्विदं दर्शनमस्मार्तमित्यत आह—अपीति । संवर्तप्रभृतीनामन्त-

सं० २५०४५० ब्रह्माहुतर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । ३६३  
३८-३९]

(ब०ब०)योगित्वं स्मर्यत इतिहासे ॥ ३७ ॥

ननु रैकादीनां जन्मान्तरकृतादपि कर्मणो विद्यासंभवाच्च तेषां  
विद्यादर्शनमाधुनिकानाश्रमिणो विद्याधिकारे लिङ्गं विद्याहेतुभूतकर्मा-  
भावादित्यत आह—

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

अनाश्रमिणोऽपि जपोपासनादेवताराधनादिभिः कर्मविशेषैर्ज्ञानहे-  
तुमिरस्ति विद्यायामनुग्रह इत्यर्थः । तथा हि—

अप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।

इति स्मृतिर्ब्राह्मणमात्रसंबन्धित्वं जपस्य दर्शयन्ती विधुरस्यापि  
विद्यायामधिकारं दर्शयति । तस्माद्दस्त्वनाश्रमिणोऽधिकारः ॥ ३८ ॥

ननु यदि विधुरस्यापि ब्राह्मणवर्णमात्रसंबन्धिजपान्नैव विद्यासि-  
द्धिस्तर्ह्यश्रमिणोः व्यर्थमित्यत आह—

अतस्त्वितरज्ज्यापो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

अतस्त्वनाश्रमित्वादितरदाश्रमिणो बहुज्ञानसाधनसमानाधिकरणे  
ज्यायः शीघ्रमेव विद्याहेतुः श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात् । 'तेनेति ब्रह्मवि-  
द्युण्वक्कुरैजसम्' ( बृ० ४ । ४ । ९ ) इति श्रुतौ पुण्यकृत्वविशेषण-  
रूपश्रुतिलिङ्गाच्चेत्यर्थः । तेन ज्ञानेनेति ब्रह्म प्राप्नोति ब्रह्मचित्पुण्यकृ-  
त्स्वाश्रमोक्तकर्मकृतेजसि परमात्मन्यात्मत्वेन वर्तत इति तैजसः । तत्र

(सि०)राजवर्तिनां महायोगित्वं पुराणे ॥ ३७ ॥

ननु कर्महीनानामद्युद्धान्तःकरणानां कथं विद्यायामधिकार इत्यत  
आह—विशेषेति । तेषामपि जपोपवासादिकर्मविशेषैरनुग्रहः । अका-  
राजन्मान्तरकृतरपि ॥ ३८ ॥

एवं वेदाश्रमकर्मणामनुष्ठानं व्यर्थमित्यत आह—अत इति । तुशब्द  
आश्रमकर्मणामनुष्ठानस्वविपर्ययात् । अतोऽन्तराजवर्तित्वादितरदाश्र-  
मवर्तित्वं ज्यायः श्रेष्ठं विद्यासाधनम् । कुतः । श्रुतिस्मृतिलिङ्गाच्च ।  
श्रुतिस्थलिङ्गम् तेनेति ब्रह्मचित्पुण्यकृत् इत्यादि । स्मृतिलिङ्गम्

'अनाश्रमी न तिष्ठेत् दिनमेकमपि द्विजः ।

संपत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रं चरेत्' ॥

(न०१०)पुण्यकृत्वविशेषणादाश्रमित्वं ब्रह्मप्राप्तिहेतुतया ज्याय इति गम्यते ॥ ३९ ॥

नन्वा(न्वना)श्रमिणामपि कर्म विद्याहेतुश्चेदुत्तमाश्रमात्पूर्वाश्रमं प्राप्त-  
स्य कर्म विद्याहेतुरिति किमु वाच्यमिति कैमुतिकन्यायसंभत्वाऽऽक्षेपे  
समाधत्ते—

( आश्रमिणामवरोहाभावनिरूपणम् , अधि० १० )

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि  
नियमातद्रूपामावेभ्यः ॥ ४० ॥

किमुत्तमाश्रमात्पूर्वाश्रमं प्राप्तस्य कर्म विद्याहेतुर्वा न वेति सदेहः ।  
पूर्वपक्ष आश्रमप्रच्युतस्याऽऽश्रमिणः कर्मणो विद्याहेतुत्वाभाव आश्रम-  
ज्यायस्त्वं न स्यादिति फलं सिद्धान्ते प्रच्युतेरप्रामाणिकत्वादाश्रमज्या-  
यस्त्वमिति मन्तव्यम् । तत्राऽऽश्रमात्प्रच्युतस्यापि कर्म ज्ञानहेतुरिति प्राप्ते  
ब्रूमः । तद्भूतस्य प्राप्तोत्तमाश्रमस्यातद्भाव उत्तमाश्रमात्प्रच्युतिर्न कथ-  
मपि संभवतीति जैमिनेरप्याचार्यस्य संमतम् । अपिशब्देन स्वस्य  
मादरायणस्य संमतमेवेति दर्शितम् । कुतः । अरण्यमियादित्यादिनि-  
यमात् । अरण्यशब्देनैकान्तिकोपलक्षित उत्तमाश्रम उच्यते तमिषाद्-  
च्छेदित्वर्थं शास्त्रमार्गः । तस्मादुत्तमाश्रमान्न प्रत्यवरोहेदित्युपनिषद्ब्रह्मस्य-  
मित्यर्थः । अतद्रूपशब्देन प्रत्यवरोहबोधकभ्रुत्यभाव उच्यतेऽभावशब्देन  
शिष्टाचाराभावः । ततोऽप्याश्रमप्रत्यवरोहो न युक्त इत्यर्थः । तस्मात्प्रच्यु-

(क्षि०)इत्यादि तस्मात् । चकारस्तान्भ्यां विहितत्वमप्याह ॥ ३९ ॥

पूर्वाधिकरणेऽनाश्रमिकर्मणामपि विद्यासाधनत्वमुक्तम् । एवं चेदा-  
श्रमभ्रष्टानामपि तद्देवानाश्रमिकर्मत्वेन विद्यासाधनत्वमिति दृष्टान्ते-  
नाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तद्भूतस्येति । तुल्यञ्च उत्तमाश्रमाधिकृतस्याऽऽ-  
मरणं तस्मिन्नेवावस्थानमाह । तद्भूतस्य संन्यासाश्रमिणोऽतद्भावोऽत-  
दाश्रमावस्थितस्तत्परित्यागमात्रं वा नेति जैमिनेराचार्यस्य मतं किमु  
मादरायणस्य । कुतः । नियमातद्रूपामावेभ्यः । नियमनं नियमस्ततो न  
पुनरेवादित्यादिः । अतद्रूपं यथा ब्रह्मचर्यादाश्रमत्रयगमनं तद्भूयते शब्दयते

[७०१७०१७०१७] ब्रह्मासुतवर्षिणीदीपिकाम्यां समेतानि । ३६५

(४०५०)नेत्रप्रामाणिकत्वाच्च प्रच्युतस्य कर्म विद्याहेतुरिति सिद्धम् ॥४०॥  
एवं प्रत्यवरोहोऽज्ञास्त्रीय इत्युक्तम् । यदि प्रमादाप्रत्यवरोहो नैष्ठिक-  
ब्रह्मचारिणा कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्तमस्ति न चेति संदेहे नास्तीति  
पूर्वपक्षमाह—

( अष्टोत्थरतसः प्रायश्चित्तसद्भावाः, अधि० ११ )

न चाऽऽधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

पूर्वं प्रच्युतस्य कर्म न विद्याहेतुरित्युक्तमिदानीं प्रच्युतस्यापि  
कृतप्रायश्चित्तस्य कर्म विद्याहेतुरिति पूर्वसिद्धस्योऽभ्युत्थानस्यापवादोऽस्ति-  
गतिः । पूर्वपक्षे प्रच्युतस्योऽभ्युत्थानस्य पातित्त्वेवेति फलं सिद्धान्ते  
कृतप्रायश्चित्तस्य तस्य फलसिद्धिरिति मन्तव्यम् । ' ब्रह्मचार्यवर्षिणी  
वैकृतं गर्दभमालमेत, इति प्रायश्चित्तं श्रुतं तदधिकारलक्षणे 'अवकीर्ण-  
पशुश्च तद्द्विधाधानस्याप्राप्तकालत्वात्' [ जै० सू० ६।८।४।२२ ]  
इत्यत्र निर्णीतम् । अवकीर्णशब्देन बोधो निषिक्तं रेत उच्यते तदस्या-  
स्तीत्यवकीर्णो तस्य यः पशुः स लौकिकाग्नी होतव्यो यथोपनयकाले  
लौकिकाग्नी होमस्तद्द्विधाधानस्य पत्नीपरिग्रहोत्तरकालतया पूर्वमप्राप्तकाल-  
त्वाविति । तद्विदमधिकारलक्षणे सिद्धं प्रायश्चित्तमाधिकारिकम् ।  
तदपि वैदिकस्यावकीर्णिनो नैवास्ति । कुतः ।

आकृष्टो नैष्ठिकं धर्मं वस्तु प्रच्यवते पुनः ।

प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुभ्येत आत्महा ॥

(४०६)नैवे संन्यासादिव्य आश्रमान्तरम् । अमावश्यं शिष्टाचारस्य संन्या-  
सादीनां गार्हस्थ्य(?)स्य स्वीकारस्तोष्यः ॥ ४० ॥

पूर्वाधिकरणे शास्त्रामावाञ्ज तत्प्रत्यवरोह इत्युक्तम् । तद्देव शास्त्रा-  
मावाञ्ज तेषां प्रायश्चित्तमित्याक्षिपति—न चेति । अधिकारलक्षणे षष्ठा-  
ध्याय उक्तमाधिकारिकम् । 'अवकीर्णपशुश्च तद्द्विधाधानस्याप्राप्तकाल-  
त्वात्' [ पू० मी० सू० ६।८।२२ ] इति । अवकीर्णपशुः 'यो ब्रह्म-  
चारी स्त्रियमुपेयास्त गर्दभं पशुमालमेत' इति ब्रह्मचारिणः स्त्रीयमने  
गर्दभः पशुः सोऽपि तद्द्विधमनयनहोमवत् । यथोपनयनहोमो लौकिकाग्नी  
तद्द्विधमपि पशुलौकिक एव । कुतः । आधानस्य द्वारसंग्रहपुःसरस्य

\* अ. य. कलत्राप्रकारणोपो निषयो ( व उ ) लर्गः ।

(त्र० व०) इति । पतनानुमानात् । अनिवर्त्यपातित्वश्रुत्यनुमापकस्मरणात् । तस्य प्रायश्चित्तस्यायोगादिवर्धः ॥ ४१ ॥

समाधत्ते—

उपपूर्वमपि त्वेके प्रावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

नेदं महापातकं येनोक्तप्रायश्चित्ताभावः स्यात् । 'अपि त्वेके' आचार्या उपपदपूर्वकमेवेदं पातकं मन्यन्ते यद्गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र गमनं तस्मादेतस्योपपातकत्वाद्गुपकुर्वाणस्येव नैष्ठिकस्याप्युक्तप्रायश्चित्तभावमिच्छन्त्युपमयोर्ब्रह्मचारित्वे सत्यबंकीर्णत्वापिशेषात् । अज्ञानवत् । यथा ब्रह्मचारिणो मधुमांसाशिनो ब्रतलोपः पुनः संस्कारश्च तद्व्यापश्चित्ताभावस्य शास्त्रप्रसिद्धभावात्प्रायश्चित्तस्य च तत्सत्त्वोत्पापश्चित्तं पुनर्गुक्तमन्युपगन्तुम् । अस्मिन्नर्थे यववराहाधिकरणसंगतिमाह—तदुक्तमिति । 'यवमयस्वरुर्भवति' 'वाराही उपानहानुपमुञ्चते' इत्यत्र यववराहशब्दाभ्यां किं प्रियञ्जुकृष्णशकुन्योर्ग्रह उत दीर्घश्चकसूकरयोरिति संदेहे

(श्री०) ब्रह्मचारिणोऽप्राप्तकालत्वादिति यदुक्तं तदपि न नैष्ठिकब्रह्मचारिण एवं प्रायश्चित्तं कृतम् । 'आरुढो नैष्ठिकं धर्मम्' इत्यादिनांऽप्रतिबन्धे (समाधे) यस्य पतनस्यानुमानात्स्मरणात् । अतश्छिन्नशिरस इव प्रति-  
क्रियामावाप्नोति कस्य प्रायश्चित्तायोगादिति पूर्वपक्षः ॥ ४१ ॥

सिद्धान्तमाह—उपपूर्वेति । तुशब्दः प्रायश्चित्ताभार्यं व्यावर्तयति । एक आचार्या गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र ब्रह्मचर्यं च्यवनमुपपूर्वमपि उपपातकमप्याहुः किमुत प्रायश्चित्तम् । अज्ञानवत् । यथा मधुमांसादिमक्षण उप-  
कुर्वाणस्य पुनः संस्कारः प्रायश्चित्तं तद्वत् । तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'समा-  
विप्रतिपत्तिः स्यात्' 'शास्त्रस्था वा तस्मिन्निवृत्त्यात्' यववराहाधिकर-  
णपूर्वपक्ष आर्यम्लेच्छयोर्बवराहादिषु समा विप्रतिपत्तिः स्यादिति सूत्रं  
सिद्धान्ते तु यववराहादिशब्दानामार्यप्रसिद्धानामेव स्वीकार इत्ये-  
तदर्थं सूत्रं शास्त्रस्था वा तस्मिन्निवृत्त्यादिति । वाशब्दो म्लेच्छप्रसिद्धिं  
व्यावर्तयति । शास्त्रस्थैर्बवप्रसिद्धिः स्वीकरणीया । कुतः । तस्य शास्त्रस्य

१ य. च शास्त्रप्रसिद्धिस्तथा । २ य. 'शास्त्रस्था' । ३ क. एम् । कुतः । भा० । ४ क. 'प्रतिबन्धे' ।

(स०१०) उभयत्र प्रयोगसान्पादिकल्प इति प्राप्ते विषयानुष्णशकुन्योः शास्त्रप्रसिद्धमाभाषादीर्घश्लकसूकरयोश्च 'यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ते, अथैते मोद्माना इवोत्तिष्ठन्ति' 'यराहं गावोऽनुधावन्ति' इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धिसत्त्वात्तयोरेव ग्रहणमिति प्रमाणलक्षणे सिद्धान्तितं तथेहापीत्यर्थः । तस्मात्प्रायश्चित्तं न पश्यामीति स्मृतिः कृतप्रायश्चित्तेनाप्यवकीर्णिना सह व्यवहारामाये पत्नगौरवं सद्भिः कर्तव्यमित्येतत्परैस्त्वदोषः ॥ ४२ ॥

( ब्रह्मोर्ध्वरेतसः प्रायश्चित्तस्याऽऽमुष्मिक्कशुद्धिजनकत्वं तादृशशुद्धिमतो व्यवहारानर्हत्वं च, अपि० १२ )

बहिस्तुभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

कृतप्रायश्चित्तेन सह शिष्टाचाररूपं कर्म किं विद्यासाधनं न वेति संदेहे प्रागुक्तप्रायश्चित्तेनैव तस्य शुद्धत्वाद्दिद्यासाधनत्वमिति पूर्वसिद्धं हेतुमुपजीव्य पूर्वपक्षे सिद्धान्तः । ऊर्ध्वरेतसां स्वाधमात्मच्युतिर्महापातकमुपपातकं चाऽस्तु, उभयथाऽपि ते कृतप्रायश्चित्ता अपि शिष्टैर्वह्निष्कतंन्याः 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' 'आरुद्रपतितं विप्रं दृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत्' ।

इत्यादिनिन्दास्मृतेः । शिष्टाचाराच्च । न ह्यवकीर्णिना सह शिष्टानामध्ययनाद्याचारोऽस्ति । तस्मात्प्रायश्चित्तेन परलोकसिद्धेनापि तेन सह कृतधवणादिकं न विद्यासाधनमिति फलितम् ॥ ४३ ॥

(श्री०) 'यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ते' इत्यादेर्निमित्तत्वात्प्रियामकत्वात् । अथ वा तस्यार्थस्य प्रसिद्धेः शब्दार्थसंगतिग्रहणे निमित्तत्वात् ॥ ४२ ॥

पूर्वाधिकरण आरुद्रपतितानामपि प्रायश्चित्तमस्तीत्युक्तं प्रायश्चित्तव्यवहारोऽपि तेषां स्वादिति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते-बहिरिति । तुशब्दः कृतप्रायश्चित्तेर्व्यवहारामाशमाह । व्यवकीर्णित्वमप्युपपातकं यदि वा महापातकमुभयथाऽपि शिष्टैस्ते कृतप्रायश्चित्ता बहिष्कार्याः ॥ ४३ ॥



(अ०१००) ( उपासनस्य ऋत्विक्कर्मत्वम्, अधि० १३ )

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

किमङ्गाभितोपासनानि यजमानकर्तृकाण्यहोस्विद्विह्विकर्तृकाणीति संदेहे यः कृतप्रायश्चित्तः स संव्यवहार्य इत्युत्सर्गस्य निन्दास्मृत्या वाध-  
वद्विहाप्यङ्गानुष्ठानान्तरेवाङ्गाभितोपास्तिकर्तृकत्वमित्युत्सर्गस्य 'वर्षती-  
हास्मै य उपास्ते' [ छा० २ । ३ । २ ] इत्यादिफलश्रुत्या यो यत्फल-  
भोक्ता स एव तस्मिन्कर्मणि कर्तेतिन्यायोपबृंहितया वाधेन फलमाजो  
यजमानस्यैव कर्तृत्वमिति वृष्टान्तेन पूर्वपक्षमाह—स्वामिन इति ।  
स्वामिनो यजमानस्यैवाङ्गाभितोपास्तिकर्तृत्वमित्यात्रेय आचार्यो  
मन्यते । कर्माङ्गे च पञ्चविधसाम्नि वृष्टनुपासकस्य 'वर्षतीहास्मै'  
इत्यादिफलश्रवणादित्यर्थः ॥ ४४ ॥

तस्मात्फलमाजो यजमानस्यैव कर्तृत्वमिति प्राप्ते समाधत्ते—

आर्त्विज्यमित्यौहुलोमिस्तस्मै हि परिकीयते ॥ ४५ ॥

अङ्गोपासनमार्त्विज्यमृत्विक्कर्तृकमेवेत्यौहुलोमिराचार्यो मन्यते । तस्मै  
हि साङ्गाय कर्मण ऋत्विक्परिकीयते यजमानेन । तथा च यजमानगा-  
मिफलकमप्यङ्गोपासनं यजमानेन स्वगामिफलककर्मार्थं परिकीर्तित्विक्-  
कर्तृकमेव कर्माङ्गाप्रणयनाश्रितगोदोहनयदिति न फलश्रुतिविरोधः । किंच  
तं ह प्रणयमुद्गीतारूपं प्राणदृष्ट्या विदित्वा वकनार्थिः सन्निष्णामुद्गीता  
बभूवेति श्रुतिवाक्यशेषादुपासनस्यैविकर्तृकत्वमेवेति । अत्र स्वतन्त्रफला-  
नानुपासनानामृत्विक्कर्तृकत्वेऽपि यजमानगामिफलकत्वोक्तेरस्ति पादसं-  
गतिः । पूर्वपक्षे कर्तृत्वमोक्तुत्वयोरैकाधिकरण्यं सिद्धान्त ऋत्विजः  
कर्तृत्वं स्वाम्यधीनमिति परम्परयैकाधिकरण्यमिति मन्तव्यम् ॥ ४५ ॥

(दी०)पूर्वाधिकरणे वचनादव्यवहार्यत्वमुक्तं तद्द्वर्षतिवचनादङ्गावबद्धा-  
न्युपासनानि स्वामिन इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—स्वामिन इति ।  
अङ्गावबद्धान्युपासनानि स्वामिनो यजमानस्य कर्माणीत्यात्रेय आचार्यो  
मन्यते । हेतुमाह—फलश्रुतेरिति । वर्षति हास्मा इत्यादेरिति पूर्व-  
पक्षः ॥ ४४ ॥

सिद्धान्तस्तु—आर्त्विज्यमिति । आर्त्विज्यमित्यौहुलोमिराचार्यो  
मन्यते । हि यस्मात्तस्मै साङ्गकर्मसिद्ध्यर्थं यजमानेनैविकर्तृपरिकी-  
यते ॥ ४५ ॥

श्रुतिश्च ॥ ४६ ॥

(श०४००)यां वै कांचन यज्ञ ऋत्विज आशिपमाशासत इति यजमानाथैव तामाशासते इति होवाचेति ' [ श० वा० १ । ३ । १ । २६ ] 'तस्माद्ब्रह्मैवंविद्ब्रह्माता ब्रूपात्कं ते काममागाथानि ' [ छा० १ । ७ । ८ ] इति चर्विक्कतुंरुस्य विज्ञानस्य यजमानगामिफलं दर्शयति । तस्माद्ब्रह्मोपासनानामृत्विकर्मत्वसिद्धिः ॥ ४६ ॥

( मौनस्य विधेयत्वम्, अधि० १४ )

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥

बृहदारण्यके श्रूयते—'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन विद्यासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः, [ वृ० ३ । ५ । १ ] इति । यस्मात्पूर्वं ब्राह्मणा आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषाम्यो ह्युत्थाय शिक्षाचर्यं चरन्ति तस्मात्पुनातनो ब्राह्मणः पण्डाऽध्वयनयाऽऽपातत्रह्यधीस्तद्गान्पण्डितस्तस्य कृत्यं पाण्डित्यं श्रवणं तस्मिन्निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन ज्ञानबलमावेन मननेन ह्युद्धान्तःकरणत्वेन वा स्थानुमिच्छेत्तद्द्वयं लब्ध्वाऽथ श्रवणमननानन्तरं मुनिर्मननशीलो निर्दिध्यासनपरः स्यात्, अमौनं श्रवणमनने मौनं च निर्दिध्यासनं लब्ध्वोरुत्रपस्य ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वात्तत्रयानन्तरं ब्रह्मवगच्छतीति ब्राह्मणः साक्षात्कृतब्रह्म भवतीत्यर्थः । तत्र संशयः । किमत्र निर्दिध्यासनाख्यं मौनं विधीयते न वेति । पूर्वपक्षे मौनस्यानुष्ठेयत्वासिद्धिः सिद्धान्ते ज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गस्य तस्यानुष्ठेयत्वसिद्धिरिति बोध्यम् । तत्र 'तै ह बको दाल्म्यो विदांचकार । स ह मैमिषीषाणामु-

(श००)श्रुतिरिति । यां वै कांचनेत्यादिनर्विक्कतुंरुस्य विज्ञानस्य यजमानगामिफलं दर्शयति श्रुतिः ॥ ४६ ॥

पूर्वाधिकरणे ' बको दाल्म्यः ' इति वाक्यशेषोपाद्ब्रह्मोपासनमृत्विकार्यमुक्तमेवमिहापि विधिरहितवाक्यशेषोपादथ मुनिरिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाचले—सहेति । सहकार्यन्तरस्य मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधिरे-

(म० व० १) द्वाता वभूय' [छा० १। २। १३] इति वाक्यशेषाद्ब्रह्मीधोपासकस्य षकनात् ऋत्विक्त्वबोधकादङ्गोपासनस्यविक्रमत्ववधिहापि 'अथ ब्राह्मणः' इति वाक्यशेषाद्विधिविधुराद्ब्रह्म मुनिरित्यत्र न. मीनविधिरिति वृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः—तद्व्यकार्यन्तरविधिरिति । फलमृतसाक्षात्कारे श्रवणाद्यपेक्षया सहकार्यन्तरस्य मौनस्य निर्विध्यासनारूपस्य विधिरित्यर्थः । ननु 'गाहंस्थपमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्' [ आपस्त० धर्म० २। ९। २१। १ ] इत्यत्र मौनशब्दस्य पारिव्राज्ये प्रयोगात्कथमत्र मौनं निर्विध्यासनं स्वादत् आह—तृतीयमिति । श्रवणमननद्वयापेक्षया तृतीयं निर्विध्यासनमेवात्र मौनं विधेयमित्यर्थः । तत्रेतराश्रमसंश्लिष्याह्वारथलाञ्छिविध्यासनप्रधानं पारिव्राज्यं मौनशब्देन लक्ष्यत इति भावः । कस्यायं मौनविधिस्तत्राऽऽह—तद्वत् इति । परोक्षज्ञानवतः पूर्ववाक्ये प्रकृतस्य संन्यासिन इत्यर्थः । ननु सूक्ष्मवस्तुसाक्षात्कारे निर्विध्यासनस्य अभावेऽपि विधेयत्वमत आह—पक्षेणेति । यस्मिन्पक्षे +भेददर्शनप्राप्तिस्तस्मिन्पक्षे प्राप्यभावाद्विधिरर्थवानित्यर्थः । ननु अह्नपरवाक्ये × कथं मौनविधिरित्याशङ्क्य वृष्टान्तमाह—विध्यादिवदिति । यथा दर्शपूर्णमासप्रधानपरे वाक्येऽन्वाधानादेरङ्गजातस्य विधिस्तद्वदित्यर्थः । प्रधानमारभ्याङ्कपर्यन्तो विधिस्तदादिविध्यादिः प्रधानमिति यावत् । अत एव प्रयाजादिविध्यन्तर इत्युच्यते । ब्राह्मणस्य फलत्वात् विधिकल्पना विफलेति भावः ॥ ४७ ॥

(दी०) वाऽऽश्रयणीवः । कुत उक्तं तन्मौनमित्यत आह—तृतीयं बाल्यं पाण्डित्यं चोक्तम् । कस्यैतदित्यत आह—तद्वत् । 'आत्मानं विदित्वा' इत्यादिनोक्तो यः संन्यासी तद्द्वान् विद्यावास्तस्य वेदा(चिद्व्य) र्थं विधानमित्यत आह—पक्षेणेति । भेददर्शनस्य प्राबल्यं चेत्तस्मिन्पक्ष इत्यर्थः । सहकारिविधानं निदर्शनं विध्यादिवत् । यथा दर्शपूर्णमासादावाधानादिकं तद्वत् ॥ ४७ ॥

\* घ. निवृत्ताश्रमम् । + सं. लौकिकभेददर्शनम् । × घ. उपनिषद्गुण्ये ।

[मः १५०-१५० वृत्तान्तवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । ३७१  
१८-१९]

(न०५०) ननु श्रवणादिप्रधानो यद्यस्ति संन्यासः कथं तर्हि च्छान्दोग्ये  
गृहिनोपसंहारः 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे' [छा० २ । २३ । १] इत्यत्र ।  
तेन हि तदतिरिक्तः संन्यासो नास्तीति द्योत्यत इत्यत आह—

छत्त्रभावाच्च गृहिनोपसंहारः ॥ ४८ ॥

गृहिनः कर्मवाहुत्वात्तेनोपसंहारो न तु संन्यासाभावादित्यर्थः ।  
कृत्स्नाभ्रमकर्मणां संन्यासादीनां यथासंभवं गृहिणि मापादित्प-  
क्षरार्थः ॥ ४८ ॥

एवं संन्यासगार्हस्थ्यभ्रमद्वयोक्त्या मन्वदुद्धेरितराभ्रमाभावज्ञात्का  
स्याच्चक्षिरासार्थमाह—

मौनवदितरेषामप्युपवेशात् ॥ ४९ ॥

मौनज्ञानेन संन्यासगार्हस्थ्यधर्मोद्देशस्तद्व्यतिरयोरापि ब्रह्मचर्यवानप्र-  
स्थयोः । 'तय एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः' [ छा० २  
२३ । १ ] इत्याद्याहुपवेशादनुष्ठेयमित्यर्थः । बहुवचनं त्ववान्तरमेवा-  
पेक्षया । नायत्रो माह्नः प्राजापत्यो बृहस्त्रिति ब्रह्मचारिभेदाः । केनच  
औदुम्बरो वैद्यानसो बालस्त्रित्यञ्चेति वानप्रस्थमेवा इति ॥ ४९ ॥

(श्री०) विद्यावाञ्छेतसंन्यस्यति तर्हि कस्माच्छान्दोग्ये कुटुम्ब इत्यादिना  
गृहस्थेनोपसंहार इत्यत आह—कृत्स्नेति । तुष्णम्हो विज्ञेयणार्थः ।  
कृत्स्नभावोऽस्य विशेष्यते बहुलायासानि हि बहुन्याभ्रमकर्माणि यज्ञा-  
दीनि तं प्रति कर्तव्यतयोपदिष्टानि आभ्रमान्तरकर्माणि च यथासंभव-  
मर्हिसेन्द्रियसंपमनादीनि तस्यापि विद्यन्ते तस्माद्ब्रह्मेधिनोपसंहारो न  
विरुध्यते ॥ ४८ ॥

ननु यथा ब्रह्मचारिवानप्रस्थयोरश्रौतत्वं तद्ब्रह्मान्तेनेतरस्यापि अश्रौ-  
तत्वमित्यत आह—मौनवदिति । इतरेषां ब्रह्मचारिवानप्रस्थाभ्रमवृत्ती-  
मामप्युपवेशात् । 'प्रथो धर्मस्कन्धाः' इत्यादिना । किंचत् । मौनवत् ।  
मौनं संन्यासः । उपलक्षणमेतद्ब्रह्मस्थस्यापि संन्यासिवद्ब्रह्मस्थवद्ब्रह्म-  
चारिवानप्रस्थयोरपि श्रौतत्वमेव स्यादित्यर्थः ॥ ४९ ॥

\* उपवेशदित्यन्तं छ. पुस्तकस्थम् ।

(ब० व०) (बाल्यस्य भावशुद्धित्वं न वयःकामचारोभयत्वम्, अधि० १५)

अनाविष्कुर्वन्नन्यथात् ॥ ५० ॥

पूर्वोद्घातवाक्ये मौनं विधेयमित्युक्त्वा तत्रत्यं बाल्यं किमित्यपेक्षायां तत्स्वरूपमत्र निरूप्यत इति संगतिः । तत्र किं बाल्यशब्देन बालस्य कर्म तिष्ठन्मूत्रादिकमुच्यत उत गर्वपरुषेन्द्रियत्वाद्यभायरूपभावशुद्धिरिति संशयः । पूर्वपक्षे ज्ञानाङ्गत्वेनानुष्ठानं फलं सिद्धान्त उत्तरस्वेति बोध्यम् । तत्र प्रसिद्धिबलात्तिष्ठन्मूत्रावाविकं बाल्यमिति प्राप्ते क्रमः । उक्तभावशुद्धिरेवात्र बाल्यं विद्याङ्गत्वात्सर्वस्य बालकर्मणो विद्याविरोधित्वादिति । तद्विद्वमाह—अनाविष्कुर्वन्निति । ध्यानादिभिरात्मानं परार्थमविज्ञापयन्गर्वाविरहितः स्थानुमिच्छेदिति बाल्येन तिष्ठासेदित्यस्यार्थः । कुतः । अन्यथात् । अस्य वाक्यस्य विद्याङ्गान्वयस्यैवमेव संभवादित्यर्थः ॥ ५० ॥

एवं यज्ञादिकमारभ्य बाल्यान्तं विद्याहेतुमुक्त्वा तत्फलं विद्यायाः कालमाह—

(इह वा जन्मान्तरे वा ज्ञानोत्पत्तिरिति ज्ञानोत्पत्तेः पाक्षिकत्वम्, अधि० १६)

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तदर्शनात् ॥ ५१ ॥

किमिहैव जन्मनि विद्योत्पत्तिरुत कदाचिद्मुत्रापीति संशयः । पूर्वपक्षे श्रवणादेर्विद्याहेतुत्वानियमो विद्याया ऐहिकत्वेन काचिद्दर्शनादिति सिद्धान्ते स्वप्रतिबन्धश्रवणादेस्तन्नियम इति मन्तव्यम् । तत्रैहैव

(श्री०) पूर्वाधिकरणे मौनशब्दस्य ज्ञानातिशये प्रसिद्धेत्वंमौनविदाभित एव बालशब्दस्यापि कामचारादिकारिणि प्रसिद्धत्वाद्ब्राणि स एवार्थ इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अनेति । 'बाल्येन तिष्ठासेत्' इत्यत्र बाल्येनावस्थानं नामैतद्यद्भागद्वेषादि अनाविष्कुर्वन्नस्पष्टयज्ञ तु कामरागादि । कुतः । रागादिराहित्वेन विद्योपकारस्वान्वयात् ॥ ५० ॥

पूर्वाधिकरणे विद्योपयोगात्त रागादिकं बालशब्दार्थः संभवादित्युक्तमत्रापि युक्ता विज्ञानफलस्येह लोक एव संभवादौहिकफलात्

(प्र० ५०) जन्मनि विद्याजन्मास्त्विति कामनया श्रवणाद्विषु प्रवृत्तेरैहिकमेव विद्याजन्मेति प्राप्ते ब्रूमः । \* विद्याविरुद्धफलकं देशकालविशेषायेकं फलोन्मुखं कर्म प्रस्तुतं तेन प्रतिबन्धामाये सत्यैहिकं विद्याजन्म सति श्रवणाद्विषुक्तये भवत्येव चित्राफलपञ्चवद् । सति तु प्रतिबन्धेऽमुत्रापीत्यनियम एव न त्विहैवेति नियमः । कुतः । तद्वर्शनात् । प्रतिबन्धाप्रतिबन्धाभ्यामनियमस्य भ्रुती दर्शनात् । तथा हि भ्रुतिर्जन्मान्तरानुष्ठितश्रवणादेः फलं जन्मान्तरे दर्शयति— 'गर्मस्य एव च धामदेवः प्रतिबन्धे ब्रह्मावावम्' इति । सति तु प्रतिबन्धे विद्या दुर्लभेत्यप्याहभ्रुतिः— 'श्रवणायापि बहुमिथो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहुधो यं न विद्युः । आश्रयो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्रयो ज्ञाता कुशलानुक्षिप्तः' [ क० २ । ७ ] इति । आत्मश्रवणमपि बहूनां दुर्लभं कुतश्चिद्गम्याच्छ्रवणलामेऽपि तत्फलं ज्ञानं दुर्लभं तत्र हेतुराश्रयं इति । यथा परस्याऽऽत्मनो वक्ताऽऽश्रयोऽद्भुतवद्देश संभवति । सम्प्रगाचार्यलामेऽपि तस्माच्छ्रुत्वाऽस्याऽऽत्मनो लब्धा साक्षात्कर्ताऽऽश्रयः । तिष्ठतु साक्षात्कारः कुशलेनाऽऽचार्येणानुशिष्टोऽपि शास्त्रेणास्याऽऽत्मनः परोक्षत्वेन ज्ञाताऽप्याश्रयं एवेत्यर्थः । तस्मादनियमो विद्याजन्मन इति सिद्धम् ॥ ५१ ॥  
( सातोव्याद्विमुक्तीनां जन्यत्वेन सातिशयत्वं निर्वाणमुक्तेश्च निरतिशयत्वम्, अधि० १७ )

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥

यथा विद्यायाः श्रवणादिसाधनोत्कर्षापकर्षाभ्यामैहिकानुक्तिव्य-

(दी०) विद्येति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाघत्ते— ऐहिकमिति । कर्मान्तरेणासाति प्रतिबन्ध ऐहिकमस्मिन्नेव जन्मनि विद्याफलं कर्मान्तरेण सति प्रतिबन्धे जन्मान्तरेऽपि विद्या जायते । कुतः । गर्मस्य एव च धामदेवः प्रतिबन्धे ब्रह्माहममवमिति वदन्ती जन्मान्तरसंचितात्साधनाजन्मान्तरे विद्योत्पत्तिं दर्शयति ॥ ५१ ॥

पूर्वाधिकरणे विद्याया देकरूप्येऽपि यज्ञादीनां साधनानामनेकरूपत्वादिह वाऽमुत्र वा स्यादित्युक्तं तर्हि अनियतसाधनत्वान्मोक्षोऽप्यनि-

\* य. विद्याया श्रवणं विद्याविरुद्धं, विद्याविरुद्धं फलं यस्य शृत् ।

१ ग. 'न इति' विद्यायामनेन न प्र' २ ग. 'श', इति क' ३ ग. 'न' । अतः । ४ ग. 'विद्योऽपि' ।

(ब० व०) रूपोपचयापचयवस्वनियम एवं तत्फले मुक्तानुपचयापचयवस्वनि-  
यमोऽस्ति न वेति संदेहः । पूर्वपक्षे स्वर्गादिवत्कर्मसाध्यत्वं मोक्षस्यैतत्पादा-  
द्याधिकरणासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तस्य निर्विशेषस्य ज्ञानैक्यलभ्यत्व-  
मिति तत्सिद्धिरिति गन्तव्यम् । तत्र पूर्वोक्तविद्यादृष्टान्तेन फलत्वेन हेतुना  
मोक्षस्य सातिशयत्वनियमे प्राप्ते द्रुमः । एवं विद्यावन्मुक्तिरूपफलस्या-  
नियमो निर्विशेषत्वमेव । कुतः । तदवस्थावधृतेः । मुक्त्यवस्थाया  
निर्विशेषब्रह्मरूपत्वेन ' ब्रह्म वेद् ब्रह्मैव भवति ' [ मु० ३ । २ । १ ]  
इत्यादिष्ववधारणादित्यर्थः । तथा च फलत्वहेतुकानुमानस्याऽऽगमबाधः ॥  
न हि साक्षात्काररूपविद्यायामुपचयापचयवस्वमस्ति । न हि पूर्वोत्तरमा-  
चिघटसाक्षात्कारयोश्चिरत्वाचिरत्वमतिशय इति कश्चिद्भ्युपैति । तस्मा-  
न्निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारस्यैकरूपत्वात्तल्लभ्यो मोक्षो निरतिशयानन्दा-  
त्मक एकरूप एवेति सिद्धम् । अभ्यासोऽध्यायसमाप्तिद्योतनार्थः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमन्मुकुन्दगोविन्द्वृक्षीचरण-  
शिक्षितश्रीरामकिंकरधर्मकृतौ ब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्मासुतवर्षिण्यां  
तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(श्री०) यत एव स्यात्कर्मफलवदिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—एवमिति ।  
यथा विद्यासाधनानां विद्याफलेऽनियम इह परत्र चेति नैवं मुक्ति-  
क्षणे फले । कुतः । तदवस्थावधृतेः । मोक्षावस्थाया ब्रह्मरूपाया एक-  
रूपत्वेनास्थूलमनषित्वादिनाऽवधृतेरवधारणात् । पदाभ्यासोऽध्याय-  
परिसमाप्त्यर्थः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानिन्दात्मपूज्यपादक्षिप्यस्य श्रीशं-  
करानन्दमगवतः कृतौ ब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्मासुतवर्षिण्यां  
पादः ॥ ४ ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(म० ६०) पूर्वाध्यायान्ताधिकरणे मोक्षे विशेषनिपमाभाव उक्तः संप्रति मोक्षहेतुज्ञानसाधनेषु भवणाद्यावृत्त्याऽनुष्ठाननियममाह—

(भवणादीनामावर्तनीयत्वम्, अधि० )

आवृत्तिरसच्छुद्धपदेरात् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये परापरविद्यासु साधनविषयो विचारः कृतोऽत्र तत्फलविचारः कियतेऽत उभयोरध्याययोर्हेतुहेतुमद्भावः संगतिः । अत्र प्रथमपादे भवणाद्यावृत्त्या निर्गुणमुपासनया सगुणं वा ब्रह्म साक्षात्कृतं तत्र प्रारब्धकर्मातिरिक्तपुण्यपापनिवृत्तिरूपा जीवतो मुक्तिः प्रतिपाद्यते । द्वितीयपादे श्रियमाणस्योक्तान्तिः । तृतीयपादे सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मस्योत्तरो मार्गश्च प्रसङ्गात्प्रकल्प्यते । चतुर्थपादे पूर्वार्धेन निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यमुत्तरार्धेन सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोकमाप्तिश्च निरूप्यते इति तत्तद्विचारोक्त्याधिकरणानां तत्तत्साधुसंगतिर्वाध्या । तदुक्तम्—

चतुर्थे जीवतो मुक्तिरुक्तान्तिर्गतिसुत्तरा ।

ब्रह्ममाप्तिवद्ब्रह्मलोकविति पादार्थसंग्रहः । इति ।

पूर्वाध्याये साक्षाच्छुद्धयुक्तसाधनविचारः कृत इदानीं फलाध्यायस्या लभ्यस्याऽऽवृत्त्यादेर्विचारस्तृतीयशेषे पश्चादाश्लेषाधिकरणपर्यन्तं कियते । तत्र साक्षात्कारसाधनत्वेन श्रुतभवणाविषु संशयः किं सकृदेष भवणादि कर्तव्यमुत भवणाद्यावृत्तिरिति । पूर्वपक्षे भवणादीनामवृत्ता-  
र्थत्वं फलं सिद्धान्ते यावत्फलमावर्तनीयत्वाद्ब्रह्मघातादिवददृष्टार्थत्वमिति बोध्यम् । तत्रैकवारमेव भवणादिकं प्रयाजादिवत्कर्तव्यमिति प्राप्ते ब्रूमः । भवणाद्यावृत्तिरेव कर्तव्या । कुतः । 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' [इ० ४।५।६] इत्यसकृदुपदेशात् । नन्वत्र भवणाद्यावृत्तिर्न श्रूयते इति चेदु-  
च्यते । साक्षात्कारस्यैवाविद्यानिवर्तनक्षमत्वेनाहिविभ्रमादौ बृहत्वात्सूक्ष्म-  
वस्तुसाक्षात्कारस्य चाऽऽवृत्तिविशिष्टभवणादिसाध्यत्वस्य पद्भजादिस्वरे  
बृहत्त्वाद्बहुविज्ञेयात्मभवणाद्यावि संसारात्पर्यन्तमूलाविद्यानिवर्तनक्षमसा-  
क्षात्कारावाऽऽवृत्तिः कर्तव्या इष्टे संभवत्यदृष्टकल्पनानुपपत्तेरिति तात्पर्यम् ।

(श्री०) तृतीयेऽध्याये साधनचिन्ता कृता । चतुर्थे फलचिन्ता प्रवर्तते । तत्रापि प्रथमेन पादेन जीवन्मुक्तिः प्रतिपाद्यते । तत्राप्यात्मेत्याद्याधि-



(अ० ५०) एवमुपास्यसाक्षात्कारद्वारा फलहेतुपासनेष्वावृत्तिर्बोध्या वृष्टार्थं स्वादेव उपासीतेत्यावृत्तिश्रवणाच्च । प्रत्ययप्रवाहस्यैवोपासनत्वाद्देवैस्त्वस्याप्युपासनार्थकत्वात् । तथा हि संवर्गविद्यायां विविनोपक्रम्योपास्तिनोपसंहारो वृश्यते । 'यस्तद्देव यस्त वेद स मयैतदुक्तः' [छा० ४। १। १४] इत्युपक्रम्य 'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्ते' [छा० ४। २। २] इत्युपसंहारात् । यस्त रैको वेद प्राणतरपं स सर्वं कर्मफलं प्राप्नोति । एवं रैकाद्यन्योऽपि यस्तत्रैकवेद्यं वेद सोऽपि तथैव फलं प्राप्नोति । स एवंभूतो रैको मयैतदुक्त इत्थमुक्त इति हंसं प्रति हंसान्तरपचनम् । हे भगवो रैक यां देवतां त्वमुपास्ते तामेतां मेऽनुशाधि शिक्षय ज्ञापयेति ज्ञानश्रुतिवचनम् । तस्मात्साक्षात्कारसाधनेष्वावृत्तिसिद्धिः ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

तथा छुद्गीथोपासनं प्रकृत्य आदित्य उद्गीथः' [ छा० १। ५। १ ] इत्युपासनमेकपुत्रतादोषेणापोद्य 'रश्मीस्त्वं पर्यावर्तयात् । [ छा० १। ५। २ ] इति रश्मिबहुत्वोपासनं बहुपुत्रताये विदधद्वाक्यं प्रत्ययावृत्तिं सूचयति । तस्मात्साक्षात्कारसाधनेष्वावृत्तिसिद्धिः । हे पुत्र त्वं रश्मीनादित्यं च प्रत्येकं पर्यावर्तयात् । तकारमन्तर्भाव्य पर्यावर्तयतादिति मध्यमपुरुषैकवचनमुपास्त्वेत्यर्थः ॥ २ ॥

( ज्ञात्रा जीविन स्वात्मतया ब्रह्मणो ग्राह्यत्वम्, अधि० २ )

आत्मोति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

पूर्वं श्रवणमनननिदिध्यासनानामावृत्तिरुक्ता तामुपजीव्य संदिह्यते किं

(धी०) करणचतुष्टयं प्रासङ्गिकम् । अन्यत्साधनाध्यायशेषमपि प्रमाणफलत्वेनात्र फलाध्याये संगतं तत्राहं ब्रह्मोपासनानां श्रवणादीनां चार्थसिद्ध्याऽऽवृत्तिरित्याह—आवृत्तीति । प्रत्ययानामावृत्तिः करणीया । कुतः । ' श्रोतव्यो भन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ' इत्यादिनाऽसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

ननु श्रवणादीनां प्रत्येकं सकृच्छ्रवणे प्रत्ययावृत्तिः कथं सिध्यतीत्यत आह—लिङ्गादिति । ' रश्मीस्त्वं पर्यावर्तयतात् ' इत्यादेः । चकारादर्शनसामर्थ्यादपि ॥ २ ॥

पूर्वाधिकरण आत्मज्ञानायाऽऽवृत्तिः करणीयेत्युक्तं तत्र जीवो नित्य-

(सं० ५०) निदिध्यासनावृत्तिकाले प्रत्यक्षेनेश्वरध्यानं कर्तव्यमुत मिश्रत्वेनेति पूर्वपक्षे श्रुतीनामभेदपरत्वां गौणार्थत्वं सिद्धान्ते शुस्वार्थत्वम् । यद्यप्यभेदश्रुतीनां प्रत्यक्षादिविरोधपरिहारोत्कमिदमधिकरणमाविरोधाध्यायसंगतं तथाऽपि महाभाष्यार्थविरोधपरिहारस्व समाधानन्तरङ्गत्वाद्देवत्वाद्संगतिः । तत्राभेदस्य प्रत्यक्षेण सर्वज्ञत्वकिंचिज्ज्ञत्वादिविरुद्धधर्मत्वलिङ्गकानुमानेन च बाधाहिनस्त्वेन ध्यानमिति प्राप्ते ब्रूमः । आत्मेत्येवेश्वरो ध्येयः । तथा हि जाबाला आत्मेत्येनेश्वरमभ्युपगच्छन्ति 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' इति । तथा ग्राहयन्ति चेश्वरमात्मत्वेन तत्त्वमस्यादिवाक्यानि । न च तेषां नाम ब्रह्मेत्यादिषट्पौणार्थत्वम् । सति मुख्यार्थत्वसंभवे गौणत्वायोगात् । न च प्रत्यक्षादिविरोधादसंभवः, तेषां मिथ्याभेदगोचरत्वेन पारमार्थिकाभेदविरोधित्वाभावादिति भावः ॥ ३ ॥

( प्रतीकेऽहंबुद्धपमावः, अधि० ३ )

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' [ छा० ३ । १८ । १ ] नाम ब्रह्मेत्यादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः किं प्रतीके मनआदौ स्वात्मत्वबुद्धिः कर्तव्या न वेति । पूर्वपक्षे प्रतीकोपासीतनामहंब्रह्मोपासिभ्यो विशेषासिद्धिः सिद्धान्ते तु विशेषसिद्धिरिति बोध्यम् । एतदारभ्याधिकरणत्रयस्य प्राप्तिक्रिकी पादसंगतिः । तत्र ब्रह्मणः स्वामिन्नत्वाद्यथा स्वात्मत्वेन बुद्धिरेवं प्रतीकस्य ब्रह्मविकारत्वेन जीवाभिन्नब्रह्मामिन्नत्वाद्दुपासकजीवात्मत्वबुद्धिः

(टी०) नित्यक्षो नित्यपरोक्ष एव चायं परमात्मा कस्य ज्ञानस्यार्थमिमावृत्तिरित्याक्षिप्य समाधत्ते—आत्मेतीति । तुल्योऽन्वैतत्वं व्यावर्तयति । योऽयं परमात्मा तमात्मेति त्वं वा अहमस्मीत्यादिना चोपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ग्राहयन्तपि । 'एष त आत्मा' इत्यादिना ॥ ३ ॥

पूर्वाधिकरणे जीवपरमात्मनोरभेदग्रह उक्तस्तद्वन्मनो ब्रह्मेत्याद्यावपि प्रतीकैष्वभेदग्रह इति एष त आत्मेत्यादिभ्युत्वा वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—नेति । प्रतीकोपासने मनो ब्रह्मेत्यादौ नाऽऽस्मेति ग्रहीतव्यः ।

३७८ श्रीमद्भैषज्यप्रणीतब्रह्मसूत्राणि- [अ० ४७०१ सु०  
५-६]

(अ० ५०) कार्षेति वृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । न प्रतीके स्वात्मत्वबुद्धिः कार्षां न हि स उपासक आत्मत्वेन प्रतीकमनुभवति । अत्राद्यं विकल्पः । किमनुभवललाप्रतीकस्याऽऽत्मत्वेन बुद्धिः कार्षां श्रुतत्वात्, आहोस्वित्स्वामिन्नब्रह्माभिन्नत्वाद्वा । नाऽऽद्य इत्युक्ते 'न हि सः' इति । न द्वितीयोऽभवणात् । न तृतीयः प्रतीकस्य स्वरूपेण ब्रह्माभिन्नत्वायोगात्पृथक्सत्त्वबाधे चोपासनाविध्यभावप्रसङ्गादिति भावः ॥ ४ ॥

(अब्रह्मणि प्रतीके ब्रह्माधिपः कर्तव्यत्वम्, अधि० ४ )

ब्रह्महाष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

पूर्वोक्तप्रतीकोपासनेषु ब्रह्मणि मनआदिदृष्टिः कर्तव्योत् मनआदौ ब्रह्महाष्टिरिति संक्षपः । पूर्वपक्षे निकृष्ट उत्कृष्टबुद्धिः कर्तव्येति न्यायानपेक्षा सिद्धान्ते तदपेक्षेति मन्तव्यम् । एकविषयत्वमवान्तरसंगतिः । तत्र ब्रह्मण्येव मनआदिदृष्टिर्ब्रह्मणः प्राधान्येनोपास्यत्वोपपत्तये कर्तव्येति प्राप्ते ब्रूमः । मनआदावेव ब्रह्महाष्टिः कार्षां ब्रह्मण उत्कर्षात् । उत्कृष्टदृष्टौ निकृष्टे कृतायां निकृष्टस्वोत्कृष्टता भवति । यथाऽऽमात्ये राजबुद्धिः फलाय न तु राष्ट्रमात्यबुद्धिः । न पैवं ब्रह्मणः प्राधान्याभावः । इष्टत्वादिति भावः ॥ ५ ॥

(कर्माङ्गिष्वादित्यादिदृष्टीनां कर्तव्यत्वम्, अधि० ५ )

आदित्यादिमतयर्थाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' [ छा० १ । ३ । १ ] इत्यादीन्यङ्गाभितोपासनानि सन्ति तत्र संक्षपः । किमादित्यादिपूद्गीथादिदृष्टिः

(श्री०) (व्यम्) । हि यस्मात्स उपासको नाऽऽत्मत्वेन प्रतीकानि ब्रह्मीतुं शक्तः ॥ ४ ॥

पूर्वाधिकरणे मनो ब्रह्मेत्यादौ नैका दृष्टिरित्युक्तम् । एवं चेन्नियामकाभावाद्ब्रह्मणि मनआदिदृष्टिः करणीयेति बुद्धिसंनिधानादाक्षिप्य समापत्ते—ब्रह्मेति । तेष्वेव मनआदिषु ब्रह्महाष्टिः करणीया । कुतः । उत्कर्षाद्ब्रह्मणः ॥ ५ ॥

पूर्वाधिकरणे मनआदिषु ब्रह्महाष्टिः करणीयोत्कर्षादित्युक्तम् । अत्राप्युद्गीथादिदृष्टिरादित्यादौ करणीया तस्य कर्माङ्गत्वेनोत्कर्षादिति

(म० ५०) कर्मव्योतोद्गीथादिष्वादिष्वादिष्टिरिति । तत्रोद्गीथादीनां कर्म-  
रूपाणां फलहेतुत्वेनोक्तृत्वादादिष्वादीनां सिद्धरूपाणां \* तद्भावेन  
निकृष्टत्वात्पूर्वम्यायेनाऽऽदित्वादिपूर्वादिष्टिरिति वृष्टान्तेन प्राप्ते  
भूमः । उद्गीथादौ कर्माङ्ग आदित्वादिमतप एव कर्तव्याः । कुतः । उप-  
पत्तेः । यथा प्रोक्षणादिना मीह्यादिषु संस्कृतेषु प्रकृतकर्मापूर्वमुत्पद्यते  
तथा कर्माङ्गेपूर्वादिष्वादिष्वादिष्टिमिः संस्कृतेषु प्रकृतस्य कर्मणः  
फलाधिक्यलक्षणा समुद्भिर्भवति, अन्यथा न भवेदादिष्वादीनामनङ्ग-  
त्वात् । तथा च कर्मसमुद्भिरूपफलोपपत्तेरङ्गेष्वमङ्गमातिरिक्त्यर्थः । आदि-  
ष्वादावुद्गीथादिमतिपक्षे फलासिद्धेर्नोद्गीथादीनामुत्कर्ष इति भावः ॥६॥  
(उपासनापामासनस्य निवतत्वम्, अधि० ६)

आसीनः संभवात् ॥ ७ ॥

इति कर्माङ्गोभितान्युपासनानि तिष्ठन्नासीनः शयानो वा कुर्वाणित्य-  
नियम उताऽऽसीन एवेति नियम इति संशयः । पूर्वोत्तरपक्षयोः पूर्वो-  
त्तरकोटिसिद्धिरेव फलम् । निदिध्यासनादौ विद्यासाधन आसननिय-  
मोक्तेः पादसंघातिः । तत्र पूर्वोक्तकर्माङ्गोपासनेष्विवानियम इति प्राप्ते  
भूमः । आसीन एव कर्मानङ्गोपासनानि कुर्वति । कुतः । समानप्रत्यय-  
प्रवाहात्मकोपासनस्याऽऽसीन एवोपासके संभवात् । न हि तिष्ठतः पुंस  
उपासनं संभवति शरीरधारणे यन्नापेक्षार्थां विसविक्षेपात् । नापि  
शयानस्य निद्रामसङ्गात् । अङ्गोपासनानां त्वङ्गपारतन्त्र्याद्युक्तस्तत्रा-  
नियम इति ॥ ७ ॥

(दी०) वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधये—आदित्येति । उद्गीथाद्यङ्गेषु आदिष्वा-  
दिमतवः कर्तव्याः । कुतः । उपपत्तेः । एवं ह्युद्गीथादीनामादित्वादिम-  
तिसंस्कारे कर्मण्यतिशयः स्यात् । चकारो नाऽऽदिष्वादिपूर्वादिमतिमतव  
इत्याह । एतच्चतुष्टयं प्रासङ्गिकम् ॥ ६ ॥

पूर्वाधिकरण आदित्वादिमतव उद्गीथादिसंस्कारत्वेन करणीया  
इत्युक्ते तान्नु यथा कर्मपरतन्त्रत्वात्तत्राऽऽसननियम एवमन्यास्वपि विद्या-  
रूपविक्षेपादिति बुद्धित्वेन वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य + समाधये—आसीन  
इति । प्रतीकाद्युपासनेष्वसीन एवोपासनां कुर्वात् । कुतः । संभवात् ।  
प्रत्ययावुत्पत्तेरुपविष्टस्य ॥ ७ ॥

\* अ. फलाभावेन । + उक्तमत्र इत्युत्पत्तिरनेकान्तो मन्त्रः अ. पाठ ५४० इत्यन्तः ।

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

(ब्र० व०) उपासनस्य ध्यायत्यर्थं ध्यानरूपत्वाद्भ्यायतेश्चाऽऽसीनेषु वकादि-  
ष्वेकविषयद्विषु प्रयोगादासीन एवोपासीतित्यर्थः ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

किंच 'ध्यायतीव पृथिवी' [ छा० ७।६।१ ] इत्यत्र श्रुतौ  
पृथिव्या अचलत्वमपेक्ष्य ध्यानोपचारो दृष्टस्तस्मादपि लिङ्गादासीन  
एवोपासीत ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

शुची देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः [ म० गी० ६।११ ]

इत्यादिना बाह्यासनविधानस्मरणाच्चाऽऽसीन एवोपासीत । यद्वा  
योगशास्त्रे पद्मकादीनां शारीरासनानां स्मरणादासीन एवोपासीति-  
त्यर्थः ॥ १० ॥

( ध्यानसाधनस्वैकाग्र्यस्य प्रधानत्वेन दिग्देशकालानामनियमः,  
अधि० ७ )

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

दिग्देशकालेषु संशयः । किमङ्गोभितोपासनेषु दिगादिनियमोऽस्ति

(दी०) वृत्तेरुपविष्टस्यानुपासनस्य निर्गुणब्रह्मज्ञानवदनियतिरासनस्य कुतो  
न स्यादित्यत आह-ध्यानादिति । अपि च ध्यायत्यर्थं एष यत्समानप्रत्य-  
यप्रवाहकरणम् । ध्यायतिश्च प्रशिथिलाङ्गवेष्टेषु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविष-  
याक्षितचित्तेषु दृष्टः । चकार आसीनस्य नियममाह ॥ ८ ॥

मनु मच्छतामपि ध्यायत्यर्थः संभावित इत्यत आह-अचलेति ।  
ध्यायतीव पृथिवीत्याद्युक्तम् । चकारो गमनध्यानचोरितरेतरव्याह-  
तिरित्वाह ॥ ९ ॥

मनु किमिदं बौक्तिकमेवेत्याशङ्क्य नेत्याह-स्मरन्तीति । 'शुची  
देशे' इत्यादिना । चकारात्पठन्त्यपि त्रिरुन्नतमित्वादिना ॥ १० ॥

पूर्वाधिकरण आसीनेन समानप्रत्ययप्रवाहः करणीयः संभवादित्यु-

[अ० ३०० १ सू० १२] ब्रह्मावृत्तवर्षिणीदीपिकाम्नां समेतानि । ३८१

(अ० ५०) न वेति तेष्वासननियमवदस्ति नियम इति प्राप्ते ब्रूमः । प्राच्या-  
द्विदिक्नियमः प्रदोषादिकालनियमो नदीतीरादिदेशनियमो वा नास्ति ।  
कुतः । यत्र दिशि देशे काले वा चित्तस्वैकाग्रता प्रत्ययप्रवाहौन्मुखं तत्रो-  
पासीत दिगाद्विशेषाश्रयणादित्यर्थः । बहोपासन इद्यापा एकाग्रतायाः  
सर्वत्राविशेषादित्यर्थः ।

‘समे श्रुचौ शर्करावह्निवालुकाविवाजिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।

मनोनुकूल न तु चक्षुपीडने गुह्यानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्’ [श्वेता०  
२ । १० ] इति श्रुतिरपि चित्तस्वैकान्म्यसंपादके देश उपासीतेति दर्श-  
यति । शर्कराः सूक्ष्मपाषाणाः । जलाशयवर्जनं शीतनिवृत्त्यर्थम् । चक्षुः-  
पीडनं मशकादिकम् । तस्मादुपासने दिगादिनियमो नास्तीति  
सिद्धम् ॥ ११ ॥

( उपास्तीनामामरणमावृत्तिः, अधि० ८ )

आप्रायणाच्चत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

उपास्यसाक्षात्कारद्वारा फलहेतुपूपासनैष्वहंश्रद्धानामकेषु संशयः किं  
कदाचिदुपासनं कृत्वोपरमेतोत यावज्जीवमुपासीतेति । पूर्वपक्षे कदाचि-  
त्कृतप्रत्ययावृत्तेरदृष्टद्वारा मृतिकाले ध्वेषवृद्धिहेतुत्वं सिद्धान्ते धारावा-  
हिकोपासनस्य साक्षादेव \*तद्धेतुत्वमिति विभागः । तत्र देशादिनियं-  
माश्रयणात्तद्भाववद्यवज्जीवमुपासनाश्रवणात्तद्भाव इति प्राप्ते ब्रूमः ।  
आप्रायणाद्देहपातपर्यन्तमुपासीत । हि यतस्तत्रापि मरणकालेऽपि ‘स  
यावत्कतुरपमस्माह्लोकार्येति’ [ शत० १० । ६ । ३ । १ ] इति श्रुत्यां

(श्री०) कम् । अत्रापि वैदिकत्वेन दिग्देशादिनियमः स्यादित्यत आह-  
यत्रेति । यत्र यस्यां दिशि यस्मिन्काले वा मनःस्वास्थ्यं तत्रैवोपासनम् ।  
कुतः । अविशेषात् । विशेषानुपलम्भात् ॥ ११ ॥

पूर्वाधिकरणे दिग्देशाद्यनियम उक्तश्चित्तप्रसादाविशेषेण हेतुना तथा  
काम्पानामपि यावद्विष्टं चिन्तनमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते-  
आ प्रायणेति । अन्बुद्धयफलानां प्रत्ययानामा प्रायणाद्वा मरणादावृत्तिः

\* अ. ध्वेषवृद्धिः ।

१ अ. विष्टं वि ।

(ब० १००) ध्येयप्रत्ययानुवर्तनं दृष्टम् । न च तद्दृष्टसाध्यं वृष्टे संभवत्यदृष्ट-  
कल्पनानुपपत्तेः । श्रुतौ सर्वनामार्थं उपासकः । क्रतुरुपासनम् । 'सदा  
तद्भाषमावितः' [भ० गी० ८।६] इति स्मृतिश्च यावज्जीवमुपासनं दर्श-  
यति । तस्माद्दृष्टग्रहोपास्तयो यावज्जीवमनुष्ठेया इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

एवं ज्ञानसाधनानुष्ठाने यत्नाधिक्यार्थं फलाध्यायेऽपि साधनानुष्ठा-  
नक्रमं विचार्य फलाध्यायस्थां फलचिन्तामुपक्रमते—

( ज्ञानिनः पापलेपाभावः, अधि० ९ )

तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

तथा चास्य फलविचारप्रतिबन्धकसाधनजिज्ञासाभावरूपावसरसंग-  
तिलम्बा । किं ब्रह्मविद्यायामुत्पन्नायां विदुषो भविष्यत्वापासंबन्धपूर्व-  
पापविनाशौ भवतो न चेति संदेहः । पूर्वपक्षे सत्यामपि विद्यायां पापफल-  
भोगानन्तरं विद्यातो मुक्तिः सिद्धान्ते विद्योत्पत्पनन्तरमेव मुक्तिरिति  
बोधयम् । तत्र फलमयं विना नास्ति विद्याया पापनाश इति प्राप्ते  
द्वयः । तदधिगमे ब्रह्मसाक्षात्कारे सत्पुत्रपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ भवत  
एव । कुतः । तयोर्विदुषि श्रुत्या व्यपदेशात् । 'यथा पुष्करपलाश आपो न  
श्लिष्यन्त एवमेवंविधि पापं कर्म न श्लिष्यते' [छा० ४।१।४।३] इति श्रुति-  
विद्योत्तरस्य पापस्याश्लेषं दर्शयति । 'तद्यथेपीकातुलमज्ञौ प्रोतं प्रदु-  
चेतेवं हास्य सर्वं पाप्मानः प्रदुष्यन्ते' [ छा० ५।२।५।३ ] इति श्रुति-  
विद्यातः पूर्वस्य पापस्य विनाशं व्यपदिशति । एवं निर्गुणविदोऽपि  
पापलयं व्यपदिशति 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्हृष्टे परावरे'  
[ मु० २।२।८ ] इत्यादिका श्रुतिः । तस्माद्ब्रह्मविद्यावतः पूर्वोत्तरपा-  
पासंबन्ध इति सिद्धम् ॥ १३ ॥

(क्षि०) हि यस्मात्तत्रापि मरणेऽपि 'यच्चित्तः' इत्यादिश्रुतिभ्यो यं यं  
चाऽपीत्यादिस्मृतिभ्यः प्रत्ययवर्तनं दृष्टम् । अपिशब्दात्पूर्वमपि  
सातत्येन तस्मात् ॥ १२ ॥

पूर्वाधिकरणे सदा तद्भाषमावित इत्यादिस्मृत्याऽऽ प्रायणादभ्युदय-  
प्रत्ययानामावृत्तिरुक्ता तद्ब्रह्मापि 'प्रकृतिस्त्वां निबोधयति' । 'नामुक्तं  
क्षीयते कर्म' इत्यादिस्मृतिभ्यो ब्रह्मज्ञानाज्ञोत्तराधस्याश्लेषो न च पूर्व-  
विनाश इति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तदधीति । तस्य ब्रह्मणाऽ-  
धिगम उत्तराधस्याश्लेषः पूर्वाधस्य विनाशः । कुतः । तद्व्यपदेशात् ।  
तयोरश्लेषविनाशयोर्व्यपदेशः । अश्लेषस्य 'यथा पुष्करपलाशे'  
इत्यादि विनाशस्य यथेपीकातुलमित्यादि तस्मात् ॥ १३ ॥

[अ० १४०। सू० ब्रह्मासुतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । १८३

१२-१५

(अ० ५०।) (ज्ञानिनः पुण्यलेपामावाः, अधि० १० )

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

पूर्वं ब्रह्मविद्यातः पापनाशासंबन्धावुक्तौ तद्वत्पुण्यस्यापि नाशासंबन्धौ भवतो न वेति संदेहे पुण्यतत्त्वज्ञानयोः शास्त्रीयत्वेनाग्निहोत्रवर्द्धयोरिव विरोधामावाह्न भवत इत्यधिकाशङ्कायां पूर्वन्यायमतिदिशति । इतरस्यापि । पापादितरस्य पुण्यस्याप्येवमेवमघवदश्लेषो विनाशश्च ज्ञानाद्भवतः । ' उमे उ ह्येवैप एते तरति ' [ वृ० ४ । ४ । २२ ] इत्यादिश्रुतिषु पापासंबन्धवत्पुण्यासंबन्धस्यापि व्यपदेशात् । श्रुतावुशाब्दोऽप्यर्थः । एष ब्रह्मसाक्षात्कारवान् । सूत्रे तुशाब्दोऽवधारणार्थः । एषं ब्रह्मसाक्षात्कारवतः पुरुषधैरेयस्य पुण्यपापयोर्वन्धहेत्वोरभावाद्देहपाते मुक्तिरवश्यं भवत्येवेत्यधिकरणद्वयस्य फलमुक्तम् । अग्निहोत्रवर्द्धयोरिविद्वद्दफलवत्त्वमुपाधिः । अस्यातिदेशत्वाच्च दृश्यव्यसंगत्याद्यपेक्षा ॥ १४ ॥

( संचितयोरिवाऽऽरब्धयोः पुण्यपापयोज्ञानोदयसमये विनाशाभावः, अधि० ११ )

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वं तदवधेः ॥ १५ ॥

पूर्वं ज्ञानात्कर्मक्षय उक्तस्तस्य प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तविपत्येनात्रापवादात्संगतिः । ज्ञानजन्यकर्मक्षयः किमविशेषेण कर्ममात्रस्य भवत्युत प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तस्येति संशयः । पूर्वपक्षे जीवन्मुक्तवसिद्धिः फलं सिद्धान्ते तस्मिद्धिरिति बोध्यम् । तत्र ' क्षीयन्ते चास्य कर्माणि इत्यविशेषेण श्रवणात्कर्ममात्रस्य क्षय इति प्राप्ते द्रुमः । ये पुण्यपापे एतद्दे-

(श्लो०) अघस्याश्लेषविनाशावुक्तौ भवेतां माऽस्तु सुकृतस्यामुक्तस्येत्याक्षिप्य समाधत्ते—इतरेति । इतरस्य सुकृतस्यापि यथा तुष्कृतस्यैवमसंश्लेषः । एतद्दुपलक्षणं विनाशस्यापि ' उमे उ ह्येवैप एते तरति ' इत्यादिश्रुतेः । तुशाब्दोऽवधारणार्थः । पाते शरीरस्य पतने । अत इदं सिद्धं शरीरस्य पाते विदुषां मुक्तिर्भवत्येव ॥ १४ ॥

पूर्वाधिकरणे सुकृतस्यापि क्षय उक्तस्तथा च सद्यः शरीरपातः स्यादित्याक्षिप्य समाधत्ते—अनारब्धेति । तुशाब्द आरब्धकार्ययोः



(ब०५०) हावच्छेदेन सुखदुःखानुभवार्थं प्रवृत्ते ते आरब्धकार्ये तद्यतिरिक्ते अनारब्धकार्ये पूर्वं अनादिमवपरम्परया ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं संचिते ते एव क्षीयते । कुतः । तदवधेः । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षेऽथ संपत्स्ये' [ छा० ६ । १४ । २ ] इति देहपातावधिभवणादित्यर्थः । तथा च विशेषश्रुत्यनुसाराद्विशेषश्रुतिर्मेतव्येति भावः । ब्रह्मात्मत्वसाक्षात्कारयान्भावन्न विमोक्ष्ये न विमोक्ष्यते तस्य तावदेव चिरं तावानेव देहपातरूपो विलम्बः । अथ प्रारब्धकर्ममोगाद्देहपातानन्तरं संपत्स्ये ब्रह्म संपत्स्यत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

( अग्निहोत्रादिनित्यकर्मणो विद्योपयोग्यंशस्वाविनाशः, अधि०१२ )

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

पूर्वमनारब्धकार्याणां कर्मणां ज्ञानात्क्षय उक्तस्तस्य नित्यनैमित्तिकातिरिक्तानारब्धकार्यकर्मविषयत्वेनात्रापवादान्तंगतिः । किं नित्यनैमित्तिककर्मजातमनारब्धकार्यकर्मवज्ज्ञानात्क्षीयते न येति संदेहः । पूर्वपक्षे काम्यकर्मण इव मुमुक्षुणां नित्यनैमित्तिकधोरप्यननुष्ठानं पङ्कप्रक्षालनन्यायास्तिद्धान्ते तदनुष्ठानमिति बोध्यम् । तत्रानारब्धकर्मत्वाविशेषान्नित्यनैमित्तिककर्मजातं ज्ञानात्क्षीयत इति प्राप्ते मूमः । अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिकं कर्म तत्कार्यायैव तस्य ज्ञानस्य यत्कार्यं मुक्तिरूपं तस्मा एव सत्त्वशुद्ध्यादिपरम्परया । कुतः । तद्दर्शनात् । यज्ञादिश्रुती ज्ञानहे-

(दी०) क्षयं व्यावर्तयति । ये पूर्वं सुकृतदुष्कृते क्षीयते ते अनारब्धकार्ये । तयोरपीतरथा क्षयं व्यावर्तयति एवकारः । कुतोऽयं नियम इत्यत आह—तदवधेः । तस्य शरीरपातस्यावधेः कारणात् । 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यादिवाक्येन ॥ १५ ॥

पूर्वाधिकरणत्रयेण सगुणविद्यायां निर्गुणविद्यायां चानारब्धकार्ययोः सुकृतदुष्कृतयोः क्षय उक्तः । तत्र यथा निर्गुणविद्यायामुपपन्नावामग्निहोत्राद्यनुपयोग एवं सगुणास्वपीति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते । अथ वा पूर्वाधिकरणे काम्यस्य सुकृतस्य क्षय उक्तः काम्यवन्नित्यस्यापि विद्यया क्षयसंभवान्न विद्याया हेतुत्वमित्याक्षिप्य—समाधत्ते । अग्निहोत्रादीति । नुशब्दो नित्यस्याग्निहोत्रादेः क्षारणं क्षयं व्यावर्त-

(म० ६०) तुल्यदर्शनादित्यर्थः । अतथा च न ज्ञानरूपफलकनाश्वत्वं नित्य-  
नैमित्तिककर्मजातस्य । न चात्र पद्मशालनन्यायो ज्ञानार्थत्वेनानुष्ठान-  
स्वार्थवत्त्वादिति ॥ १६ ॥

ननु नित्यादेर्ज्ञानार्थत्वे 'तस्य पुत्रा द्वापमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्वा  
द्विपन्तः पापकृत्याम् ।' इति विनियोगवाक्यं किंविषयकमित्यत  
आह—

अतोऽन्याऽपि श्लेषामुभयोः ॥ १७ ॥

अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यादिरूपाद्व्याऽप्यस्ति काम्यरूपा साधुकृत्वा  
तद्विषयमिदमेकेषां शास्त्रिणां विनियोगवाक्यं तस्या ज्ञानानुपकारकत्वा-  
त्तच्चानुपकारकत्वमुभयोर्निमित्तिनादरावणधोराचार्ययोः संमतमित्यर्थः ।  
नन्वस्याः काम्यसाधुकृत्यायाः 'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः, [ म० सू० ४ ।  
१ । १४ ] इत्यत्र नाश उक्तः कथं तस्या विनियोग इति चेद्वन्न वक्त-  
व्यम् । सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्तीत्यस्य कोऽर्थः । न तावत्तामेव प्राप्नु-  
वन्तीत्यर्थः, द्रव्यादिवचनस्याः प्राप्त्ययोगात् । नापि तत्फलं प्राप्नुवन्ती-  
त्यर्थः, शास्त्रफलं प्रयोक्तरीति न्यायविरोधात् । न च +वैश्वानरोऽि-  
न्यायः, अवशयात्सुहृदोऽनुद्देश्यत्वाच्च । तस्माद्द्विद्वेषेपाकर्तारि सुहृदि

(दो०)यति । नित्यमग्निहोत्रादि तत्तस्या विद्यायाः कार्यायैव मोक्षायैव  
परम्परया । कुतः । तद्दर्शनात् । तस्याग्निहोत्रादेर्विद्याकार्यार्थत्वस्य  
तमेतमित्यादिदर्शनात् ॥ १६ ॥

किंविषयं पुनरिदमश्लेषविनाशवचनं किंविषयं वाऽऽदौ विनियोग-  
वचनमेकेषां शास्त्रिणाम् । 'तस्य पुत्रा द्वापमुपयन्ति' इत्यादि । अत  
उत्तरं पठति—अत इति । अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्कर्मणोऽन्याऽपि ह्यस्ति  
साधुकृत्वा या फलमभिसंधाय क्रियते तस्या एव विनियोग उक्तः ।  
एकेषां शास्त्रिणां सुहृदः साधुकृत्यामिति । तस्या एवेवमववदसंश्लेषवि-  
नाशनिरूपणमितरस्याप्येवमित्यादिना । तथैवंजातीयकस्य काम्यस्य

\* अ. दत्तशुद्ध्या गदस्य मोयेऽनुक्तमिदंशिवित्त तदनुद्देश्यवदिवधेति भावः । शशाङ्कं  
किपमन्वित्तमिदंशिवित्तस्य काम्यमसंश्लेष इति ध्येयम् । + अ. ग. विदुर्दृष्टा पुत्रकस्य ।

(अ० ४०) विद्वद्भिडा साधुकृत्वा स्वतुल्यां साधुकृत्वां जनयति स्वयं च ज्ञानाद्भयतीत्यविरोधः । समानः पापकृत्वावामु(मु)हः । अर्थवाद-त्वात्प्रातीवाभिनिवेष्टव्यम् ॥ १७ ॥

(सोपासनस्य निरुपासनस्य च नित्यकर्मणस्तारतम्येन विद्यासाधे-  
नत्वम्, अधि० १३ ) ।

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

पूर्वं मुमुक्षुणा ज्ञानार्थं नित्यादिकमनुष्ठेयमित्युक्तं तत्किमङ्गाभितो-  
पासनसहितमेव ज्ञानार्थमनुष्ठेयमिति नियम उतोपास्तिसहितं केवलं  
याऽनुष्ठेयमित्यनियम इति संशयः । एकविषयत्वसंगतिः । पादसंगतिस्तु  
प्रासङ्गिकी बोध्या । पूर्वपक्षे केवलस्य नित्यादेशानहेतुत्वासिद्धिः  
सिद्धान्ते तस्मिन्निरिति बोध्यम् । तत्र नियमे प्राप्ते दूमो नियमो न युक्त  
इति । तथा हि—‘यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति [ छा०  
१ । १ । १० ] इति भ्रुतिविद्यासहितस्य कर्मणो वीर्यवत्तरं भवती  
विद्याहीनस्य कर्मणो वीर्यवत्त्वं फलहेतुत्वरूपं दर्शयति । तत्र केवल-  
कर्मणो ज्ञानरूपफलहेतुत्वाभावे न युक्तं स्यात् । तस्मात्केवलमपि  
कर्म ज्ञानहेतुरित्यनियम इति सिद्धम् ॥ १८ ॥

एषमनियमेनाग्निहोत्रादिकर्मणो ज्ञानार्थवत्त्वज्ञानेन क्षय इत्युक्त-  
मिदानीं प्रारब्धकर्मणाम् ‘अनारब्धकार्ये एव तु’ इत्यत्र ज्ञानानिवर्त्य-  
त्वमोक्तानां निवृत्तिप्रकारमाह—

(अधिकारिणां मुक्तिसद्भावः, अधि० १४ ) ।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥ १९ ॥

किं ब्रह्मसाक्षात्कारवान्देहपातानन्तरमपि संसरति न वेति संदेहः ।  
(शि०) कर्मणो विद्यां प्रत्यनुपकारकत्वे संप्रतिपत्तिरुभयोरपि जैमिनिवाद्-  
राचणयोरार्ययोः ॥ १७ ॥

पूर्वाधिकरणे विद्याङ्गत्वं (त्वेन) तु कर्मानुष्ठेयमित्युक्तं तदस्तु  
तथाऽङ्गावयवद्वेषु अप्युश ( पा ) सनेषु नित्यकर्मानुष्ठानं तत्सहितमेवेति  
ब्रह्मान्तेनाऽऽक्षिप्य समाचत्ते—यदेवेति । विद्यया सहितं तद्गहितं च कर्म  
विद्याङ्गम् । हि यस्माद्यदेव विद्ययेति वाक्यान्तरात्कर्मणो विद्यायोगेऽ-  
तिशयमाह न तु कर्मणोऽफलत्वे वचनमिदं सार्थकम् ॥ १८ ॥

पूर्वाधिकरणेऽङ्गावयवद्वेषोपासनासहितस्य कर्मणः फलाधिर्षयमस्य

(अ०५००)पूर्वपक्षे साक्षात्कारस्य मुक्तिहेतुत्वासिद्धिः सिद्धाम्ने तस्मिन्नि-  
रिति विवेकः । तत्र देहपातात्पूर्वं यथा साक्षात्कारेऽपि संसारानुवृत्तिरेवं  
देहपातानन्तरमपीत्यनारब्धाधिकरणहृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । संचितकर्मणां  
ज्ञानान्नाश उक्तः । इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे भोगेन क्षययित्वा  
विद्वान्ब्रह्म संपद्यते । 'अथ संपत्त्ये' [ छा०६ । १४ । २ ] ब्रह्मैव सन्ब्र-  
ह्माप्येति' [ बृ० । ४ । ४ । ६ ] इत्यादिश्रुतिभ्यो देहपातात्पूर्वं प्रारब्ध-  
कर्मणां सत्त्वात्कुलालचक्रप्रमिन्पापेन मिथ्याज्ञानरूपनिमित्तनाशेऽप्य-  
विद्यालेशानुवृत्तिर्युक्ता । तद्भोगानन्तरं कस्यचिदपि कर्मणो जन्ममर-  
णलक्षणसंसारहेतोरभावात्प्र संसारः । तस्माद्भोगेन प्रारब्धकर्मनाशानन्तरं  
विद्वान्स्वरूपानन्दात्मनाबस्थानलक्षणं स्वास्थ्यं मोक्षाख्यं लभत इति  
सिद्धम् ॥ १९ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्माद्युत्तर्षिणी चतुर्थाध्यायस्य  
प्रथमपादः ॥ १ ॥

पूर्वपादान्वाधिकरण उक्त्वाभ्यनपेक्षा निर्गुणब्रह्मपासिरुक्तेदानीं  
सगुणविद्याफलमूलब्रह्मलोकस्योक्तान्तिं विना शक्ययोगात्फलं निरु-  
पयिष्यन्नेव तद्धेतुमूतामुक्तान्तिं निर्गुणब्रह्मविद्यातिरिक्तसर्वजनसमानं  
निरूपयितुं पादमारंभते—

( वागादीनां मनसि वृत्तिप्रचिद्यो न स्वरूपेण, अधि० १ )

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

अस्त्युक्तान्तिक्रमबोधिका श्रुतिः 'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रपतो वाङ्-

(दी०)केवलस्य ब्रह्मविद्यासाधनत्वं सामर्थ्यादित्युक्तमेवमत्रापि सामर्थ्या-  
प्रारब्धकार्यबोरेपि प्रकारान्तरेण क्षपाभावाद्ब्रह्मज्ञानावेवोमयोरपि क्षय  
इति हृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—भोगेनेति । भोगेन भोगेनैवेतरे  
सुकृतदुष्कृते प्रारब्धकार्ये क्षययित्वाऽनन्तरं संपद्यते ब्रह्म तस्य तापदेव  
थिरमित्यादिश्रुतेः ॥ १९ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

प्रथमपादे सगुणनिर्गुणविद्याविदोऽनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोः क्षय

(अ०१३०१)नसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' [छा० ६।८।६] इति । प्रथतो म्रियमाणस्येत्यर्थः । तत्र वाङ्मनसि संपद्यत इत्यत्र संशयः । किं वृत्तिमत्या वाच एव मनसि लयात्मकसंपत्तिरुच्यत उत वामवृत्तेरेवेति । पूर्वपक्षे स्वोपादाने स्वस्य लय इति न्यायासिद्धिः सिद्धान्ते तस्मिन्निरिति बोध्यम् । तत्र श्रुतिबलाद्वाच एव मनसि लय इति श्रुते ब्रूमः । उक्तिर्वागिति भावव्युत्पत्त्या वाङ्मनस्येव वामवृत्तिरुच्यते । मनोवृत्तौ सत्यामेव मनसि वामवृत्तिः संपलीयते । कुतः । दर्शनात् । मनोवृत्तौ सत्यामेव लोके वामवृत्तिलयस्य दर्शनात् । तर्हि 'वाङ्मनसि' [छा० ६।८।६] इति श्रुतेः का गतिरित्यत आह— शब्दाच्चेति । स्वोपादान इत्यवाधितन्यायानुसारेण वाङ्मनसाद्ब्रुवृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारेण भावव्युत्पत्त्या वाङ्मनस्येव इत्यर्थः । मन्वनुपादाने वृत्तिलयो वा कथमिति चेन्नाग्निवृत्तिलयस्यानुपादानाम्बु दर्शनादिति ॥ १ ॥

उक्तश्रुतौ वाच एव भ्रवणादिन्द्रियान्तराणां चक्षुरादीनां मनसि वृत्तिलयो नास्तीति भ्रमं वारपति—

अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

यत एव मनसो वागुपादानत्वामावान्मनसि वाचो वृत्तिलयमात्रमत एव

(सी०)आरब्धकार्योपावदवस्थानं न तावन्मुक्तिस्तत्क्षये च विदेहकैवल्यमिति स्थितं द्वितीयं सगुणविद्याविद्ः करणानां लये नाविद्ब्रह्मकान्तिः [र]न्पस्यानुक्तान्तिरुक्तान्तौ च कश्चन विशेष इत्युच्यते तत्र श्रौतमेव क्रममाभितर्क्य वचोवृत्तेर्लपमाह—वाङ्मनसीति । 'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रथतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' इत्यत्रापि वामवृत्तिर्मनसि संपद्यते । कस्माद्दर्शनात् । मरणावसरे वाचः प्रथमोपसंहारस्य वृत्तिवृत्तिमतोरभेदेन वाङ्मनसि शब्दात् । चकारोऽप्रकृतत्वमाह ॥ १ ॥

अत एवेति । इन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः' इत्यत्र सर्वाणीन्द्रियाणि

१ अ. 'दे तयोर्' । २ अ. 'लगात्' इत्यर्थः । ३ अ. 'दे ततय तये' । ४ अ. 'स वाचो' । ५ अ. 'रोपल' ।

(न०१०)सर्वाणि चक्षुरादीन्पि स्वानुपादाने मनसि सवृत्तिके स्ववृत्ति-  
लयमात्रेणानुवर्तन्ते प्रलीयन्ते न तु स्वरूपेणेत्यर्थः । 'तस्माद्दुपशान्ततेजाः  
पुनर्मचामिन्द्रिचैर्मनसि संपद्यमानैः' [ प्र० ३ । ९ ] इति श्रुतिः सर्वे-  
षामिन्द्रियाणां मनसि वृत्तिलयबोधिका द्रष्टव्या । तस्माद्भूक्तम-  
णादूर्ध्वमुपशान्तदेहोष्णः पुनर्जन्म मनसि स्थितैरिन्द्रियैः प्राप्नोती-  
त्यर्थः ॥ २ ॥

एवं चाब्जनसीति वाक्यं विचार्य 'मनः प्राणे' [ छा० ६ । ८ । ६ ]  
इत्युत्तरवाक्ये किं सर्वेन्द्रियवृत्तिलयाधारस्य मनसः प्राणे स्वरूपलयो  
वृत्तिलयो वेति संशये 'अन्नमर्थं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः'  
[ छा० ६ । ५ । ४ ] इति श्रुतौ प्राणमनसोरवन्नविकारत्वश्रवणादवन्न-  
योश्चोपादानोपादेयभावात्स्वरूपलय इति प्राप्ते सिद्धान्तपति—

( मनसः प्राणे वृत्त्या प्रविलयः, अधि० २ )

तन्मनः प्राण उत्तरान् ॥ ३ ॥

स्वोपादान इत्यादिन्यायाभावाद्भवत्विन्द्रियाणां मनसि वृत्तिलय  
इह तु न्यायसत्त्वात्स्वरूपलय इति प्रत्युदाहरणसंगतिरतिदेशत्वात्संगत्य-  
नपेक्षा वा । तत्सर्वेन्द्रियवृत्तिलयाधिकरणम् । मनोऽपि प्राणे स्ववृत्ति-  
लयेनैव लीयते न स्वरूपेणेत्यर्थः 'मनः प्राणे' इत्युत्तराद्वाक्यावबगन्त-  
व्यम् । स्रुतिमूर्च्छावस्थयोः सवृत्तिके प्राणे सत्येव मनोवृत्तिलयदर्श-  
नादिति हेत्यनुपहृः । न ह्यवन्नयोरुपादानोपादेयत्वमात्रेण तद्विकारयो-  
रप्युपादानोपादेयभावो युक्तो हिमथत्वोस्तद्दर्शनादिति भावः ॥ ३ ॥

एवं 'मनः प्राणे' इति वाक्यं विचार्य 'प्राणस्तेजसि' इत्युत्तर-

(श्री०)वृत्तिमिर्मनोऽनुवर्तन्ते । अत एव दर्शनाच्छब्दाच्चेति । चकारोऽत्रापि  
पूर्ववत् ॥ २ ॥

पूर्वाधिकरणे मनसोऽन्नकारणत्वामावात्तत्र सर्वात्मना लय इत्युक्त-  
मत्र तु मनसः परम्परया विकारत्वादेकरूपे प्राणे लयः स्वादिति  
प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तन्मन इति । तन्मनो वृत्त्या प्राणे  
विलीयते । कुतः । मनः प्राण इत्युत्तराद्वाक्यात् ॥ ३ ॥

(अ० ४०) वाक्ये किं प्राणस्य वृत्तिलयस्तेजस्युत जीव इति सदिहे श्रुतिव-  
लात्तेजस्येवेति प्राप्ते सिद्धान्तवति—

(प्राणस्य जीवे लयानन्तरं पुनर्मूर्तेषु लयः, अधि० ३)  
सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

वाक्यक्रमादर्धक्रमाच्चाधिकरणक्रमो बोध्यः । स प्राणोऽध्यक्षे कार्यकर-  
णसंघातस्वामिनि तत्साक्षिणि वा जीवे निवृत्तवृत्तिः सन्नयतिष्ठते । कुतः ।  
तं जीवं प्रत्युपगमानुगमनावस्थानेभ्यः । यथा राजानं यात्रेच्छावन्तं  
सन्तं मृत्या आभिमुख्येनाऽऽगच्छन्ति 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे  
प्राणा अभिसमायन्ति' [ वृ० ४ । ३ । ३८ ] इति श्रुतिरिन्द्रियाणां  
सुरूपप्राणसहितानां जीवं प्रत्याभिमुख्येनाऽऽगमनं दर्शयति । 'तमुक्त्वा-  
मन्तं प्राणोऽनूक्तामति' [ वृ० ४ । ४ । २ ] इति श्रुतिर्गच्छन्तं जीवं  
प्रत्यनुगमनं प्राणस्य दर्शयति । 'सविज्ञानो भवति' [ वृ० ४ । ४ । २ ]  
इति श्रुतिः करणव्युत्पत्त्या विज्ञानशब्दवाच्येन्द्रियजातस्य प्राणसहि-  
तस्य प्राप्त्यकर्मफलज्ञानवति जीवेऽवस्थानं दर्शयति । तस्माज्जीव  
एव प्राणस्य वृत्तिलयः ॥ ४ ॥

ननु कथं तर्हि 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतिरित्यत आह—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

तच्छ्रुतेः 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतेः सूक्ष्मात्मना विद्यमानेषु तेजःसहि-  
तेषुत्तरदेहारम्भकेषु पञ्चभूतेषूपधिभूपहितत्वेन विद्यमाने जीवे प्राणस्य  
वृत्तिलय इत्यवगन्तव्यमुपगमादिश्रुत्यन्तरानुसारात् । तथा चोपहितजी-

(श्री०) पूर्वाधिकरणे प्राणस्याधिकारत्वाद्द्विकारे विकाराणां न सर्वात्मना  
लय इत्युक्तं न्यायेन । अत्र तु न्यायाभावात् । प्राणस्तेजसीति श्रुतेस्ते-  
जस्येव तस्य लय इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—सोऽध्यक्ष  
इति । स प्राणस्तदध्यक्षे जीवे वृत्त्या प्रलीयते तस्मिन्नध्यक्षे प्रविलयस्य  
'आत्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति' इत्यादिनाऽभ्युपगमा-  
द्विशेषेण । आदिशब्देन 'तमुक्त्वामन्तं प्राणोऽनूक्तामति प्राणमनूक्ता-  
मन्तं सर्वे प्राणाः' इत्यादिविशेषादपि ॥ ४ ॥

कथं तर्हि प्राणस्तेजसीति श्रुतिरित्यत आह—भूतेष्विति । स प्राण-

(म०ध०१) वप्राप्तौ प्राणस्थोपाधितेजआदिभूतप्रातेरर्थसिद्धत्वात्प्राणस्तेज-  
सीति धृत्युपपत्तिरित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु प्राणस्तेजसौत्वेकस्यैव तेजसः श्रवणात्कथं तेजःसहितेषु भूतेष्वि-  
त्युक्तमित्यत आह—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

एकस्मिन्नेव तेजसि जीव उक्त्वान्तिसमयेनावतिष्ठत उत्तरदेहस्य  
पाञ्चमीतिकत्वेन पञ्चभूतेषु स्थितेरावश्यकत्वात् । दर्शयतो हीममर्थं  
रहस्यधिकरणे व्याख्याते प्रश्ननिरूपणे । यद्वा क्षुतिस्मृती इममर्थं  
दर्शयतः । 'पृथिवीमप आपोमयो वायुमप आकाशमपस्तेजोमपः'  
[बृ० ४ । ४ । ५] इत्याद्या क्षुतिः ।

अण्यो मात्रोविनाशिन्यो दशार्थानां तु याः स्मृताः ।

तामिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः [ मनु० १ । २७ ]

इति स्मृतिः । अन्यः सूक्ष्मा भीषन्त इति मात्राः प्राज्ञोक्षाद्विना-  
शिन्यो दशार्थानां पञ्चानां भूतानामित्यर्थः । ननु जीवस्थोक्त्वान्तिकाटे  
भूताश्रयत्वं 'सौ ह यदूचतुः कर्म ह्येव तदूचतुः' [बृ० ३ । २ । १३]  
इति कर्माश्रयत्वबोधकधुतिविकल्पादिति चेन्न । कर्मणो बन्धनित्तत्वे-  
नाऽऽश्रयत्वं भूतानां देहोपादानत्वेनाऽऽश्रयत्वमित्यविरोधात् । सौ  
वाज्ञवल्क्यार्तमागौ वज्जीवाधारभूतंमूचतुस्तत्कर्मैवेति धृतेर्यचनम् ॥ ६ ॥

( ज्ञान्यज्ञानिनोरुक्त्वान्तेरपि साम्यम्, अधि० ४ )

समाना चाऽऽमृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥

पूर्वोक्तामुक्त्वान्तिमुपजीव्य संदिशते । किमुक्त्वान्तिरविदुष एषोत

(श्री०)संप्रोक्तोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतमूक्षेपु व्यवति-  
ष्ठतइत्यवगन्तव्यम् 'प्राणस्तेजसि' इत्यतः ध्रुतेः ॥ ५ ॥

एकस्मिन्नेव तेजसि कथं तेजःसहचरितेषु भूतेषु इत्यत आह—नैकस्मि-  
न्निति । नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्रातिषेडार्था जीवोऽवतिष्ठते ।  
कुतः । हि यस्माद्दर्शयतः क्षुतिस्मृती । 'पृथिवीमपः' इत्याद्या क्षुतिः ।  
स्मृतिरपि 'अण्यो मात्राः' इत्याद्या । प्रश्नप्रतिषेधने च 'आपः  
पुरुषवचसः' इति ॥ ६ ॥

पूर्वाधिकरणे प्राणस्याऽऽत्मद्वारा तेजसि धुत्तिलय उक्तः स न



(अ०५०) विदुषो ब्रह्मविदिसगुणब्रह्मोपासकस्यापीति । तत्र 'तयोर्ध्वमाय-  
न्नमृतत्वमिति' [छा० ८।६।६ ] इति ब्रह्मोपासकस्य मोक्षश्रवणाद्विदुष-  
एवोक्तान्तिरिति प्राप्ते ब्रूमः । आसृतिः सरणानुकूलो देवयानमार्गस्त-  
दुपक्रमात्पूर्वमाविनी योक्तान्तिः सा सगुणब्रह्मविद्विदुषोः समानैव  
'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते' [ छा० ६।८।६ ]  
इत्यादिसामान्यश्रवणात् । ननु कथं तर्हि सगुणविद्यायाममृतत्वश्रवण-  
मिति तत्राऽऽह-अमृतत्वं चेति । उष दाह इति धातोरिदं रूपमनुपी-  
ष्येति । रागादीन्केशानदग्ध्वैवेदमापेक्षिकममृतत्वं ब्रह्मलोकप्राप्तिलक्षणं  
न मुख्यो मोक्षः । अत एव तयोर्ध्वमापन्निति मूर्धन्यनाडीद्वारोक्तान्ति-  
पूर्वकत्वममृतत्वस्य दक्षितम् । तस्माद्विद्वद्विदुषोः समानैवोक्तान्तिरिति  
सिद्धम् ॥ ७ ॥

ननुक्तान्तिः समानेत्ययुक्तं मृतस्य स्वरूपत एवात्यन्तं ब्रह्मसंपत्तोरि-  
त्याक्षेप इदमारभ्यते-

( तेजःप्रमृतीनां मृतानां परमात्मनि वृत्त्या लयः, अधि० ५ )

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

तेजः परस्वां देवतायाम् ' [ छा० ६।८।६ ] इत्यत्र तेजः सजीवं  
सेन्द्रियजतं प्राणमनोमृतान्तरसहितं परमात्मनि संपद्यत इति सूक्ष्मशरी-  
रस्य लयः श्रूयते स लयः किमात्यन्तिक एवोतानात्यन्तिक इति संशयः ।  
पूर्वपक्षे मृतमात्रस्य मुक्तिः सिद्धान्ते तदभाव इति बोध्यम् । तत्र  
ब्रह्मण उपादानत्वादात्यन्तिक एव लय इति प्राप्ते ब्रूमः । तदुक्त-  
विशेषणं सूक्ष्मं तेज आऽपीतेरामोक्षादवतिष्ठते ।

(श्लो०) विदुष एवेत्याक्षिप्य समाधत्ते-समानेति । समाना चैवोक्तान्तिर्वा-  
ङ्मनसीत्याद्या विद्वद्विदुषोरासृत्युपक्रमादा, उत्तरमार्गोपक्रमात् । ननु  
विदुषोऽमृतत्वं प्राप्तस्य कुतो गमनमित्यत आह-अमृतत्वं चानुपोष्य ।  
अदग्ध्वाऽविद्यादिक्लेशबीजानि । इदममृतत्वंमिति ॥ ७ ॥

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मविदोऽविदुषश्च समानोक्तान्तिरुक्ता सैवानुपपन्ना  
तेजःकार्यस्य ब्रह्मणि कारणे सर्वात्मना लयोपपत्तिरित्याक्षिप्य समाधत्ते-  
तदिति । तत्तेजआदि मृतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकारणाश्रयमृतमाऽपीतेरा संसा-

(अ० ४०१) योनिमन्थे प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनिः ।

स्थाणुमन्थेऽनुसंधन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' [ क० ५ । ७ ]

इति संसारव्यपदेशात् । विधितस्वज्ञानशास्त्रबोर्भूतमात्रस्य मुक्तावा-  
नर्थक्यं च प्रसज्येत । तस्मात्सुपुत्राधिकानात्पन्निको लयः ॥ ८ ॥

ननुकलक्षणं तेजो यद्यस्ति तर्हि देहाग्निर्गच्छरपाम्बुस्यैरुपलभ्येत  
प्रतिहन्येत येष्यादिवन्मूर्तान्तरेणेत्यत आह—

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

चकारः स्वरूपसौक्ष्म्यसमुच्चयार्थः । उक्तं तेजः परिमाणतः स्वरूपतश्च  
सूक्ष्मं त्रसरेणुष्वक्षुर्बन्ध तस्य नाडीद्वारा निष्क्रमणश्रुत्या तथा सूक्ष्मत्वे-  
नोपलब्धेः । अत्र सूक्ष्मत्वेनैव स्वच्छत्वमुपलक्ष्यते । तथाचानुद्भूतरूप-  
त्वेन सूक्ष्मत्वाच्चक्षुर्बन्धोपलभ्यते । स्वच्छत्वान्मूर्तान्तरेण न प्रतिहन्यते ।  
स्वल्पत्वान्नाड्यादीं संचारोपपत्तिरिति ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अत एव स्वच्छत्वलक्षणात्सौक्ष्म्याद्भ्रमसक्तत्वरूपादस्य सूक्ष्मशरीरस्य  
स्यूतदेहस्य दाहच्छेदादिनिमित्तेनोपमर्देन नोपमर्द इत्यर्थः ॥ १० ॥

सूक्ष्मदेहसद्भावे शौण्डिल्यलिङ्गरुमनुमानमाह—

अस्यैव चोपपत्तेरेप ऊष्मा ॥ ११ ॥

स्यूतदेह एव उपलभ्यमान ऊष्माऽस्यैव सूक्ष्मदेहस्य धर्मः । सत्येव

(दी०) रमोक्षाद्वृत्तिष्ठते 'योनिमन्थे प्रपद्यन्ते' इत्यादिना संसारव्यप-  
देशात् ॥ ८ ॥

कुतस्तर्हि उक्तमे तत्तेजो न वृत्त्यत इत्यत आह—सूक्ष्ममिति ।  
चकारस्वर्थस्तेजसो दर्शनं व्यावर्तयति । तत्तेजः सूक्ष्मं स्वरूपतः प्रमा-  
णतश्च । तदाह—प्रमाणतश्च । कुतः । नाडीनिष्क्रमणादिभ्यस्तथासूक्ष्म-  
त्वस्योपलब्धेः ॥ ९ ॥

ननु सूक्ष्मशरीरस्य स्यूतशरीरान्तरत्वात्तन्नाशे नाश इत्यत आह—  
नोपेति । अत एव सूक्ष्मत्वाच्च स्यूतशरीरस्योपमर्देनोपमृद्यते ॥ १० ॥

मन्वस्मिन्नेव शरीर ऊष्मण उपलभ्यमानत्वात्ततोऽतिरिक्तं तेजः  
कल्पनीयमित्यत आह—अस्यैवेति । अस्यैव ऊष्मा । सूक्ष्मशरीरे सत्सुप-

(अ० व० १) सूक्ष्मवेदे तद्रूपलब्धेस्तदभावे मृतदेहे तद्रूपलब्धेरित्यन्वयव्यतिरे-  
काभ्यां तद्वर्मस्यैवोपपत्तेरित्यर्थः ॥ ११ ॥

आसुरपुपक्रमधिकरणे मुरुषामृतत्व उक्त्वान्त्यभावो दर्शितः स म  
युक्त इत्याक्षिपति—

( देहादेव प्राणोत्क्रान्तेर्निषेधः, अधि० ६ )

प्रतिषेधादिति चेन्न शरीरात् ॥ १२ ॥

व्यवहितधिकरणेनास्य संगतिः । किं निर्गुणब्रह्मविद् उक्त्वान्ति-  
रस्ति न वेति संवेदेऽस्तीति प्राप्तम् । ननु 'अथाकामयमानो योऽकामो  
निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उक्त्वामन्ति'  
[ बृ० ४ । ४ । ६ ] इति परब्रह्मविदः शरीरात्प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधाद्वा-  
स्त्युत्क्रान्तिरिति चेन्न । शरीरात्जीवाद्यं प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधो न  
शरीरात् । 'न तस्मात्प्राणा उक्त्वामन्ति' [ बृ० माध्य० ४ ।  
४८ ] इति माध्यंदिनशास्त्रायां जीवादेव प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधस्य  
श्रुतत्वात् । तस्मात्प्राणादिसहितस्य जीवस्य परब्रह्मविदोऽप्युत्क्रान्तिर-  
स्तीति पूर्वपक्षः । श्रुत्यर्थस्तु—मुक्तिप्रक्रमार्थोऽथशब्दो बाह्यविषयकाम-  
नाशून्यत्वं मानसिकविषयकामनाशून्यत्वं निष्कामत्वं प्राप्तस्वरूपानन्द-  
श्रुतत्वमाप्तकामत्वं तत्र हेतुरात्मकाम इति ॥ १२ ॥

सिद्धान्तवति—

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

एकेषां काण्वानां शास्त्रायां प्राणानां परब्रह्मविद्देहास्पष्ट उक्त्वान्ति-

(वी०)लब्धेरित्युपपत्तेः । चकारः श्रुतिमप्याह 'ऊष्म एषैषः' इत्या-  
दिकाम् ॥ ११ ॥

पूर्वाधिकरणे संसारव्यपदेशेन तेजसो वृत्तिलय उक्तः । अत्रापि  
मरणव्यपदेशाद्देहापादानोत्क्रान्तिप्रतिषेध इति सिद्धान्तोपक्रमेण सूत्रे-  
णाऽऽक्षिपति—प्रतिषेधादिति । सूत्रावयवेन सिद्धान्तमाह—प्रतिषेधादिति  
चेत् । 'न तस्य प्राणा उक्त्वामन्ति' इत्यस्मात्प्रतिषेधाद्विद्यावतो  
न गमनमिति चेत्तन्न । शरीरात् । जीवाद्यं गमनप्रतिषेधो न  
शरीरात् ॥ १२ ॥

एवं शक्तिस्था पुनः सिद्धान्तमाह—स्पष्ट इति । न शरीरापाद्

(अ० ५०) प्रतिषेधः । हि यत उपलभ्यते अतो न तस्योक्तान्तिरस्तीत्यर्थः । तथा हि 'यत्रायं पुरुषो श्रियत उदस्मात्पाणाः क्लामन्पाहो मेति' [ वृ० ३।२।११ ] इत्यार्तभागप्रश्ने द्वितीयमनुक्तान्तिपक्षमाश्रित्य बाह्य-वल्क्यो नोक्तामन्तीत्युक्त्वा तर्हि प्राणोक्तान्त्यभावे मृतो न भवेदित्या-शङ्क्यात्रैव समवनीयन्त इति प्राणविलयं प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये 'स उच्छ्रयत्पाभ्यात्पाभ्यातो मृतः शेते' [ वृ० ३।२।११ ] इत्युक्ता-न्त्यवधेर्देहस्योच्छ्रयनादिकमाह । एतत्सामान्यान्माध्यंदिनशाखायामपि तस्मादित्यनेन देहस्यैव ग्रहणं बोध्यम् । उपलब्धत्वात्साक्षात्कारस्य यत्र यदाऽयं स्थूलः प्रत्यक्षः पुरुषो देहो श्रियते सर्वचेष्टानुन्वोऽतिश्रितलो भूमी शेते तदाऽस्माद्देहात्पाणा उक्तामन्त्याहो पक्षान्तरे त अत्रैव नाशं यान्तीति प्रसार्थः । अत्र प्राणशब्देन सूक्ष्मदेहोक्तिः । स देह उच्छ्रयत्यु-च्छूनो भवति । नन्वरं रोगः कश्चेत्यत आह-आभ्यापतीति । बाह्येन वायुना पूरितो विविधाऽऽच्छन्दान्दर्दभेरीवत्करोति यत आभ्यातः शब्दवान्मृतो विलीनसूक्ष्मशरीरः सन्भूमी शेते इत्यर्थः । तस्माच्चैवा-त्यापोक्तान्तरेषात्तत्वेन निषेधायोगाद्दिह्देहादेव प्राणोक्तान्तिप्रतिषेध इति न विदुषो मार्गोक्तान्ती स्तः ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

महामारते मार्गोक्तान्त्योरभावः ।

सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः ॥

देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यवदस्य पदैषिणः [ महामा० १२।२७२।२२ ] इति ।

पदशब्दः प्राण्यवाची स्वातिरिक्तपदशून्यब्रह्मविवः पदैषिणो देवा अपि मार्गे मुह्यन्ति मार्गं न जानन्ति तद्भावादित्यर्थः । तस्माद्ब्रह्मवः स्वरूपे ब्रह्मण्येव प्राणानां लपो नोक्तान्तिरिति सिद्धम् ॥ १४ ॥

(श्री०) प्राणानामगमनम् । कुतः । हि यस्माद्देहेषां शास्त्रिणां शरीरस्यैव स्वप्ने ह्यपादानभावः श्रूयते स उच्छ्रयतीत्यादिना देहस्यैवापादानतयो-पलम्भात् ॥ १३ ॥

स्मर्यत इति । स्मर्यतेऽपि भारते गत्युक्तान्त्योरभावः सर्वभूतात्मे-त्यादिना ॥ १४ ॥

(ब०४०१)ननु ब्रह्मणि प्राणलय इत्ययुक्तं पृथिव्यादिषु लयश्रुतेरित्याक्षेप इदमाह—

( तत्त्वज्ञानिनो वागादीनां परमात्मनि लयः, अधि० ७ ) ।

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥

किं विदुषः प्राणशब्दाभिधयसूक्ष्मदेहलयः पृथिव्यादिषु परब्रह्म-  
णीति संदेहे 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' [ मु० ३ । २ । ७ ] इति  
विद्वद्भिषयश्रुत्यैव पृथिव्यादिषु लयावगमत्तत्त्वेष्वेव लय इति पूर्वपक्षः ।  
यद्यपि मनःसहितानि दशेन्द्रियाणि पञ्चभूतसूक्ष्मसहितानि पञ्चप्राण-  
सहितानि वा षोडशकलाः सन्ति तथाऽपि प्राणमनसोरैकपृथिवीवि-  
कारत्वेनैक्यविषयक्षया श्रुती पञ्चदशेत्युक्तम् । प्रतिष्ठाशब्देन तत्त्वकलो-  
पादानानि पृथिव्यादीन्पुच्यन्ते । तानि कला गतास्तत्र लीना इति  
यावत् । तत्र सिद्धान्तः । तान्युक्तविशेषणानीन्द्रियाणि षोडशकला-  
त्मकसूक्ष्मदेहरूपाणि परे ब्रह्मणि लीयन्ते । तथा ह्याह श्रुतिः—'एवमे-  
वास्य परिद्वन्द्वुरिमाः षोडश कलाः पुरुषपायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छ-  
न्ति' [ प्रश्न० ६ । ५ ] इति । यथा नद्यः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्त्येवमे-  
वास्य जीवस्य परि सर्धतोऽनवच्छिन्नप्रत्यग्रूपब्रह्मद्वन्द्वुरिमाः स्वानुभव-  
गम्याः कलाः पुरुषाश्रयास्तं प्राप्य लयं यान्तीत्यर्थः । स्वोपादाने  
स्वस्य लय इति व्याप्तिमूलकव्यावहारिकप्रमाणानुमानापेक्षया पूर्वश्रुतौ  
पृथिव्यादिषु लिङ्गशरीरलय उक्तस्तत्त्वावेदकश्रुत्यपेक्षया ब्रह्मविवर्तस्य  
सर्वस्य ब्रह्मणि लयो द्वितीयश्रुतायुक्त इत्यविरोधः । स्वोपादानेषु प्रली-  
नाः कलाः स्वोपादानैः सह ब्रह्मणि नश्यन्तीति श्रुतिद्वयतात्पर्यम् ॥ १५ ॥

( तत्त्वविदो वागादीनां निःशेषेण परमात्मनि लयः, अधि० ८ ) ।

अविभ्रामो वचनात् ॥ १६ ॥

सोऽयं विद्वत्कलाविलयः किमविदुष इवानात्यन्तिकं उताऽऽत्यन्तिकं

(श्री०) पूर्वाधिकरण उच्छ्रयतीत्यादिना देहस्य प्रकृतत्वात्तदापादानोक्ता-  
न्तिप्रतिषेधः कुतस्तद्द्वयापि 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' इति वच-  
नाविन्द्रियाणां भूतेषु लय इत्याक्षिप्य समाधत्ते—तानीति । तानीन्द्रि-  
याणि भूतानि निर्गुणविधावतः परे परमात्मनि प्रलीयन्ते । कुतः । ।  
यस्मात्तथाऽऽह श्रुतिः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्तीति ॥ १५ ॥

पूर्वाधिकरणे विदुष इन्द्रियाणां परस्मिन्नाविलय उक्तः स चानु

(अ०५०) इति संदेहः । एकविषयत्वं संगतिः । पूर्वपक्षे मोक्षासिद्धिः सिद्धान्ते तस्मिद्धिरिति बोध्यम् । यत्र फलं नोच्यते तत्र पूर्वोत्तरपक्ष-सिद्धिः फलमिति भन्तव्यम् । तत्रानात्पन्तिको लय इति प्राप्ते ह्यमः । विदुषः कलानां ब्रह्मणा सहात्यन्तमविभाग एव न सावशेषो लयः । कुतः । कलानां लयोक्त्यनन्तरं 'भिद्येते चासां नामरूपे, [प्रश्न०६।५] इति कलानां शफत्यात्मकनामरूपयोः पुरुषे लयमुक्त्वा 'स एषोऽकलोऽमृतो भवति' [ प्रश्न० ६ । ५ ] इति वचनादित्यर्थः ॥ १६ ॥

परविद्याचिन्तां प्रासङ्गिकीं समाप्य प्रकृतामपरविद्याचिन्तामनुसरति—

( उपासकस्योक्तान्तोर्दिशेषवत्त्वम्, अधि० ९ ) ।

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्या-  
सामर्थ्याच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दा-  
नुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥

आसृत्युपक्रमाधिकरणे समुज्ज्वलविदामविदुषां च समानोक्तान्ति-रित्युक्तं तत्र विद्वदुक्तान्ती विशेषोऽत्रोच्यते । तस्य लीनवृत्तिकथागा-दिसमूहस्योक्तमिष्यतो जीवस्यैक आचतनं हृदयं तस्य यद्ग्रं नाडीद्वार-मुक्तं तस्य ज्वलनं प्रातःकर्मफलज्ञानरूपं प्रद्योताख्यमादी भवति तेन प्रद्योतेन प्रकाशितद्वारो विद्वानविद्वांश्च भवति । तथा हि श्रुतिः—'तस्य ह्रितस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्कामति चक्षुषो वा मूर्ध्ना वाऽन्येभ्यो वा शरीरद्वेषेभ्यः' [ वृ० ४ । ४ । २ ] इति । तत्र संशयः । किमविदुष इव विदुषोऽप्यनियतेन केनचिद्द्वारेणोक्तान्तिरुत

(श्री०) पन्नो वृत्त्याऽन्यत्राप्युपपत्तेरित्याक्षिप्य समापत्ते-अविभाग इति । इन्द्रियाणां भूतानां च ब्रह्मणि प्रविलये ब्रह्मणोऽविभाग ऐक्यं निर्गुणविद्यावतो वृत्तिनतामेषां प्रविलय इत्यर्थः । कुतः । वचनात् । 'भिद्येते चाऽऽसां नामरूपे' इत्यादेः ॥ १६ ॥

व्यवहृताधिकरण आ सृत्युपक्रमाद्विदुषोऽविदुषश्च समाना गतिरुक्ता साऽनुपपन्ना विदुषोऽप्यनियतनाडीगमनादित्याक्षिप्य समापत्ते । अथ वा पूर्वाधिकरणं निर्गुणविद्यावतोऽविभागेन परस्मिन्निद्रियलय उक्त-

(न०५०) मूर्धन्यनाडीद्वारेण नियतनेवेति । तत्र विद्वत्कलानां वचनादवि-  
 भागवच्चङ्गुष्टो वेत्तनियमवचनादनियतेनेति प्राप्ते ब्रूमः । दहरादिसगुणब्र-  
 ह्मोपासकस्य मूर्धस्थानादेव निष्क्रमणं विद्यासामर्थ्यात् । अन्यथा द्वारानि-  
 यमामावे विद्यात उत्कृष्टफलप्राप्तिर्न स्यादित्वर्थः । मनु द्वारानियमेऽप्यु-  
 त्कृष्टफलप्राप्तिर्भविष्यतीत्यत आह—तच्छेषगत्वनुस्मृतियोगाच्चेति । तस्याः  
 सगुणविद्यायाः शेषभूता गतिमूर्धन्यनाडीप्रभृतिभिर्मार्गस्तस्यानुस्मृति-  
 र्धानं तद्विधानाच्च तेनैव ध्यातेन मार्गेण निष्क्रमणं युक्तम् । अन्यथा  
 द्वारानियमेऽपि फलप्राप्तौ मार्गध्यानविधिवैयर्थ्यं स्यात् । तस्माद्भृङ्गि-  
 षेन ब्रह्मणा सृष्टिसिनेनानुगृहीतस्तद्भावमापन्नो विद्वान्मूर्धन्ययैव शतना-  
 डीभ्योऽधिकया निष्कामत्पविद्वास्त्वितराभिर्नाडीभिः । तथा च श्रुति-  
 हादंब्रह्मविद्यायाम्—‘शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः-  
 सृतेका । तपोर्ध्वमाचक्रमुत्तमेति विष्वक्कन्या उत्क्रमणे भवन्ति ’ [छा०  
 ८ । ६ । ७ ] इति । विष्वक् नाना गतयः । तस्माद्भृद्वयाद्भुतया भास्वरया  
 मूर्धानं गतया सूर्यरश्मिरेकीकृतया ब्रह्मनाडया विद्वान्निष्कामतीति  
 सिद्धम् ॥ १७ ॥

( निशायामपि मृतानां रश्मिप्राप्तिः, अधि, १० )

(दं०) स्तद्वत्सगुणविद्यावतोऽपि स स्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य गतिवि-  
 शेषप्रदर्शनेन समाधत्ते—तद्वोक इति । तस्य विज्ञानात्मन ओक आपतने  
 हृदयं तस्य हृदयस्याग्रज्वलनं तेन ज्वलनेन प्रकाशितानि द्वाराणि यस्य  
 सोऽयं तत्प्रकाशितद्वारः सर्वोऽपि जन्तुश्चक्षुरादिभ्यः स्थानेभ्य उक्ता-  
 मति । विद्वांसु हादेन ब्रह्मणाऽनुगृहीतः शताधिकया मूर्धन्यया नाड्या ।  
 कुतः । विद्यासामर्थ्यानुपासनसामर्थ्यात् । तत्सामर्थ्यादपि अनयैव  
 गच्छतीति को नियम इत्यत आह—तच्छेषगत्वनुस्मृतियोगाच्च । तस्या  
 विद्यायाः शेषभूता मूर्धन्या नाडी गतिरुत्तरमार्ग इति यावत् । तस्या-  
 नुस्मृतिरनुस्मरणं तस्ययोगस्तस्मादपि । चकारः सामर्थ्यमनाक्षेप-  
 माह ॥ १७ ॥

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

(अ० पा० १) हार्दद्वहरव्रह्मविद्यायामेव ब्रह्मनाडीरश्मिसंबन्धमुक्त्वा 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीराद्भुक्त्वात्मत्पथैर्तेरेव रश्मिभिरुर्ध्वमाक्रमते' [छा० ८। ६। ५] इति पूर्वोक्तरीत्या ब्रह्मनाड्या निष्कामतो रश्म्यनुसारित्वमुक्तं तदाश्रित्य संदिश्यते । किं तद्भ्रम्यनुसारित्वमहर्मृतस्यैव भवत्युत राज्ञावपीति । पूर्वपक्षे राज्ञौ मृतस्य सूर्वावपापेक्षा सिद्धान्ते तदनपेक्षयैव ब्रह्मलोकमाप्तिरिति फलम् ॥ १८ ॥

तत्राहनि राज्ञौ वा मृतो रश्म्यनुसारीति सिद्धान्तपतिज्ञामाक्षिप्य समाधत्ते—

निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावदे-

हभावित्वादर्शयति च ॥ १९ ॥

अहनि सूर्यरश्मिनाडीसंबन्धस्य सत्त्वात्तत्रैव मृतो रश्म्यनुसारी निशि तु न भवति तदसत्त्वादिति चेन्न । नाडीरश्मिसंबन्धस्य यावद्देहमावित्वात् । यावद्देहमावित्वं च क्षुतिदर्शयति 'अमुष्मादादित्यात्प्रतापन्ते ता आसु नाडीषु सृता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतापन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृताः' [छा० ८। ६। २] इति । प्रतापन्ते विस्तृता भवन्ति रश्मयः सृताः संबद्धाः । नन्वत्र संबन्धः क्षुतो न तस्य यावद्देहमावित्वमित्याशङ्क्य प्रमायान्तरसूचकः सूत्रे चकारः प्रयुक्तो राज्ञावर्ष्यौष्यस्य देहे दर्शनाद्भ्रम्यनुसारीत्वोऽनुमेय इति । तस्माद्दहनि राज्ञौ वा मृतो विद्वानविलम्बेनैव रश्म्यनुसारीति सिद्धम् ॥ १९ ॥

( दक्षिणायनमृतस्योपासकस्य ज्ञानफलमाप्तिः, अधि० ११ )

(दी०)पूर्वाधिकरणे मूर्धन्यनाड्या समुणवित्कुक्कामतीत्युक्तं तद्विषये मृतस्यैव न राज्ञौ तत्र रश्मीनाममावादित्याक्षिप्य समाधत्ते—रश्मीति । 'अथैतेरेव रश्मिभिरुर्ध्वमाक्रमते' इत्येष द्विवसे राज्ञौ च रश्म्यनुसारी याति ॥ १८ ॥

निशि राज्ञौ न रश्म्यनुसारी यातीति चेन्न रश्मिसंबन्धस्य यावद्देहमावित्वात् । असृष्टा (मुष्मा)दित्यादिना दर्शयति । चकारो निदाघनिशाह्नु रश्मीनां स्पर्शोपलम्बमाह ॥ १९ ॥



अतश्चापनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

(अ०३०)किं दक्षिणापने मृतो विद्वान्विद्याफलं प्राप्नोति न वेति संदेह उत्तरायणप्राशस्त्यप्रसिद्धे भीष्मस्य तत्पतीक्षादर्शनाच्च न प्राप्नोतीति प्राप्तेऽतिदिशति पूर्वन्यायमतश्चेति । अत एव कालान्तरप्रतीक्षानुपपत्तेर्विद्याया नित्यवत्फलसंबन्धभ्रवणाद्दक्षिणेऽप्यपने मृतो विद्वान्फलमाप्नोत्येवेत्यर्थः । अविद्वेषामुत्तरायणं प्रशस्तमित्यभिवदनरूपसदाचारप्रवृत्त्यर्थं पितृप्रसादलब्धस्वेच्छामरणज्ञापनार्थं वा भीष्मस्य विद्वेष उत्तरायणप्रतीक्षेति भावः ॥ २० ॥

मनु भगवद्गीतासु—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ [म०गी०८ । २३]

इति कालमेव प्रतिज्ञायाहारादिकालविशेषस्यानावृत्तये नियतत्वोपदेशात्कथं रात्रौ दक्षिणापने वा मृतो विद्वाननावृत्तिमाप्नुयादित्यत आह—

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

योगिनः स्मार्तविद्योपासकान्स्वयम्बहारादिकालविशेषः स्मर्यते स्मार्तस्वपत्यासत्तेर्न श्रौतद्वहाराद्युपासकान्प्रति । नन्वत्र योगो द्वहाराद्युपासनमेवास्तु तत्राऽऽह—‘स्मार्ते चैते’ इति । ब्रह्मार्पणबुद्ध्या कृतमित्याग्निहोत्रादिकर्म योगः ‘अनाशितः कर्मफलम्’ इत्यादिस्मृतेः । धारणपूर्वकाकर्तृत्वानुभवः सांख्यम् । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारणम्’ इति स्मृतेः । तथा च ते योगसांख्ये स्मार्ते एव न श्रौतविद्यादिरूपे । तथा श्रुतिस्मृत्योरर्थभेदान्न श्रौतोपास्तिषु कालनियमः ।

(श्री०)पूर्वाधिकरणे रात्रौ मृतस्यापि रात्रौ रक्षीनां सद्भविनोत्तरमार्गमनमुक्तं तद्दक्षिणापने मृतस्यानुपपन्नमित्याक्षिप्य समाधत्ते—अत इति । अतश्चात एव मरणस्यानियतकालत्वाद्यने दक्षिणेऽपि मृतो विद्वान्विद्याफलमाप्नोत्येव ॥ २० ॥

यत्र काल इत्यादिना दक्षिणापने मृतानां पुनरावृत्तिः स्मर्यत इत्यत आह—योगिन इति । योगिनः स्मार्तयोगवतस्तान्प्रति स्मर्यते काल-

(म०५०)एदि च भुत्वुक्तदेवयानपितृवाणयोरेवात्र स्मृतावपि प्रत्यभिज्ञा-  
मात्स्मृतौ कालशब्देन तदभिमानिदेवताग्रहणं श्रुतिसमानार्थत्वाय क्रियते  
तदाऽहुरादिकालाभिमानीदेवतानां सर्वेषां सत्त्वाज्ज विदुषो मृतौ काल-  
नियमापेक्षेत्पनवद्यम् । तस्माद्यदाकदाचिन्मृतो विद्वान्बिद्याफलं प्राप्नो-  
तीति सिद्धम् ॥ २१ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्मामृतवर्षिण्यां चतुर्थाध्याये  
द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

एवं सगुणविद्याफलप्राप्तये देवयानमार्गं वक्तुं तदङ्गोक्तान्तिचिन्ता  
कृता संश्लेषेण देवयानमार्गं वस्तुमर्षं पाद आरभ्यते—

( अचिरादिकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्यैकत्वम्, अधि० १ )

अचिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

अस्ति ब्रह्मलोकप्राप्तिहेतौ मार्गं श्रुतीनां विप्रतिपत्तिः । माहीसंबन्ध-  
रश्मिरूपो मार्गः कश्चिच्छ्रूयते, कश्चित्तु 'तेऽर्चिपममिसंभवन्त्याचिषोऽहः'  
[ छा० ५।१०।१ ] इत्यादावग्न्यादिकरूपः, अन्यत्र तु 'सूर्यहारेण  
ते विरजाः प्रयान्ति' [ सु० १।२।११ ] इति श्रुतम् । विरजा  
विरजसो मार्गतत्वाप्यफलविरोधिविद्युरा इत्यर्थः । तत्र श्रुतिविप्रतिपत्त्या  
संशयः । किं परस्परं भिन्ना एवैते मार्गा उतानेकविशेषज्युक्त एक  
एवेति । पूर्वपक्षे येन केनचिन्मार्गेण गमनमिति विकल्पः सिद्धान्ते  
मार्गैस्पाद्विकल्पव्यापार इति बोध्यम् । तत्र श्रवणभेदाग्न्यामार्गभेदः । तथा  
च विदुषां मृतिकालानिपमवन्मार्गानियम इति प्राप्ते ब्रूमः । सर्वो हि  
ब्रह्मलोकभेदुराचिरादिनैवैकेन मार्गेण गन्तुमर्हति । कुतः । तत्प्रथितेः ।

(श्रि०)विनिषेगः स्मार्ते चैते शेषसंक्षेपे । आद्यक्षकारो ब्रह्मविदुः प्रत्य-  
स्स्वरणमाह । आतिवाहिकानङ्गीकारेण कृता चिन्तेयम् ॥ २१ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयपादः ॥ २ ॥

पूर्वपाद उक्तान्तिनिरूपितेदानीमुक्तान्तस्य विदुषोऽचिरादिका  
गतिनिरूप्यते—अधिरिति । सर्वो ब्रह्म भेदुराचिरादिनैव मार्गेण

(ब० व० १) तस्यार्चिरादिमार्गस्य पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे ' ये चामी अरण्ये  
श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिपमभिसंभवन्ति ' [बृ० ३।२।१५ ] इति पञ्चा-  
ग्न्युपासकस्थेवेतरस्यापि सगुणोपासकस्य भुतत्वादित्यर्थः । न च प्रक-  
रणभेदान्मार्गभेदः । सर्वत्रार्चिराद्येकदेशप्रत्यभिज्ञानाद्गन्तव्यब्रह्मलोकामे-  
दाच्च सर्वत्र सर्वविशेषणोपसंहारेणानेकविशेषणयुक्तमार्गैक्यावगमात् ।  
तस्माद्ब्रह्मलोकप्राप्तित्तुमार्गः सर्वेषामेक एवेति सिद्धम् ॥ १ ॥

( संवत्सरादित्ययोर्मध्ये देवलोकवायुलोकौ संनिवेशयितव्यौ,  
अधि० २ )

### वायुमव्यादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

सर्वेषां मार्गविशेषणानां ग्रथनप्रकारः कथ्यते । ' स एतं देववानं पन्था-  
नमासाद्याशिलोकमागच्छति स वायुलोकं स धरुणलोकं स इन्द्रलोकं  
स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम् । [ कौ० १ । ३ ] इति कौपीतकिनो  
देववानं मार्गमामनन्ति । स विद्वांस्तत्तल्लोकं प्राप्तस्तत्तल्लोकस्वामिनाऽ-  
स्यादिना नीयत इत्यर्थः । छन्दोगास्त्वेवमधीयते—तेऽर्चिपमभिसंभव-  
न्त्यर्चिषोऽह्नह्न आपुर्षमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्यद्बुद्धेति मासांस्ता-  
न्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम् ' [ छा० ५ । १० । १ ] इति ।  
उद्बुद्धादित्यो यान्वण्मासानेति तानिति योजना । अत्र भुतिद्वेषेऽप्य-  
ग्निरादौ पठितोऽनन्तरं च कौपीतकिश्रुतौ वायुः भुतः । सोऽर्चिरादि-  
मार्गै कस्मादनन्तरं ग्रन्थितव्य इति संदिहे सर्वत्रार्चिराद्येकदेशप्रत्यभिज्ञा  
नान्मार्गैक्यवद्गम्यनन्तरं वायुप्रत्यभिज्ञानात्तत्रैव तस्य प्रवेश इति प्राप्ते  
कृतः । अन्दात्संवत्सराद्गमन्तरमादित्यात्पूर्वं वायुमभिसंविशन्ति गन्तारः ।  
कृतः । अविशेषविशेषाभ्याम् । कौपीतकिश्रुतौ वायोः कृतश्चिदानन्तर्यं  
पूर्वत्वं वा विशेषो न ज्ञायते तद्वाचकपदाभावात् । बृहदारण्यके त्वादि-

(क्षी०)रंहति । कृतः । तत्प्रथितः । तस्य मार्गस्य विदुषां प्रथितेः प्रसिद्धेः  
' ये चामी अरण्ये ' इत्यादिना ॥ १ ॥

पूर्वाधिकरणे विदुषोऽर्चिरादिमार्गैण गमनमुक्तम् । स मार्गो न  
नियतो याथोरेतस्मिन्नश्रवणादित्याक्षिप्य समाधत्ते—वाप्यिति । वायु-  
मव्यात्संवत्सराद्देवलोकं प्राप्येति श्लेषः । कृतः । अविशेषविशेषाभ्याम् ।

(अ०५०१) त्वात्पूर्वत्वं विशेषो दृश्यते ' यदा वै पुरुषोऽस्माहोकार्थैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य चं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति ' [ब्र०५।१०।१] इति । पुरुषो ध्याता लोको देहः प्रैति तदेति शेषः । तस्मै मासाय ध्यात्रे स वायुस्तत्र विजिहीते छिद्रं करोति यथा रथचक्रस्य छिद्रं तेन वायुवत्तेन च्छिद्रेण द्वारेणोर्ध्वमाक्रमते स ध्याता । क ऊर्ध्वस्तमाह—आदित्यमिति । तथा च तेनेति ध्रुत्वाऽऽदित्यममनहेतुद्वारस्य वायोः पूर्वत्वस्वाऽऽदित्याद्वचमाम्बन्धनन्तरपाठस्य बाधः । अत्रैवं क्रमो निष्पन्नः । नाडीरश्मिप्रवेशानन्तरमाँचिरादिवत्सरान्तं गच्छति विद्वाँभ्रान्दोग्यध्रुत्यनुसारात् । बृहदारण्यके मासानन्तरं संवत्सरस्यैवानुप्रवेशस्तस्य मासावयवित्वेन योग्यत्वात्संवत्सरानन्तरं देवलोकस्य देवलोकद्वारोर्वायोरादित्यस्वाऽऽदित्याच्चन्द्रमसम्बन्धात्तद्विहोक्तस्य प्रवेशः । तथा च सूत्रे वायुपदं देवलोकोपलक्षणम् । अन्दादनन्तरं देवलोकसहितं वायुमागच्छति विद्वानिति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

एवमम्बन्धनन्तरध्रुतवायोः स्थानमुक्त्वा तत्रैव कौपीतकिष्णती वाय्वनन्तरध्रुतवरुणादीनामाँचिरादिमार्गं स्थानमाह—

(वरुणादीनां संनिवेशादँचिरादिमार्गस्य ध्वषस्थापितत्वम्, अधि०३)  
तद्वितोऽपि वरुणः संबन्धात् ॥ ३ ॥

किं कौपीतकिबास्ये ध्रुतो वरुणोऽँचिरादिमार्गं संबन्धते न वेति सदेहे स्थानबोधकमानामावाप्त संबन्धत इति प्राप्ते ध्रुमः । तद्वितोऽपि विद्युहोकादुपरिद्वाररुणः संबन्धते । कुतः । संबन्धात् । तद्वित उपरि हि सजला मेघा दृश्यन्ते जलाधिपतिश्च वरुण इति तद्विद्वरुणयोः संबन्धादित्यर्थः । वरुणानन्तरमिन्द्रादेः प्रवेशः कौपीतकिनां पाठक्रमे बाधकामावादिति ॥ ३ ॥

(धै०)स वायुलोकमित्यविशेषः । स वायुमागच्छतीत्युक्त्वाऽनन्तरं तद्वत्तेन मार्गेण स आगच्छतीति विशेषमाह ताम्नाम् ॥ २ ॥

पूर्वाधिकरणे वायोर्ध्यानन्तरध्रुक्तं तथाऽपि वरुणलोकादीनामाँचिरादिसंनिवेशानुपपत्तिस्तद्व्यस्था निषामकामावादिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तद्वित इति । तद्वितो विद्युहोकादपि अनन्तरं वरुणलोकं वरुणस्य विद्युतां च संबन्धादिन्द्रप्रजापतिलोकयोरपि वरुणादपि आगन्तूनामन्ते निवेश इति न्यायेन संनिवेशः ॥ ३ ॥

(अ० ५०) एवमर्चिरादीनां क्रमं निरूप्य तेषामेव स्वरूपं निरूपयति—

( अर्चिरादीनामातिवाहिकत्वम्, अधि० ४ )

आतिवाहिकास्तलिङ्गात् ॥ ४ ॥

किमेतेऽर्चिरादयो मार्गचिह्नभूता उत गन्तूणां विदुषां भोगभूमय  
आहोस्विदातिवाहिका इति संशयः । तत्रार्चिरादीनां वृक्षनद्यादिवन्मा-  
र्गचिह्नत्वमग्निं लोकं वायुलोकमित्यादिलोकशब्दश्रवणाद्भोगभूमित्वं वेति  
प्राप्ते ब्रूमः । एतेऽर्चिरादय आतिवाहिकाः कार्यब्रह्मगन्तूणां विदुषां  
गमयितारः । कुतः । तलिङ्गात् । ' अमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति '  
[ छा० ५ । १० । २ ] इत्यमानवपुरुषस्य विद्युल्लोकं प्रातानुपासका-  
न्मति गमयितृत्वश्रवणादित्यर्थः । न च \* वस्य गमयितृत्वं श्रुतं तस्यैव  
+ तदिति वाच्यम् । तस्य वाक्यस्यार्चिरादिमानवपुरुषसमाभिव्याहार-  
प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वेन सिद्धश्रमयितृत्वानुवादकत्वात् । अतः  
सिद्धश्रमयितृत्वदर्शनालिङ्गात्पूर्वेषामप्यर्चिरादीनां पुरुषाणां नेतृत्व-  
मिति । न च लोकशब्दमात्रेण भोगभूमित्वमिति युक्तं लीनेन्द्रियाणां  
विदुषां भोगायोगात् । तस्मादग्निस्वामिकं लोकं प्राप्य तेनाग्निना बाह-  
केनाहर्द्वयं प्राप्नोति तेन च देवतान्तरमिति योज्यम् ॥ ४ ॥

ननु लिङ्गमात्रं न पूर्वेषां नेतृत्वगमकं × न्यायामावाहित्यत आह—

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

यद्यर्चिरादयोऽचेतनास्तदा विदुषामपि निर्देहानां लीनेन्द्रियाणां  
ज्ञानाभावेनोभयोर्विद्वद्वर्चिराद्योर्ब्रामोहादज्ञत्वात्कार्यब्रह्मप्राप्तिर्न स्यात् ।

(क्षि०) पूर्वाधिकरणेऽर्चिरादिमार्गे वरुणादीनां तद्धितोऽधि संबन्ध उक्तस्ता-  
वता मार्गो व्यवस्थितस्तथाऽपि तस्मिन्मार्गेऽर्चिरादिभ्यो गमनमधि-  
गन्तुं विद्वानेकाकी प्रभुस्ततो न नियतो मार्गोऽयमित्याक्षिप्य समाधत्ते—  
आतीति । अतिवहन्तीत्यातिवाहिकाश्चेतना दे(ए)र्चिरादयः । कुतः ।  
तलिङ्गात् । तेषां चेतनानां तत्पुरुषोऽमानव इति लिङ्गात् ॥ ४ ॥

मन्वत्रैवायं पुमास्तेताऽसिद्वत्यत आह—उभयेति । उभयस्यं गन्तूणां

\* अ. अमानवस्य । + अ. पूर्वेषां मानवायं श्रुतम् । × अ. पुत्रयमावात् ।

(म०भा०) लोके हि मूर्च्छितो यत्नहीनो यत्नवद्भिश्चेतनान्तरैर्नीयते नाचेत-  
नैरतो यत्नहीनश्चेतनश्चेतनान्तरैर्नीयत इति न्यायसहितच्छिद्रात्पूर्वेषाम-  
चिरादीनां देवतानां तत्सिद्धेर्नेतृत्वसिद्धेर्न न्यायहीनं लिङ्गमचिरा-  
दीनां देवत्वे रात्री दक्षिणापने वा द्युतस्य विदुषो ब्रह्मलोकगतिर्युक्ततरा  
मयति देवानां सदा सत्त्वादिति ॥ ५ ॥

ननु नाचिरादीनां नेतृत्वं विशुद्धोकादमानवपुरुषस्यैव नेतृत्वधवणा-  
द्दरुणादीनां नेतृत्वायोगादित्यत आह—

वैद्युतेनैव ततस्त्वच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

अमानवः पुरुषो विशुद्धोक्तागतो वैद्युतस्तेनैव ततो विद्युरयासे-  
रुर्ध्वं नीयमाना विद्वांसः कार्यं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति 'अमानव एव ब्रह्म-  
लोकान्गमयति विशुद्धोक्तस्थान' इत्यमानवस्यैव गमयितृत्वधवणात् ।  
अमानवोपसर्जनत्वेन वरुणादीनां नेतृत्वं न प्राधान्येनाचिरादिविद्युद-  
न्तानां तु प्राधान्येनैव नेतृत्वम् । तस्मादचिरादपो वेतार इति  
सिद्धम् ॥ ६ ॥

एवं गन्तव्यप्राप्तिहेतुं मार्गं निरूप्य फलमूतं गन्तव्यं निरू-  
पयति—

( उत्तरमार्गेण कार्यंब्रह्मगमनम्, अधि० ५ )

कार्यं तु वादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

'स एतान्ब्रह्म गमयति' [ छा० ५ । १० । २ ] इत्यत्र संज्ञापः  
किं परं निर्गुणं ब्रह्म गमयत्यमानवः पुरुष उत कार्यं सगुणं ब्रह्मेति ।

(दी०) संपिण्डितकरणत्वेन स्थानानां स्वयमेव व्यामोहोऽपेक्षितत्वं तस्मा-  
द्भ्रतृणां चेतनासिद्धिस्तस्याः ॥ ५ ॥

वैद्युतेति । वरुणादिलोके तेषां नेतृणामभावात्पूर्वमपि चेतना न  
स्फुरित्यत आह—वैद्युतेनैवामानवेनैव ततस्तस्माद्विशुद्धोकादूर्ध्वं नीयते ।  
कुतः । तच्छ्रुतेः । तस्यामानवस्य पुरुषस्य नेतृत्वस्य तान्वैद्युतादिश्रुतेः ॥ ६ ॥

पूर्वाधिकरण आतिवाहिकैः सगुणविद्याविर्भाषित इत्युक्तं तदनुपपन्न-  
मेतस्य प्राप्यस्य ब्रह्मणाः परत्वेन निर्गुणविद्यादिवदप्यथैव गच्छतीत्या-  
क्षिप्य सिद्धान्तमाह—कार्यमिति । यदचिरादिना गच्छन्ति ब्रह्म

(ब०५०)पूर्वपक्षेऽर्चिरादियत्यां ब्रह्मलोकप्राप्त्यनन्तरं विदुषो लिङ्गशरीरलः  
थेन परब्रह्मप्राप्तिः सिद्धान्ते कार्यब्रह्मप्राप्त्यर्थमेव गतिर्न परब्रह्मप्राप्त्यर्थ-  
मिति मन्तव्यम् । उत्तरत्र पूर्वपक्षविषयब्रह्मादीं सिद्धान्तमाह—कार्य-  
मिति । कार्यमेव ब्रह्म गमयतीति चाद्विराचार्यो मन्यते । कुतः । अस्य  
कार्यब्रह्मणः परिच्छिन्नस्य गत्युपपत्तेर्गन्तव्यत्वोपपत्तेः । प्रत्यग्रूपस्याप-  
रिच्छिन्नस्य परस्य तदनुपपत्तेरित्यर्थः ॥ ७ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

ब्रह्मलोकान्गमयति ' [बु० ६ । २१ । ५] इति श्रुत्यन्तरे बहुवचनेन  
गन्तव्यब्रह्मणो विशेषितत्वात् । सावयवस्यावयवभेदेन भिन्नस्य ब्रह्मण  
एव गन्तव्यत्वं न निर्विशेषब्रह्मणः । लोकशब्दाच्च भोगभूमेरेव प्राप्यत्वं  
न परस्येति षकारार्थः ॥ ८ ॥

ननु नपुंसकब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव मुख्यत्वात्कथं कार्यब्रह्मणि ब्रह्म  
गमयतीति व्यपदेशस्तत्राऽऽह—

सामीप्यात्तु तद्वचपदेशः ॥ ९ ॥

तुश्रोद्यन्निरासार्थः । परमेव हि ब्रह्म सत्यकामत्वादिगुणयुक्तं  
कार्यब्रह्मेत्युच्यते । तथा च कार्यब्रह्मणः कारणपरब्रह्मसामीप्यात्कारणे  
मुख्यस्य ब्रह्मपदस्य कार्ये व्यपदेशो लक्षणया प्रयोग इत्यर्थः । मुख्यासं-  
भवाविति भावः ॥ ९ ॥

(श्री०)तत्कार्यं चाद्विराचार्यो मन्यते । कुतः । अस्य कार्यस्य गतेरर्चिरा-  
द्विगमेनस्य तन्नोपपत्तेः संभवो गत्युपपत्तिः । तस्याः ॥ ७ ॥

ननु नाप्यं तर्कगम्योऽर्थ इत्यत आह—विशेषितेति । ब्रह्मलोकानि-  
त्यादिना विशेषितत्वात् । षकारस्तर्कस्य श्रुतिमूलस्य (स्याऽऽ)द्वैतव्य-  
तामाह ॥ ८ ॥

ननु कार्यस्यापि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यत इत्यत आह—तुशब्द-  
स्तत्र ब्रह्मशब्दानुपपत्तिं धारयति । का तर्ह्यन्नोपपत्तिरित्यत आह—  
सामीप्यात्कार्यस्य ब्रह्मणः परेण ब्रह्मणा । अतस्तस्य ब्रह्मशब्दस्य  
व्यपदेशः ॥ ९ ॥

\* अ. ब्रह्मशब्दानुपपत्तिं धारयति ।

[४०५०] ब्रह्मावृत्तवर्षिणीदीपिकायां समेतानि । ४०७  
११ ११]

(४०५०) ननु कार्यब्रह्मप्राप्तौ तेषां न पुनरावृत्तिरिति ध्रुतिविरोधस्तत्राऽऽह—  
कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

कार्यब्रह्मलोकस्यात्यये नाशे सति तदध्यक्षेण तल्लोकस्याभिना हिर-  
ण्यगर्भेण सहातः कार्यब्रह्मणः परं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति 'उत्पन्नात्मसाक्षा-  
त्कारा विद्वांसः' इत्युक्तश्रुत्याऽभिधानादवगन्तव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।

परस्थान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पद्म ॥

इति स्मृतिश्च ब्रह्मलोकं प्राप्तानां क्रममुक्तिं दर्शयति । अतोऽपि नाना-  
वृत्तिध्रुतिविरोधः । प्रतिसंचरो महाप्रलपस्तस्मिन्प्राप्ते परस्य हिरण्यगर्भ-  
स्थान्तोऽधिकारसमाप्तिस्तदा कृतात्मानः शुद्धधियो ब्रह्मलोकवासिनः  
परं पदं प्राप्नुवन्तीति योजना । तस्मात्कार्यब्रह्मप्राप्त्यर्थमेवाधिंरादिगतिर्न  
प्रत्ययूपपरब्रह्मप्राप्त्यर्थं घटाकाशस्येव महाकाशप्राप्त्यर्थं गतेरफलत्वा-  
दिति सिद्धम् ॥ ११ ॥

एवं सिद्धान्तमुक्त्वा पूर्वपक्षमाह—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

नपुंसकब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव मुख्यत्वात्परमेव ब्रह्म गमयत्यमानव  
इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

'तेषां न पुनरावृत्तिः' [ ४० ६ । २ । १५ ] 'तयोर्ध्वमापन्नमृत-

(सौ०) ननु कार्यप्राप्त्यावनावृत्तिर्नोपपद्यत इत्यत आह—कार्येति । कार्यस्य  
ब्रह्मलोकस्याध्यक्षेण परमेष्ठिना सहातः परमेष्ठिनः परं ब्रह्म भवति ।  
अनावृत्त्याद्यभिधानात् ॥ १० ॥

मन्वेतद्विश्वास्वर्थमिषेत्यत आह—स्मृतेरिति । ब्रह्मणा सहेत्याद्यावाः ।  
चशब्दाच्छ्रुतेरपि ते ब्रह्मलोक इत्याद्यावाः ॥ ११ ॥

पूर्वपक्षमाह—परमिति । ब्रह्मशब्दस्य ब्रह्मणि मुख्यत्वाद्यद्गुण्यमाधि-  
रादिना तत्परमेवेति जैमिनिराचार्य आह ॥ १२ ॥

ननु अनुपपत्तेर्ब्रह्मवार्थपरित्याग इत्यत आह—दर्शनादिति ।



(ब० १०)त्वमेति ' [ छा० ८। १। ६ ] इति च मुक्तेर्गतिपूर्वकत्वदर्शनाच्च परमेव गन्तव्यमित्यर्थः ॥ १३ ॥

ननु ' प्रजापतेः सर्वां वेदम प्रपद्ये ' [ छा० ८। १। ४। १ ] इति मरणकाल उपासकस्य कार्यब्रह्मप्राप्तिसंकल्पश्रवणात् परं गन्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥ १४ ॥

अयं \* प्रतिपत्त्यभिसंधिः प्रातिसंकल्पः कार्ये ब्रह्मणि न कार्यब्रह्म-विषयो न भवतीति यावत् । किंतु परब्रह्मप्रातिविषयक एव + ' ते यदन्तरा तद्ब्रह्म ' [ छा० ८। १। ४। १ ] इति परस्यैव \* प्रकृतत्वात् । ननु प्रकरणशलाद्भेदमब्रह्मप्रातिसंकल्पस्य परविषयकत्वेऽपि तस्याः प्राप्तेर्गतिपूर्वकत्वं कथमिति चेदुच्यते । ' तदपराजिता पूर्वज्ञानः प्रभुविमितं हिरण्यमयं वेदम ' [ छा० ८। १। ४। ३ ] इति दहरविद्यायां हिरण्यगमवेदमप्राप्तेर्गतिपूर्वकत्वावगमादस्या अपि परब्रह्मवेदमप्राप्तेर्गतिपूर्वकत्वमनुमीयते वेदमप्रतिपत्तित्वसामान्यात् । यद्वा ' प्रजापतेः सर्वां वेदम प्रपद्ये ' इत्यत्रैव पदेर्गत्वर्थत्वाद्भेदे च मार्गसाध्यत्वान्मार्गसाध्यगतिपूर्वकत्वं परवेदमप्राप्तेरिति पूर्वपक्षः । श्रुत्यर्थस्तु तत्र ब्रह्मलोके न केनाप्यविदुषा पराजितेत्यपराजिता पूरुस्ति ब्रह्मणो हिरण्यगमस्य तेनैव प्रमुष्णा निर्मितं हिरण्यमयं वेदम चास्ति तत्प्रतिपद्यते ब्रह्मचर्यसंपन्नो विद्वानिति । अत्र पूर्वपक्षे ' मुख्यत्वात् ' ' दर्शनाच्च ' इति हेतुद्वयं पूर्वमेव + दूषितम् । यत्तु प्रकरणद्भेदमप्रातिसंकल्पः । परविषय इति तन्न । ' प्रजापतेः सर्वां वेदम प्रपद्यते ' इति वाक्यश्रुतिभ्यां = दुर्बल-प्रकरणविच्छेदेन वेदमप्रातिसंकल्पस्य कार्यब्रह्मसमादिविषयत्वावग-

(श्री०) तयोर्ध्वमायन्नृत्तत्वमेतीत्यमृतप्राप्तेः । चकारो मुख्यार्थेनोपपत्तेर-भावमाह ॥ १३ ॥

' प्रजापतेः सर्वां वेदम ' इत्यादिना स्पष्टं कार्यस्य ब्रह्मणोऽवगम इत्यत्र आह—न चेति । ' वेदम प्रपद्ये ' इति प्रतिपत्तेरभिसन्धिरभिप्रायः

\* अ. भविष्यतः । + अ. ते गन्तव्ये । × अ. प्रकरणत्वात् । ÷ अ. ' सर्वांत्वात् तज्य-देवः ' ' कार्योक्तये तद्वक्ष्येन ' इति सूत्राभ्याम् । = अ. अ. श्रुति-लिट्-भाव-प्रकरण-स्यान-समाध्यायां समवाये चरत्पूर्वत्वमर्थविप्रकर्षात्, ( श्री० सू० ३। ३। १५ )

[स०१८०१५] ब्रह्मासृत्वर्षिणीदीपिकाम्यां समेतानि । ४०९

(स०१०)भात् । स्तुत्यर्थत्वेन वाऽस्य परप्रकरणे कीर्तनम् । सगुणविद्या हि गतिमपेक्ष्य प्रजापतिसमादिप्राप्तिफलहेतुरियं तु परविद्या गतिनिरेपेक्ष्य निरतिशयफलहेतुरतो महतीति स्तुतिः । तस्मात्कार्यब्रह्मवाप्यर्थैव गतिरिति सिद्धम् ॥ १४ ॥

एवमर्चिरादिमात्सा गन्तव्यं निरूप्य गन्तृशिरूपयति—

( प्रतीकोपासकानां ब्रह्मलोकाप्रापणम्, अधि० ६ )

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति वादरायण

उभयथाऽद्वोपाचक्रतुश्च ॥ १५ ॥

किममानवः पुरुषः सर्वानुपासकान्ब्रह्मलोकं प्रापत्युत प्रतीकोपासकमिन्नानिति संशयः । तत्र नियामकामावात्सर्वाणिति प्राप्ते ब्रूमः । प्रतीकोपासकमिन्नान्तुपासकान्नयत्यमानव इति वादरायण आचार्यो नन्यते । ननु तर्हि ' अनियमः सर्वेषाम् ' [ सू० ३ । ३ । ११ ] इत्यत्र सर्वोपासनेषु मार्गेषुसंहारोक्तिविरोधस्तत्राऽऽह—उभयथाऽद्वोपादिति । कांश्चिदुपासनान्नयति कांश्चिन्नेत्युभयथाभावान्मुपगमे द्वोपाभावादित्यर्थः । अनियमन्यायस्य प्रतीकमिन्नविषयत्वादिति भाषः । नियामकमाह—तत्कतुश्चेति । क्रतुरुपासनं कार्यब्रह्मविषयकः क्रतुर्ष्योपासकस्यास्ति स तत्कतुस्तथा च यो यदुपासकः स तत्राप्नोतीति श्रुतिस्मृतिरिति सिद्धत्वाच्चदुपासकानामेव कार्यब्रह्मप्राप्तिरित्यर्थः । प्रतीकोपासनेषु नाम ब्रह्मेत्यादिषु ब्रह्मणः प्रतीकं प्रति विशेषणत्वेन प्रतीकस्यैव प्राधान्यान्न

(क्ष०)कार्ये ब्रह्मणि न च नैव नामरूपनिर्वाहकस्य ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् ॥ १४ ॥

पूर्वाधिकरणेऽर्धराशिना प्राप्यस्य ब्रह्मणः कार्यत्वमुक्तम् । एवं चैवतीकोपासकरापि तद्गम्यनित्वाक्षिप्य समाधत्ते—अप्रतीकेति । प्रतीकालम्बना ये न भवन्ति तेऽप्रतीकालम्बनास्तान्प्रतीकोपासकव्यतिरिक्तानमानवः पुरुषो नयतीति वादरायण आचार्यो मन्यते । नन्वनियमन्यायविरोध उक्त इत्यत आह—उभयथाऽद्वोपादुभयथा प्रतीकालम्बनान्नयतीति नन्यतेऽन्येषां नयने न्यायस्य प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तविषयत्वेनाद्वो-

(ब्र०१०१) तदुपासकानां ब्रह्मोपासकत्वं पञ्चान्युपासकानां स्वब्रह्मोपास-  
कत्वेऽपि भुतिबलाद्ब्रह्मप्राप्तिरिति ॥ १५ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

किंच 'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' [ छा०  
७।१।५ ] इति नामप्रतीकोपासनफलादुत्तरीत्तरवागाद्युपासनानामुक्त-  
फलविशेषं दर्शयति भुतिः 'यान्वाच नाम्नो भूपसी' [ छा० ७।  
२।१ ] इत्याद्या । अयं फलविशेषः प्रतीकानामुक्तर्पापकर्मवतामुपा-  
स्यत्वे युज्यते न तु सर्वत्रैकस्य ब्रह्मण उपास्यत्वे । तस्माद्ब्रह्मोपासका-  
नामेव ब्रह्मप्राप्तिर्न प्रतीकोपासकानामिति सिद्धम् ॥ १६ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

एवं सगुणब्रह्मविदां धाम्यमुक्त्वा निर्गुणब्रह्मविदां प्राप्यमाह—

( मुक्तिरूपस्य वस्तुनः पुरातनत्वम्, अधि० १ )

संपयाऽऽविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥ १ ॥

एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपे-  
णामिनिष्यद्यते' [ छा० ८।१२।३ ] इति श्रूयते तत्र संशयः ।  
यथा मुक्तितनः स्वीयेन रूपान्तरेण फलेनामिनिष्यत्तिस्तथा निर्गुणवि-  
दोऽमिनिष्यत्तिरुताऽऽत्ममात्रेणामिनिष्यत्तिरिति । पूर्वपक्षे स्वर्गमोक्षयो-

(श्री०) वात् । अत्र को हेतुरित्यत आह—तत्कतुश्च । तस्य ब्रह्मणश्च कतुः  
संकल्पस्तत्कतुर्ब्रह्मप्राप्तौ हेतुः । चशब्दस्तद्भावप्राप्तौ ॥ १५ ॥

ननु प्रतीकोपासनानां फलाभावाद्ब्रह्मलोक एव फलं कल्पमित्यत  
आह—विशेषेति । यावन्नाम्नो गतमित्यादिना प्रतीकोपासनेषु फलस्य ।  
चकारोऽधुतफलेषु ब्रह्मलोकः फलं कल्पमिति कल्पनाभावमाह ॥ १६ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां चतुर्थध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

पूर्वपादे सगुणविद्याविदोऽर्चिर्वादिगतिः कार्यब्रह्मप्राप्तिश्चेत्पुक्तमि-  
दानीं निर्गुणविद्याविदस्तसंपत्तिरुच्यते—संपद्येति । परं ज्योतिरुपसंपद्य

(न०५०)रविशेषः सिद्धान्ते विशेष इति फलम् । अत्र फलनिरूपणाद्-  
ध्यायपादसंगत्योः स्फुटत्वम् । तत्र स्वर्गबन्धोक्षस्याभिनिष्पत्तिः फल-  
त्वाविशेषादिति प्राप्ते ह्यमः । संपद्य स्वप्रकाशमात्मानं साक्षाद्-  
नुभूयते नैवाऽऽत्ममात्रेणाऽऽविर्भावः । अवस्थानयान्भवति मुक्तः ।  
कुतः । स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति स्वशब्दादित्यर्थः । फलत्व-  
हेतुकानुमानं मोक्षनित्यत्वश्रुतिवाधितमिति ॥ १ ॥

ननु स्वरूपात्मकमोक्षस्य सदा सत्त्वात्कः पुनः पूर्वावस्थातो विशेष-  
इत्यत आह—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

यः स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते स सर्वानर्थविनिर्मुक्तः स्वप्रकाशनिरति-  
शयानन्दात्मनाऽवतिष्ठते । पूर्वत्रावस्थान्नपकलुषितः संसारी वेत्ति;  
विशेषः । ननु स्वरूपाभिनिष्पन्नो मुक्त इति कुतोऽवगम्यते तत्राऽऽह—  
प्रतिज्ञानादिति । ‘य आत्माऽपहतपाप्मा’ इत्युपक्रम्य ‘एतं त्वेव त्वे-  
भूयोऽनुग्याख्यास्यामि’ [ छा० ८।१।३ ] इति सकलवोपमुक्त-  
स्वैवाऽऽत्मनो ध्यास्येपत्वेन प्रतिज्ञानादित्यर्थः ॥ २ ॥

ननु कार्यव्योतिरुपसन्नस्य कथं मुक्तत्वमिष्यत आह—

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

अत्र ज्योतिरात्मैव न मौक्तिकं तेजः ‘य आत्माऽपहतपाप्मा’  
[ छा० ८।७।१ ] इत्यात्मप्रकरणादित्यर्थः ॥ ३ ॥

( मुक्तस्य ब्रह्मणोऽमिच्छत्वम्, २ )

(श्री०) स्वेन केबलेनैवाऽऽत्मनाऽऽविर्भवति । कुतः । ‘स्वेन रूपेणाभिनि-  
ष्पद्यते’ इति स्वशब्दात् ॥ १ ॥

कः पुनर्विशेषः पूर्वोत्तरयोः स्वरूपयोरित्यत आह—मुक्त इति ।  
योऽव्याभिनिष्पद्यत इत्युक्तः सन्सर्वसंबन्धविनिर्मुक्तः । कुतः । य आत्मे-  
त्पादिना तादृशस्यैव प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

ज्योतिरुपसंपद्येति कार्यं ज्योतिषि संपत्तेः कथमात्मरूपेणाऽऽविर्भाव  
इत्यत आह—‘आत्मा प्रकरणात्’ ज्योतिःशब्देनाऽऽत्माऽभिधीयते ।  
कुतः । प्रकरणात् । य आत्मेत्पादेः ॥ ३ ॥

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

(अ० ५०) परं ज्योतिरुपसंपद्य मुक्तो विद्वानित्युक्तं तं मुक्तमुपजीव्य संदिह्यते किं मुक्तो ब्रह्ममिदमेवावतिष्ठत उत ब्रह्माविभागेनेति । तत्र मिदमेवेनेति भ्रान्तिः वारपति—अविभागेनेति । निरतिशयानन्दब्रह्मात्मनैवावतिष्ठते मुक्तः । कुतः । दृष्टत्वात् । ' ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ' ' तत्त्वमसि ' इत्यादिभ्युतिष्वभेदस्य दृष्टत्वादित्यर्थः ॥ ४ ॥

( मुक्तस्वरूपभूतस्य ब्रह्मणो युगपत्सविशेषत्वनिर्दिशेषत्वे, अचि० ३ )

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादित्यः ॥ ५ ॥

पूर्वसिद्धं ब्रह्मामिदं मुक्तमुपजीव्य संदिह्यते स मुक्तो ब्रह्मात्मकः किं सत्येन सर्वज्ञत्वादिप्रपञ्चेन सहावतिष्ठत उत शश्विषाणवदसन्नेव सर्वज्ञत्वादेरिति सच्चिन्मात्रेणावतिष्ठते । आहोस्विद्वस्तुतो निष्पपञ्चोऽपि व्यावहारिकसर्वज्ञत्वादिमानिति । तत्राऽऽद्यं पूर्वपक्षमाह— ब्राह्मेणेति । ब्रह्मसंबन्धिना सत्येन सर्वज्ञत्वादिना सहावतिष्ठते ब्रह्मात्मको मुक्त इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः । उपन्यासविधिव्यपदेशेभ्यः । उपन्यास उद्देशः स च सोऽन्वेष्टव्य इत्यादिविधानार्थमागतः । ' य आत्माऽपहृतपाप्मा ' ( छा० ८।७।१ ) इत्यादिरूपः । विधिरज्ञातज्ञापनम् । स च ' तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ' [ छा० ७।२।१२ ] इत्यादिरूपः । उद्देशविधिविलक्षणो व्यपदेशः । स च सर्वज्ञः सर्वेश्वर इत्यादिरूपः । अयं हि नोद्देशो विध्यमावाप्तापि विधिः सिद्धवन्नित्यैवाद्दत् एभ्यो हेतुभ्यः सप्रपञ्च एवाऽऽत्मेति ॥ ५ ॥

( शि० ) पूर्वाधिकरणे स्वेन सता संपत्तिरुक्ता सा सुषुप्तिवत्स्यादित्याक्षिप्य समाधत्ते—अविभागेनेति । परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणामिनिष्पद्यते यः स त्वविभागेन च । कुतः । तत्त्वमसीत्यदिदृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

पूर्वाधिकरणेऽविभागेन ब्रह्मसंपत्तिरुक्ता तद्ब्रह्म स्वभावेन सविशेषमित्याक्षिपति,—ब्राह्मेणेति । ब्राह्मेण स्वेन रूपेणापहृतपाप्मत्वादिना सर्वज्ञत्वादिना च निष्पद्यते इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः । उपन्यासादिभ्यः । उपन्यासो य आत्मेत्यादिः । आदिशब्देन स तत्र पर्येतीत्यैश्वर्यादिभ्यः ॥ ५ ॥

(ब०व०) अधुना द्वितीयं पूर्वपक्षमाह—

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौदुलोमिः ॥ ६ ॥

जीवात्मनस्तदात्मकत्वाच्चिदेकरसत्त्वाधितितन्मात्रेण चैतन्यमात्रात्म-  
नाऽवस्थिते मुक्ते ब्रह्मात्मनि सर्वज्ञ इत्यादिशब्दा निरर्थका एव प्रयु-  
ज्यन्त इत्यौदुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

सर्वज्ञत्वादीनां धर्माणामसंभवाद्भूमिस्वरूपादत्यन्ताभिन्नत्वेऽप्यन्ता-  
भिन्नत्वे वा तेषां गवाश्ववद्भूमिवच्च धर्मत्वानुपपत्तेरिति प्राप्ते सिद्धान्त-  
यति—

( अचिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकस्य भोग्यवस्तूनां सुद्यौ  
मानससंकल्पस्यैव हेतुत्वम्, अधि० ४ )

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं वादरायणः ॥ ७ ॥

एवं पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि पूर्वोपन्यासादिभ्यः  
पूर्वस्य ब्राह्मणस्य रूपस्य सर्वज्ञत्वादेर्वावहारिकस्य भावाद्ब्रह्मणो मुक्ता-  
त्मनः सप्रपञ्चत्वनिष्पञ्चत्वयोरविरोधं वादरायण आचार्यो मन्यते ।  
आदिद्यकधर्माणां सर्वज्ञत्वादीनामुपपत्तेर्न तेषां तुच्छत्वमत एव सर्वा-  
त्मनाऽविद्यानिवृत्तौ विदेहकैवल्यं निष्पञ्चमेव । एतदभिप्रेत्योक्तं भग-  
वता भाग्यकारेण व्यवहारापेक्षयेति । न ह्यौपनिषदानां मोक्षेऽपि व्यप-  
हृतिर्मता मूलाभावादिति भावः ॥ ७ ॥

एवं परविद्याफलमभिधायापरविद्याफलं प्रपञ्चवितुमुपक्रमते—

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

दहरविद्यायां श्रूयते—‘ स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादे-

(श्रु०) चितीति । चितितन्मात्रेण चैतन्यमेवाऽऽत्मनो रूपमतश्चैतन्यमात्रे-  
णैवाभिनिव्यस्यते । तदेव कुत इत्यत आह—‘ एवं वा अरे इत्यादिना ।  
तदात्मकत्वाच्चैतन्यमात्रात्मकत्वात् । आत्मनो वस्तुतः सत्यसंकल्पत्वा-  
दीनामुपाधिधर्मत्वादित्यौदुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

एवमपीति । एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि  
पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मणस्यैश्वर्यरूपस्य भावादप्रत्याह्या-  
नादविरोधं वादरायण आचार्यो मन्यते वादरायणमतं सिद्धान्तः ॥ ७ ॥

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मणो विशेषसंभवादविशेषप्रवृत्तावपि न विशेषत्वधु-

(अ० ४ पा० १) वास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति ' [छा० ८।२।१] इत्यादि तत्र संज्ञेयः । किं ब्रह्मलोकस्यस्य विदुषो भोगहेतवः पित्रादुषः संकल्पादेव सिध्यन्त्युत यत्नान्तरसहकृतात्संकल्पादिति । तत्र लोके भोगसाधनस्य प्रयत्नसाध्यत्वदर्शनादत्रापि यत्नसाधेच्छाऽत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो विभूतिसिद्धिर्न केवलेच्छात इति प्राप्ते नूनः । संकल्पादेवास्य विदुषः पित्रादिविभूतिप्राप्तिः । कुतः । साधनान्तरनिरासकैवकारश्रुतेः । श्रुत्या च लौकिकानुमानस्य बाध इति । किंच यदि संकल्पः साधनान्तरसाधेक्षस्तर्हि तदभावे विदुषो वन्ध्यसंकल्पत्वापत्तौ सत्यसंकल्पत्वं न स्यात् । संकल्पानुगुणसाधनान्तरमिष्टमेवेति ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

अत एव सत्यसंकल्पत्वादेव विद्वाननन्याधिपतिर्भवति । यदि विदुषः कश्चनाधिपतिः स्यात्तर्हि तदधीनभोगस्य संकल्पमात्रादसिद्धेः सत्यसंकल्पत्वं न स्यात्तस्मादीश्वरात्मकस्य विदुषः संकल्पादेव सर्वेश्वर्यप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ९ ॥

( एकस्यापि पुरुषस्य देहभावाभावयोरैच्छिकत्वम्, अधि० ५ )

अत्रावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

संकल्पादेवेति श्रुत्या विदुषस्तावन्मनोऽस्तीत्यवगतं शरीरेन्द्रियाणि सन्त्युत न सन्त्याहोस्वित्सन्ति न सन्ति चेति संदेहे यथा संकल्पादेवत्ववधारणश्रुत्या साधनान्तराभावस्तथा बादरिराचार्यः शरीरेन्द्रियाणा-

(श्री०) तिरौपाचिकी शेषे व्यवस्थापिता । नैवं योगि० संकल्पातिरिक्तसाधनवानिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते-संकल्पेति । पित्रादुषः संकल्पादेव समुत्तिष्ठन्ति न तु निमित्तान्तरात् । कुतः । तत्तस्य संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्तीति तादृशस्य समुत्थानस्य श्रुतेः ॥ ८ ॥

अत एवेति । अत एव सत्यसंकल्पादेवानन्याधिपतिश्च । अस्य नान्याधिपतिरपि ॥ ९ ॥

पूर्वाधिकरणे संकल्पातिरिक्तसाधनानां सगुणविद्याविद्यो योगिनोऽसत्त्वशुक्लं तच्छ्रुतेः । नैवमत्र श्रुतिरस्ति, अतोऽपि मनोतिरिक्तानां

[अ०१५०११०] ब्रह्माहृतवर्षिणीदीपिकायां समेतानि । ४१५  
११-१३]

(अ०५०)ममार्चं मन्यते । आह ह्येवमाज्ञायः-‘मनसैतान्कामान्यस्पर्शमते’  
[ छा० ८।१२।५ ] ‘य एते ब्रह्मलोके’ [ छा० ८।१३।१ ]  
इति । यदि विदुषः शरीरादिकं स्वात्तदा मनसेति विशेषणमन्ययोग्य-  
वच्छेदकमवधारणपरं पीठचेतेत्येकः पूर्वपक्षः ॥ १० ॥

पूर्वपक्षान्तरमाह—

भावं जैमिनिरिचिकल्पामननात् ॥ ११ ॥

शरीरिन्द्रियाणां मनस इव मार्चं सत्तां जैमिनिराचार्यो मन्यते ‘एक-  
धा भवति त्रिधा भवति’ [ छा० ७।२६।२ ] इत्यादिना विदुषोऽ-  
नेकधा भावविकल्पामननात् । न हि शरीरमेवं चिना कदाचिद्दे-  
कधामावः कदाचिन्निधामाव इत्याद्यनेकधामावविकल्पः संभवतीति  
भावः ॥ ११ ॥

सिद्धान्तमाह—

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

अत एव मनसेति विशेषणाद्विकल्पामननाच्चेति लिङ्गद्वयाद्यवा शरी-  
रादिसंकल्पस्तदा सशरीरेन्द्रियत्वं यदा तु तत्संकल्पाभावस्तदा शरीर-  
िन्द्रियराहित्यमित्युभयविधं विदुष ऐश्वर्यं वादरायण आचार्यो मन्यते  
द्वादशाहवत् । यथा ‘द्वादशाहद्विकल्पानामा उपेयुः’ इत्युपेयुचोदनाग-  
म्यत्वाद्द्वादशाहस्य सत्रत्वं ‘द्वादशाहेन प्रनाकामं धाजयेत्’ इत्यहर्ग-  
णत्वे सति यजतिचोदनागम्यत्वादहीनत्वं चेत्युभयविधत्वं तद्वि-  
त्यर्थः ॥ १२ ॥

(श्री०)साधनानां समत्वमेवेति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य पक्षान्तरमाह—अमा-  
वमिति । मनोतिरिक्तानां शरीरस्येन्द्रियादीनामभावं वादरिराचार्यो  
मन्यते । कुतः । हि यस्मादेवमाहभ्रुतिः—मनसैवेतानित्यादिना ॥ १० ॥

भावमिति । जैमिनिराचार्यो मनोवच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भाव-  
मुक्तं प्रतिमन्यते । कुतः । स एकधा भवतीत्यादिना विकल्पस्याऽऽ-  
मननात् ॥ ११ ॥

द्वादशेति । वादरायणः पुनराचार्योऽत एव लिङ्गदर्शनादुभयविधं  
मन्यते भावममार्चं च द्वादशाहवत् । यथा द्वादशाहः सत्रमहीनश्च तद्वत् ।  
अतः सिद्धान्तः ॥ १२ ॥



(न० १०४) ननु विदुषः शरीराद्यभावे कथं भोगस्तत्राऽऽह—

तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

ततोः सेन्द्रियशरीरस्याभावकाले संध्यवद्यथा स्वप्ने मानसिकवि-  
षयभोगो जाग्रद्भोगविलक्षणस्तद्भोगः । कुतः । 'मनसैतान्कामा-  
न्पश्यन्नमते' इति श्रुतेर्भोगि साधनान्तरं वारपन्त्या एवमेवोपपत्ते-  
रित्यर्थः ॥ १३ ॥

ननु देहाद्यभावेऽपि भोगसत्त्वे सशरीरताङ्गीकारो व्यर्थस्तत्राऽऽह—  
भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

देहादिभावकाले जाग्रद्भोगः स्वप्नभोगविलक्षणो भवती-  
त्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु विकल्पामननलिङ्गेन विदुषोऽनेकशरीराणि सन्तीत्युक्तं तद्वच-  
निरात्मकेषु तेषु भोमाचोगादित्वाक्षेप इदमाह—

( सर्वेषां देहानां सात्मकत्वम्, अधि० ६ )

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

किं विदुषा सृज्यमानानि शरीराणि दारुणम्बपश्चिरात्मकान्पुतास्म-  
दादिदेहवत्सात्मकानीति संदेहः । पूर्वपक्षे विदुष एकस्मिन्नेव देहे भोगः  
सिद्धान्ते सर्वेष्वपीति बोध्यम् । तत्रानाद्यन्तःकरणपरिच्छिन्नस्य मोक्तु-  
र्विदुषः शरीरान्तरेषु प्रवेशयोगाश्चिरात्मकानीति प्राप्ते नृमः । विदुषा  
सृज्यमानेषु सेन्द्रियमनःसु बहुषु देहेषु विदुष आवेशोऽभिध्वक्तिर्भि-  
द्यासामर्थ्यादुपपद्यते पुरातनान्तःकरणपरिच्छेदस्य विद्वांसं योगसाम-  
र्थ्याद्वापकं प्रत्यप्रतिबन्धकत्वात्प्रदीपवत् । यथा प्रदीप एकोऽनेकवर्तिषु

(क्षि०) ननु शरीराभावे सुषुप्तवन्न विषयोपलम्भ इत्यत आह—तन्वभावा-  
दिति । ततोः सेन्द्रियस्य शरीरस्याभावे सन्ध्यवत्त्वप्रवर्तकत्वरूपाणां  
पित्रादीनां मोक्ष उपपत्तेः ॥ १३ ॥

ननु शरीरस्य समत्वेऽपि विषयोपलम्भो न निषत इत्यत आह—  
भावा इति । भावे पुनस्तनोर्जाग्रद्वत्पित्राद्युत्पत्तेः ॥ १४ ॥

पूर्वाधिकरणे स एकधा भवतीतिवाक्योदाहरणानेकशरीरग्रहण-  
मुक्तं न क्रमेण युगपदित्याक्षिप्य समाचते—प्रदीपवदिति । शरीरान्त-

[४०-१०-१५.] ब्रह्मानुतर्वापिपीदीपिकान्वां समेतानि ।

४१४

१६-१०

प्रविक्रान्ति तद्द्विद्वान्नेकान्तुकान्तःकरणद्वारा देहेषु प्रविक्रान्ति । तथाहि दर्शयति शास्त्रम्—'एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा' [ छा० ७ । २६ । २ ] इत्यादि । यद्यपि विदुषः सर्वेषु देहेष्वेकत्वं वीपानां तु भिन्नत्वमिति वेपथ्यमस्ति तथाऽप्युत्पादकधीपगतैक्यं सादृश्याद्बुद्धदीपेषुपचर्यत इति साम्यं बोध्यम् । तस्मात्सर्वाणि शरीराणि सात्मकान्येव ॥ १५ ॥

ननु विदुषो न शरीरवत्त्वं युक्तं 'तत्केन कं पश्येत्' [ वृ० ४ । ५ । १५ ] इति । 'न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽप्यद्विमक्तं यद्विजानीयात्' [ वृ० ४ । ३० ] इति च विशेषविज्ञानाभावध्वन्यादित्यत आह—

स्वाप्ययसंपन्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

सुपुत्तिपरममुक्त्योरन्यतरापेक्षयेदं विशेषविज्ञानाभावध्वन्यम् । हि यतः प्रकरणादेवमाविष्कृतम् । सुपुत्तिप्रकरणे 'न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽप्यत्' इत्यादि श्रुतं परममुक्त्यपेक्षया च 'तत्केन' इत्यादि तस्मान्नेदं समुपविदः शरीराङ्गीकारे बाधकमित्यर्थः । तच्च न सुपुत्तौ द्वितीयं विमक्तं न त्वस्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

'योगिनां भौतिकेष्वेव स्वातन्त्र्यं न भूतेष्वित्याह—

( ब्रह्मलोकगतानामुपासकानां जगत्सृष्टौ स्वातन्त्र्याभावेऽपि भोग-  
मोक्षयोस्तेषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः, अचि० ७ )

जगव्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

पूर्वं संकल्पमात्रेण देहादिसर्गे यदैश्वर्यमुक्तं विदुषस्तस्य जगदुत्पत्त्या-  
दावपचादोऽत्र क्रियते । किं विदुष ऐश्वर्यमीश्वरस्येव निरङ्कुशमुत्  
सरातिशयमिति । पूर्वपक्ष ईश्वरनानात्वं सिद्धान्ते तदैक्यमिति बोध्यम् ।  
राणां स्वीकारे शरीरान्तरेष्वावेशः प्रदीपवत् । यथैकस्य प्रदीपस्य  
प्रदीपसहस्रेष्वावेशस्तद्वत् । कुत एतत् । हि यस्मात्तथा दर्शयति श्रुतिः—  
स एकधा भवतीत्यादिना ॥ १५ ॥

मुक्तस्यानेकशरीरावासिताऽमुपपन्ना तत्केन कं पश्येदित्यादिनिषेधा-  
दित्यत आह—स्वाप्येवेति । स्वाप्ययः सुपुत्तिः संपत्तिर्मुक्तिस्तयोरन्यत-  
रापेक्षं यत्र त्वस्येत्यादिप्रतिषेधवचनम् । कुतः । हि यस्मात्सृष्टौ मुक्तौ  
वेदमाविष्कृतमुदाहृतम् ॥ १६ ॥

पूर्वाधिकरणे शरीरिन्द्रियादीनां कर्तृत्वमुक्तं योगिनस्तद्वज्जगद्यापार-  
कर्तृत्वमपीति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—जगदिति । योगिनां भौति-  
केष्वेव स्वातन्त्र्यं न भूतेष्वित्याह—जगद्यापारवर्जम् । कुतः । प्रकरणात् ।

तत्र विदुषोऽनन्याधिपतित्वाग्निरङ्कुशमैश्वर्यमिति प्राप्ते ह्यमः । जगदुत्प-  
त्प्रादिक्रियापारवर्जं सातिशयमेवाणिमाद्यैश्वर्यं विदुषो जगद्व्यापारस्तु  
परमेश्वरस्यैव सृष्टिवाक्येषु सर्वत्र तस्यैव प्रकरणाद्विदुषश्च तत्रासंनिहि-  
तत्वात् । नित्यसिद्धं हि परमेश्वरस्य निरङ्कुशमैश्वर्यम् । चकारो महा-  
भूतसृष्टौ योगिनामशक्यत्वगप्याह । कथं वा विदुष ईश्वरप्रसादायत्त-  
भागन्तुकमैश्वर्यं निरङ्कुशमिति वक्तुं शक्यं तस्मात्सातिशयमैश्वर्यं  
विदुषः ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाऽऽधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥

मनु 'आप्नोति स्वाराज्यम्' [ तै० १ । ६ । ३ ] इति प्रत्यक्षशु-  
त्वैश्वर्योपदेशाग्निरङ्कुशं विदुष ऐश्वर्यमिति चेन्न । आधिकारिकमण्ड-  
लस्थोक्तेः । अधिकारे तत्तद्व्यापारे नियोजयत्यादित्यादीनित्याधिकारिकः  
सूर्यादिमण्डलस्थः परमात्मा तस्योत्तरवाक्ये 'आप्नोति मनसस्पतिम्'  
[ तै० १ । ६ । २ ] इत्यत्र प्राप्यत्वेनोक्तेर्विदुषः सातिशयमैश्वर्यमिति  
गम्यते । यद्वि पूर्ववाक्य एव निरतिशयमैश्वर्यमुक्तं तदेदमीश्वरप्राप्ति-  
वचनं व्यर्थं स्यादतः सातिशयमैश्वर्यं विदुषः ॥ १८ ॥

ननूपाधिव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽसत्त्वे कुतोऽयं विभाग इत्यत आह—

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

सगुणे ब्रह्मणि + विकारावर्ति च निर्गुणं स्वरूपमस्ति । तथा हि  
ब्रह्मणि सगुणत्वनिर्गुणत्वयोः स्थितिमाह श्रुतिः 'एतावानस्य महि-  
मा [ छा० ३ । ११ । ६ ] इति । सगुणत्वमुक्त्वा 'अतो ज्यायांश्च  
पुरुषः' इति निर्गुणत्वमाह । एतावान्सहस्रशीर्षेत्वादिरस्य परस्य  
सर्वभूतसृष्टिवाक्येषु परमात्मनः प्रकृतत्वात् । न चापि ते परमात्मवत्प-  
कृता इत्याह—असंनिहितत्वात् । योगिनाम् । चकारो महाभूतसृष्टौ  
योगिनामशक्यत्वमाह ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षोपदेशादाप्नोति स्वाराज्यमित्यादेश्योगिनां जगद्व्या-  
पारत्वात्तन्व्यमिति चेन्न । कुतः । आधिकारिको य आदित्यमण्डलस्थ-  
स्तस्योक्तेः ॥ १८ ॥

ननूपाधिव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽसत्त्वे कुतोऽयं विभाग इत्यत आह—  
विकारोति । विकारावर्त्सपि नित्यमुक्ते परमेश्वरं न केवलं विकारमात्र-

\* अ. 'आप्नोति । स्वाराज्यम्' इत्यादेश्योगिनां जगद्व्यापारे स्वराज्यमिति चेन्न कुतः ।  
+ च. विश्वरहितम् ।

[भ० भा० १०० ११०  
२०-२१] ब्रह्मासृत्तवर्षिणीदीपिकाम्यां समेतानि । ४१९

महिमा विभूतिरित्यर्थः । अयं भावः—यथा सगुणे स्थितं निर्गुणं स्वरूपमुपासको न प्राप्नोति तदुपासकत्वाभावात्तथा तद्वत् जगत्सृष्ट्वा-दिकमप्येश्वर्यं न प्राप्नोति \*तदुपास्यभावादुपास्यभावश्च श्रुत्यभावादिति ॥ १९ ॥

अत्र दृष्टान्तार्थं निर्गुणं स्वरूपमुक्तं तत्र प्रमाणान्तरमाह—

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

एवं ब्रह्मणो निर्गुणत्वं श्रुतिस्मृती दर्शयतः । 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' [ क० ५ । १५ ] इत्याद्या श्रुतिः 'न तद्भासयते सूर्यः' [ म० गी० ५ । ६ ] इत्याद्या स्मृतिरिति ॥ २० ॥

ननु परमेश्वरस्य जगत्कर्तृत्वमुक्तं तत्समानशीलाश्च योगिन इत्यत आह—

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

उपासकस्वोपास्यदेवतया सह भोगमात्रेण साम्यं श्रुतं न जगद्भाषारेण 'तमाहाऽऽपो वै सल्लु पीयन्ते लोकोऽहौ' इति । तस्माद्विज्ञाद्विदुषः सातिशयमेश्वर्यं गम्यत इत्यर्थः । तं ब्रह्मलोकस्यमुपासकं हिरण्यगर्भमाह आपो वै सत्वमृतमप्यो मया पीयन्ते मुज्यन्ते तदाप्यसाक्षमृतोदकलक्षणो लोको भोग्य इत्यर्थः ॥ २१ ॥

ननु यदीश्वरेश्वर्येणातिशयेन सहितं विदुष ऐश्वर्यं सातिशयं तर्हि लौकिकेश्वर्यवदन्त्यं स्यात्तथा च विदुषोऽप्यावृत्तिः प्रसज्येतेत्याशङ्क्य द्यासिन्धुर्मंगवान्वाद्रायणः समाधत्ते—

गोचरं सवितुमण्डलाद्यधिष्ठानम् । तथा हि द्विरूपां हि यस्मात्स्थिति-माहाऽऽधायः—एतावानस्य महिनेत्यादिना ॥ १९ ॥

मन्वत्र पादत्रयमुपलभ्यते न त्वस्य प्रमाणं किञ्चिदित्यत आह—दर्शयत इति । एवं चिकारावर्ति रूपं श्रुतिस्मृती दर्शयतः । श्रुतिर्न तत्र सूर्य इत्याद्या । स्मृतिर्न जायत इत्याद्या । चकारो मुक्तेरपि सत्त्वमाह ॥ २० ॥

ननु परमेश्वरस्य जगत्कर्तृत्वमुक्तं तत्समानशीलाश्च योगिन इत्यत आह—भोगेति । अनादिसिद्धेन परमेश्वरेण भोगमात्रं समानं योगिनां यथैतां देवतामित्यादिना । तदेक लिङ्गं जगद्भाषारामाये । चकारादनेकेश्वरादिवोपश्च ॥ २१ ॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

येऽर्धिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामनावृत्तिरेव तेषां न पुनरा-  
वृत्तिरित्यादिक्रममुक्त्यभिधायकशब्दादित्यर्थः । निर्गुणब्रह्मविद्यामावृ-  
त्तिशब्दकैव नास्ति यतः सगुणविद्यामपि निर्गुणाश्रयणैवैवानावृत्तिर्ना-  
न्यथा । तस्माद्ब्रह्मविदां निरस्तानर्थवातस्वप्रमनिरतिशयानन्दब्रह्मात्म-  
नाऽवस्थितिरिति सिद्धम् । सूत्रावृत्तिः शास्त्रसमाप्तिद्योतनार्था ॥ २२ ॥

यः सर्वधुतिबन्धिवन्दिततनुर्मायात्मनिर्द्धान्तगः

सुप्तोऽस्मिन्भवपत्तने परिमिते कल्पान्तैकल्पान्तरे ।

यः सर्वापरिपन्थिसाङ्गनयजप्रज्ञाप्रवाहान्तज-

प्रज्ञालभ्यसुखाकृतिः कृतिमिमां रामः स गृह्णातु नः ॥ १ ॥

अस्मिन्पद्येऽध्यायचतुष्टयार्थः सूचितः ।

विदुषां कण्ठसूत्रेण कृता वृत्तिर्माया प्रभो ।

व्यासवाङ्मणिसंहृत्वा श्रीतये तेऽस्तु सर्वदा ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमन्मुकुन्दगोविन्दश्रीचरणशशि-  
क्षितश्रीरामकिंकरधर्मकृतौ ब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्मासुतवादिष्यां चतुर्थस्या-  
ध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

ननु एवं सति सातिशयत्वादन्तवस्वमैश्वर्यस्य स्यात्तत्क्षेपामावृत्ति-  
रिति चेत्—अनावृत्तिरिति । नाऽऽवृत्तिश्च शब्दात् । सूत्राभ्यासः शास्त्र-  
समाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

सूत्राणि सूक्ष्माणि हि चर्मनेत्रै-

र्षोऽङ्गु न ज्ञेयानि सुवर्णसंघात ।

तेषां प्रवोधाय सुवर्णजालं

निःसारितं भूरि विधाय दीपम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादक्षिप्यस्य  
श्रीमच्छंकरानन्दभगवतः कृतौ ब्रह्मसूत्रदीपिकायां  
चतुर्थस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

श्रीमद्द्वैपायनप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमपत्रकम् ।

| ( सूत्रम् )                                         | श० | ख० | ग० | घ०  |
|-----------------------------------------------------|----|----|----|-----|
| अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा पापि दाशकितवा-              |    |    |    |     |
| दित्वमधीयत एके ... ..                               | २  | ३  | ४३ | २२१ |
| अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ...                | २  | ४  | ११ | २३४ |
| अक्षरधिषां त्वविरोधः सामान्यतद्भावाम्यामीप-         |    |    |    |     |
| सद्वचत्तदुक्तम् ... ..                              | ३  | ३  | ३३ | ३१६ |
| अक्षरमम्बरान्तधृतेः ... ..                          | १  | ३  | १० | ८१  |
| अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यविधे तद्दर्शनात् ...       | ४  | १  | १६ | ३८४ |
| अनन्याद्विपतिस्युतेरिति चेन्न माकृत्यात् ...        | ३  | १  | ४  | २४६ |
| अज्ञादवबन्धास्तु न क्षान्तास्तु हि प्रतिषेद्यम् ... | ३  | ३  | ५५ | ३३६ |
| अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ... ..                         | २  | २  | ८  | १७३ |
| अङ्गेषु यथावयवभावः ... ..                           | ३  | ३  | ६१ | ३४० |
| अचलत्वं चापेक्ष्य ... ..                            | ४  | १  | ९  | ३८० |
| अणवश्च ... ..                                       | २  | ४  | ७  | २३१ |
| अणुश्च ... ..                                       | २  | ४  | १३ | २३५ |
| अत एव च नित्यत्वम् ... ..                           | १  | ३  | २९ | १०० |
| अत एव च सर्वाण्यनु ... ..                           | ४  | २  | २  | ३८८ |
| अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ... ..                  | ३  | ४  | २५ | ३५५ |
| अत एव धानन्याधिपतिः ... ..                          | ४  | ४  | ९  | ४१४ |
| अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ... ..                     | ३  | २  | १८ | २७३ |
| अत एव न देवता मूर्तं च ... ..                       | १  | २  | २० | ७१  |
| अत एव प्राणः ... ..                                 | १  | १  | २३ | ३४  |
| अतः प्रबोधोऽस्मात् ... ..                           | ३  | २  | ८  | २६७ |
| अतश्चापनेऽपि दक्षिणे ... ..                         | ४  | २  | २० | ४०० |
| अतस्त्वितरज्यथाथो लिङ्गाच्च ... ..                  | ३  | ४  | ३९ | ३६३ |
| अतिवेशाच्च ... ..                                   | ३  | ३  | ४६ | ३३१ |
| अतोऽग्नेनेन तथाहि लिङ्गम् ... ..                    | ३  | २  | २६ | २७८ |
| अतोऽन्याऽपि हेतकेषामुपमयोः ... ..                   | ४  | १  | १७ | ३८५ |
| अत्रा चराचरग्रहणात् ... ..                          | १  | २  | ९  | ५३  |

|                                                                    | (श्लोकि) | अ० | पा० | श्ल० | श्ल० |
|--------------------------------------------------------------------|----------|----|-----|------|------|
| अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ... ..                                        | १        | १  | १   | १    | १    |
| अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ... ..                                | १        | २  | २१  | ६३   |      |
| अदृष्टानियमात् ... ..                                              | २        | ३  | ५१  | २२५  |      |
| अधिकं तु भेदनिर्देशात् ... ..                                      | २        | १  | २२  | १५९  |      |
| अधिकोपदेशात्तु वादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ... ..                    | ३        | ४  | ८   | ३४६  |      |
| अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ... ..                                        | २        | २  | ३९  | १९२  |      |
| अध्ययनमात्रवतः ... ..                                              | ३        | ४  | १२  | ३४७  |      |
| अनभिभवं च दर्शयति ... ..                                           | ३        | ४  | ३५  | ३६२  |      |
| अनेवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ... ..                                   | १        | २  | १७  | ६०   |      |
| अनारब्धकार्ये एव तु तदवधेः ... ..                                  | ४        | १  | १५  | ३८३  |      |
| अनाविष्कृतं ननु स्वयात् ... ..                                     | ३        | ४  | ५०  | ३७२  |      |
| अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ... ..                          | ४        | ४  | २२  | ४२०  |      |
| अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाम्याम् ... ..                     | ३        | ३  | ३१  | ३१४  |      |
| अनिष्टादिकारिणामपि च क्षुत्तम् ... ..                              | ३        | १  | १२  | २५२  |      |
| अनुकृतेस्तस्य च ... ..                                             | १        | ३  | २२  | ९२   |      |
| अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिराविषत् ... ..                    | २        | ३  | ४८  | २२३  |      |
| अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ... ..                                      | १        | २  | ३   | ५०   |      |
| अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववददृष्टश्च तदु-<br>क्तम् ... ..  | ३        | ३  | ५०  | ३३२  |      |
| अनुष्ठेयं वादरायणः साम्यक्षुतेः ... ..                             | ३        | ४  | १९  | ३५१  |      |
| अनुस्मृतेर्वादरिः ... ..                                           | १        | २  | ३०  | ७२   |      |
| अनुस्मृतेश्च ... ..                                                | २        | २  | २५  | १८३  |      |
| अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ... ..                              | ३        | २  | ३७  | २८३  |      |
| अन्तर उपपत्तेः ... ..                                              | १        | २  | १३  | ५६   |      |
| अन्तरा चापि तु तददृष्टेः ... ..                                    | ३        | ४  | २६  | ३६२  |      |
| अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ... ..                                 | ३        | ३  | ३५  | ३१९  |      |
| अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तद्विज्ञादिति चेन्ना-<br>विशेषात् ... .. | २        | ३  | १५  | २०४  |      |
| अन्तर्याम्यधिदेवादिषु तद्भ्रमव्यपदेशात् ... ..                     | १        | २  | १८  | ६१   |      |
| अन्तवस्वमसर्वज्ञता वा ... ..                                       | २        | २  | ४१  | १९२  |      |
| अन्तस्तद्भ्रमोपदेशात् ... ..                                       | १        | १  | २०  | ३०   |      |

| (सूच्ये)                                         | शु. | व. | शु. | शु. |
|--------------------------------------------------|-----|----|-----|-----|
| अन्यावास्थितेश्चोभयनिस्त्वाद्विशेषः...           | २   | २  | ३६  | ११० |
| अन्यत्रामावाच्य न तुवादिषत् ...                  | २   | २  | ५   | १७१ |
| अन्यथात्वं शब्दादिति चेत्याविशेषात् ...          | ३   | ३  | ६   | २१० |
| अन्यथानुमिती च ज्ञात्किविचोगात् ...              | २   | २  | ९   | १७३ |
| अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेत्योपदेशान्तरवत्...    | ३   | ३  | ३६  | ३२० |
| अन्यभावव्यावृत्तेश्च ...                         | १   | ३  | १२  | ८२  |
| अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलाषात् ...              | ३   | १  | २२  | २५९ |
| अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानभ्यामपि चैव- |     |    |     |     |
| भेके ...                                         | १   | ४  | १८  | १३६ |
| अन्यार्थश्च परामर्शः ...                         | १   | ३  | २०  | ९१  |
| अन्यथादिति चेत्यावृत्तधारणात् ...                | ३   | ३  | १७  | २९९ |
| अपरिग्रहाच्चापन्तमनपेक्षा ...                    | २   | २  | १७  | १७८ |
| अपि च सप्त ...                                   | ३   | १  | १५  | २५४ |
| अपि च स्मर्यते ...                               | १   | ३  | २३  | ९३  |
| "    "    ... ..                                 | २   | ३  | ४५  | २२२ |
| "    "    ... ..                                 | ३   | ४  | ३०  | ३५९ |
| "    "    ... ..                                 | ३   | ४  | ३७  | ३६२ |
| अपि चैवभेके ...                                  | ३   | २  | १३  | २७१ |
| अपि संराचने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ...           | ३   | २  | २४  | २७७ |
| अपीतो तद्व्यसङ्गादसमञ्जसम् ...                   | २   | १  | ८   | १५१ |
| अपतीकालव्यनान्नचतीति वादरायण ...                 |     |    |     |     |
| उभयथा दोषात्कृतिश्च ...                          | ४   | ३  | १५  | ४०९ |
| अवाधाच्च ...                                     | ३   | ४  | २९  | ३१९ |
| असत्त्वं वादरिणो ह्येवम् ...                     | ४   | ४  | १०  | ४१४ |
| अभिधोपदेशाच्च ...                                | १   | ४  | २४  | १४१ |
| अभिमानिष्यपदेशस्तु विशेषानुगतिन्याम् ...         | २   | १  | ५   | १४९ |
| अभिन्वक्तोरित्याश्मरथ्यः ...                     | १   | २  | २९  | ७२  |
| अभिसंख्याद्विष्यपि चैवम् ...                     | २   | ३  | ५२  | २२५ |
| अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ...                      | २   | २  | ६   | १७२ |
| अभ्युपगमह्यथा न तथात्वम् ...                     | ३   | २  | १९  | २७३ |
| अरूपवदेव हि तत्रधानत्वाद् ...                    | ३   | २  | १४  | २७३ |



|                                                 | ( सूत्राणि ) | स० | प० | तृ० | पृ० |
|-------------------------------------------------|--------------|----|----|-----|-----|
| अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ....                    | ४            | ३  | १  | ४०१ |     |
| अर्मकौकस्तवात्तद्यप्येशाच्च नेति चेन्न निचा-    |              |    |    |     |     |
| य्यत्वादेवं ध्योमवच्च ...                       | १            | २  | ७  | ५१  |     |
| अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ...                 | १            | ३  | २१ | ५२  |     |
| अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्भृदि हि    | २            | ३  | २४ | २१० |     |
| अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ...                    | १            | ४  | २२ | १३९ |     |
| अविभागेन वृष्टत्वात् ...                        | ४            | ४  | ४  | ४१२ |     |
| अविभागो वचमात् ...                              | ४            | २  | १६ | ५१५ |     |
| अविरोधश्चन्दनवत् ...                            | २            | ३  | २३ | २०९ |     |
| अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ...                    | ३            | १  | २५ | २६० |     |
| अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ...                     | २            | १  | २३ | १६० |     |
| अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टाधिकारिणां प्रतीतेः ... | ३            | १  | ६  | २४७ |     |
| असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ...           | २            | २  | २१ | १८१ |     |
| असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ...            | २            | १  | ७  | १५१ |     |
| असद्यप्येशास्तेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् | २            | १  | १७ | १५७ |     |
| असंततेश्चाप्यतिकरः ...                          | २            | ३  | ४९ | २२४ |     |
| असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ...                     | २            | ३  | ९  | १९९ |     |
| असार्वत्रिकी ...                                | ३            | ४  | १० | ३४७ |     |
| अस्ति तु ...                                    | २            | ३  | २  | १९६ |     |
| अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ...                | १            | १  | १९ | २७  |     |
| अस्यैव चोपपत्तेरेव ऊष्मा ...                    | ४            | २  | ११ | २९३ |     |
| आ                                               |              |    |    |     |     |
| आकाशस्तद्विज्ञात् ...                           | १            | १  | २२ | ३२  |     |
| आकाशे चाविशेषात् ..                             | २            | २  | २४ | १८३ |     |
| आकाशोऽर्थान्तरत्वादिष्यपदेशात् ...              | १            | ३  | ४१ | ११३ |     |
| आचारवृत्तीनात् ...                              | ३            | ४  | ३  | ३४४ |     |
| आतिवाहिकास्तद्विज्ञात् ...                      | ४            | ३  | ४  | ४०४ |     |
| आत्मकृतेः परिणामात् ...                         | १            | ४  | २६ | १४२ |     |
| आत्मगृहीतिरितरयदुत्तरात् ...                    | ३            | ३  | १६ | २९८ |     |
| आत्मनि चिदं विचित्राश्च हि ...                  | २            | १  | २८ | १६३ |     |
| आत्मशब्दाच्च ...                                | ३            | ३  | १५ | २९७ |     |

|                                          | (श्लोके ।) | अ० | प० | सू० | श्ल० |
|------------------------------------------|------------|----|----|-----|------|
| आत्मा प्रकरणात् ... ..                   | ४          | ४  | ३  | ४११ |      |
| आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ... ..  | ४          | १  | ३  | ३५६ |      |
| आवरादुलोपः .... ..                       | ४          | ३  | ४० | ३२४ |      |
| आदित्यादिमतबन्धाङ्ग उपपत्तेः ... ..      | ४          | १  | ६  | ३७८ |      |
| आध्यानाव प्रयोजनाभावात् ... ..           | ३          | ३  | १४ | २९६ |      |
| आनन्दमयोऽभ्यासात् .... ..                | १          | १  | १२ | २४  |      |
| आनन्दादपः प्रधानस्य ... ..               | ३          | ३  | ११ | २९५ |      |
| आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् .... .. | ३          | १  | १० | २५१ |      |
| आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकवि-  |            |    |    |     |      |

|                                                  |   |   |    |     |  |
|--------------------------------------------------|---|---|----|-----|--|
| न्यस्तगृहीतिर्दर्शयति च ... ..                   | १ | ४ | १  | ११७ |  |
| आपः ... ..                                       | २ | ३ | ११ | २०१ |  |
| आप्रायणात्तत्रापि हि वृष्टम् ... ..              | ४ | १ | १२ | ३८१ |  |
| आभास एव च ... ..                                 | २ | ३ | ५० | २२४ |  |
| आमनन्ति चैनमस्मिन् ... ..                        | १ | २ | ३२ | ७४  |  |
| आत्विज्यमित्यौद्बुलोभिस्तस्मै हि परिकीयते ... .. | ३ | ४ | ४५ | १६८ |  |
| आवृत्तिरसकृद्दुपवेशात् .... ..                   | ४ | १ | १  | ३७५ |  |
| आसीनः संभवात् ... ..                             | ४ | १ | ७  | ३७९ |  |
| आह च तन्मात्रम् ... ..                           | ३ | २ | १६ | २७२ |  |

इ.

|                                                          |   |   |    |     |  |
|----------------------------------------------------------|---|---|----|-----|--|
| इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् .... ..                 | १ | ३ | १८ | ८८  |  |
| इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ... ..               | २ | १ | २१ | १५८ |  |
| इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु .... ..                    | ४ | १ | १४ | ३८३ |  |
| इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्तमात्रनिमित्तत्वात् ... .. | २ | २ | १९ | १८० |  |
| इतरे त्वर्थसामान्यात् ... ..                             | ३ | ३ | १३ | २९६ |  |
| इतरेषां चानुपलब्धेः ... ..                               | २ | १ | २  | १४७ |  |
| इषद्वामननात् ... ..                                      | ३ | ३ | ३४ | ३१८ |  |

इ.

|                               |   |   |    |    |  |
|-------------------------------|---|---|----|----|--|
| ईशक्तिसर्वव्यपदेशात्सः ... .. | १ | ३ | १३ | ८३ |  |
| ईशतेर्माशब्दम् ... ..         | १ | १ | ५  | १६ |  |

(व्याधिः)

म० प० सू० पृ०

उ.

|                                                |   |   |    |     |
|------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| उक्तमिष्यत एषं मावादित्यौडुलोमिः ... ..        | १ | ४ | २१ | ११९ |
| उक्तान्तिगत्यागतीनाम् .... ..                  | २ | ३ | १९ | २०८ |
| उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु .... ..          | १ | ३ | १९ | ८८  |
| उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ... ..            | २ | २ | २० | १८१ |
| उत्पत्त्वसंभवात् ... ..                        | २ | २ | ४२ | १९३ |
| उदासीनानामपि वैदं सिद्धिः ... ..               | २ | २ | २७ | १८४ |
| उपदेशभेदाच्चेति चैन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ... | १ | १ | २७ | ३९  |
| उपादानात् ... ..                               | २ | ३ | ३५ | २१६ |
| उपपत्तेश्च ... ..                              | २ | २ | ३५ | २८३ |
| उपपद्यते चाप्युलभ्यते च... ..                  | २ | १ | ३६ | १६७ |
| उपपन्नस्तल्लक्षणाद्यौपलब्धेर्लोकवत् ... ..     | ३ | ३ | ३० | ३१३ |
| उपपूर्वमपि त्वेके भावमज्ञानवत्तदुक्तम् ... ..  | ३ | ४ | ४२ | ३६६ |
| उपमर्दं च .... ..                              | ३ | ४ | १६ | ३४९ |
| उपलाब्धिषट्कनियमः ... ..                       | २ | ३ | ३७ | २१७ |
| उपसंहारदर्शनाच्चेति चेन्न क्षीरवद्धि ... ..    | २ | १ | २४ | १६० |
| उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिक्षेपवत्समाने च ...     | ३ | ३ | ५  | २८९ |
| उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ... ..                   | ३ | ३ | ४१ | ३२५ |
| उभयथा च दोषात् ... ..                          | २ | २ | १६ | १७८ |
| ” ” ... ..                                     | २ | २ | २३ | १८३ |
| उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ... ..               | २ | २ | १२ | १७५ |
| उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ... ..             | ३ | २ | २७ | २७९ |
| उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ... ..                 | ४ | ३ | ५  | ४०४ |

ऊ.

|                                |   |   |    |     |
|--------------------------------|---|---|----|-----|
| ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ... .. | ३ | ४ | १७ | ३४९ |
|--------------------------------|---|---|----|-----|

ए.

|                                            |   |   |    |     |
|--------------------------------------------|---|---|----|-----|
| एक आत्मनः शरीरे भावात् ... ..              | ३ | ३ | ५३ | ३३५ |
| एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ... ..           | २ | ३ | ८  | १९९ |
| एतेन योगः प्रत्युक्तः ... ..               | २ | १ | ३  | १४७ |
| एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ... .. | २ | १ | १२ | १५४ |

| (स्थाने ।)                                          | श० | पा० | श्ल० | श्ल० |
|-----------------------------------------------------|----|-----|------|------|
| एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ... ..            | १  | ४   | २८   | १४३  |
| एवं चाऽऽत्माकात्स्न्यम् ... ..                      | २  | २   | ३४   | १८३  |
| एवं मुक्तिफलानिषमस्तद्व्यवस्थावृत्तेस्तद्व्यवस्थाव- |    |     |      |      |
| वृत्तेः ... ..                                      | ३  | ४   | ५२   | ३७३  |
| एवमष्ट्युपन्यासाःपूर्वभावाद्द्विरोधं बाधरापणः       | ४  | ४   | ७    | ४१३  |

ऐ.

|                                               |   |   |    |     |
|-----------------------------------------------|---|---|----|-----|
| ऐहिकमप्यत्रस्तुतत्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ... .. | ३ | ४ | ५१ | ३५२ |
|-----------------------------------------------|---|---|----|-----|

क.

|                                                     |   |   |    |     |
|-----------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| कम्पनात् ... ..                                     | १ | ३ | ३९ | ११० |
| कारणवक्षेत्र भोगादिभ्यः ... ..                      | २ | २ | ४० | १५२ |
| कर्ता शान्तिार्थवत्वात् ... ..                      | २ | ३ | ३३ | २१५ |
| कर्मकर्मण्यपदेशाच्च ... ..                          | १ | २ | ४  | ५०  |
| कल्पनापदेशाच्च मध्वादिद्विरोधः ... ..               | १ | ४ | १० | १२७ |
| कामकारेण चैके ... ..                                | ३ | ४ | १५ | ३४८ |
| कामाच्च मानुमानापेक्षा ... ..                       | १ | १ | १८ | २७  |
| कामादीतरत्र तत्र चाऽऽधतनादिभ्यः ... ..              | ३ | ३ | ३९ | ३२३ |
| काम्यास्तु यथाकामं समुधीपेरन्न वा पूर्वहेत्वमा-     |   |   |    |     |
| वात् ... ..                                         | ३ | ३ | ६० | ३४० |
| कारणत्वेन चाऽऽत्माशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः         | १ | ४ | १४ | १३१ |
| कार्यं वाङ्मिरस्य मत्स्युपपत्तेः ... ..             | ४ | ३ | ७  | ४०५ |
| कार्याख्यानाद्पूर्वम् ... ..                        | ३ | ३ | १८ | ३०० |
| कार्यात्पथे तद्व्यवक्षेण सहातः परमभिधानात्...       | ४ | ३ | १० | ४०७ |
| कृतप्रपत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धवैषम्यादिभ्यः   | २ | ३ | ४२ | २२० |
| कृतात्ययेऽनुज्ञापवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतन्नेवं च  | ३ | १ | ८  | २४९ |
| कुत्स्रभावात्तु गृह्णितोपसंहारः ... ..              | ३ | ४ | ४८ | ३७१ |
| कुत्स्रप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोषो वा ... ..        | २ | १ | २६ | १६२ |
| क्षणिकत्वाच्च ... ..                                | २ | २ | ३१ | १८६ |
| क्षत्रियत्वगतेश्रोत्ररत्र शैत्ररथेन लिङ्गात् ... .. | १ | ३ | ३५ | १८७ |

ग.

|                                            |   |   |    |    |
|--------------------------------------------|---|---|----|----|
| गतिशब्दाभ्यां तथाहि वृष्टं लिङ्गं च ... .. | १ | ३ | १५ | ८६ |
|--------------------------------------------|---|---|----|----|

|                                               | (सूत्राणि १) | म० | पा० | शु० | शु० |
|-----------------------------------------------|--------------|----|-----|-----|-----|
| गतिस्मान्पात् ... ..                          | १            | १  | १०  | २१  |     |
| गतेरर्थवच्चमुमयथाऽन्यथा हि विरोधः...          | २            | ३  | २९  | ३१३ |     |
| गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ... ..                   | ३            | ३  | ६४  | ३४१ |     |
| गुणाद्वा लोकावत् ... ..                       | २            | ३  | २५  | २१० |     |
| गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ... .. | १            | २  | ११  | ५४  |     |
| गौणश्चेन्नाऽऽत्मशब्दात् ... ..                | १            | १  | ६   | १७  |     |
| गौण्यसंभवात् ... ..                           | २            | ३  | ३   | १९६ |     |
| " ... ..                                      | २            | ४  | २   | २२७ |     |

च.

|                                              |   |   |    |     |  |
|----------------------------------------------|---|---|----|-----|--|
| चक्षुरादिवत् तत्सहशित्वादिभ्यः ... ..        | २ | ४ | १० | २३३ |  |
| चमसवद्विशेषात् ... ..                        | १ | ४ | ८  | १२५ |  |
| चरणादिति चेत्योपलक्षणार्थेति काष्ठाजिनिः.... | ३ | १ | ९  | २५१ |  |
| चराचरव्यपाशयस्तु स्यात्तद्यप्यदेशो माकस्त-   |   |   |    |     |  |
| द्भावभावित्वात् ... ..                       | २ | ३ | १६ | २०५ |  |
| चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्थीकुलोमिः ...  | ४ | ४ | ६  | ४१३ |  |

छ.

|                                              |   |   |    |     |  |
|----------------------------------------------|---|---|----|-----|--|
| छन्दत उमथाविरोधात् ... ..                    | ३ | ३ | २८ | ३१२ |  |
| छन्दोमिधानाच्चेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात्- |   |   |    |     |  |
| थाहि वृत्तम् ... ..                          | १ | १ | २५ | ३७  |  |

ज.

|                                                     |   |   |    |     |  |
|-----------------------------------------------------|---|---|----|-----|--|
| जगद्वाचित्वात् ... ..                               | १ | ४ | १६ | १३४ |  |
| जगदापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ...             | ४ | ४ | १७ | ४१७ |  |
| जन्माद्यस्य यतः ... ..                              | १ | १ | २  | ५   |  |
| जीवमुख्यप्राणलिङ्गाच्चेति चेतद्याख्यातम् ...        | १ | ४ | १७ | १३५ |  |
| जीवमुख्यप्राणलिङ्गाच्चेति चेत्योपासार्त्रैविध्यादा- |   |   |    |     |  |
| भित्त्वादिह तद्योगात् ... ..                        | १ | १ | ३१ | ४३  |  |
| ज्ञेयत्वावचनाच्च ... ..                             | १ | ४ | ४  | १२१ |  |
| ज्ञोऽत एव ... ..                                    | २ | ३ | १८ | २०७ |  |
| ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ... ..             | २ | ४ | १४ | २१६ |  |

| (सूत्रानि ।)                                                                                                      | श० | ख० | ग०  | द०  |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----|----|-----|-----|
| ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीपत एके ... ..                                                                          | १  | ४  | ९   | १२६ |
| ज्योतिर्दृशनात् ... ..                                                                                            | १  | ३  | ४०  | ११२ |
| ज्योतिश्चरणामिधानात् ... ..                                                                                       | १  | १  | २४  | १५  |
| ज्योतिषि भाषाच्च ... ..                                                                                           | १  | ३  | ३२  | १०३ |
| ज्योतिषिकेषामसत्पञ्चे ... ..                                                                                      | १  | ४  | १२  | १२१ |
| त.                                                                                                                |    |    |     |     |
| त इन्द्रियाणि तद्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ... ..                                                                  | २  | ४  | १७  | २३८ |
| तच्छ्रुतेः ... ..                                                                                                 | ३  | ४  | ३४  | ३४४ |
| तद्धितोऽपि यरुणः संबन्धात् ... ..                                                                                 | ४  | ३  | ३   | ४०३ |
| तनु समन्वयात् ... ..                                                                                              | १  | १  | ४   | ८   |
| तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ... ..                                                                                        | २  | ४  | ४   | २२८ |
| तत्प्राक्श्रुतेश्च ... ..                                                                                         | २  | ४  | ३   | २३७ |
| तत्रापि च तद्यापाराद्विरोधः ... ..                                                                                | ३  | १  | १६  | २५४ |
| तथा च दर्शयति ... ..                                                                                              | २  | ३  | २७  | २११ |
| तथा धेनुवाक्यतोपबन्धात् ... ..                                                                                    | ३  | ४  | २४  | ३५४ |
| तथाऽन्यमतिषेधात् ... ..                                                                                           | ३  | २  | ३६  | २८३ |
| तथा प्राणाः ... ..                                                                                                | २  | ४  | १   | २२६ |
| तदधिगम उत्तरपूर्वाद्यथोरश्लेषविनाशी तद्यपदेशात् ४                                                                 | १  | १३ | ३८२ |     |
| तदर्शितत्वादर्थवत् ... ..                                                                                         | १  | ४  | ३   | १२० |
| तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ... ..                                                                                | २  | १  | १४  | १५५ |
| तदन्तरप्रपिपत्ती रहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूप-<br>णान्याम् ... ..                                                | ३  | १  | १   | २४४ |
| तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ... ..                                                                                | १  | ३  | ३७  | १०९ |
| तदभावे नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ... ..                                                                           | ३  | २  | ७   | २६६ |
| तदभिधानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ... ..                                                                               | २  | ३  | १३  | २०२ |
| तदव्यक्तमाह हि ... ..                                                                                             | ३  | २  | २३  | २७७ |
| तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ... ..                                                                                  | ४  | २  | ८   | ३९२ |
| तदुपर्यपि वादरायणः संभवात् ... ..                                                                                 | १  | ३  | २६  | ९६  |
| तदाकोऽप्यलनं तत्त्वकाशितद्वारो विश्वासामर्थ्यात्-<br>च्छेषगल्पमुस्मृतियोगाच्च हादानुगृहीतः क्षता-<br>धिकया ... .. | ४  | २  | १७  | ३९७ |

| (सूत्रणि)                                          | म० | पा० | सू० | श्ल० |
|----------------------------------------------------|----|-----|-----|------|
| तद्वृणसारत्वानु तद्यपदेशः प्राज्ञवत् ... ..        | २  | ३   | २९  | २१२  |
| तद्धेतुस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्वृणा-  |    |     |     |      |
| भावेभ्यः ... ..                                    | ३  | ४   | ४०  | ३६४  |
| तद्वृणो विधानात् ... ..                            | ३  | ४   | ६   | ३४६  |
| तद्धेतुव्यपदेशाच्च ... ..                          | १  | १   | १४  | २५   |
| तन्निर्धारणानियमस्तद्वृष्टेः पृथग्यप्रतिबन्धः फलम् | ३  | ४२  |     | ३२५  |
| तच्छिष्टस्य मोक्षोपदेशात् ... ..                   | १  | १   | ७   | १८   |
| तन्मनः प्राप्य उत्तरात् ... ..                     | ४  | २   | ३   | ३८९  |
| तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ... ..                    | ४  | ४   | १३  | ४१६  |
| तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेषमप्य-     |    |     |     |      |
| विमोक्षप्रसङ्गः ... ..                             | २  | १   | ११  | १५३  |
| तस्य च नित्यत्वात् ... ..                          | २  | ४   | १६  | २३७  |
| तानि परे तथा ह्याह ... ..                          | ४  | २   | १५  | ३९६  |
| मुत्सवं तु दर्शनम् ... ..                          | ३  | ४   | ९   | ३४६  |
| तुतीपशब्दाचरोधः संशोकजस्य ... ..                   | ३  | १   | २१  | २५६  |
| तैजोऽतस्तथा ह्याह ... ..                           | २  | ३   | १०  | २००  |
| अप्याणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ... ..           | १  | ४   | ६   | १२२  |
| अवात्मकत्वानु भूपस्त्वात् ... ..                   | ३  | १   | २   | २४५  |

६.

|                                      |   |   |    |     |
|--------------------------------------|---|---|----|-----|
| दर्शनाच्च ... ..                     | ३ | १ | २० | २५६ |
| ” ... ..                             | ३ | २ | २१ | २७४ |
| ” ... ..                             | ३ | ३ | ४८ | ३३१ |
| ” ... ..                             | ३ | ३ | ६६ | ३४२ |
| ” ... ..                             | ४ | ३ | १३ | ४०७ |
| दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ... .. | ४ | ४ | २० | ४१९ |
| दर्शयति च ... ..                     | ३ | ३ | ४  | २८९ |
| ” ... ..                             | ३ | ३ | २२ | ३०४ |
| दर्शयति चाथो अपि स्मरति ... ..       | ३ | २ | १० | २५२ |
| बृहत् उत्तरेभ्यः ... ..              | १ | ३ | १४ | ८४  |
| ब्रह्मपते तु ... ..                  | २ | १ | ६  | १५० |

वर्णानुक्रमपत्रकम्-

११

| ( सूच्ये । )                                                     | अ० | प० | पृ० | पृ० |
|------------------------------------------------------------------|----|----|-----|-----|
| वेवादिबद्धि लोके ... ..                                          | २  | १  | २५  | १६१ |
| वेहयोगाद्वा सोऽपि ... ..                                         | ३  | २  | ६   | २६५ |
| सुम्वाद्यापतनं स्वज्ञान्दात् ... ..                              | १  | ३  | १   | ७५  |
| द्वादशाहवद्भुमपविर्धं वादरापणोऽतः ... ..                         | ४  | ४  | १२  | ४१५ |
| घ.                                                               |    |    |     |     |
| धर्म जैमिनिरत एव ... ..                                          | ३  | २  | ४०  | २०५ |
| धर्मोपपत्तेश्च ... ..                                            | १  | ३  | ९   | ८१  |
| धृतेश्च महिम्नोऽस्वास्मिन्नूपलब्धेः ... ..                       | १  | ३  | १६  | ७७  |
| ध्यानाच्च ... ..                                                 | ४  | १  | ८   | ३८० |
| न.                                                               |    |    |     |     |
| न कर्मादिभागोदिति चिन्तानादित्वात् ... ..                        | २  | १  | ३५  | १६६ |
| न च कर्तुः करणम् ... ..                                          | २  | २  | ४३  | १९३ |
| न च कार्यं प्रतिपत्त्यमिसंधिः ... ..                             | ४  | ३  | १४  | ४०८ |
| न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ... ..                        | २  | २  | ३५  | १८९ |
| न च स्मार्तमत-द्वर्माभिलाषात् ... ..                             | १  | २  | १९  | ६२  |
| न चाऽऽधिकारिकमपि पतनानुमानासद्योगात् ... ..                      | ३  | ४  | ४१  | ३६५ |
| न तु ह्यनन्तमाधात् ... ..                                        | २  | १  | ९   | १५१ |
| न तृतीये तथोपलब्धेः ... ..                                       | ३  | १  | १८  | २५५ |
| न प्रतीक्षे न हि सः ... ..                                       | ४  | १  | ४   | ३७७ |
| न प्रयोजनवत्त्वात् ... ..                                        | २  | १  | ३२  | १६५ |
| न भावोऽनुपलब्धेः ... ..                                          | २  | २  | ३०  | १८६ |
| न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतह्यवनात् ... ..                       | ३  | २  | १२  | २७० |
| न वक्तुरात्मोपदेशादिति वैद्व्यात्मसंबन्धभूमा<br>ह्यस्मिन् ... .. | १  | १  | २९  | ४१  |
| न वा तत्सहमावाभुतेः ... ..                                       | ३  | ३  | ६५  | ३४२ |
| न वा प्रकरणभेदात्परोवरीपस्त्वादिवत् ... ..                       | ३  | ३  | ७   | २९१ |
| न वापुक्तिषु पृथमुपदेशात् ... ..                                 | २  | ४  | ९   | २३२ |
| न वा विशेषात् ... ..                                             | ३  | ३  | २१  | ३०३ |
| न विषयभुतेः ... ..                                               | २  | ३  | १   | १९५ |
| न विलक्षणात्वाद्दस्य तथात्वं च शब्दात् ... ..                    | २  | १  | ४   | १४८ |



| (सूत्रानि ।)                                           | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--------------------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| म संख्योपसंघहादपि नानामावादतिरेकाच्च ...               | १  | ४   | ११  | १२८ |
| म सामान्यादप्युपलब्धेर्मुमुक्षुवन्न हि लोकापत्तिः      | ३  | ३   | ५१  | ३३३ |
| न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ...             | ३  | २   | ११  | २६९ |
| नापुरतच्छ्रुतेरिति क्षेत्रतराधिकारात् ...              | २  | ३   | २१  | २०९ |
| नातिचिरेण विशेषात् ... ..                              | ३  | १   | २३  | २५९ |
| नाऽऽत्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ... ..            | २  | ३   | १७  | २०६ |
| नाना शब्दादिभेदात् ... ..                              | ३  | ३   | ५८  | ३३८ |
| नानुमानमतच्छब्दात् ... ..                              | १  | ३   | ३   | ७७  |
| नाभाव उपलब्धेः....                                     | २  | २   | २८  | १८४ |
| नाविशेषात् ... ..                                      | ३  | ४   | १३  | ३४८ |
| नासतोऽवृष्टत्वात् ....                                 | २  | २   | २६  | १८४ |
| नित्यमेव च भावात् ... ..                               | २  | २   | १४  | १७७ |
| नित्योपलब्धनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽ-            |    |     |     |     |
| म्यथा ... ..                                           | २  | ३   | ३२  | २१४ |
| नियमाच्च ... ..                                        | ३  | ४   | ७   | ३४५ |
| निर्मातारं चैके पुत्रादप्यश्च... ..                    | ३  | २   | २   | २६२ |
| निशि नेति क्षेत्र संबन्धस्य यांश्चेद्देहापित्वाद्दर्श- |    |     |     |     |
| यति च ....                                             | ४  | २   | १९  | ३९९ |
| नेतरोऽनुपपत्तेः ... ..                                 | १  | १   | १६  | २६  |
| नैकस्मिन्दर्शयतो हि ... ..                             | ४  | २   | ६   | ३९१ |
| नैकस्मिन्नसंभवात् ... ..                               | २  | २   | ३३  | १८७ |
| नोपमर्त्यनातः... ..                                    | ४  | २   | १०  | २९३ |
| प.                                                     |    |     |     |     |
| पञ्चवृत्तिर्मनोवद्यपदिश्यते... ..                      | २  | ४   | १२  | २३४ |
| पदवच्च ... ..                                          | २  | १   | १९  | १५८ |
| पत्यादिशब्देभ्यः ... ..                                | १  | ३   | ४३  | ११६ |
| पत्न्युरसामञ्जस्यात्... ..                             | २  | २   | ३७  | १९१ |
| पद्मोऽवच्छेत्तत्रापि... ..                             | २  | २   | ३   | १७० |
| परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ... ..                         | ४  | ३   | १२  | ४०७ |
| परमतः सेतुन्मानसंबन्धमेवैव्यपदेशेभ्यः....              | ३  | २   | ३१  | २८० |

| (श्यानि)                                                      | अ० | स० | सू० | पृ० |
|---------------------------------------------------------------|----|----|-----|-----|
| परान्तु तच्छ्रुतेः ... ..                                     | २  | ३  | ४१  | २१९ |
| परामिथ्यानात्तु त्तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययी            | ३  | २  | ९   | २६५ |
| परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ... ..                       | ३  | ४  | १८  | ३५० |
| परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्स्नुबन्धः                | ३  | ३  | ५२  | ३३४ |
| पारिप्लवार्या इति चेन्न विशोपितत्वात् ... ..                  | ३  | ४  | २३  | ३५३ |
| पुंसवादिष्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ... ..                     | २  | ३  | ३१  | २१४ |
| पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाज्ञानात् ... ..                    | ३  | ३  | २४  | ३०५ |
| पुरुषार्थोऽतः ज्ञप्तादिति वाद्रापणः ... ..                    | ३  | ४  | १   | ३४३ |
| पुरुषार्थमवदिति शेषथाऽपि ... ..                               | २  | २  | ७   | १७२ |
| पूर्वं तु वाद्रापणो हेतुष्वपदेशात् ... ..                     | ३  | २  | ४१  | २८५ |
| पूर्ववद्वा ... ..                                             | ३  | २  | २९  | २८० |
| पूर्वाविकल्पः प्रकरणात्स्वात्मिपामानसघत्                      | ३  | ३  | ४५  | ३३० |
| पृथगुपदेशात् ... ..                                           | २  | ३  | २८  | २११ |
| पृथिव्याधिकाररूपज्ञानान्तरस्यः ... ..                         | २  | ३  | १२  | २०१ |
| प्रकरणाच्च ... ..                                             | १  | २  | १०  | ५४  |
| प्रकरणात् ... ..                                              | १  | ३  | ६   | ७८  |
| प्रकाशवच्चवैयर्थ्यात् ... ..                                  | ३  | २  | १५  | २७२ |
| प्रकाशादिवच्चवैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्               | ३  | २  | २५  | २७८ |
| प्रकाशादिवसैषे परः ... ..                                     | २  | ३  | ४६  | २२२ |
| प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ... ..                           | ३  | २  | २८  | २७९ |
| प्रकृतिश्च प्रतिज्ञानुष्ठानानुपरोधात् ... ..                  | १  | ४  | २३  | १४० |
| प्रकृतेतावस्वं हि प्रतिषेधात् ततो ब्रवीति च भूयः              | ३  | २  | २२  | २७५ |
| प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्रयः ... ..                          | १  | ४  | २०  | १३९ |
| प्रतिज्ञाहामिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ... ..                     | २  | ३  | ६   | १९७ |
| प्रतिषेधाच्च ... ..                                           | ३  | २  | ३०  | २८० |
| प्रतिषेधादिति चेन्न क्षारीरात् ... ..                         | ४  | २  | १२  | ३९४ |
| प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ...           | २  | २  | २२  | १८२ |
| प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाऽऽधिकारिकमण्डल-<br>स्थोक्तेः ... .. | ४  | ४  | १८  | ४१८ |
| प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ...                 | ३  | १  | ५   | २५७ |
| प्रदानवदेव तदुक्तम् ... ..                                    | ३  | ३  | ४३  | ३२७ |

| (सूत्राणि ।)                                   | अ० | पा० | सू० | शू० |
|------------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| प्रदीपवदादेशस्तथा हि दर्शयति ...               | ४  | ४   | १५  | ४१६ |
| प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ...              | २  | ३   | ५३  | २२५ |
| प्रवृत्तेश्च ...                               | २  | २   | २   | १७० |
| प्रसिद्धेश्च ...                               | १  | ३   | १७  | ८७  |
| प्राणगतेश्च ...                                | ३  | १   | ३   | २४६ |
| प्राणवता शब्दात् ...                           | २  | ४   | १५  | २३७ |
| प्राणभृच्च ...                                 | १  | ३   | ४   | ७८  |
| प्राणस्तथाऽनुगमात् ...                         | १  | १   | २८  | ४०  |
| प्राणादयो वाक्यशीवात् ...                      | १  | ४   | १२  | १३० |
| प्रियाक्षिरस्त्वाद्यभातिरुपचवापचयौ हि भेदे ... | १  | ३   | १२  | २९५ |

फ.

|                   |   |   |    |     |
|-------------------|---|---|----|-----|
| फलमत उपपत्तेः ... | ३ | २ | ३८ | २८४ |
|-------------------|---|---|----|-----|

ग.

|                                      |   |   |    |     |
|--------------------------------------|---|---|----|-----|
| बहिस्तुमपथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ...   | ३ | ४ | ४३ | ३६७ |
| कुन्तचर्चः पादवत् ...                | ३ | २ | ३३ | २८२ |
| ब्रह्महृदिरुक्त्विति ...             | ४ | १ | ५  | ३७८ |
| ब्राह्मणेन जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ... | ४ | ४ | ५  | ४१२ |

घ.

|                                             |   |   |    |     |
|---------------------------------------------|---|---|----|-----|
| भाक्तं वाऽनात्मविस्वात्तथा हि दर्शयति ...   | ३ | १ | ७  | २४८ |
| भायं जैमिनिर्धिकल्पामननात् ...              | ४ | ४ | ११ | ४१५ |
| भावं तु वादरायणोऽस्ति हि ...                | १ | ३ | ३३ | १०४ |
| भावशब्दाच्च ...                             | ३ | ४ | २२ | ३५३ |
| भावे चोपलब्धेः ...                          | २ | १ | १५ | १५६ |
| भावे आग्रहत्वं ...                          | ४ | ४ | १४ | ४१६ |
| भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ...          | १ | १ | २६ | ३८  |
| भूतेषु तच्छ्रुतेः ...                       | ४ | २ | ५  | ३९० |
| भूमा संभ्रसादादध्युपदेशात् ...              | १ | ३ | ८  | ७९  |
| भूतः क्रतुवज्ज्यावस्त्वं तथा हि दर्शयति ... | ३ | ३ | ५७ | ३३७ |
| भेदव्यपदेशाच्च ...                          | १ | १ | १७ | ३७  |

(सूच्ये ।)

|                                           | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|-------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| भेदव्यपदेशान्वयः ... ..                   | १  | १   | २१  | ३२  |
| भेदव्यपदेशात् ... ..                      | १  | ३   | ५   | ७८  |
| भेदभ्रुतेः ... ..                         | २  | ४   | १८  | २३९ |
| भेदादिति चञ्जैकस्यामपि ... ..             | ३  | ३   | २   | २८७ |
| भोवन्नापत्तेरविभागश्चेत्स्यालोकवत् ... .. | २  | १   | १३  | १५४ |
| भोममात्रसाम्बलिङ्गाच्च ... ..             | ४  | ४   | २१  | ४१९ |
| भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ... ..  | ४  | १   | १९  | ३८६ |

म्.

|                                                       |   |   |    |     |
|-------------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| मध्वादिष्वसंभवाद्मधिकारं जैमिनिः ... ..               | १ | ३ | ३१ | १०२ |
| मन्त्रवर्णाच्च ... ..                                 | २ | ३ | ४४ | २२२ |
| मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ... ..                          | ३ | ३ | ५६ | ३३७ |
| महर्षीर्ष्यद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ... ..          | २ | २ | ११ | १७४ |
| महद्बच्च ... ..                                       | १ | ४ | ७  | १२४ |
| मांसादि भौर्म यथाशब्दमितरपोश्च ... ..                 | ४ | ४ | २१ | २४२ |
| माश्रवणिकमेव च गीयते... ..                            | १ | १ | १५ | ६६  |
| मापामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्... .. | ३ | २ | ३  | २६३ |
| मुक्तः प्रतिज्ञानात् ... ..                           | ४ | ४ | २  | ४११ |
| मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ... ..                         | १ | ३ | २  | ७६  |
| मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिक्षेपात् ... ..                 | ३ | २ | १० | २६९ |
| मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ... ..                        | ३ | ४ | ४९ | ३७१ |

य.

|                                              |   |   |    |     |
|----------------------------------------------|---|---|----|-----|
| यत्रैकाग्रता तत्राचिक्षेपात्... ..           | ४ | १ | ११ | ३८० |
| यथा च तक्षोमयथा ... ..                       | २ | ३ | ४० | २१८ |
| यथा च प्राणादिः ... ..                       | २ | १ | २० | १५८ |
| यदेव विद्यपेति हि ... ..                     | ४ | १ | १८ | ३८६ |
| यावदधिकारमेवस्थितिराधिकारिकाणाम् ... ..      | ३ | ३ | ३२ | ३१५ |
| यावदात्ममावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्... .. | २ | ३ | ३० | २१३ |
| यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ... ..          | २ | ३ | ७  | १९८ |
| युक्तेः शब्दान्तराच्च ... ..                 | २ | १ | १८ | १५७ |
| योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ... .. | ४ | २ | २१ | ४०० |

|                  | (समाप्ति ।) | शं० | पा० | सू० | पृ० |
|------------------|-------------|-----|-----|-----|-----|
| योनिश्च हि गीयते | ... ..      | १   | ४   | २७  | १४३ |
| योनेः शरीरम्     | ... ..      | ३   | १   | २७  | २६१ |

र.

|                                   |         |   |   |    |     |
|-----------------------------------|---------|---|---|----|-----|
| रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्         | .... .. | २ | २ | १  | १६९ |
| रश्म्यनुसारी                      | ... ..  | ४ | २ | १८ | ३९९ |
| रूपदिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् | ... ..  | २ | २ | १५ | १७७ |
| रूपोपन्यासाच्च                    | ... ..  | १ | ७ | २३ | ६६  |
| रेतःसिन्धोऽथ                      | ... ..  | ३ | १ | २६ | २६१ |

ल.

|                                    |        |   |   |    |     |
|------------------------------------|--------|---|---|----|-----|
| लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि षलीषस्तद्वपि | ... .. | ३ | ३ | ४४ | ३२८ |
| लिङ्गाच्च                          | ... .. | ४ | १ | २  | ३७३ |
| लोकवस्तु लीलाकैवल्यम्              | ... .. | २ | १ | ३३ | १६५ |

व.

|                                     |        |   |   |    |     |
|-------------------------------------|--------|---|---|----|-----|
| षवतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्  | ... .. | १ | ४ | ५  | १२१ |
| वाक्यान्वयात्                       | ... .. | १ | ४ | १९ | १३७ |
| त्वाद्भनसि दर्शनाच्छब्दाच्च         | ... .. | ४ | २ | १  | ३८७ |
| वायुमब्दाद्विशेषविशेषाभ्याम्        | ... .. | ४ | ३ | २  | ४०२ |
| विकरणत्वाच्चेति चेत्तदुक्तम्        | ... .. | २ | १ | ३१ | १६४ |
| विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्             | ... .. | ३ | ३ | ५९ | ३३९ |
| विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह      | ... .. | ४ | ४ | १९ | ४१८ |
| विकारज्ञानेति चेन्न प्राचुर्यात्    | ... .. | १ | १ | १३ | २५  |
| विज्ञानाविभावे वा तद्व्यतिषेधः...   | ... .. | २ | २ | ४४ | १९४ |
| विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्... | ... .. | ३ | १ | १७ | २५४ |
| विद्यैव तु निर्धारणात्              | ... .. | ३ | ३ | ४७ | ३३१ |
| विधिवं धारणवत्                      | ... .. | ३ | ४ | २० | ३५२ |
| विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च     | ... .. | २ | ३ | १४ | २०३ |
| विप्रतिषेधाच्च                      | ... .. | २ | २ | ४५ | १९५ |
| विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्             | ... .. | २ | २ | १० | १७४ |
| विभागः शतवत्                        | ... .. | ३ | ४ | ११ | ३४७ |

|                                                      | (सूच्ये ।) | प० | प० | प०  | प० |
|------------------------------------------------------|------------|----|----|-----|----|
| विराजोद्यः कर्मणीति चैकानिकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ...  | १          | ३  | २७ | १७  |    |
| विर स्वाक्षितगुणोपपत्तेश्च ... .. .                  | १          | २  | २  | ४९  |    |
| वि र्गं च दर्शयति ... .. .                           | ४          | ३  | १६ | ४१० |    |
| विश्लेषणभेदव्यपदेशान्यां च नेतरौ ... .. .            | १          | २  | २२ | ६५  |    |
| विशेषणवाच्यं ... .. .                                | १          | २  | १२ | ५५  |    |
| विशेषानुग्रहश्च ... .. .                             | ३          | ४  | ३८ | ३६३ |    |
| विशेषितत्वाच्च ... .. .                              | ४          | ३  | ८  | ४०६ |    |
| विहारोपदेशात् ... .. .                               | २          | ३  | ३४ | २१६ |    |
| विहितत्वाच्चाऽऽश्रमकर्मापि ... .. .                  | ३          | ४  | ३२ | ३६० |    |
| वृद्धिहासमासत्वमन्तर्मावाहुमयसामञ्जस्यादेव           | ३          | २  | २० | २७४ |    |
| वेद्याद्यर्थभेदात् ... .. .                          | ३          | ३  | २५ | ३०६ |    |
| वेद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ... .. .                  | ४          | ३  | ६  | ४०५ |    |
| वैद्यम्याच्च न स्वप्नादिवत् ... .. .                 | २          | २  | २९ | १८५ |    |
| वैलक्षण्याच्च ... .. .                               | २          | ४  | १९ | २३९ |    |
| वैशेष्याच्च तद्वादस्तद्वादः ... .. .                 | २          | ४  | २२ | २४३ |    |
| वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ... .. .                | १          | २  | २४ | ६७  |    |
| वैश्वम्यनेर्गुण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ... | २          | १  | ३४ | १६५ |    |
| व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वाच्च तूपलम्बिवत् ...         | ३          | ३  | ५४ | ३३५ |    |
| व्यतिरेकानवस्थितेशानपेक्षत्वात् ... .. .             | २          | २  | ४  | १७१ |    |
| व्यतिरेको गन्धवत् ... .. .                           | २          | ३  | २६ | २११ |    |
| व्यतिहारो विशिष्यन्ति हीतरवत् ... .. .               | ३          | ३  | ३७ | ३२१ |    |
| व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्नर्देशविपर्ययः ...       | २          | ३  | ३६ | २१६ |    |
| व्यातेश्च समञ्जसम् ... .. .                          | ३          | ३  | ९  | २९३ |    |

श.

|                                                  |   |   |    |     |  |
|--------------------------------------------------|---|---|----|-----|--|
| शक्तिविपर्ययात् ... .. .                         | २ | ३ | ३८ | २१७ |  |
| शब्द इति चैकान्तः प्रथमात्मत्वक्षानुमानान्ध्याम् | १ | ३ | २८ | ९८  |  |
| शब्दविशेषात् ... .. .                            | १ | २ | ५  | ५१  |  |
| शब्दभ्रातोऽकामकारे ... .. .                      | ३ | ४ | ३१ | ३५९ |  |
| शब्दाच्च ... .. .                                | २ | ३ | ४  | १९७ |  |
| शब्दाविभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चैक तथा     |   |   |    |     |  |

|                                                        | (व्यापि ।) | श० | पा० | ह०  | प्र० |
|--------------------------------------------------------|------------|----|-----|-----|------|
| दृष्ट्युपवेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ...            | १          | २  | २६  |     |      |
| शब्दादेव प्रमितः ... .. .                              | १          | ३  | २४  | १७  | १४३  |
| ज्ञानवद्माद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तद्वङ्गतया |            |    |     |     | २६१  |
| तेषामवदधानुष्ठेयत्वात् ... .. .                        | ३          | ४  | २७  | ३५  |      |
| शारीरश्चोमयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ... .. .              | १          | २  | २०  | ६२  |      |
| शाखादृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ... .. .                | १          | १  | ३०  | ४३  | १६९  |
| शाखायोनित्वात् ... .. .                                | १          | १  | ३   | ६   | ३९९  |
| शिष्टश्च ... .. .                                      | ३          | ३  | ६२  | ३४१ | १७५  |
| शुगस्य तदनाद्वरश्रवणात्तदाद्रवणात्सुष्यते हि           | १          | ३  | ३४  | १०५ | ६६   |
| शेषत्वात्पुरुषार्थवाद्भो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः        | ३          | ४  | २   | ३४४ | ११   |
| श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ... .. .           | १          | ३  | ३८  | ११० |      |
| श्रुतत्वाच्च ... .. .                                  | १          | १  | ११  | २१  |      |
| " ... .. .                                             | ३          | २  | ३९  | २८४ |      |
| श्रुतिश्च ... .. .                                     | ३          | ४  | ४६  | ३६९ |      |
| श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ... .. .                      | २          | १  | २७  | १६२ |      |
| श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ... .. .                    | १          | २  | १६  | ५९  |      |
| श्रुत्याद्विबलीयस्त्वाच्च न वाधः ... .. .              | ३          | ३  | ४९  | ३३१ |      |
| श्रेष्ठश्च ... .. .                                    | २          | ४  | ८   | २३१ |      |

स.

|                                                          |   |   |    |     |  |
|----------------------------------------------------------|---|---|----|-----|--|
| संज्ञातश्चेत्तद्वक्तमस्ति तु तद्यपि ... .. .             | ३ | ३ | ८  | २९२ |  |
| संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिषुक्लृप्त उपदेशात् ... .. . | २ | ४ | २० | २४१ |  |
| संयमने त्वन्नभूधेतेरेषामारोहावरोहौ तद्भतिदर्श-           |   |   |    |     |  |
| नात् ... .. .                                            | ३ | १ | १३ | २५३ |  |
| संस्कारपरामर्शात्तद्मावामिलापाच्च ... .. .               | १ | ३ | ३६ | १०८ |  |
| स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिम्यः ... .. .               | ३ | २ | ९  | २६८ |  |
| संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ... .. .                        | ४ | ४ | ८  | ४१३ |  |
| सत्त्वाच्चावरस्य ... .. .                                | २ | १ | १६ | १५६ |  |
| संधे सुष्टिराह हि ... .. .                               | ३ | २ | १  | २६२ |  |
| सप्त गतेर्दिशेषितत्वाच्च ... .. .                        | ३ | ४ | ५  | २२८ |  |
| समन्वारम्भणात् ... .. .                                  | ३ | ४ | ५  | ३४५ |  |

(श्लोकाः)

|                                               | श्ल० | श्ल० | श्ल० | श्ल० |
|-----------------------------------------------|------|------|------|------|
| श्लोकाभ्युपगमाच्च साम्पादनवस्थितेः            | २    | २    | १३   | १७६  |
| श्लोकाभ्युपगमाच्च साम्पादनवस्थितेः            | १    | ४    | १५   | १३३  |
| श्लोकाभ्युपगमाच्च साम्पादनवस्थितेः            | २    | २    | ३९   | २१७  |
| श्लोकाभ्युपगमाच्च साम्पादनवस्थितेः            | ३    | ३    | १९   | ३०२  |
| माननामरूपत्वाच्चऽऽवृत्तावप्यविरोधो दर्शना-    |      |      |      |      |
| त्समुत्तेश्च                                  | १    | ३    | ३०   | १००  |
| समाना चाऽऽवृत्तुपलनादसुतत्वं चानुपोष्य        | ४    | २    | ७    | ३९१  |
| समाहारात्                                     | ३    | ३    | ६३   | ३४१  |
| समुदाय उभयहेतुकेऽपि तद्भासिः                  | २    | २    | १८   | १७९  |
| संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति            | १    | २    | ३    | ७३   |
| संपद्याऽऽविर्भावः स्वैरशब्दात्                | ४    | ४    | १    | ४१०  |
| संवन्धादेवमन्यत्रापि                          | ३    | ३    | २०   | ३०३  |
| संवन्धानुपपत्तेश्च                            | २    | २    | ३८   | १९१  |
| संमृतिश्रुत्वाप्यपि चातः                      | ३    | ३    | २३   | ३०४  |
| संयोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्            | १    | २    | ८    | ५२   |
| सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्                      | १    | २    | १    | ४८   |
| सर्वत्रानुपपत्तेश्च                           | २    | २    | ३२   | १८३  |
| सर्वत्रानुपपत्तेश्च त एवोभयलिङ्गात्           | ३    | ४    | ३४   | ३६१  |
| सर्वत्रानुपपत्तेश्च                           | २    | १    | ३७   | १६८  |
| सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्          | ३    | ३    | १    | २८६  |
| सर्वास्त्रानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्   | ३    | ४    | २८   | ३५७  |
| सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्            | ३    | ४    | २६   | ३५६  |
| सर्वाभेदादन्यत्रेमे                           | ३    | ३    | १०   | २९४  |
| सर्वपिता च तद्दर्शनात्                        | २    | १    | ३०   | १६४  |
| सहकारित्वेन च                                 | ३    | ४    | ३३   | ३६०  |
| सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्गतो विध्या- |      |      |      |      |
| दिवत्                                         | ३    | ४    | ४७   | ३६९  |
| साक्षाद्योगयज्ञानात्                          | १    | ४    | २५   | १४२  |
| साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः                      | १    | २    | २८   | ७१   |
| सा च प्रशासनात्                               | १    | ३    | ११   | ८२   |
| सामान्यापत्तिरुपपत्तेः                        | ३    | १    | २२   | २५७  |



| (श्रवणे)                                        | श० | स० | सू० | पृ० |
|-------------------------------------------------|----|----|-----|-----|
| सामान्याजु ... ..                               | ३  | २  | ३२  | २   |
| सामीप्याजु तद्यपदेशः ... ..                     | ४  | ३  | ९   | ३   |
| सांपराये तर्तव्याभावात्तया ह्यन्ये ... ..       | ३  | ३  | २७  | ५   |
| सुकृतदुष्कृते एवेति तु वादरिः ... ..            | ३  | १  | ११  | २   |
| मुखविशिष्टामिधानादेव च ... ..                   | १  | २  | १५  | ५८  |
| सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ... ..            | १  | ३  | ४२  | ११४ |
| सूक्ष्मं तु तद्वर्हत्वात्... ..                 | १  | ४  | २   | १२० |
| सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ... ..           | ४  | २  | ९   | ३९३ |
| सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ... ..      | ३  | २  | ४   | २६४ |
| सैव हि सत्त्वाद्यः ... ..                       | ३  | ३  | ३८  | ३२२ |
| सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः... ..                  | ४  | २  | ४   | ३९० |
| स्तुतयेऽनुमतिर्था ... ..                        | ३  | ४  | १४  | ३४८ |
| स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात्... .. | ३  | ४  | २१  | ३५२ |
| स्थानविशेषात्मकाशादिवत् ... ..                  | ३  | २  | ३४  | २८२ |
| स्थानादिव्यपदेशाच्च ... ..                      | १  | २  | १४  | ५८  |
| स्थित्यद्वान्भ्यां च ... ..                     | १  | ३  | ७   | ७९  |
| स्पष्टो ह्येकेषाम् ... ..                       | ४  | २  | १३  | ३९४ |
| स्मरन्ति च ... ..                               | २  | ३  | ४७  | २२३ |
| " ... ..                                        | ३  | १  | १४  | २५४ |
| " ... ..                                        | ४  | १  | १०  | ३८० |
| स्मर्यते च ... ..                               | ४  | २  | १४  | ३९५ |
| स्मर्यतेऽपि च लोके ... ..                       | ३  | १  | १९  | २५६ |
| स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ... ..                | १  | २  | २५  | ६९  |
| स्मृतेश्च ... ..                                | १  | २  | ६   | ५१  |
| " ... ..                                        | ४  | ३  | ११  | ४०७ |
| स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति विज्ञान्यस्मृत्यनव-  |    |    |     |     |
| काशदोषप्रसङ्गात् ... ..                         | २  | १  | १   | १४५ |
| स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ... ..               | २  | ३  | ५   | १९७ |
| स्वपक्षदोषाच्च ... ..                           | २  | १  | १०  | १५२ |
| " ... ..                                        | २  | १  | २९  | १६३ |
| स्वशब्दोन्मानान्भ्यां च ... ..                  | २  | ३  | २२  | २०९ |

वर्णानुक्रमपत्रकम् ।

२१

|                                                | (स्थाने ।) | म० | प० | पृ० | रु० |
|------------------------------------------------|------------|----|----|-----|-----|
| दिरांस्वामना चोत्तरयोः                         | ... ..     | २  | ३  | २०  | २०८ |
| दिरांस्वामनायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च |            |    |    |     |     |
| वि सयवच्च तत्रियमः                             | ... ..     | २  | ३  | ३   | २८८ |
| विमो रूप्यपसंपरपोरन्यतरापेक्षनाविष्कृतं हि     | ... ..     | ४  | ४  | १६  | ४१७ |
| स्ति रूप्यत्वात्                               | ... ..     | १  | १  | ९   | २०  |
| ४ गामिनः फलश्रुतेरित्वाच्चैव                   | ... ..     | ३  | ४  | ४४  | ३६८ |
|                                                | ह.         |    |    |     |     |
| ६ स्ताद्व्यस्तु स्थितेऽज्ञो नैवम्              | ... ..     | २  | ४  | ६   | २२९ |
| हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाछन्दस्तुत्पुपगान-  |            |    |    |     |     |
| चरद्वक्तम्                                     | ... ..     | ३  | ३  | २६  | ३०७ |
| ह्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्               | ... ..     | १  | ३  | २५  | १५  |
| हेपस्वावचनाच्च                                 | ... ..     | १  | १  | ८   | १९  |



